मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य
का
लोकतात्त्विक अध्ययन

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य
का
लोकतात्त्विक अध्ययन

(आगरा विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत परिवर्द्धित शोध प्रबन्ध)

डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पीएच० डी०, डी० लिट्०

क० मु० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा



विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड : आगरा

प्रथम संस्करण
सन् १९६०
मूल्य १५)

मुद्रक
राजकिशोर अग्रवाल
कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बाग मुजफ्फर खाँ : आगरा

आगरा विश्वविद्यालय

के

उपकुलपति

कर्नल कमाण्डेण्ट श्री कालकाप्रसाद भटनागर

को

उनके संरक्षण में मुकुलित मेरी अपनी साहित्यिक साधना

का

यह नूतन पत्र-पुष्प

सादर सभक्ति समर्पित

अकिंचन

सत्येन्द्र

भूमिका

लोक-साहित्य, लोकवार्ता, लोकतत्त्व, लोकजीवन आदि की सामग्री का शास्त्रीय अध्ययन करने वाले विद्वानों में सत्येन्द्रजी हिन्दी क्षेत्र के चक्रवर्ती हैं। उन्होंने सर्व प्रथम व्रजक्षेत्र के लोक-साहित्य की सर्वविध सामग्री का संकलन करके उसे शास्त्रीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनका वह कीर्तिशाली शोध-निबन्ध अनेकों के लिये मार्गदर्शक हुआ है। सत्येन्द्रजी ने अपनी उस अध्ययन परम्परा को उच्चतर धरातल पर आगे बढ़ाते हुए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। इसकी सामग्री उनकी सूक्ष्म समीक्षा का परिचय देती है। महाभारत में सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र से एक सूत्र में लोकजीवन के प्रति ज्ञानी या लोक-विधानवेत्ता मुनि के दृष्टिकोण का उल्लेख किया है—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।

(उद्योग पर्व ४३।३६, पूना)

जो लोकों का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, लोक-जीवन में प्रविष्ट होकर स्वयं उसे अपने मानस-चक्षु से देखता है, वही व्यक्ति उसे पूरी तरह समझता-बूझता है। केवल पुस्तकस्थ विद्या से लोकतत्त्व का तल-स्पर्शी परिचय नहीं प्राप्त किया जा सकता। साहित्य और लोकतत्त्व ये एक ही जीवन-रथ के दो चक्र हैं। दोनों के संतुलित विवेक से ही जीवन की व्याख्या की जा सकती है। भारतीय साहित्य और संस्कृति के विषय में तो यह तथ्य अक्षरशः सत्य है। 'लोके वेदे च' यही भारतीय जीवन का प्रतिष्ठा-सूत्र है। संस्कृति, धर्म, दर्शन, अध्यात्म, कला, साहित्य, समाज, आचार—इस सप्तक का जहाँ कहीं से उद्घाटन करने लगें तो भारतीय आकाश के नीचे युग-युगों तक वेद और लोक इन दोनों की समन्वित और संयुक्त सरणि हमें उपलब्ध होती है। ब्रह्म के समान यदि भारतीय जीवन को चतुष्पात् माना जाय, तो उसके एक पाद की प्रतिष्ठा वेद या शास्त्रीय चिन्तन में और त्रिपाद की अभिव्यक्ति लोक के क्रियाशील जीवन में पाई जाती है। अतएव भारतीय शास्त्र की व्याख्या का सर्वोत्तम क्षेत्र यहाँ का वास्तविक

लोक-जीवन ही है। आज भी लोक के जीवन का वार्षिक सत्र अनेक मंगलात्म विधानों और आचारों से सम्पन्न है। लोक में भरे हुए पर्व और उत्सव, लोक-नृत्य, लोकगीत, लोककथाएँ, व्रतों की अवदान-कहानियाँ, संवत्सर का रूप सँवारने वाले अनेक व्रत और उपवास, देव-यात्राएँ और मेले आदि से भारतीय संस्कृति अपना अमिट स्पन्दन प्राप्त कर रही है। लोक की भाषा आकाश-गंगा के समान आज भी अपनी पावनी शक्ति से भूतल के प्राणियों को उज्ज्वल बना रही है। उसी शक्ति से साहित्य और जीवन की कल्याण-परम्पराएँ अस्तित्व में आ रही हैं। नए भारत का निर्माण उसकी प्राचीन संस्कृति का श्रेयांश लेकर बन रहा है—

नवो नवो भवति जायमानः।

यही दुर्धर्ष नियम जीवन को आगे बढ़ा रहा है। किन्तु इस प्रगति की अक्षय पद्धति प्राचीन संस्कृति से प्राप्त होती है और उसके साथ जुड़ी है।

यहाँ नूतन का पूर्व के साथ मेल है। किन्तु पूर्व नूतन को कुण्ठित नहीं करता, उसे निर्मलता प्रदान करता है। पूर्व और नूतन के श्वास-प्रश्वास से ही भारतीय संस्कृति अपना शाश्वत जीवन स्पन्दन प्राप्त करती रही है। इसे ही दूसरे शब्दों में लोक और वेद का समवाय कह सकते हैं। भारतीय संस्कृति की रचना चतुर्भुजी स्वस्तिक के समान है। यह उस मण्डल या वृत्त के समान है जिसके उदर में चार नवतियों के चार समकोण प्रतिष्ठित हैं। इन्हीं से यहाँ के जीवन का सुदर्शन चक्र नित्य घूम रहा है। इस संस्कृति की पहली महती भुजा स्वयं अनन्त प्रकृति है। यह विश्व को पोषण देने वाली कामदुधा धेनु है। यही जीवन की अदिति गौ है। इसकी रचना आदि-अन्त से परे है। समस्त विश्व ही इस केवली गौ का वत्स है। अनन्त वैचित्र्यों से परिपूर्ण, समस्त रहस्यों की धात्री यह देवमाता भारतीय मनीषियों के लिये प्रथम वन्दनीय है। यह जैसी पहले थी, आज भी है, और आगे भी रहेगी। इसकी नाभि में सोम या अमृत से भरा हुआ जो मंगल कलश है उसका रस हम सब को सींच रहा है। वही मानव का नित्य उपजीव्य है। वैशाख शुक्ल की अक्षय तृतीया को मानों उसका आरम्भ होता है और कार्तिक शुक्ल की अक्षय नवमी को पूर्ण विकास। इन्हीं दोनों शाश्वत बिन्दुओं के मध्य में उसका कालात्मक व्यक्त स्पन्दन स्फुट हो रहा है। यह अदिति धेनु पूर्व और पश्चिम, भूत और भविष्य सब के पोषण का हेतु है। इसे केवली गौ कहें या ज्येष्ठ ब्रह्म, शब्दों की विचित्रता मात्र है। अतएव इस महती मातृदेवी या प्राणशक्ति की व्याख्या भारतीय ज्ञान का सदा से लक्ष्य रहा है। इसे ही इस संस्कृति ने अपना प्रणाम-भाव अर्पित किया है। यह प्रकृति किसी अमूर्त देव की आत्मशक्ति से संचालित

है। यह जैसी है वैसी है—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' यही इसका निजी अविचाली अधिकार है।

इस स्वयं विधात्री शक्ति का जैसा रूप इस देश के मानवों की प्रज्ञा ने जान पाया उसे प्रत्नतम काव्यरूप वैदिक मंत्रों में कहा गया है। वेद और वेदानुकूल विकसित शास्त्रीय साहित्य और काव्य भारतीय सांस्कृतिक स्वस्तिक की दूसरी भुजा है। इसके अनुसार लोकमानस की सृष्टि स्वस्तिक की तीसरी प्रवृत्ति रही है। यह कार्य अधिकांश में पुराण साहित्य के द्वारा सम्पन्न हुआ जिसके अनुयायी अनेक आगम, तन्त्र, संहिताएँ आदि हैं। उनके विकास की परम्परा आज तक हमें प्राप्त है। एक ओर जहाँ वेद की शास्त्रीय प्रतिष्ठा अस्तित्व में आती है, वहीं दूसरी ओर लोकमानस में उसका पुराणानुसारी रूप अवतीर्ण होता है। बालक का सरल मन लोकमानस का प्रतिनिधि है। उसका पोषण कथा कहानियों के स्थूल तन्तुओं से होता है। मानव-जाति कितनी भी उन्नति करे उसे हर पीढ़ी में बाल-मानस की आराधना करनी ही होगी, अन्यथा भय है कि उसके मस्तिष्क की उर्वरा शक्ति या नवीन विकास ही अवरुद्ध हो जायगा। इस तथ्य को पहचान कर भारतीय संस्कृति ने अपने ज्ञान-विज्ञान की रचना के साथ-साथ देव और असुरों की असंख्य कहानियों की भी रचना की। यही 'दैवासुरम्' कथाकोश भारतीय लोकमानस के महापात्र में परिपूर्ण है। साहित्य हो या धर्म दोनों को इस तत्व ने प्लावित किया है। उसकी मात्रा और स्वरूप का विश्लेषण वर्तमान जागरूक अनुसंधान का क्षेत्र और विषय है। उसका एक स्पृहणीय निदर्शन प्रस्तुत निबन्ध में प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति के स्वस्तिक की चौथी भुजा वह लोकजीवन और आचार है जिसका निर्माण पहले तीन प्रभावों ने मिलकर किया है। जीवन ही तो महनीय तत्त्व है। उसी के लिये तो अन्य सब प्रयत्न और दृष्टियाँ हैं। अतएव प्रकृति का विज्ञान, वेदों का ज्ञान, पुराणों का सामान्य ज्ञान-विज्ञान, सब कुछ, भारतीय जीवन को अर्पित करने या उसमें ढाल देने की परिपाटी और दृष्टि ऋषियों ने स्वीकार की। उदाहरण के लिये प्रकृति या विश्व रचना में सूर्य की सत्ता है। वह सविता देवता विश्व के चैतन्यमय स्पन्दन या प्राण का स्रोत है। उसी की प्राणात्मिका शक्ति सावित्री है। मानव मात्र को वह मिल रही है। जन्म और मृत्यु उसी स्पन्दन के दो बिन्दु हैं। विश्व के इस रहस्य को वेदों की सावित्र विद्या के रूप में कहा गया। यह सावित्री वेदों का सार है। सूर्य से पृथिवी की ओर आने वाली महाशक्ति सावित्री है और वही पृथिवी से प्रतिफलित होकर जब सूर्य की ओर स्पन्दित होती है तब उसे गायत्री कहा जाता है। सावित्री-गायत्री दोनों एक ही प्राणात्मक स्पन्दन के समष्टिगत और

व्यष्टिगत रूप हैं। वैदिक परिभाषा में समष्टि या विराट् यज्ञ को अश्वमेध और व्यष्टि या पिण्डात्मक यज्ञ को अर्क कहते हैं। द्युलोक में सूर्य रूपी अश्व या स्पन्दनात्मक प्राण तप रहा है। उसी के तप से पृथ्वी पर आक का पौधा उग रहा है। यही अर्काश्वमेध व्यष्टि समष्टि जीवन है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'इयं वै गायत्री' यह पृथिवी गायत्री है। माता भूमि की जितनी शक्ति है उतनी ही गायत्री की शक्ति है। वहीं कहा है 'गायत्री वा एषा निदानेन' (शतपथ १।४।७।३६), अर्थात् निदान विद्या या प्रतीकात्मक शब्दावली में कहना चाहें तो पृथिवी ही गायत्री है, गायत्री का जितना स्वरूप है सब पृथिवी की मातृत्व शक्ति के प्राणात्मक स्पन्दन में देखा जा सकता है।

इसी वैदिक सावित्रतत्व को पुराणों ने लोकमानस के प्रशिक्षण के लिये सावित्री-सत्यवान् की कथा के रूप में उपबृंहित किया। सूर्य ही सत्यवान्। इस सौर मंडल में सूर्य ही सत्यात्मकसत्ता या केन्द्र है। वह सत्यनारायण है। सूर्य के द्वारा ही संवत्सर का निर्माण होता है। सूर्य ही संवत्सरात्मक काल है। अतएव कथा के सत्यवान् को सावित्री के साथ एक वर्ष का जीवन मिलता है। सावित्री शक्ति के साथ ही सत्यवान् की अमरता ध्रुव है। जब तक सावित्री है तब तक सत्यवान् की आयु अक्षय है। केवल सावित्री को उसकी रक्षा के लिये उग्र यम प्राण को प्रसन्न करना आवश्यक है। प्राण ही यम और प्राण ही शिव है। उसके रुद्र रूप को इसी शरीर में शिव बनाना होगा। सूर्य प्राणात्मक अश्व है। गति और स्पन्दन का वही एकमात्र विराट् स्रोत है। कहानी का सत्यवान् भी अपने बचपन में घोड़ों से खेलने का शौकीन है। इसी स्वस्तिक का चौथा रूप वट-सावित्री का व्रत है जो लोक के आचार में जन-जन में प्रचलित है और सावित्र विद्या को लोकजीवन के साथ जोड़ने का एक स्मरण हमारे सामने ले आता है। सृष्टि की सावित्र अग्नि, वेद की सावित्र विद्या, पुराण की सावित्री कथा, और आचार का वट-सावित्री व्रत ये एक ही स्वस्तिक की चार दिशाएं हैं। इन दिगन्त विन्दुओं के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति विकसित होती है। इन्हें पहचानना ही साहित्य का सच्चा लोकतात्विक अध्ययन है। यह विषय बुद्धि का कुतूहल नहीं, यह तो संस्कृति के निर्माणात्मक एवं विधायक तत्त्वों की छानबीन है जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यही सनत्सुजात के शब्दों में लोकदर्शन से सर्वदर्शन की ओर जाना है। सर्व का दर्शन या अनुभव ही अक्षर तत्त्व की संप्राप्ति या साक्षात्कार है।

विषय को और स्पष्ट करना हो तो लोक-जीवन की पृष्ठभूमि से करक-चतुर्थी या करवा-चौथ के व्रत को समझने का प्रयत्न करें। यह व्रत भी घर-घर में प्रचलित है। इसमें करवा क्या और चौथ क्या ? यह समस्त विश्व और जीवन

ही जल से भरा हुआ करवा है। वैदिक भाषा में यह जलपात्र ही चमस कहा गया है। मूल रूप में एक चमस था। उसे ही सृष्टि के लिये ऋभुओं ने चार चमसों के रूप में विभक्त कर दिया। जो गुणों से परे था वही तीन गुणों के रूप में प्रकट हो गया। गुण उसी में भरे थे, कहीं बाहर से नही आए। यही उनका अव्यक्त 'प्रधान' रूप है। 'प्रधान' का शब्दार्थ ही है प्रकृष्ट रूप में आधान। अव्यक्त अवस्था में गुणों का आधान ही उनका 'प्रधान' रूप है। एक चमस का चार होना ही सृष्टि या जीवन है—

एकं चमसं चतुरः कृणोतन।

(ऋग्वेद १।१६१।२)

व्यकृणोत चमसं चतुर्धा ।

(ऋ० ४।३५।३)

एक के चार और चार का फिर एक होना ही जीवन का स्पन्दन है। बुद्ध को लोकपालों ने चार भिक्षापात्र दिए तो बुद्ध ने अपने अनुभाव से इन्हें एक कर दिया। चार में विभक्त तत्व को एक जानना ही बुद्धत्व है। करक या करवा, चमस या भिक्षापात्र—एक ही तत्व के प्रतीक हैं। लोकजीवन को उस चमस तत्व से अवगत कराने के लिये कहानी और व्रत की परिपाटी प्रचलित हुई। अवश्य ही इस व्रत की कथा की रचना किसी अत्यन्त प्राचीन वैदिक युग में हुई होगी। कहानी का ठाठ स्पष्ट इसका संकेत देता है। सात अछरामाई ही शक्ति के सात रूप हैं, वे सात बहनें हैं या सप्तमातृकाएँ हैं जो मूलभूत एक ही देवमाता के सात रूप हैं—

सप्त स्वसारो अभिसेनवन्ते

(ऋ० १।१६४।३)

सात बहनें मिलकर स्तुति के गीत गारही हैं। उनका सम्मिलित गान ही जीवन है। वे गाती जाती हैं और यह जीवन रथ चलता चला जाता है।

विद्वान् लेखक ने लोक-साहित्य की तात्त्विक समीक्षा को एक नवीन उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी साहित्य में उन तत्त्वों की छानबीन नया प्रयास है। निर्गुण सम्प्रदाय, प्रेम गाथा, सगुण भक्ति काव्य, रामशाखा ये हमारे वाङ्मय की जानी-पहचानी चार बड़ी चौपाल हैं। लेखक ने प्रत्येक की गोष्ठी में प्रविष्ट होकर सहृदयता से उनकी वार्ता का रसपान किया है। उनके तन्तुओं के स्रोत तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। भले ही हिन्दी साहित्य की परम्परा का आदिकाल निर्गुणी सन्तों से प्रारम्भ हो, पर हिन्दी के उदय की पृष्ठभूमि तो वहाँ तक है जहाँ ठेठ वैदिक एवं प्राक् वैदिक या प्रागैतिहासिक भारतीय मानव ने विचार और कर्म के नाना तन्तुओं से जीवन का पट

बुनना शुरू किया था। उस बहुरंगी ताने-बाने की समग्र कहानी ही हिन्दी साहित्य को उत्तराधिकार में मिली है। उदाहरण के लिये, प्राचीन भारत में देवों की पूजा को मह कहते हैं। लोक में इस प्रकार के कितने ही देवों की मान्यता थी और उनके लिये मेले लगते थे जिन्हें 'यात्रा' कहा जाता था। हिन्दी का 'जात' शब्द उसी से बना है। इस प्रकार के कितने ही 'मह' उस युग में प्रचलित थे और उनकी परम्परा प्रागैतिहासिक युग तक चली जाती है। जैसे, इंद्रमह, चन्द्रमह, सूर्यमह, यक्षमह, नदीमह, नागमह, सागरमह, गिरिमह, वृक्ष-मह, स्कन्दमह, धनुर्मह, रुद्रमह, भूतमह, सुपर्णमह, ब्रह्ममह आदि। नदीमह का रूप ही गंगाजी का बड़ा मेला है। यक्षों की पूजा तो लोक में आज तक प्रचलित है। इस समय उन्हें बीर-बरह्म देवता कहते हैं। हमारे चारों ओर काशी में बीर-बरह्म के थान या चौरे भरे हुए हैं। 'गाँव-गाँव का ठाकुर गाँव-गाँव का बीर' यह उक्ति यहाँ प्रसिद्ध है। हनुमान जी की 'महावीर' संज्ञा किसी समय उनके यक्ष-रूप का संकेत करती है। दीपावली यक्षरात्रि है। वही हनुमान जी का जन्मदिन है। जायसी ने हनुमान को बीर कहा है—

ततखन पहुँचा आइ महेसू।
वाहन बैल कुस्टि कर भेसू ॥१॥
औ हनिवंत बीर सँग आवा।
धरे वेष जनु बंदर छावा ॥६॥

(पदमावत दो० २०७)

साहित्य और लोकवार्ता दोनों में यक्षपूजा की इतनी अधिक सामग्री है कि उस पर अलग ग्रन्थ ही लिखा जा सकता है।

इस निबन्ध में हिन्दी साहित्य की स्पृहणीय परिक्रमा करते हुए लोक-धर्मानुसारी तत्त्वों का बहुत ही अच्छा विश्लेषण किया गया है। लेखक का दृष्टिकोण विकसित है। और सामग्री के संकलन का क्षेत्र विस्तृत है। संस्कृत, पाली, प्राकृत, सब परम्पराओं से लोक साहित्य के सूत्रों की व्याख्या करने की सामग्री का संचयन किया गया है। आशा है इस अनुसन्धान से हिन्दी साहित्य के अध्ययन को नयी चक्षुष्मत्ता प्राप्त होगी और लोकवार्ता शास्त्र का संग्रह करने वाले कार्यकर्ताओं को भी नयी प्रेरणा मिलेगी। सत्येन्द्रजी के ज्ञान की कौस्तुभमणि से नवीन अध्ययन की रश्मियाँ प्रस्फुटित हों यही हमारी आकांक्षा है।

काशी विश्वविद्यालय
वैशाख शुक्ल ११, सं० २०१७
[७ मई १९६०]

—वासुदेवशरण

पूर्व पीठिका

पी-एच० डी० के लिए ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करते समय लोक-साहित्य और हिन्दी-साहित्य के पारस्परिक प्रभाव की ओर ध्यान गया था।* उसी समय से यह विषय मन में रम रहा था कि हिन्दी-साहित्य की लोक-वार्ता-विषयक पृष्ठभूमि को और अधिक स्पष्ट किया जाय। हिन्दी साहित्य के अनेकों प्रकार के अध्ययन आज तक हुए हैं पर लोक-वार्ता के तत्वों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यों समय समय पर इस बात का उल्लेख विविध विद्वानों ने अपने भाषणों अथवा निबंधों में अवश्य किया है। किसी ने किसी रचना की लोकभूमि पर किंचित प्रकाश डाला है, तो किसी ने मात्र किसी लोकपरम्परा से सम्बन्ध बताकर ही संतोष कर लिया है। कथानक-रूढ़ियों की चर्चा या विषय और छन्दों में लौकिकता भी कहीं-कहीं दिखायी गयी है। आवश्यकता यह प्रतीत हो रही थी कि लोकतत्व की दृष्टि से हिंदी-साहित्य की व्यवस्थित परीक्षा की जाय। अतः मैं इस अनुसंधान में प्रवृत्त हुआ और आज गुरुजनों की कृपा और आशीर्वाद से यह एक मौलिक अध्ययन हिन्दी को समर्पित है।

इस अध्ययन को केवल प्रेमगाथा-काव्य और भक्ति-काव्य तक ही सीमित रखा गया है। सभी साहित्य लोक-क्षेत्र में जन्म लेकर आगे बढ़ते और ऊँचे उठते हैं। हिन्दी-साहित्य के मध्य काल के रीतियुग से पूर्व तक लोक-तत्व प्रबल रहा, यह इस अध्ययन से भली प्रकार सिद्ध होता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास को ठीक ठीक समझने के लिए यह एक नया तत्व उद्घाटित हुआ है और अब इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती।

मुझे भरोसा है कि जिस प्रकार ब्रज लोक-साहित्य के अध्ययन का आदर हुआ है वैसा ही और उससे कुछ अधिक ही इस अध्ययन का भी होगा।

---

* देखिए ब्र० लो० सा० अ० पृ० ५७२ (प्रथम संस्करण)

इस अध्ययन में लोकवार्ता और लोक-मानस का जो विवेचन किया गया है वह भी हिन्दी के साहित्य के अध्ययन के लिए लोकतत्व की दृष्टि से वैज्ञानिक प्रणाली प्रदान करता है। क्योंकि केवल यह बताना कि यहाँ लोकतत्व है पर्याप्त नहीं माना जा सकता, यह भी बताया जाना चाहिये कि वह लोकतत्व क्यों है ? लोक-मानस के अस्तित्व का उद्घाटन स्वयमेव एक महत्वपूर्ण अनुसंधान है, किन्तु सभ्य से सभ्य मानव में उसके उत्तराधिकारक अवतरण की स्थापना इस प्रबन्ध की अपनी देन है। वह मनीषी मानस की साहित्यिक अभिव्यक्ति में कैसे उतरता है, यह हिन्दी साहित्य के इस अध्ययन से स्पष्ट हो जायेगा। इसमें लोकतत्वों की पृष्ठभूमि को ऐतिहासिक विकास के साथ दिखाया गया है और उनकी तात्विक व्याख्या भी दी गयी है।

लोक-मानस की कई भूमियाँ होती हैं। पहली भूमि लोक-व्याप्त सामान्य प्रवृत्ति से संबंधित होती है। विशिष्ट-अविशिष्ट इस प्रवृत्ति में हाथ में हाथ दिये प्रचलित देखे जाते हैं। यह भूमि घोर विरोधी तत्वों के लिए भी एक सामञ्जस्य ढूँढ लेती है। यह लोक-मानस की अत्यन्त साधारणीकृत भूमि है, जो सर्वत्र सभी कालों में विद्यमान मिलती है। दूसरी भूमि वस्तुगत लोकमानसिक परिणतियों की होती हैं। इस भूमि में वस्तुगत मूल विन्यास तो लोक-मानस से सीधा सम्बन्ध रखता है, पर उस विन्यास में व्यक्ति और स्थान ऐतिहासिक और भौगोलिक क्रम से अपना नाम बदलते मिलते हैं। इनसे ही लोकमानस की परंपरा सिद्ध होती है। तीसरी भूमि इस ऐतिहासिक लोक-मानस तथा सामन्य लोक-प्रवृत्ति गत मानस के समीकरण की होती है। इसी-भूमि पर इतिहास ऐतिहासिक लोक-मानसिकता ग्रहण कर सामान्य लोक प्रवृत्ति में ढल जाता है। चौथी भूमि शुद्ध लोक-मानस के तत्वों और उनकी परम्परागत प्रक्रियाओं और विकास-श्रेणियों से सम्बन्धित होती है। इस भूमि का नृतात्विक क्षेत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जा सकता है। माइथालाजी, ऐनिमिज्म, एनिमेटिज्म, फेटिश, टेबू, टोटेमिज्म, मैजिक आदि इस भूमि के साधारण तत्व हैं। पाँचवीं भूमि का सम्बन्ध आदि मूल मानसिकता (Primordial Psyche) के अनुसंधान से होता है। हिन्दी साहित्य में उसके मध्ययुग तक इन सभी भूमियों का अनुसंधान और उद्घाटन इस प्रबन्ध में करने का प्रयत्न किया गया है। यह भूमि सर्वथैव नयी है अत्यन्त विशाल तथा अतीत-मूल तक पहुँची हुई है, हिन्दी-साहित्य के महान इतिहास का इस दृष्टि से पूर्ण विश्लेषण एक प्रबन्ध में संभव नही हो सकता। इसके लिए तो प्रत्येक कृति का पृथक पृथक अध्ययन अपेक्षित होगा। फिर भी मैंने अपनी क्षुद्र बुद्धि से अपना मार्ग आप बनाते हुए इन सभी भूमियों का स्वरूप और उनकी प्रक्रियाएं

दिखाकर इस दिशा में एक नमूना प्रस्तुत करने का भरसक प्रयत्न किया है। मेरी अपनी क्षुद्रताओं और सीमाओं, अभावों और अज्ञान सबके कारण इस प्रबन्ध में अनेक दोष और त्रुटियाँ रह गयी होंगी, पर विद्वान और उदार पाठक मेरे दोषों को क्षमा कर, सार को ग्रहण करने की कृपा करेंगे।

इसके प्रूफ मैंने देखे हैं फिर भी बहुत सी भूलें रह गयीं हैं, जिन्हें अक्षम्य कहा जा सकता है। उनके लिए मैं लज्जित हूँ। परिशिष्ट २ में ऐसी भूलों में से कुछ का उल्लेख पूर्वक संशोधन कर दिया गया है। इसी परिशिष्ट में ग्रन्थ में उद्धृत अंग्रेजी अंशों का हिंदी अनुवाद तथा कुछ आवश्यक अन्य टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने में अनेकों देशी-विदेशी विद्वानों की कृतियों का उपयोग किया गया है जिनका उल्लेख यथास्थान ग्रन्थ में कर दिया गया है। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। क्योंकि—'मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर'

इस प्रबन्ध के कुछ अंश समय समय पर प्रकाशित किये जाते रहे हैं। ऐसे प्रकाशित अंश ये हैं :—

१—लोक-वार्ता-तत्व और लोक-मानस —भारतीय साहित्य
२—हिन्दी के विकासक्रम में लोकवार्ता-तत्व —आलोचना
३—पद्मावती में लोक-कथा —सम्मेलन पत्रिका
४—साहित्य के रूप —नई धारा
५—लोक-तत्व और कबीर —भारतीय साहित्य

हिन्दी के इन उच्चकोटि के पत्रों का भी मैं एतदर्थ ऋणी हूँ।

'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' 'साहित्य की झांकी' और 'सूर की झांकी' नामक अपने ग्रन्थों से भी कुछ अंश आवश्यक संशोधन पूर्वक इसमें लिये गये हैं, क्योंकि वे अंश इस प्रबन्ध में भी उतने ही आवश्यक थे।

कितने ही मित्रों ने कई प्रकार से इस प्रयत्न में मुझे सहयोग प्रदान किया है। मैं उन सब का आभार मानता हूँ।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, नेशनल लाइब्रेरी, एशियाटिक सोसाइटी, (कलकत्ता), आगरा विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय, सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय [कलकत्ता], नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय [आगरा] के पुस्तकालयों से मुझे पूरा पूरा सहयोग मिला है। इनके सहयोग के बिना यह रचना प्रस्तुत हो ही नहीं सकती थी।

मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता की अंजलि श्रद्धापूर्वक समर्पित करता हूँ—

डा० नगेन्द्र तथा डा० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव को, जिन्होंने इस प्रबंध के अनुसंधान की रूपरेखा की संस्तुति की—

क० मु० हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के संचालक आचार्य विद्वद्वर डा० विश्वनाथ प्रसाद को तथा आगरा विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार (अब रिटायर्ड) डा० एल० पी० माथुर, डी-एस० सी० को, जिनकी प्रोत्साहक दृष्टि और प्रेमपूर्ण कृपा इस काम को सम्पन्न करने में प्रतिक्षण संबल बनी रही है, और जिनके आदेश से ही मैं यह प्रबन्ध इतनी तन्मयता से पूर्ण कर सका—

आगरा विश्वविद्यालय की 'रिसर्च डिगरी समिति' को तथा अन्य अधिकारियों को, जिन्होंने इस अनुसंधान में प्रवृत्त होने की मुझे स्वीकृति प्रदान की— उन समस्त लेखकों तथा प्रकाशकों को तथा उन सभी पुस्तकालयों के व्यवस्थापकों को जिनके ग्रन्थों अथवा निबन्धों का मैंने इस अनुसंधान में उपयोग किया है—

अपने सहयोगी और मित्र विद्वान पं० उदयशंकर शास्त्री को जिनके निजी ग्रन्थ-भंडार से, अन्यत्र दुर्लभ प्रकाशित तथा अप्रकाशित मूल ग्रन्थ-रत्न मुझे प्राप्त होते रहे, तथा जिनकी प्रेरणा इस प्रबन्ध के प्रकाशन में अत्यन्त प्रेरक रही, तथा जिनके परामर्शों ने मुझे उनका अत्यन्त ऋणी बनाया—

अपने परम हितैषी अनुसंधान-मार्तंड श्री अगरचन्द नाहटा (बीकानेर) को जिनके प्रकाशित कितने ही निबन्धों से प्राप्त नव-नव सामग्री का मैंने निस्संकोच उपयोग किया है—

आचार्य प्रवर डा० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी को जिनकी साहित्य में लोकतात्विक दृष्टि उनकी साशीर्वाद कृपा की भाँति सदा मेरे अनुसंधान में प्रकाश देती रही—

मुझे अत्यन्त स्नेह से 'चिर मित्र' संबोधन करने वाले पर मेरी साहित्य-साधना और आराधना के आदर्श गुरुवत् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल को, जिनकी लोक-वेदमयी ज्ञान-गर्भा वाणी के प्रोत्साहन ने इस प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए आवश्यक आस्था प्रदान की, और जिन्होंने इस अकिंचन के इस प्रबन्ध-तृण को विद्वत्तापूर्ण 'भूमिका' से ऊपर उठा इसको साहित्य-देव की पूजा में चढ़ा दिया है—

आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री कालकाप्रसाद भटनागर को, जिनके जीवन का प्रत्येक पल शिक्षा और शिक्षार्थी की कल्याण कामना में तपस्वी की भाँति बीता है और बीत रहा है, जो उच्च अर्थशास्त्री हैं, पर जिन्हें अपने शायर पूर्वजों से साहित्य प्रेम दाय में मिला है, जिन्होंने हिन्दी की मौलिक संपन्नता के लिए क० मु० हिन्दी विद्यापीठ को अनवरत कर्म-

निष्ठता से एक दृढ़ता प्रदान की है, जिनके उपकुलपतित्व में ही इस प्रबंध को डी० लिट्० की उपाधि के योग्य समझा गया, और जिन्होंने अत्यन्त कृपा-पूर्वक इस अकिंचन की प्रार्थना पर इस ग्रन्थ का समर्पण स्वीकार किया है—

तथा विनोद पुस्तक मंदिर आगरा को, जिन्होंने आग्रहपूर्वक यह ग्रन्थ छापा है, जो अन्यथा अभी न जाने कब तक यों ही पड़ा रहता,

और,

अन्त में जिन प्रथम बन्दनीय महानुभाव का मुझे सादर स्मरण करना है वे हैं विश्व विश्रुत विद्वान श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी भूतपूर्व राज्य-पाल उत्तर प्रदेश तथा भूतपूर्व चाँसलर (कुलपति) आगरा विश्वविद्यालय, जिन्होंने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष, मौखिक तथा लिखकर, निजी रूप से तथा कुल पति के पत्रों द्वारा मुझे अनुसंधान में प्रवृत्त देख प्रसन्नता प्रकट की तथा इस प्रबंध के शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण करने की बलवती प्रेरणा प्रदान की।

—सत्येन्द्र

मध्ययुगीन

हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन

विषय-सूची

(विषय निर्देश के साथ बड़े कोष्ठक में पृष्ठ संख्या दी गयी है)

प्रथम अध्याय : लोक साहित्य

दूसरा अध्याय

निर्गुण सम्प्रदाय के तत्व

तृतीय अध्याय

प्रेमगाथा

चतुर्थ अध्याय

सगुण भक्ति काव्य

पाँचवा अध्याय

राम-शाखा

रामकथा का विश्लेषण—तीन कहानियाँ [४११]—पहली कहानी का क्षेत्र—दूसरी कथा मूलकथा है [४१२] रामकथा का जन्म-विकास [४१३-४१७]—इस कहानी का मूल ढाँचा [४१८]—फेंदफुल जोह्न का कथा-चक्र—इसके अभिप्राय [४१९-४२०]—राम-कथा, प्रेमकथा तथा अनुष्ठान-कथा[४२१-४२२]तीसरा अंश-सीता बनवास : उसके अभिप्राय—तुलना[४२३] प्रेयसी लुप्त [४२४] प्रथम कहानी का तुलसी में क्रम —हवि से राम-जन्म की लोक-परंपरा [४२५]—दूसरा कथा भाग तुलसी में [४२६]—राम-बनवास कथा संयोजक—श्रवणकुमार कथा—साम जातक [४२७]—सीता-हरण—दशरथ जातक [४२८]—भरत मिलाप तथा खड़ाऊँ—सीता हरण की मूल कथा—हनुमान [४२९]—मूल कथा की राम कथा में परिणति—शूर्पणखा : हेतु कथा—जानकी विजय—राम-सीता और प्रेमयोग [४३०] तुलसी के देवता—लौकिक-वैदिक [४३१]—इन्द्र की अवमानना[४३२-४३३] तुलसी और सुर-काज—रामकथा की परंपरा [४३४] मूल रचयिता शिव—शिव तथा लोक—लोक भाषा[४३५]—रामकथा की रूपक-व्याख्या [४३६]—महाभारत तथा रामकथा में अन्तर [४३७]—मूल राम कथा का निर्माण युग [४३८]—राम कथा का वेद-मूल—कृषि का रूपक—राम तथा इन्द्र [४३९-४४०]—वैष्णव भक्तों का जीवनी-साहित्य [४४१-४४६]

छठवाँ अध्याय

काव्य-रूपों में लोक-तत्वों की प्रतिष्ठा

हिन्दी है प्राकृत-वाणी [४४७] संस्कृत तथा प्राकृत धारा [४४८] केशव तथा तुलसी—[४४९-४५०] प्राकृत वाणी—सधुक्कड़ी—लोकभाषा [४५१] साहित्य के रूप क्यों ? [४५२] अद्वैत अनुभूति-बीज में काव्यरूप वृक्ष [४५३] अनुभूति के बहुरूप [४५४] विकास—गीत : विकास की अवस्थाएँ [४५५] संजीवित स्वर और जड़ स्वर—पद्य-छन्द[४५६] गीत : बात [४५७] अभिव्यक्ति तथा काव्य—काव्य-रूपों का वर्गीकरण [४५८] दृश्य का अर्थ [४५९] श्रव्य [४६०] भामह के काव्यरूप[४६१] दंडी—रुद्रट [४६२] वामन[४६३] हेमचन्द्र [४६४] पाठ्य-गेय [४६५] कथा-भेद [४६६] लोक-काव्य-रूप [४६७—४६८] छंद रूप तथा लोक क्षेत्र [४६९] मात्रा तथा ताल [४७०]

सातवाँ अध्याय

लोक-विश्वास

उपसंहार

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट—२

परिशिष्ट—३

परिशिष्ट—४

परिशिष्ट—५

प्रथम अध्याय : लोक साहित्य

प्रथम अध्याय

लोक-साहित्य

परिभाषा

लोक-साहित्य आज एक पारिभाषिक शब्द हो गया है। यह स्पष्टतः दो शब्दों से बना है। 'लोक' और 'साहित्य'।

साहित्य शब्द से सभी परिचित हैं। लोक-विशेषण से विशेषित साहित्य शब्द 'साहित्य' के सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ देने लगेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। वह अर्थ क्या है और हम आज लोक-साहित्य से क्या समझते हैं, यह जानना आवश्यक है। इसके लिए, लोक, शब्द के अभिप्राय को हमें ठीक ठीक समझना होगा।

लोक—शब्द-कोषों में 'लोक' शब्द के कितने ही अर्थ मिलेंगे।[1] जिनमें से साधारणतः दो अर्थ विशेष प्रचलित हैं। एक तो वह जिससे इहलोक, परलोक, अथवा त्रिलोक का ज्ञान होता है। वर्तमान प्रसंग में यह अर्थ अभिप्रेत नहीं।

---

१. हिंदी विश्वकोष—१. लोक (सं० पु०) लोक्यते इति लोक--घञ। भुवन। लोक सात हैं; सप्तलोकः भूर्लोक, भुवर्लोक, स्व···मह···जन···तप··· सत्य (अग्नि पु०)। सुश्रुत में लोक दो : स्थावर,जंगम,···एकमात्र पुरुष इन सब लोकों के अधिष्ठाता। (सुश्रुत सूत्रस्था १ अ०)···२. जन, आदमी ३. स्थान, निवास स्थान, ४. प्रदेश, दिशा, ५. समाज, ६. प्राणी, ७. यश, कीर्ति।

दूसरा अर्थ 'लोक' का होता है 'सामान्य जन'। इसी का हिन्दी रूप 'लोग' है। इसी अर्थ का वाचक "लोक" शब्द साहित्य का विशेषण है। किन्तु इतने से 'लोक' का वह अभिप्राय विदित नहीं हो पाता जो साहित्य के विशेषण के रूप में वह प्रदान करता है।

वास्तव में साहित्य को यह एक नया विशेषण मिला है। भाषा की दृष्टि से साहित्य का भेद हमें विदित है। हम हिन्दी साहित्य, बँगला साहित्य, अँग्रेजी साहित्य कहने और समझने के अभ्यस्त हैं। वैसे ही स्थल-भेद में भी साहित्य हमारे लिए अपरिचित नहीं, भारतीय साहित्य, यूरोपीय साहित्य आदि। भाषा और स्थल के भेद भौगोलिक हैं किंतु यह लोक-साहित्य किस प्रकार का साहित्य है, 'लोक' विशेषण किस अन्य प्रकार के साहित्य की संभावना मानता है, ये प्रश्न हैं। भारतीय साहित्य में तो हमें परम्परा से 'लोक' और 'वेद' का कुछ विभेद विदित होता है। लोक-परिपाटी और वेद-परिपाटी जैसे दो पृथक परिपाटियाँ हों।*

लोक-वेद का यह पुराने काल से चले आने वाला अन्तर यह बताता था कि जो वेद में स्पष्टतः नहीं है, वह यदि लोक में हो, अथवा जो वेद में है उसके अतिरिक्त भी यदि और कुछ लोक में हो तो वह लौकिक है। 'लोक' अथवा 'लौकिक' शब्द साहित्य में किसी अवहेलना अथवा उपेक्षा का 'भाव' प्रकट नहीं करते थे। किंतु लोक-साहित्य का 'लोक' वेद से इस भिन्नता को प्रकट करता हुआ भी उस अर्थ को प्रकट नहीं करता जो वह लोक-साहित्य में करता है। वहाँ वैदिक से भिन्न शेष समस्त बातें लौकिक कहलायेंगी। कालिदास का 'शकुन्तला' नाटक, भारवि, माघ, भवभूति की रचनाएँ सभी लौकिक कोटि की होंगी, किन्तु ये 'लोक-साहित्य' नहीं।

वस्तुतः इसके लिए हमें अन्यत्र देखना होगा। क्योंकि लोक-साहित्य शब्द अँग्रेजी का अनुवाद है। यह अँग्रेजी के जिस शब्द का अनुवाद है वह है 'फोक लिटरेचर'। 'फोक' का पर्याय लोक है और लिटरेचर का 'साहित्य'।

इस 'फोक' के विषय में 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' ने बताया है कि आदिम समाज में तो उसके समस्त सदस्य ही लोक (फोक) होते हैं और विस्तृत अर्थ में तो इस शब्द से सभ्य से सभ्य राष्ट्र की समस्त जन-संख्या को भी अभिहित किया जा सकता है। किंतु सामान्य प्रयोग में पाश्चात्य प्रणाली

* महाभारत में लोक-वेद-विधि के विरोध को बताने वाले कई वाक्य मिलते हैं। वेदाश्रो, वैदिका, शब्दाः, सिद्धा लोकाश्चा लौकिकाः, प्रियताहिता दाक्षिणात्या यथा लोके वेदे चेतिप्रयोक्तामे यथा लौकिक वैदिकेंविति प्रयुंजते। भगवद्गीता में "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः" आदि।

की सभ्यता के लिए [ऐसे संयुक्त शब्दों में जैसे 'लोकवार्ता' ('फोकलोर') 'लोकसंगीत' (फोक म्युजिक) आदि में इसका अर्थ] संकुचित होकर केवल उन्हीं का ज्ञान कराता है जो नागरिक संस्कृति और सविधि शिक्षा की धाराओं से मुख्यतः परे हैं, जो निरक्षर भट्टाचार्य हैं अथवा जिन्हें मामूली-सा अक्षर ज्ञान है : ग्रामीण और देहाती।

हम अपनी दृष्टि से यह कह सकते हैं कि 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं वे लोक-तत्व कहलाते हैं।

लोक-साहित्य

ऐसे लोक का साहित्य ही लोक-साहित्य है। साहित्य शब्द भी कुछ जटिल ही है। संस्कृत में इसका अर्थ वह नहीं था जो आज इसका अर्थ है। वहाँ पहले इसका अर्थ काव्य-शास्त्र लिया जाता था। आज यह शब्द अँग्रेजी लिटरेचर का पर्याय है। लिटरेचर का संबंध लैटर्स से है। फलतः लिटरेचर के पर्यायवाची 'साहित्य' शब्द के अन्तर्गत ऐसी कृतियाँ ही आ सकेंगी जिन्हें लिखा-पढ़ा जा सके। किंतु सभी जानते हैं कि लिटरेचर अथवा साहित्य की आत्मा लिपि की वर्ण-माला से बँधी हुई नहीं है। साहित्य की कोटि की कोई भी सार्थक शब्दावली साहित्य का माध्यम हो सकती है—एक गीत महादेवी वर्मा लिखती या गाती हैं, एक गीत गाँव की एक बुढ़िया केवल गाती है। दोनों गीत हैं। आज की साहित्य की परिभाषा में दोनों को ही स्थान देना होगा। कबीर बे-पढ़े-लिखे थे। सूरदास अंधे थे, पढ़-लिख नहीं सकते थे। इनकी रचनाएं साहित्य के अन्तर्गत बहुत समय से मानी जाती रही हैं। अतः साहित्य का अर्थ विस्तृत होगया है। साहित्य के इस विस्तृत अर्थ में आज मनुष्य की वह समस्त सार्थक अभिव्यक्ति सम्मिलित मानी जायगी जो लिखित हो या मौखिक हो, किंतु जो व्यवसाय-क्षेत्र की न हो। ऐसी समस्त लोकतत्व युक्त अभिव्यक्ति लोक-साहित्य के अन्तर्गत होगी।

अतः लोक-साहित्य की परिभाषा यह हो सकती है :

परिभाषा : 'लोक-साहित्य' के अन्तर्गत वह समस्त भाषागत अभिव्यक्ति आती हैं जिसमें (अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों,[1]

१. ऊपर जो 'लोक' की परिभाषा दी गयी है उसमें 'परंपरा के प्रवाह' का उल्लेख इसी अवशेष की ओर संकेत करता है। सोकोलोव ने 'रशन फोकलोर' नामक पुस्तक में लोकवार्ता की प्रकृति पर विचार करते हुए लिखा

(आ) परंपरागत मौखिक क्रम से उपलब्ध भाषागत अभिव्यक्ति हो* जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो, और जो लोक-मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो।

है कि "लोक-वार्ता की वस्तु और रूप में प्राचीन संस्कृतियों के अवशेषों की उपस्थिति न मानना असंभव है।" दूसरे शब्दों में सोकोलोव यह स्वीकार करते हैं कि लोकवार्ता में पूर्वकालीन संस्कृतियों के अवशेष अवश्य होते हैं। अतः लोक-साहित्य में प्राचीन संस्कृतियों का अवशेष पहला तत्व है। हमने यहाँ संस्कृति के स्थान पर 'मानस' शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि लोक-साहित्य वाणीगत अभिव्यक्ति है। वाणीगत अभिव्यक्ति में संस्कृति की छाप को सुरक्षित रखने वाला स्थूल तत्व प्रायः नहीं होता। हाँ, उस संस्कृति से जिस मानस का तादात्म्य रहता है, वाणी में वह मानस अवश्य प्रकट होता है। उसी मानस के अनुकूल लोक-साहित्य की वस्तु और रूप प्रकट होते हैं। इसी लिए 'आदिम मानस' के अवशेष कहना विशेष उपयुक्त है। आदिम शब्द भी निजी अर्थ रखता है। वह अँग्रेजी के "प्रिमिटिव" शब्द का स्थानापन्न है। इस आदिम का अभिप्राय केवल ऐतिहासिक दृष्टि से आदिम अथवा आदिम मानव नहीं वरन् यह शब्द केवल उन गुणों और विशेषताओं तथा धर्मों का द्योतक है जो ऐतिहासिक दृष्टि से आदि मानव में होंगे और जो आज भी आदिम जातियों में प्रत्यक्षतः तथा सभ्य से सभ्य जातियों में अप्रत्यक्षतः मिलते हैं। किसी अँग्रेजी कहावत में बताया गया है कि आदमी को जरा खुरचिये तो आपको पशु दिखायी पड़ जायगा। आज का सभ्य से सभ्य मनुष्य भी अपने आदिम संस्कारों के बीजों को नष्ट नहीं कर सका है। आदिम मानस से लोकवार्ता (फोकलोर) का घनिष्ठ संबंध है यह ओरेलियो एम० एसपिनोजा ने एक ही वाक्य में स्पष्टता से प्रकट कर दिया है: "Folklore may be said to be true and direct expression of the mind of primitive man."

* As it approaches the level of the illiterate and subliterary folklore constitutes a basic part of our oral culture in the proverbial folksay and accumulated mother wit of generations that bind man to man and people to people with traditional phrases and symbols. Folklore derives its integrity and servival value from a direct response to and partcipation in group experience, and the fusion of the individual and the common sense. B. A Botkin (P. 399 the Standard Dictionary of Folklore etc.) राल्फ स्टीले बोग्गस ने भी लिखा है कि:—

(इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसको व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध करते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।

लोक-साहित्य का क्षेत्र : इस दृष्टि से लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। अभिजात्य साहित्य तो प्रायः समस्त ही लिपिबद्ध रूप में प्रस्तुत होता है, और अबतक वही आदर की वस्तु माना जाता था। यह समस्त साहित्य भी विशाल विश्व और उसकी परम्परा को देखते हुए बहुत थोड़ा है। और इसका क्षेत्र बहुत सीमित है। यह बात लोक-साहित्य के सम्बन्ध में नहीं।

लोक-साहित्य में लोकाभिव्यक्ति होती है। इस लोकाभिव्यक्ति के सामान्यतः दो भेद तो हमें स्पष्ट ही दिखायी पड़ते हैं। यथार्थतः तो इसके तीन भेद हैं :—

पहली :—शरीर-तोषिणी: व्यवसाय-प्रधान—ऐसी अभिव्यक्ति जो जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति-मात्र के उपयोग में आती है। भोजन, आच्छादन, शरण और भोग सम्बन्धी।

दूसरी :—मनस्तोषिणी—ऐसी अभिव्यक्ति जो मन को तोष प्रदान करे। आदिम अवस्था में मन के तोष की अभिव्यक्ति भी व्यावसायिक कोटि की होती थी। मन में दो भाव मौलिक हैं—आश्चर्य का और भय का। ये प्रकृति-सम्पर्क-जात हैं; पर-प्रेरित-प्रकृति-विषयक। इनसे भिन्न एक मौलिक भाव सहज होता है, निज-प्रकृति-प्रेरित—यह है 'रति' का। यह स्तन-पान का प्रारंभिक रूप ग्रहण करता है। प्रकृति-सम्पर्क-जात दो भावों में से आश्चर्य का परिणाम था 'ज्ञान' और साधन था उत्साह अथवा वीर भाव। भय का आधार था 'अज्ञान'। इसी भय के निवारण के लिए जो अभिव्यक्ति का स्वरूप हुआ वह मनस्तोषी ही कहा जायगा। इसने अनुष्ठान का रूप धारण किया। आज के भी टोटके-टमन्ने-लोक-विधि आदि इसी मनस्तोषिणी अभिव्यक्ति के रूप हैं।

तीसरी :—तीसरी अभिव्यक्ति मनस्तोषिणी से आगे मनोमोदिनी भी होती है। यह वह अभिव्यक्ति है जिसका मनुष्य की 'मोद' वृत्ति से सम्बन्ध है "तोषण" से नहीं। मानव की तीन ही प्रधान वृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं—

"But fundamentally to the Folklore, their currency must be or have been in the memory of man bequeathed from generation to generation by word of mouth and imitative action rather than by the printed page.

पोषण की, तोषण की तथा मोदन की। पोषण, तोषण और मोदन की लोक-अभिव्यक्तियों का वाणी-रूप लोकसाहित्य के अन्तर्गत है।[१]

इस साहित्य की ऊपरी सीमा शिष्ट साहित्य को स्पर्श करती है और निचली सीमा घोर जंगली अभिव्यक्ति को।

आज का मानव समाज केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही भूत से सुसम्बद्ध नहीं, उसका आज का विश्वरूप भी भूत को वर्तमान किये हुए हैं। मनुष्य का इतिहास उसके स्थापत्य-शिल्प-तत्वों में ही निहित नहीं; जङ्गली मानवों से शिष्ट मानवों तक में विद्यमान मौखिक अभिव्यक्तियों की परम्पराओं में भी है। इस परम्परा के प्रवाह को छोड़ कर पूर्ण अहं-चैतन्य[२] से युक्त होकर जो साहित्य निर्मित किया जाता है, वही लोक-साहित्य से भिन्न कोटि का होता है।*

इस प्रकार लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत विशद है। अत्यन्त आदिम जंगली अभिव्यक्तियों से लेकर शिष्ट साहित्य की सीमा तक पहुँचने वाली समस्त अभिव्यक्ति लोक-साहित्य के अन्तर्गत है।

लोक-साहित्य के प्रकार : निर्माता में अहं-चैतन्य आकस्मिक ही उदय नहीं होता। अहं-चैतन्य का एक क्रम समाज में विद्यमान है। जङ्गली अवस्था में अहं-चैतन्य नितान्त शून्य होता है। आत्यन्तिक सभ्य अवस्था में यह चैतन्य पराकाष्ठा पर होता है। इस चैतन्य का कुछ सम्बन्ध जीविका-साधन से है, ऐसा विदित होता है। यह सिद्धान्त नितान्त निराधार तो नहीं माना जा सकता कि सभ्यता का विकास उत्पादन के साधनों के विकास से सम्बद्ध है।

१. आदिम काल में शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी कुछ ऐसी शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ होती थीं जिनके उच्चारण से यह विश्वास किया जाता था कि वांछित वस्तु प्राप्त हो सकती है। इसी मूल से जादू-टोने और आगे तंत्र-मंत्र का विकास हुआ जो आज भी विद्यमान है और समाज में एक विशेष स्तर पर अपना आतंक जमाये हुए है। ऐसा साहित्य लोकसाहित्य तो है ही विशेषतः लोक-वार्ता साहित्य है।

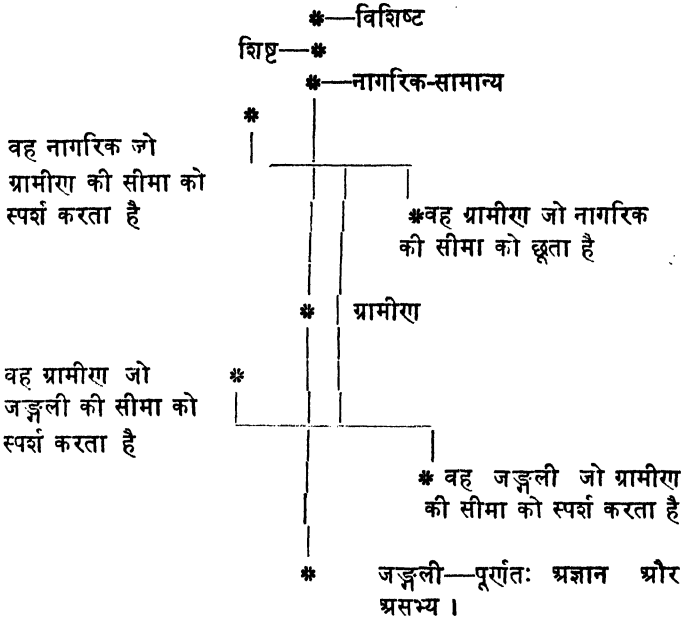
२. अहं-चैतन्य व्याख्या चाहता है। निर्माता में निर्माण के अहं का चैतन्य जब जागृत रहता है तब ही वह साहित्य लोकेतर साहित्य की कोटि में आता है।

*हीन मेधा द्वारा लिखी गयी अहं-चैतन्य से निर्मित रचनाएँ लोकसाहित्य में परिगणित नहीं होंगी जैसे 'चन्द्रकान्ता' के अनुकरण पर लिखे गये सूर्य-कान्ता आदि।

इस सिद्धान्त के आधार पर प्रत्येक ऐसा वर्ग जो किसी साधन-विशेष से जीविकोपार्जन करता है एक विशिष्ट अहं-चैतन्य का प्रतिनिधि माना जायगा। आज भी ऐसे वर्ग हैं जो किसी-न-किसी ऐतिहासिक साधन को जीविका का आधार बनाये हुए हैं। इतिहास से मानव-विकास के क्रम में हमें विदित होता है कि मनुष्य आरम्भ में शिकार पर निर्भर करता था, शिकार एक उद्योग था। फल और घास भी मिलते थे पर इन्हें उद्योग नहीं कहा जा सकता था। क्योंकि ये तो सहज ही उपलब्ध थे। शिकार के उपरान्त पशुपालन, तब कृषि * और तब मशीन-उद्योग। आज शिकार करने वाली जातियाँ भी हैं। ये बहुधा जङ्गलों में हैं। पशु-पालन और कृषि का सम्बन्ध गाँवों से है, मशीन-उद्योग से नगर स्थित हैं। फलतः मोटे रूप में अहं-चैतन्य की तीन अवस्थाएँ ही होती हैं—जङ्गली, ग्रामीण तथा नागरिक। अहं-चैतन्य की इस क्रमस्थिति में कितनी ही अन्य स्थितियाँ भी होना स्वाभाविक ही है

*. यद्यपि फ्रान्ज बोआज ने लिखा है कि : "With this we are led to a question of fundamental importance for the theory of unilinear evolution : What is the chronological relation between agriculture and trading. When we approach this question from a psychological view-point the difficulty arises that we are no longer dealing with one single type of occupation carried on by the same group but that we have two occupations distinct in technique and carried on by distinct groups. The activities leading to the domestication of animals have nothing in common with those leading to the cultivation of plants. There is no bond that makes plausible a connection between the chronological development of these two occupations. It is missing because the persons involved are not the same and because the occupations are quite distinct. From a psychological point of view there is nothing that would help us to establish a fine sequence for agriculture and trading."

अहं-चैतन्य की अवस्थाएँ



ये सभी स्थितियाँ आज के जटिल समाज में किसी न किसी रूप में पृथक पृथक वर्गों में ही नहीं, एक ही वर्ग में एक साथ ही स्थित मिल जाती हैं । [1]

किन्तु लेखक एक बात पर ध्यान देना भूल गया है । मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का सर्वथा अभाव कभी नहीं हो सकता । पशु-पालन और कृषि के ऐतिहासिक क्रम को समझने के लिए आज हमें कोई इतिहास या पुरातत्व के पदार्थ नहीं मिल सकते पर मनोस्थिति को हम आज भी समझ सकते हैं । कृषि के लिए स्थायी निवास और प्रतीक्षा या धैर्य की अपेक्षा है । जैसा बोआज ने स्वयं बताया है कि कृषि का सम्बन्ध स्त्रियों से होना चाहिए, पशुपालन का पुरुषों से; यह आंशिक सत्य है, पूर्ण सत्य नहीं । कृषि की आदिम अवस्था 'फ्रूटगैदरिंग' फल-संग्रह से स्त्रियाँ सम्बन्धित मानी जा सकती हैं पर कृषि से नहीं । कृषि एक कठिन कर्म है और जटिल भी । पशु-पालन एक साधारण सरल व्यापार है, जिसमें पशु स्वयं भी पालक को सहायता पहुँचाता है । कृषि ऐसा व्यापार नहीं । यह स्थायी निवास और धैर्य तथा जटिल साधनों का उपयोग अधिक समय चाहता है । अतः यह पशु-पालन से संस्कृति के विकास-क्रम में आगे ही उपस्थित हो सकता है ।

१. लेवी ब्रूहल नाम के विद्वान ने आदिम मनोवृत्ति नामक

पृथक पृथक वर्गों की बात तो निर्विवाद और सहज मान्य है। शिकारी जंगली जातियाँ आज भी पहाड़ों और घने जंगलों में हैं। पशु-पालन के लिए घूमने वाले अथवा पशु-पालन में ही दक्ष जातियों के वर्ग शहरों और गाँवों के छोरों पर मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त भी अन्य कितनी ही घुमक्कड़ जातियाँ आज यहाँ विद्यमान हैं। अतः आज की समाज यों जटिल है। किन्तु सब से अधिक जटिलता वहाँ दिखायी पड़ती है, जहाँ एक ही वर्ग में विभिन्न स्थितियाँ एक साथ चलती दिखायी पड़ती हैं। भारत के किसी घर में प्रवेश करके उसमें होने वाले प्रत्येक कृत्य और संस्कार पर ध्यान दीजिये तो एक अनोखा वैविध्य दिखायी पड़ेगा।

भारतीय घर और समाज :—भारतीय घर और समाज में एक अनोखा वैषम्य अथवा वैविध्य में सामंजस्य मिलता है। उसमें प्रत्येक अनुष्ठान में कितने ही तत्वों का संयोजन मिलता है। एक सामान्य भारतीय घर का अध्ययन करके ही एक प्रकार से भारत की संस्कृति के पर्त्तों का अनुमान लगाया जा सकता है। भारतीय घर की ही भाँति समस्त समाज का रूप बनता है। भारतीय घर के इन पर्त्तों पर दृष्टि डालें तो पहला स्तर टोने-टोटकों का मिलेगा। किसी भी प्रकार का अनुष्ठान हो, कोई संस्कार हो, कोई उत्सव हो, एक-न-एक टोना या टोटका उसके साथ लगा हुआ होगा। दूसरे स्तर पर दई-देवताओं की भावना। इन दई-देवताओं में पितरों की मृतात्माएँ, भूत-प्रेत-हवाएं, सन्त-फकीरों की मृतात्माएं, मसान, विविध देवियाँ, तथा अनेकों

पुस्तक में आदिम विकार के दो तत्वों को स्वीकार किया था। उसने माना था कि आदिम मानस विवेकपूर्वीय होता है और रहस्यशील होता है। विवेक-पूर्वीय वह इसलिए होता है कि वह विषमीकरण के नियम (law of contradiction) से अबोध रहता है, फलतः वह दो विषम विचारों या भावों को एक साथ स्वीकार करने में भी हिचकता नहीं और उनमें उसे कोई असंभावना नहीं प्रतीत होती। वह रहस्यशील इसलिए होता है कि अनुभव की बातों की व्याख्या वह अधिकांशतः पराप्राकृत के द्वारा करता है, प्राकृतिक कारणों से नहीं। फ्रेजर ने 'गार्नडंशीव्स' में लेवी ब्रूहल की इस मान्यता को स्वीकार कर लिया है कि आदिम मानव की विशेषता है कि वह विवेकपूर्वीय और रहस्यशील होता है किंतु उसने साथ ही यह टिप्पणी भी दी है कि इसके अर्थ यह नहीं हैं कि शिष्ट मानव इन दोनों से मुक्त होता है। आदिम मानस और शिष्ट मानस में केवल कोटि-क्रम (degree) का ही अन्तर है, प्रकार का अन्तर नहीं :

अन्य देवता सम्मिलित हैं। इनमें से एक पर्त्त पर दई-देवताओं को निवारण करने के टोटके रहते हैं। दूसरे पर्त्त पर उनकी पूजा रहती है। इनके ऊपर सामान्य धार्मिकता का वातावरण रहता है, तब शास्त्रीय धार्मिक आनुष्ठानिकता का सत्कार होता है। उसके ऊपर एक ही घर में वह जागरूक धार्मिक मतवाद मिलेगा जो दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण करता है। इसी से संघर्ष करता हुआ सुधारवृत्ति का संस्कार भी पनपता दिखायी पड़ेगा, जो प्राचीन मान्यताओं और विश्वासों के मूल तात्पर्य और रूप की तो रक्षा करेगा, पर उसे पोशाक समय की प्रवृत्ति के अनुकूल पहना देगा। इसी घर में आपको एक ओर वैज्ञानिक विचारशील और विवेकशील स्तर भी मिल सकता है।

भारतीय घर :

भारतीय घर में प्रत्येक स्तर के अनुकूल चित्र-रचना, मूर्तविधान, कथा-कहानी, संगीत तथा नृत्य, पूजा-पाठ, मंत्र-पाठ, यज्ञ, पौरोहित्य, भोजन-व्यवस्था आदि तत्व भी मिलेंगे। यों प्रत्येक अनुष्ठान के साथ जीवन की अभिव्यक्ति के प्रत्येक रूप की किसी न किसी विधि से प्रतिष्ठा होगी। और उसमें प्रत्येक स्तर के स्वरूप का अपना अलग इतिहास झाँकता दिखायी पड़ेगा।

भारतीय घर की गहरायी में प्रथम स्तर आनुष्ठानिक टोने-टोटकों का मिलेगा। जीवन के संस्कारों से इनका अनिवार्य सम्बन्ध है। यों तो जीवन के सोलह संस्कार माने गये हैं पर प्रमुख तीन ही हैं—जन्म, विवाह और मृत्यु। इन तीनों अवसरों पर भारतीय घर जटिल अनुष्ठानों का आकर बन जाता है, घर का प्रत्येक घड़ी-पल इन अनुष्ठानों से परिपूर्ण हो जाता है। इसमें आप को आदिम चित्रकला के प्रतीक मिलेंगे और वैसे ही गीत भी। इन अनुष्ठानों को विधि-पूर्वक संपन्न करने का ही विशेष ध्यान रहता है, किसी श्रद्धा आदि का भाव नहीं रहता। एक भय यह व्याप्त रहता है कि कोई विधि या अनुष्ठान छूट न जाय, अन्यथा कुछ अशुभ हो सकता है। इसी घर में आप को जीवन-मंगल के उत्सव और त्यौहार दिखायी पड़ेंगे, जिनकी रीढ़ तो आदिम भावना से युक्त होगी,[1] जिनमें यजमान-पुरोहित प्रायः स्त्री ही होगी, किन्तु

१—किसी भी त्यौहार को लिया जा सकता है। उसका वह आनुष्ठानिक अंश जो स्त्री के द्वारा सम्पादित होता है, रीढ़ होगा और उसमें आदिम भावना का बीज होगा। दिवाली को चित्रित करना, साहू पूजा, गौर पूजा और बोज की कहानी दिवाली के त्यौहार की रीढ़ हैं। इसी प्रकार प्रत्येक हिन्दू त्यौहार में यह रीढ़ दिखायी पड़ेगी।

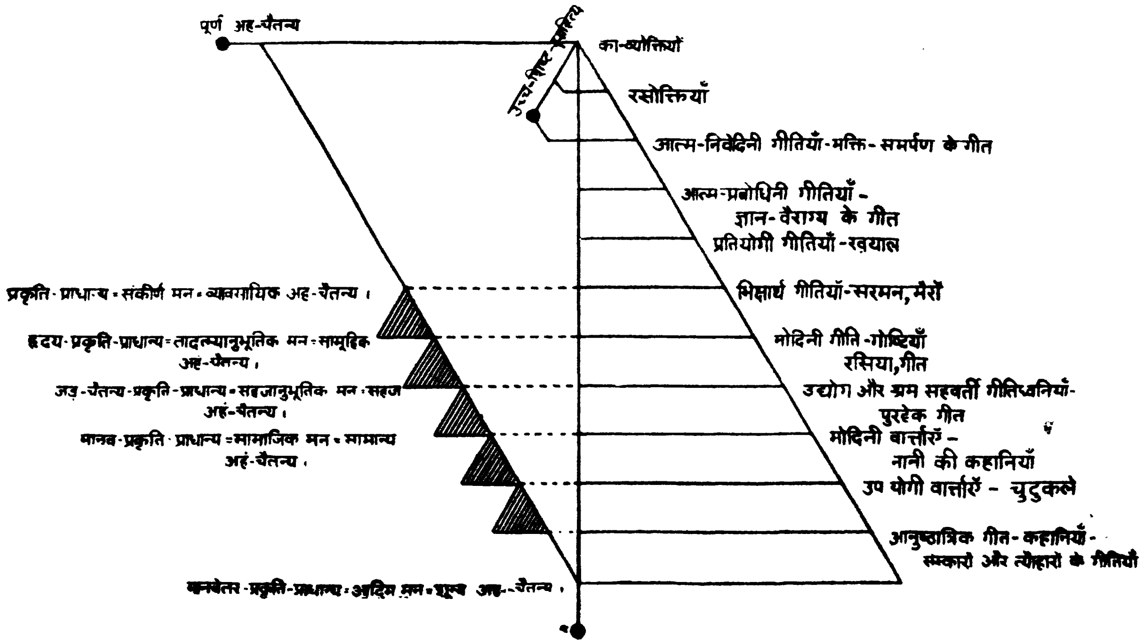
जिनमें रक्तमाँस ऋषि अथवा द्रष्टा (seer) ने अपने दर्शन से चढ़ाया होगा। यह दर्शन भी वह होगा जो आदिम मानव की भावना के गर्भ में से अर्द्धस्फुट होता विदित होगा, जिसके चारों ओर एक विवेक-पूर्वीय और रहस्यशील आवरण आवृत्त होगा।[1] इन अनुष्ठानों में एक उल्लास और उमंग का समावेश रहता है, एक मंगल और समृद्धि की भावना विद्यमान रहती है। इन उत्सवों में विविध दृष्टिकोणों और साम्प्रदायिक भावनाओं का अद्भुत सम्मिश्रण मिलेगा। इनमें एक ओर शकटचौथ (संकटचौथ) गणेश-पूजा से सम्बन्ध रखनेवाली होगी, तो दूसरी ओर नागपूजा होगी, अनन्त-पूजा होगी, कहीं व्रत और उपवास होंगे, कहीं रात्रि-जागरण, कहीं जुआ-खेलना, और मदिरा-सेवन तक। यहीं जीवन-शोधन की नयी प्रणालियाँ भी साथ-साथ मिलेंगी और पदार्थवादी दर्शन और बौद्धिकता में विश्वास, नये से नये विचारक के साथ चाय पार्टियाँ और सिनेमा-दर्शन, टेबिल-कुर्सी सब कुछ। अतः अहंचेतन्य के विविध स्तरों का एक ही केन्द्र पर अद्भुत समीकरण यहाँ दिखाई पड़ता है।

लोक-साहित्य का कोटिक्रम

इस दृष्टि से लोक-जीवन की अभिव्यक्तियों का अध्ययन क्षितिजीय (horizontal) ही नहीं होना चाहिए, तलगामी (perpendicular) भी होना चाहिये। यों जब हम देखेंगे तो लोकाभिव्यक्ति के वाणी-रूप साहित्य को क्रमशः कुछ इस कोटि-क्रम में पायेंगे। (देखिये पृष्ठ १२ का चित्र)

१—दिवाली पर लक्ष्मी, सरस्वती, गणेश आदि की पूजा को स्थान देना तथा मंत्र-यज्ञ से उनकी पूजा इसके उपलक्षण हैं।

अहं-चैतन्य और साहित्य के रूपों का क्रम



इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आज भी हमें आदिम से लेकर शिष्टतम मनोवृत्ति से निस्रत साहित्य एक साथ प्राप्त है। साहित्य में अहंचैतन्य के इस कोटिक्रम पर दृष्टि डालने से एक आंशिक अहँचैतन्य की सतत अवस्थिति का पता चलता है। इस अहंचैतन्य में चैतन्य का कोई न कोई प्रकार रहता ही है। किन्तु वह पूर्ण 'अहंचैतन्य' तक अवैज्ञातिक रहता है। अवैज्ञातिक अहंचैतन्य में लोक-तत्व किसी न किसी रूप में अवश्य समाविष्ट हो जाता है। लोक-तत्व जहाँ प्रधानता से विद्यमान है वहाँ 'लोक-साहित्य' को विद्यमान मानना ही होगा। लोक-तत्व का तो यों किसी न किसी मात्रा में प्रत्येक युग के उच्च साहित्य में,जैसे यूनानी 'ईलियड' तथा 'ओडेसी',भारतीय रामायण,किरातार्जुनीय, रघुवंश, मेघदूत, शिशुपाल बध आदि, अंग्रेजी के पैरेडाइज लास्ट, शेक्सपीयर के नाटक, गेटे की प्रसिद्धकृति, आदि सभी में, लोक-तत्त्व का समावेश है। भारत में तो इसकी और भी प्रबलता है। किन्तु ऐसे उच्च शिष्ट साहित्य में लोक-तत्त्व प्रेरणा अथवा आधार का काम देता है, प्रधानता ग्रहण नहीं करता।

अभिव्यक्ति के अंग

किसी भी अभिव्यक्ति के निम्नलिखित अंग होते हैं

(१) सामग्री (२) सामग्री का विन्यास (३) विन्यास-शिल्प (४) अभिप्राय-ग्रथन (५) अर्थ-द्योतन (६) कथन शैली। (अ) प्रतिपादक शैली, (आ) भाषा शैली, (७) व्याप्त मनोस्थिति अथवा मानस। उदाहरणार्थ **रामायण में—**

१, रामचरित्र सामग्री है, २, उस चरित्र का ढाँचा कैसा हो, यह विन्यास है, ३, उस ढाँचे में सौष्ठव कैसे लाया, जाय यह विन्यास-शिल्प है, ४, उस ढाँचे में किन घटनाओं, तत्वों अथवा अभिप्रायों (motifs) को किस प्रकार कहाँ रखा जाय, यह अभिप्राय-ग्रथन है, ५ इसके द्वारा क्या अर्थ प्रकट करना है, यह अर्थ-द्योतन है, ६ समस्त सामग्री और अर्थ को किस विधि से अधिकाधिक उत्कर्ष युक्त प्रेषणीयता प्रदान की जाय, यह कथन-शैली का धर्म है, ७ इस समस्त क्रम में एक मनोस्थिति व्याप्त रहना अनिवार्य है।

वस्तुतः यह व्याप्त मनोस्थिति ही सब से प्रमुख तत्व है। इससे कला का रूप तो नहीं निर्धारित होता, साहित्य का प्रकार निर्धारित हो सकता है। साधारणतः इस व्याप्त मनोस्थिति से ही शेष समस्त अंग प्रभावित हो जाते हैं। फिर भी अन्य साहित्यिक रचना में विन्यास-शिल्प, अर्थ-द्योतन और कथन-शैली में लोक-साहित्य से भिन्नता दीख पड़ती है। इन्हीं में 'अहं-चैतन्य'

की परिपूर्णता दिखायी पड़ती है, शेष में तो उसे लोकप्रियता की दृष्टि से लोक-साहित्य की सामग्री का उपयोग करना आकर्षक प्रतीत होता है।

हमें लोक-साहित्य के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान के लिए इन सभी अङ्गों में व्याप्त मनोस्थिति अथवा 'मानस' को भी समझना आवश्यक है। लोक-साहित्य एक अंश है लोक-वार्ता का। लोक-वार्ता में भी लोक-मानस की व्याप्ति रहती है।

लोकवार्ता के तत्व तथा लोक-मानस

लोक-वार्ता[1] के अन्तर्गत वह समस्त अभिव्यक्ति आती है जिसमें आदिम मानस के अवशेष आज भी दिखायी पड़ते हैं।[2] आज की वैज्ञानिक दृष्टि यह

१. मैरेट ने गोम्मे के एक उद्धरण के द्वारा फोकलोर के क्षेत्र का स्वरूप बहुत ही स्पटष्त: प्रस्तुत किया है, वह उद्धरण यों है :—"Folklore may be said to include the culture of the people, which has not been worked into the official religion and history. but which is and has always been of self-growth"--Psychology and Folklore by R.R. Marett. P, 76

2 (I) Modern researches into the early history of man, conducted on different lines have converged with almost irresistible force on the concluison, that all civilized races have at some period or other emerged from a state of savagery resembling more or less closely the state in which many backward races have continued to the present time; and that long after the majority of men in a community have ceased to think and act like savages, not a few traces of the old ruder modes of life and thought survive in the habits and institution of the people. Such survivals are included under the head of folklore, which, in the broadest sense of the word, may be said to embrace the whole body of a peoples traditionary beliefs and customs, so far as these appear to be due to the collective action of 'the multitude' and can not be traced to the individual or great man--Frazer : Man, God and Immortality (1927) p.p. 42.

(II) Myth arose in the savage condition prevalent in remote ages among the whole human race; it remains comparatively unchanged among the

मानती है कि विश्व की प्रत्येक मानव जाति ने अपनी यात्रा का आरम्भ आदिम बर्बर अवस्था से किया है। मनुष्य की दैवी उद्भावना और दिव्य महत्ता-युक्त आरम्भ में विश्वास करना आज मूर्खता समझी जाती है।[१] बर्बरावस्था से विकसित होकर मनुष्य ने आज की सभ्यता उपार्जित की है। जैसे विकसित होने पर भी मनुष्य आदिम मनुष्य का ही रूपान्तर है उसी प्रकार मनुष्य की अभिव्यक्तियों में भी आदिम अभिव्यक्ति के अवशेष रह ही जाते हैं। वे अवशेष लोकवार्ता हैं और लोकवार्ता-शास्त्र के अध्ययन की वस्तु हैं। किन्तु लोकवार्ता जिन अवशेषों का अध्ययन करती है, वे अवशेष केवल मूल आदिम मनुष्य के हैं इस बात को निश्चय पूर्वक आज किसी भी शास्त्र अथवा विज्ञान को कहने का अधिकार नहीं है। क्योंकि आरम्भिक आदिम मनुष्य इतना प्राग्ऐतिहासिक है और मनुष्य के अनुमान के भी इतने परे है कि उसके संबंध में निश्चय रूप से कुछ भी कहना अवैज्ञानिक माना जायगा। वस्तुतः लोकवार्ता के अवशेषों के अध्ययन का अर्थ है कि उस आदिम लोक-प्रवृत्ति को समझा जाय जिसके परिणामस्वरूप लोकवार्ता प्रस्तुत होती है—यह लोक-प्रवृत्ति जब जहाँ-जहाँ जिस मात्रा में विद्यमान मिलेगी, वहाँ तब-तब उसी परिमाण

modern rude tribes who have departed least from these primitive conditions; while even higer and later grades of civilisation, partly by retaining its actual principles, partly by carrying on in its imperfect result in the form of ancestral tradition, have continued it not merely in toleration but in honour"—

Tylor, Primitive Culture Vol. i. p. 213 quoted in Poetry & Myth. : Prescott at P. 13.

(III) Folklore means the study of survivals of early customs, beliefs, narrative and art— An Introduction to Mythology by Lewis Spence, p 11

१. Indeed the notion that man began with pure moral and religious ideas and a sensible language but gradually became possessed by a licentious imagination and so formed untrue and unlovely conceptions, has been quite given up; and we see instead that he began with the crudest dreams and fancies, which were by a long, natural and (in general) healthy growth, gradually elevated and refined.—Poetry and Myth by Prescott p. 101

में लोकवार्ता भी मिलेगी। विश्वामित्र और वशिष्ठ, राम और कृष्ण, विक्रमादित्य तथा गोरखनाथ के सम्बन्ध में हमें एकानेक लोकवार्ताएँ मिलती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये व्यक्ति और इनसे सम्बन्धित ये लोकवार्ताएँ आदिम मनुष्य के द्वारा उद्भावित नहीं। विश्वामित्र तथा वशिष्ठ की लोकवार्ताएँ वैदिक काल की देन हैं, राम-कृष्ण की पौराणिक काल की। विक्रम की कहानियाँ डेढ़ दो हजार वर्ष पूर्व आरम्भ हुई होंगी और गोरख की सात सौ आठ सौ वर्ष पूर्व। ये सभी लोकवार्ताएँ हैं, आज इनका इसी रूप में लोकवार्ता के अध्येता उपयोग करते हैं। फलतः लोकवार्ता की वस्तु की नहीं, लोकवार्ता की प्रवृत्ति की विशेषताएँ समझने की आवश्यकता है, और इसी प्रवृत्ति में हमें आदिम मानव की प्रवृत्ति के अवशेष देखने को मिलेंगे। प्रत्येक वार्ता में दो बातें स्पष्टतः मिलती हैं :[1] एक कोई न कोई आधार तथ्य, दूसरे इसका ग्रहीत स्वरूप। तथ्य तो तथ्य है, सूर्य तो सूर्य है, पर उसका ग्रहीतस्वरूप क्या है? प्राकृतिक विज्ञानवेत्ता के लिए वह एक अग्निपिंड है और उसका मात्र भौतिक स्वरूप ही उसे मान्य है। पर लोकवार्ताकार के लिए यह सूर्य एक मनुष्य की भाँति है, उसके माँ है, उसके स्त्री है, स्त्री फूहड़ है[2] आदि। तय है कि **गोरखनाथ** एक योगी हुए हैं, और उन्होंने एक प्रबल सम्प्रदाय भारत में चलाया। किन्तु गोरखनाथ के उस ऐतिहासिक तथ्य को लोकवार्ता ने एक अद्भुत स्वरूप दिया है। लोकवार्ता का मूल रहस्य इस स्वरूप में ही है, यह स्वरूप ही उस प्रकृत्ति का परिणाम है, जिसे लोक-प्रवृत्ति कहते हैं। इस लोक-प्रवृत्ति में ही हमें आदिम मानव की प्रवृत्ति के अवशेष मिलते हैं, इन्हीं अवशेषों के परिणामों का अध्ययन लोकवार्ता के अध्ययन का विषय होता है। आधुनिक लोकवार्ता-वेत्ता इस लोकवार्ता-प्रवृत्ति का ही अध्ययन विशेषतः करते हैं। लोकवार्ता को जन्म देने वाली

१. "Every tradition, myth or story contains two perfectly independent elements—The fact upon which it is founded and the interpretation of the fact which its founders have attempted" (Gomme: Folklore as an Historical Science, Page 10) **यह प्रत्येक कला के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है।** Thomas Craven **ने अपनी** 'Famous Artists : thier Models' **नामकी भूमिका में लिखा है :** "It needs to be said again that the art business has two sides to it. First the subject, and second the way in which the subject is treated. P. X

२. **ब्रज की एक लोकवार्ता जो सूर्यनारायण के व्रत पर रविवार को कही जाती है।**

लोक-प्रवृत्ति को लोक-मानस या जन-मानस से संबंधित माना जा सकता है। यह लोकसानस या जनमानस उस प्रवृत्ति से बिलकुल भिन्न और अद्भुत होता है, जो सभ्य तथा संस्कृत मनीषिता को प्रकट करती है, और जिसे 'मुनि-मानस' से संबंधित माना जा सकता है। इस दृष्टि से समस्त मानव समुदाय के मानसिक स्वरूप को तीन भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम लोक-मानस, द्वितीय जन-मानस, तृतीय मुनि-मानस। लोक-मानस वह मानसिक स्थिति है जो आज आदिम मानव की परंपरा में है, उसी का अवशेष है। आज के सभ्य समाज के मानसिक स्वरूप में इसे सबसे नीचे का धरातल माना जा सकता है। मुनि-मानस वह मानसिक स्थिति है जो मानव-समाज ने सभ्यता के विकास के साथ साथ उपार्जित की है। यह आज के समाज के मानसिक स्वरूप का सबसे ऊँचा धरातल माना जा सकता है। मध्य की स्थिति जन-मानस की है। लोक-मानस से लोकवार्ता का जन्म होता है। मुनि-मानस से दर्शन, शास्त्र तथा विज्ञान और उच्च कलाओं का। जन-मानस साधारण व्यवसायात्मक बुद्धि से संबंध रखता है। यह केवल व्यवहार में ही परिणति पाता है, और व्यवहार में ही विलीन हो जाता है, कोई अन्य मूर्त अभिव्यक्ति इससे नहीं होती। फलतः यदि हम लोकमानस को समझ लें तो हम लोकवार्ता की विशेषताओं को भी समझ लेंगे।[1]

लोक-मानस—लोक-मानस लोक-साहित्य के निर्धारण में सब से प्रमुख तत्व है। अभी कुछ समय पूर्व तक मनोविज्ञान केवल चेतन-मानस को ही स्वीकार करके चलता था। **फ्रायड** ने अपने अनुसंधान से **अवचेतन मानस** का अनुसंधान अथवा उद्घाटन किया। यद्यपि **फ्रायड** के मत में अनेकों संशोधन हुए हैं फिर भी अवचेतन मानस की सत्ता में अब संदेह नहीं रह गया। **फ्रायड** ने अवचेतन मानस के निर्माण के कारण स्वरूप 'कुण्ठा' को स्वीकार किया था। किन्तु "**प्राणिशास्त्र**" **उत्तराधिकरण** को असिद्ध नहीं कर सका है। हमारे पूर्वजों का दाय हमें हमारे जन्म के साथ मिला है। हमारी प्रवृत्तियाँ इसी दाय का परिणाम हैं। ये प्रवृत्तियाँ उस दाय का परिणाम हैं जो हमारे निर्माण के

---

१. **फोकलोर तथा साइकालोजी पर विचार करते हुए** R.R. Merett ने Psychology and Folklore **में लिखा था** : The business of this Society (**अभिप्राय है** Folklore Society **से**) is to seek to know the folk in and through their lore so that what is outwardly perceived as a body of custom may at the same time be inwardly apprehended as a phase of mind' P. 12.

मूल-स्वरूप का आधार हैं। इन प्रवृत्तियों का स्थान भी तो मानस में ही होगा। चेतन-मानस में तो ये विद्यमान मिलती नहीं, ये तो अवचेतन मानस की भाँति मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व को ही प्रेरित और निर्माण करने वाली हैं। फलतः दाय में प्राप्त मानस का स्थान अवचेतन मानस में ही हो सकता है। इस प्रकार अवचेतन मानस के दो भेद स्वीकार करने होंगे। एक सहज अवचेतन, दूसरा उपार्जितावचेतन। यह सहज अवचेतन ही लोक-मानस है। हम नहीं कह सकते कि इस मानस के संबंध में अवचेतनवादियों ने कितना विचार किया है, किन्तु इस मानस की सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। आज के मानव को आदिम मानवीय बातों से क्यों रुचि है? क्यों आज का महान् वैज्ञानिक और घोर बुद्धिवादी भी असंभव तथा अद्भुत लोक-कहानियों में आकर्षण अनुभव करता है? क्यों आज भी हम किसी न किसी रूप में किसी न किसी प्रकार के ऐसे विश्वासों को प्रचलित पाते हैं जिनकी वैज्ञानिक व्याख्या नहीं हो सकती, जो बौद्धिकता के लिए सहज ही अमान्य हैं? आज बीसवीं सदी के उत्कृष्टतम मनुष्य में भी हम जब वह रंगत देख पाते हैं जो स्पष्ट ही आदिम मानव की वृत्ति का अवशेष ही कहा जा सकता है, तो लोक-मानस की उपस्थिति स्वीकार ही करनी पड़ती है। श्री **हर्बर्ट रीड** जैसे साहित्यशास्त्री ने भी ऐसे मानस की सत्ता की ओर संकेत किया है, यद्यपि उन्होंने उसे यह नाम नहीं दिया है। **रीड** महोदय का कहना है कि :

Such lights come of course, from the latent memory of verbal images in what Freud calls the preconscious state of mind or from still obscurer state of the unconscious in which are hidden not only the neural traces of repressed sensations but also those inherited patterns which determine our instinct. (Form in Modern Poetry, P. 36–7)

यह 'इनहैरिटैड पैटर्न' ही हमारा लोक-मानस है। इस लोक-मानस की सत्ता का उद्घाटन करने का श्रेय लोकवार्ताविदों को देना पड़ेगा। **मैरेट** महोदय ने लिखा है—

"ठीक जिस प्रकार भीड़ (क्राउड) का मनोविज्ञान होता है उसी प्रकार उस समूह का भी मनोविज्ञान हो सकता है जिसे **सर जेम्स फ्रेजर** 'मानव राशि' (Multitude) अथवा कम प्रिय शब्दों में 'लोक' (फोक) कहेंगे।" इन शब्दों से प्रकट होता है कि १६२० के लगभग इस लोक-मनोविज्ञान की संभावना की ओर संकेत ही किया जा रहा था। इस लोक-मानस की स्थिति के विषय में **मैरेट** ने आगे कहा :

"भीड़ तो मनुष्य के स्थायी और अनियमित संघ को कहते हैं। ऐसी (संघ) दशा में यह (भीड़) कुछ विशिष्ट प्रकार के कार्यों और आवेशों को प्रदर्शित करती है, इन (विशिष्ट कार्यों और आवेशों) की व्याख्या और विश्लेषण काफी सफलता से किया जा चुका है। अतः इसी प्रकार मनुष्य-राशि तो मानो एक स्थायी भीड़ है और एक ऐसी भीड़ है जो अपनी सामूहिक प्रवृत्तियों की परंपरा के रूप में चिरगामी रह सकती है, और इस परंपरा में वह विशेष प्रकार के आचरण को प्रकट करती है जो निश्चय ही पृथक रूप से अध्ययन करने योग्य है"......आदि।

मैरेट ने यही बताया है कि इस दिशा में कुछ प्रयत्न हुए हैं। उसने **एम० लेवी ब्रुह्ल** का नाम लिया है जिसने 'सामूहिक मानस' अथवा 'असभ्य जाति" की मनोवृत्ति पर लिखा है। दूसरा नाम **मि० ग्रैहम वैलेस** का लिया है, उन्होंने उसी दृष्टि से आधुनिक राष्ट्र के जन-मानस का वर्णन किया है। किंतु साथ ही उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि—

"हमारे पास बहुत सी विस्तार-व्यापी सामग्री के रहते हुए भी (अभी तक) लोक के मनोजीवन के विशद चित्रण तक का किंचित उद्योग नहीं हुआ है, फिर उसको (मनोवैज्ञानिक को) वह सामान्य विश्लेषण प्रस्तुत करने के लिए कैसे कहा जाय जिसके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि अपनी स्पष्ट अभिव्यक्तियों में वह प्रत्यक्षतः इतना सामाजिक संघशील (gregarious) कैसे और क्यों है (पृ० १२४)।

अतः १९२० के लगभग से इधर लोक-मनोविज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। लोकवादियों ने लोक-मानस की सत्ता को स्थापित किया। आज 'लोक मनोविज्ञान' 'साइकौलोजी' एक महत्वपूर्ण मानस-विज्ञान है, जिसकी परिभाषा 'कोष' में इस प्रकार मिलती है :

"लोक मनोविज्ञान—जनों का मनोविज्ञान जिसको लोगों (पीपिल्स) के, विशेषतः आदिमों के विश्वासों, रिवाजों, रूढ़ियों आदि के मनोवैज्ञानक अध्ययन में काम में लाया जाता है, तुलनात्मक अध्ययन भी इसमें आ जाता है।" [१]

लोक-मानस की सत्ता का यह उद्घाटन वैज्ञानिक अथवा ज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण घटना है, और उसने इस समय तक की विविध घातक सामूहिक

1. Folk psychology—psychology of people applied to the psychological study of the beliefs, customs conventions etc. of people, especially premitive, inclusive, of comaprative study—(A Dictionary of Psychology by James Drever p. 98)

मनोविज्ञान-विषयक अवैज्ञानिक मान्यताओं और सिद्धान्तों को हटाकर एक शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान किया है। यह बात फ्रांज बोआज (Franz Boas) की पुस्तक 'दी माइण्ड आफ प्रिमिटिव मैन में दिये गये तद्विषयक इतिहास से भली प्रकार समझी जा सकती है। उसे यहाँ संक्षेप में दिया जाता है।

"सामूहिक मनोविज्ञान में जातीय मनोविज्ञान (Racial Psychology) का बहुत जोर रहा है। 'लिन्ने' ने 'जातीय रूढ़रूपों' (Racial Types) का वर्णन करते हुए प्रत्येक जाति के विशेष मानसिक लक्षणों का उल्लेख किया। ऐसे मनोवैज्ञानिक उद्योगों के मूल में यही स्थापना काम कर रही थी कि उच्च मानसिक उपलब्धियों के लिए उच्च बंश परम्परा होती है। बूलेन विल्लियर्स (१७२७), जोहल बेड्डो, तथा ए० प्लूज ने भी विविध जातियों के मानसिक लक्षणों का निर्धारण किया है।

गोबीन्यू ने इसी सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए शरीराकार और मानसिक क्षमता का सम्बन्ध स्थापित किया। प्रत्येक जाति (Race) की शारीरिक विशेषता होती है, और उसी के अनुसार मानसिक संस्थान का निर्माण होता है।

गोबीन्यू ने 'जातीय मानस' के सिद्धान्त को सर्व प्रथम ठोस वैज्ञानिक प्रणाली का आधार प्रदान किया। इस सिद्धान्त ने प्रभाव भी बहुत डाला। इसके समस्त वैज्ञानिक अध्ययन के चार निष्कर्ष थे :—

१—जंगली जातियों की जो स्थिति आज है वही सदा से रही है और ऐसी ही रहेगी, भले ही वे कितनी ही ऊंची संस्कृतियों के संपर्क में क्यों न आयी हों।

२—जंगली जातियाँ जीवन के किसी भी सभ्य ढर्रे में रहती चली जा सकती हैं, यदि वे जन जिन्होंने जीवन के उस ढर्रे को निर्मित किया, उसी जाति की श्रेष्ठतर शाखा के हैं।

३—ऐसी ही अवस्थाओं की तब आवश्यकता है जब दो सभ्यताएँ एक दूसरे से आदान-प्रदान करती हैं, और अपने तत्वों से मिलाकर एक नयी सभ्यता का निर्माण करती हैं। दो सभ्यताओं का सम्मिश्रण कभी नहीं हो सकता। (वे मिलकर एक नयी सभ्यता का निर्माण कर सकती हैं)

४—जो सभ्यताएँ ऐसी जातियों में उद्भूत हुई हैं जो एक दूसरी के लिए विजातीय हैं, उन (सभ्यताओं) के पारस्परिक सम्पर्क बहुत ऊपरी होते हैं, वे एक दूसरे में कभी भिद नहीं सकतीं, और अलग अलग ही रहेंगी।

क्लैम्म (१८४३) ने मानव-जाति के दो भेद स्वीकार किये हैं। एक

कर्तृत्वशील या 'पुरुषअर्द्ध' और 'रम्य' (पैसिव) या 'स्त्री-अर्द्ध'। यह विभाजन सांस्कृतिक आधार पर किया गया था। पारसी, अरब, यूनानी, जर्मन, रोमन जातियाँ, तुर्क, तारतार, चेरकैस (Tcherkess), पैरू के इन्का और पालिनिसिया निवासी—'पुरुष' पक्ष वाली जातियाँ हैं—मंगोल, नीग्रो, पापुअन, मलायी, अमेरिकन, इंडियन, आदि 'स्त्री' पक्ष वाली जातियाँ हैं। पुरुष जातियों का पोषण हिमालय प्रदेश में हुआ, वहीं से विश्व में फैलीं। इनकी मानसिक विशेषताएं हैं---प्रबल संकल्प-शक्ति, शासन की इच्छा, स्वाधीनता, स्वच्छन्दता, क्रियाशीलता, चंचलता, विस्तार की भावना, तथा यात्रा-प्रियता, हर क्षेत्र में विकास, खोज और परीक्षा की ओर स्वाभाविक रुचि, घोर हठ तथा संदेह। वुल्के ने भी क्लैम्म के मत को स्वीकार किया।

कार्ल गुस्तव केरस (१८४६) ने बताया कि इस पृथिवी की जातियों में अपने ग्रह (Planet) के ही लक्षण प्रतिबिम्बित होने चाहिये—अपने ग्रह (पृथिवी) पर रात होती है, दिन होते हैं, प्रातः होता है और सायं भी। इसी प्रकार यहाँ चार जातियां हो सकती हैं। दिवस जाति—यूरोप-निवासी तथा पश्चिमी एशिया निवासी; रात्रि जाति—नीग्रो लोग। प्रातः जातियाँ—मंगोल। सायं जातियां–अमेरिकन इण्डियन। दिवस जातियों की खोपड़ी बड़ी होती है। रात्रि जातियों की छोटी। प्रातः-सायं वाली मध्यम। केरस विविध जातियों का आकृति-निदान भी करता है। केरस ने समस्त जातियों में तीन को विशेष महत्व दिया है: सत्य के निर्माता हिन्दू, सौन्दर्य-निर्माता मिस्री, मानवीय प्रेम के निर्माता यहूदी। अमेरिकन लेखकों में सैम्युल जी० मोर्टन का नाम उल्लेखनीय है। इस लेखक ने विविध जातियों के अध्ययन के बाद यह मत स्थापित किया कि मानव-समूह का जन्म एक से नहीं अनेक स्रोतों से हुआ है और प्रत्येक जाति की जातीय विशेषताएँ उनकी शारीरिक गठन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। इस सिद्धान्त को जे० सी० नौट्ट तथा जार्ज आर० ग्लिडन ने नीग्रो लोगों की गुलामी को पुष्ट करने के लिए काम में लिया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि नीग्रो जाति का उद्भव ही गुलामी के लिए हुआ है।

हाउस्टन स्टीवार्ट चैम्बरलेन ने बताया कि जातियों के मूल उद्भव तक जाने की आवश्यकता नहीं। आज भी तो जातियों के भेद विद्यमान हैं, इस यथार्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। हमें तो केवल यह जानना है कि यह जातिगत भेद क्यों है और कैसे है ? तब वह इंगलिश जाति को यूरोप में सबसे बलवान जाति बताता है और उसके कारणों पर भी प्रकाश डालता है, गोबीन्यू और चैम्बरलेन का प्रभाव मैडिसन ग्राण्ट पर भी पड़ा। उसने विश्व

की महान विभूतियों को नौर्दिक रक्त का परिणाम बतलाया है, और कहा है कि विश्व में मनुष्य में विकार नीग्रो तथा काली आँखों वाली जातियों से होगा।

लोथ्राप स्टोड्डार्ड ने स्थापित किया कि जब दो जातियों से मिश्रित संतति होती है तो उत्तम विशिष्टताओं का ह्रास ही होता है।

ई० वान ईक्स्टेट (E. Von Eickstedt) ने जातीय मनोविज्ञान (Race psychology) की नींव डालने की चेष्टा की। वह आधुनिक गेस्टाल्ट- मनोविज्ञान से प्रभावित है, और यही मानकर चलता है कि जब जातीय भेद प्रत्यक्ष है तो उनके मनोविज्ञान तत्व भी स्पष्ट ही दिखायी पड़ते हैं। इन तत्वों का शारीरिक गठन से संबंध होगा ही, क्योंकि शारीरिक गठन और मानसिक आचार से मिलकर ही जातीय इकाई बनती है।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिकों के कई सम्प्रदाय मिलते हैं :

१—वह संप्रदाय जो यह मानता है कि जाति ही मानसिक आचार और संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करती है। यह दृष्टिकोण प्रबल भावनामूलक मूल्यों के कारण है। इस युग में राष्ट्रीय भावना के स्थान में जातीय भावना को महत्व मिल रहा है।

२—वह संप्रदाय जिसे शारीरिक मनोविज्ञान में विश्वास है । यह मानता है कि शरीर के विन्यास के अनुरूप ही मानसिक स्वरूप होता है। इसका परिणाम यह है कि आज यह विश्वास किया जाता है कि मनोवैज्ञानिक परीक्षण से मनुष्य की सहज बुद्धिमत्ता, भावना-प्रवणता, संकल्प-शक्ति के रूप को जाना जा सकता है।

३—वह सम्प्रदाय जो उत्तराधिकरण (heredity) को मान्यता देता है। इसका सिद्धान्त है : संस्कार नहीं, प्रकृति (Nature not nurture)। दूसरे और तीसरे सम्प्रदाय का परिणाम यह हुआ है कि लोग परिस्थितियों के प्रभाव को नगण्य समझने लगे हैं, समस्त मानसिक निर्माण का मूल उत्तराधिकरण मानते हैं।

४—वह सम्प्रदाय जो परिस्थितियों के प्रभाव को भी स्वीकार करता है, फिर भी **यूजेन फिशर** की भाँति यह मानता है, कि उत्तराधिकरण से प्राप्त जातीय भेद भी उन परिस्थितियों के विकारों में व्याप्त रहते हैं।[1]

१. To a great extent the form of mental life as we meet it in various social groups is determined by environment, historical events and conditions of nature further impede the development of

५—वह सम्प्रदाय जो हर्डर के साथ यह मानता है कि इन समस्त प्राणि-शास्त्रीय (Biological) सांस्कृतिक अन्तरों का मूल कारण प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही हैं।

कार्ल रिट्टर ने भौगोलिक प्रभाव को और भी अधिक पुष्ट किया है।

६—वह सम्प्रदाय जो न जातिवाद को मानता है, न परिस्थितियों को वरन् जो विश्व भर में मानव की समान स्थिति को स्वीकार करता है। और केवल 'ऐतिहासिक सांस्कृतिक' भेद स्वीकार करता है। यह दृष्टिकोण हर्वर्ट स्पेंसर, ई० वी० टेलर, एडाल्फ वास्टिग्रन, लीविस मोर्गन, सर जेम्स जार्ज फ्रेजर के उद्योगों का परिणाम है, जिन्हें आधुनिक काल में डरखीम तथा लेवी ब्रुहल ने और परिपुष्ट किया है। वुंट ने 'फोकसाइकालोजी' में भी ऐसे ही दृष्टिकोण को बल दिया है। इस मत से विश्व भर में मानव-मानस की मौलिक समतंत्रता (sameness) सिद्ध होती है, वह चाहे किसी जाति का क्यों न हो। इस प्रकार विश्वव्यापी एक मानव-मानस की स्थिति में विश्वास इस 'लोक-मानस' के सिद्धान्त के द्वारा पुष्ट हुआ है। (यहाँ तक बोआज़ की पुस्तक के आधार पर)

इस ऐतिहासिक दृष्टिबिन्दु से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह लोक-मानस की उद्भावना सामूहिक-मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक यथार्थवादी, वैज्ञानिक और सबसे महत्वपूर्ण स्थापना है जो ऐतिहासिक क्रम में आज उपलब्ध हुई है।

यहाँ हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि जब हम मानव-मानस में आज 'लोक-मानस' की स्थिति का उल्लेख करते हैं तो हमारा अभिप्राय उस उत्तराधिकरण के सिद्धान्त से नहीं जो जातीय दृष्टि से उसे ग्राह्य मानते हैं। मानव ने जन्म लेते ही अपनी आदिम अवस्था में जो मानसिक उपलब्धियाँ प्राप्त कीं वे उसकी सहज मानवीय प्रकृति बन गयीं। वे ही निरन्तर मानव की परम्परा में मानव को मानव बनाने के लिए सूत्र रूप में उत्तराधिकरण के रूप में, युग-युग में मानव-मानव में अवतरित होती चली जाती हैं। और आदिम दाय के रूप में अवचेतन के अन्तर्गत कहीं मूल मानसिक प्रकृति बन कर सभ्यातिसभ्य मानव में भी विद्यमान रहती हैं।

---

innate characteristics. Nevertheless, we may certainly claim that there are raciallly hereditary differences. Certain traits of the mind of the Mongol, the Negro, the Melanesian and of other races are different from our own and differ among themselves." (The Mind of Primitive Man p. 31)

लोकमानस के तत्व

फ्रेजर ने यह स्थापित किया था कि 'लोक-मानस' के दो प्रधान लक्षण हैं—१—लोकमानस विवेकपूर्वी होता है। उसने प्रिलौजिकल (prelogical) कहा है: लौजिक अथवा कार्य-कारण के यथार्थ क्रम को समझ सकने वाले मानस के उद्घाटित होने से पूर्व की स्थिति से संबंध रखने वाली मन की प्रकृति। किन्तु जैसा कि 'बिफोर फिलासफी' नाम की पुस्तक में कहा गया है, "Scholars who have proved at length that primitive man has a prelogical mode of thinking are likely to refer to magic or religious practice, thus forgetting that they apply the Kantian categories, not to pure reasoning but to highly emotional acts "P. 19. क्योंकि वस्तुतः वे तर्क तो कर सकते थे। कार्य-कारण-क्रम की आवश्यकता वे समझते थे। पर संभवतः किसी भी क्रम को ही वे कार्य-कारण समझ लेते थे, कार्य कारण में व्याप्त यथार्थ कारणत्व और कार्यत्व का तारतम्य उनके लिए महत्व नहीं रखते थे। अतः लोक-मानस को विवेकपूर्वी नहीं कहा जा सकता। फ्रेजर महोदय ने तो प्रिलाजीकल उसे इसलिए माना है कि वह मानस उनकी व्याख्या में विरोधी तत्वों अथवा विषम-तत्वों (contradictions) का समीकरण करता है।

२. फ्रेजर ने दूसरा लक्षण स्थापित किया कि वह मिस्टिक अथवा रहस्यशील होता है। क्योंकि वे अपने अनुभवों की व्याख्या में पराप्राकृतिक शक्तियों का आश्रय लेते हैं। पर यह पराप्राकृतिक शक्तियों की शरण लेना वस्तुतः उनके मानस की मूल विशेषता नहीं। यह तो उनकी एक विशेष मूल मनोस्थिति का परिणाम है। वे क्यों पराप्राकृतिक शक्तियों की कल्पना करते हैं यह जानने की चेष्टा करने से ही हम मूल लोक-मानस के तथ्य से अवगत हो सकेंगे।

वस्तुतः लोक-मानस का मूल सृष्टि के मनुष्य में विद्यमान सबसे प्रथम अपने जन्म की सहज प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल है। आज फ्रायड के सिद्धान्तों से इतना तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि उत्पन्न होते समय भी बालक में मूल काम-भाव व्याप्त रहता है: जिसे हम रति कह सकते हैं। रति विस्तार चाहती हैं। वाह्य से आनन्दमय सम्पर्क। किन्तु बाह्य से अपनी रक्षा का भाव भी उसमें सहज है। इसका प्रतिरूप है भय। रति और भय के दो मूल सहज भाव आदिम मानव में जन्म से आये। रति ने 'रिचुअल' अथवा अनुष्ठानों (विधि) के रूप खड़े किये, भय ने टैबू अथवा निषेध और वर्जन

के रूप। उस 'विधि-निषेध' के कर्म में हम आदिम मानव में, जिस मनोस्थिति को विद्यमान देखते हैं वह सबसे पहले अभेद-द्योतक-बुद्धि प्रतीत होती है। 'लोक मानस' चेतन 'निज' और जड़ 'पर' के स्वरूप को भिन्न भिन्न नहीं देख-समझ सकता। उसके लिए समस्त सृष्टि उसी के समान सत्ता रखती है। वह व्यक्ति-विशेषी (Subjective) और वस्तु-विशेषी (Objective) भेद करने की सामर्थ्य नहीं रखता। वह किसी वस्तु को वस्तु के रूप में नहीं पाता। उसे प्रत्येक वस्तु अपने समान धर्म वाली ही विदित होती है। वह सूरज को निकलते देखता है, आकाश में चढ़ते देखता है और समझता है; और अपने इस ज्ञान को वह यथार्थ ज्ञान मानता है। यह ज्ञानरूपक (Alleagory) की भाँति नहीं होता, और न यह ज्ञान उसके अपने व्यक्तित्व का विस्तार (projection) ही है कि जिसे अपने से इतर सृष्टि को समझने या जानने या अभिव्यक्ति की सुविधा के लिए अपने ही रूप का प्रतिरूप मान लिया गया हो। यह तो उसके लिए इतना ही यथार्थ है, जितना उसका अपना अस्तित्व।

इस यथार्थ का भाव उसमें बहुत प्रबल है। उसके लिए ऐसी समस्त बातें यथार्थ सत्ताशील हैं जो उसे प्रभावित कर सकें, जो उसके हृदय और मस्तिष्क पर एक छाप छोड़ सकें। इस मानसिक स्थिति में स्वप्न भी उतने ही यथार्थ हैं जितने कि जाग्रत अवस्था में दृश्य। ऐसे ही कितने ही ऐतिहासिक कथानक मिल जाते हैं जिनमें स्वप्न की बातों को पूर्ण आस्था के साथ स्वीकार किया गया है। हरिश्चन्द्र ने स्वप्न में महर्षि विश्वामित्र को पृथ्वी दान दे दी और जग कर भी उस सत्य का पालन किया। बहुत से लोग स्वप्नों से अपने लिए मार्ग-दर्शन की प्रेरणा ग्रहण करते हैं। फारहों[1] ने तो यह बात लेखबद्ध भी कर दी है कि उन्होंने कितने ही कार्य स्वप्नों की प्रेरणा से किये। इसी प्रकार भ्रम-दृश्य (Hallucinations) भी आदिम मन के लिए मिथ्या नहीं, सत्य थे। जमीरिया के अस्सढ़द्दन के सरकारी विवरणों में उल्लेख किया गया है कि उनकी सेना जब सिनाई रेगिस्तान में होकर जा रही थी और बहुत थकी-माँदी थी तो उन्हें दो सिरों वाले हरे उड़नेवाले साँप दिखायी पड़े थे। तात्पर्य यह है कि भ्रम-दृश्य जैसी वस्तु भ्रम के रूप में उनके लिए अस्तित्व नहीं रखती थीं। जो उन्हें दिखाई पड़ा, भले ही वह भ्रम हो, पर जिसने उनके हृदय अथवा मस्तिष्क को प्रभावित किया, उसे वे अस्वीकार नहीं कर सकते थे, उसकी सत्ता उन्हें यथार्थतः माननी पड़ती थी। इसी प्रकार, तीसरे, वे जीवित और मृतक में भी कोई विशेष भेद नही कर सकते थे, स्वप्न में अथवा जागृत स्मृति में मर जाने वाले के सजीव मानस-चित्रों के आवर्तन से

१. मिस्र के प्राचीन सम्राट।

उसे मृतक भी जीवित की भाँति सत्तावान ज्ञात होते थे। वस्तुतः तो उनसे भी अधिक।

चौथे, अंश और समग्र वस्तु में भी वे कोई भेद नही कर सकते। शरीर का एक अंश भी, सिर का एक बाल ही क्यों न हो, उसके संपूर्ण शरीर के ही तुल्य ग्रहण किया जाता था। कहानियों में मिलने वाले अभिप्रायों में हमें ऐसे बहुत से अभिप्राय मिल जायेंगे, जिनमें किसी व्यक्ति के बाल को आग में तपाने से उस को बुलाया जा सकता है। इस 'अभेदवाद' में ही यह मान्यता भी आती है कि नाम भी व्यक्ति से अभिन्न है। अनेकों क्षेत्रों में अपने से बड़ों के नाम भूमि पर लिखने का घोर निषेध है, इस निषेध के पीछे यही भावना काम करती है कि नाम पर पैर पड़ेंगे, और यह ऐसा ही है जैसे स्वयं नामधारी पर पैर पड़े हों। इसी विश्वास का एक रूप हमें मिस्र के माध्यमिक राज्यों के राजाओं की एक रिवाज में मिलता है। ये प्यालों पर अपने शत्रुओं के नाम खुदवा देते थे, और उन्हें एक विशेष संस्कार के साथ फोड़ डालते थे, इससे ये विश्वास करते थे कि अब उनके उन शत्रुओं का नाश हो गया। आज भी ब्रज के गाँवों में स्त्रियाँ दिवाली और होली पर बैरियरा* कूटती हैं, वे अपने कुटुम्ब के प्रत्येक का नाम लेकर उसके बैरियरा का उल्लेख कर पृथ्वी पर मूसल कूटती हैं। वे यथार्थ में विश्वास करती हैं कि इससे शत्रु कुचल जायेंगे।[1] वे यह भेद भी नहीं कर सकते थे कि कार्य कोई और वस्तु है और संस्कारानुष्ठान कोई और। एक किसान अपनी सफल फसल को देख कर यह नहीं कह सकता था कि यह सफलता उसकी मेहनत का फल था या उसके द्वारा किये गये अनुष्ठान का। उसके लिए दोनों ही एक तत्व बनकर उपस्थित होते हैं।

इसी प्रकार उसके लिए भावांश (concept) भी मूर्त स्वरूप वाले होते थे। उदाहरण के लिए 'प्राण' उसके लिए मूर्त वस्तु है जिसे वह ले-दे

*** बैरियरा=शत्रु। 'बैरी' से बैरियरा बना है।**

१. इसी मनोस्थिति का एक परिणाम यह है कि तुल्य आकार, वस्तु अथवा पदार्थ में और तुलनीय में भी कोई अन्तर नहीं समझा जाता। टोने और टोटके इसी मनोस्थिति का फल हैं। किसी आदमी का पुतला बना कर उसे काट डालने से वह आदमी स्वयं कट जायगा ऐसा माना जाता है। मिस्र में नूत स्वर्ग की वत्सला देवी मानी जाती है। मिस्र-निवासी मृतक पुरुष को स्वर्ग भेजने के लिए कफन में मनुष्य के कद का नूत का चित्र अंकित कर देते थे और उसमें मुर्दे को बंद कर देते थे। इस विधान से उनका मत था कि पुरुष स्वर्ग में पहुँच जाता था।

सकता है, अथवा बाँट भी सकता है। सत्यवान के शरीर से यम प्राण नाम का पदार्थ निकाल ले गये, और सावित्री को वह पदार्थ लौटा भी दिया।[1] मृत्यु भी मूर्त वस्तु की भाँति परिकल्पित है। यम भी मृत्यु का मूर्त रूप ही है।

यह बात भी यथार्थ है कि आदिम मानस 'कार्य-कारण' के भ्रम पर तो विश्वास करता था, पर वह उसे एक व्यक्तित्व हीन प्राकृतिक व्यापार मानने को तैयार नहीं था। वह प्रत्येक कार्य का कारण चेतना और 'इच्छा'-संयुक्त किसी पदार्थ को मानता था, इसलिए जैसा हेनरी फ्रैंकफर्ट आदि ने लिखा है, कार्य-कारण की स्थापक प्रश्न-प्रणाली से वे 'कैसे' और 'क्यों' का उत्तर नहीं ढूंढते थे। वे 'कौन' की कल्पना करते थे। वे यह तो मानते थे कि यह जो वर्षा होती है अथवा रात-दिन होते हैं उनका कारण अवश्य है, पर वह कारण कोई सिद्धान्त विशेष नहीं हो सकता, कोई व्यक्तित्व ही हो सकता है। कोई व्यक्ति है जो बादलों को भेजता है और वर्षा करता है। सूर्य एक व्यक्ति है, वह आता है और जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यापार के लिए वे चेतन तथा व्यक्तित्व युक्त कारणों की कल्पना करते थे।

कारण और कार्य में इस मूर्त चेतन व्यक्तित्व की स्थापना के ही साथ वे उनमें इच्छा के भी दर्शन करते थे। मृत्यु या जीवन पदार्थ रूप तो हैं ही, उनके आदान-प्रदान में इच्छा का भी तत्व है। इस इच्छा-तत्व और मूर्त्तत्व से संपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है, तब गुणों और दोषों के रूपों की कल्पना आदिम मानस करने लगता है। इसी स्तर पर देवताओं और असुरों का जन्म होता है।

कार्य और कारण की कल्पना में वे किसी भी निकटस्थ तत्व को कारण स्वीकार कर सकेंगे, भले ही वह यथार्थ कारण न हो। केवल दो की सम्बद्धता ही कारण-रूप में पर्याप्त है। मिस्र में यह माना जाता रहा है कि आकाश स्त्री है, और पृथ्वी पिता। आकाश पृथ्वी के ऊपर लेटा हुआ था किन्तु वायु के देवता शू ने दोनों को पृथक कर दिया और आकाश को ऊपर उठा दिया। शू को उस रूप में मानने का कारण केवल यही है कि उन्हें आकाश और पृथ्वी के बीच में वायु का संचार दिखायी देता था। द्यावा-पृथ्वी को भारतीय परिकल्पना में भी माता-पिता स्वीकार किया जाता है।*

---

१ देखिये सती सावित्री का आख्यान।

* देखिये डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'निबंध अदिति ऐण्ड द ग्रेट गौड्स' 'इण्डियन कल्चर' खंड ४. यथा—"द्यौर्वः पिता पृथिवी माता सोमो भ्रातादितिः स्वसा—ऋ० १.१९१.६.; तन्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः—तै. ब्रा० २।७।१६।३.तांड्य महाब्राह्मण में उल्लेख है कि द्यावा-पृथिवी मिले हुए थे। फिर वे अलग हो गये, तो उन्होंने परस्पर विवाह करके मिल जाने का संकल्प किया।

वह विविध तत्वों और व्यापारों में संघर्ष भी देखता है, और इच्छा-व्यापार-युक्त उसे मूर्त रूप देता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो सका है कि आदिम मानव की मनोवैज्ञानिक स्थिति में निम्नलिखित तत्व होते हैं।

१—समस्त सृष्टि मनुष्य के ही तुल्य है। यदि इस सृष्टि में स्वयं मनुष्य "मैं" है तो सृष्टि का प्रत्येक अन्य अंग उसके लिए "तू" है।

२—प्रत्येक व्यापार, गुण आदि उसके लिए मूर्त अथवा पदार्थवत् सत्ता रखता है, मृत्यु, जीवन, आदि उसके लिए पदार्थ-रूप ही है जिनका आदान-प्रदान हो सकता है।

३—तुल्य और तुलनीय, अंश और अंशी, चिह्न-प्रतीक और प्रदाता अथवा लक्ष्य में अभेद होता है।

४—देश-काल के भेद से होने वाली आकृत्ति में भी मूल विद्यमान रहता है।

५—प्रत्येक व्यापार अथवा तत्व 'इच्छा' से भी संयुक्त होता है।

६—व्यापारों में कार्य-कारण परंपरा होती है पर कोई भी कारण निकटता, संबद्धता, पूर्वकालिकता के तत्त्व से युक्त होने पर कारण हो सकता है।

७—यह विविध प्राकृतिक तत्वों में संघर्ष भी लक्षित करता है। सूर्य और रात्रि में संघर्ष होता है। सूर्य परास्त होता है आदि।

इन तत्वों के साथ यह बात परिलक्षणीय है कि आदिम मानव समस्त सृष्टि से अपने व्यक्तित्व को तटस्थ नहीं रख सकता था। वह स्वयं मनतः और कर्मतः, मानसतः और भावतः सृष्टि के समस्त व्यापारों का अंग होता है। अतः तुल्य-मूर्त विधान की मान्यता के साथ वह अपने लिए उपयोगी-अनुपयोगी तत्वों को अपने द्वारा प्रस्तुत करता था। इस प्रस्तुति को अनुष्ठान (रिचुअल) कहा जा सकता है। इसके द्वारा वह स्वयं प्रकृति के विविध तत्वों के संघर्ष-व्यापार में सहयोग देता था।

प्रकृति से वह सहयोग-भाव से चलता था। प्रकृति के प्रत्येक व्यापार में वह अपने लिए किसी न किसी प्रकार का अर्थ भी ग्रहण करता था। शकुनों की उद्भावना इसी स्थिति का परिणाम है।

ऊपर लोक-मानस के जो तत्व प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें संक्षेप में हम केवल चार कोटियों में विभाजित कर सकते हैं। वे है :—

१—यथार्थ और कल्पना में भेद करने की असमर्थता—

२—प्राणि-अप्राणि, 'जड़-चेतन' को आत्मा से युक्त जानना—

आत्मशीलता (ऐनिमिस्टिक थिंकिंग)

३—यह विश्वास होना कि तुल्य से तुल्य पैदा होता है।

टोना विचारणा (मैजिकल थिंकिंग)

४—वह विश्वास होना कि विशेष विधि से कार्य करने से इच्छित फल अथवा अभीष्ट प्राप्त होगा

आनुष्ठानिक विचारणा (रिचुअल थिंकिंग)

इन मानसिक तत्वों के परिणाम निम्नलिखित होंगे :—

१—सत्य और स्वप्न में अभेद—इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि उसके दो अस्तित्व हैं—एक वह जो शरीर से सम्बद्ध है, दूसरा वह जो शरीर को छोड़ कर 'स्वप्न' में घूमता फिरता है।

२—शरीर और छाया में अभेद—छाया को भी उतना ही महत्वपूर्ण मानना और अपना स्वरूप मानना, जितना शरीर को।

३—मृतक को भी सोया हुआ मानना, और यह समझना कि उसका दूसरा व्यक्तित्व 'आत्मा' कहीं भटक गया है, वह सम्भवतः फिर कभी लौटेगा। अतः शव को सुरक्षित करके उसके साथ भोजन आदि की वस्तुएँ रखने की व्यवस्था की गयी।

४—भूत-प्रेतों में विश्वास इसी वृत्ति का परिणाम है। कितनी ही ऐसी आदिम अथवा असभ्य जंगली जातियाँ हैं जो पशुओं, पेड़ों और पत्थरों तक के भूतों अथवा प्रेतों को मानती हैं।

५—अचरों, जड़ों अथवा अप्राण पदार्थों को आत्मतत्व से युक्त देखना जिससे वृक्ष, पहाड़, नदी, नाले, चेतन मानवों की भाँति काम करते माने जाते हैं।

६—क्रम के संयोग से वस्तुओं के कार्य-कारण की कल्पना जिसे काक-तालीय भी कह सकते हैं। उदाहरणार्थ कभी कई दिनों से मेह पड़ रहा है, और बंद नहीं होता, तभी किसी से तवा उल्टा होकर आँगन में गिर पड़ा, इसके बाद ही संयोग से मेह बंद हो गया। तो आँगन में उल्टा तवा रखना मेह बंद होने का कारण मान लिया गया।*

७—तुल्य से तुल्य को प्रभावित करना—पुतलों में सुई चुभो कर मनुष्य की मृत्यु में विश्वास करना।

८—अंश से अंशी को प्रभावित करना—किसी के नाम, शरीर के अंश, बाल, नाखून, आदि से उसे प्रभावित करना।

---

* ब्रज में प्रचलित एक विश्वास

९—इसी विश्वास से टोने करने वाले भोपों अथबा जादूगरों अथवा स्यानों का प्रादुर्भाव।

१०—विशेष विधि से, अनुष्ठान से, बलात् अभीष्ट की सिद्धि; इसी के फलस्वरूप मंत्र से अथवा अनुष्ठान से फल-सिद्धि मानी जाती है। 'पुत्रेष्टियज्ञ', आदि इसी वृत्ति के परिणाम हैं।

११—संतान-धारण और संभोगक्रिया में कार्य-कारण की स्थिति का अज्ञान। ऐसी आदिम जातियाँ आज भी हैं जो यह नहीं समझतीं कि पिता के कारण पुत्र पैदा होता है। आज भी स्त्रियाँ और पुरुष देवी-देवताओं-पीरों-पैगम्बरों से संतान की याचना करती मिलती हैं, वह इसी मूल आदिम विश्वास का ही अवशेष है। फल से या भभूत से या आशीर्वाद से सन्तान मिलने का विश्वास भी इसी के अन्तर्गत है।

१२—आदिम मानव व्यक्ति के अस्तित्व को नहीं मानता, वह तो दल के अस्तित्व को ही मानता है। इसी के परिणाम स्वरूप ऐसे समाजों में यह स्थिति मिलेगी कि एक लड़का अपने दल के समस्त वयोवृद्ध व्यक्तियों को पिता व पिता-तुल्य मानता मिलेगा।

इसी मनोवृत्ति का परिणाम यह भी है कि किसी किसी आदिम जाति में एक दल की समस्त समवयस्क स्त्रियाँ, पुरुष की बहिनें मानी जाती हैं। और जिस दल में उसका विवाह हुआ है, उस दल की समस्त समवयस्क स्त्रियाँ उसकी पत्नी के समकक्ष।

इस संबंध में ही आर० आर० मैरेट ने 'साइकौलोजी एण्ड फोकलोर' (१९२०) नाम के निबन्ध-संग्रह में लिखा है : "यह कथन जोड़ना और है कि यद्यपि लोकवार्ताविद् का धर्म, मेरी दृष्टि में यही है कि वह अपनी विषय-वस्तु को स्थिर न मान कर परिवर्तनशील ही मानें, जीवित मानें, मृत नहीं; फिर भी इसके यह अर्थ नहीं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ऐसे कोई स्थायी छाया के समूह होंगे ही नही जो चित्र-कला (Kinematographic) की प्रणाली से देखने पर प्रतिफलित होंगे, ऐसा कुछ भी नहीं मिलेगा जिसे अपेक्षाकृत स्थिर-शील मानकर उस परिवर्तन की नाप-जोख का साधन बनाया जा सके। उल्टे मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति के अध्ययन से तो यही घोषित करने की ललक होती है कि "plus ca Change, plusi est to me'me Chose". यह मानना न्यायसंगत ही होगा... कि मानव जाति (स्पीसीज) ने बन-मानुसों (एप्स) से किसी विधि से अपना सम्पूर्ण विच्छेद तो सदा के लिए कर लिया पर तब से अब तक वह अपने रूप को प्रत्यक्षतः वैसा ही बनाये रख सकी" (पृष्ठ १९)

यही विद्वान आगे लिखता है:—

"किन्तु सभ्य मानस के क्षेत्र में प्राचीन पाखण्ड छिपे पड़े हैं। एक क्षण के लिए भी किंचित विवेक-चेतन (रेशनल) का प्रयत्न शिथिल होते ही मानस-क्षेत्र में ये सामने आकर उपस्थित हो जाते हैं।" (पृष्ठ २२)

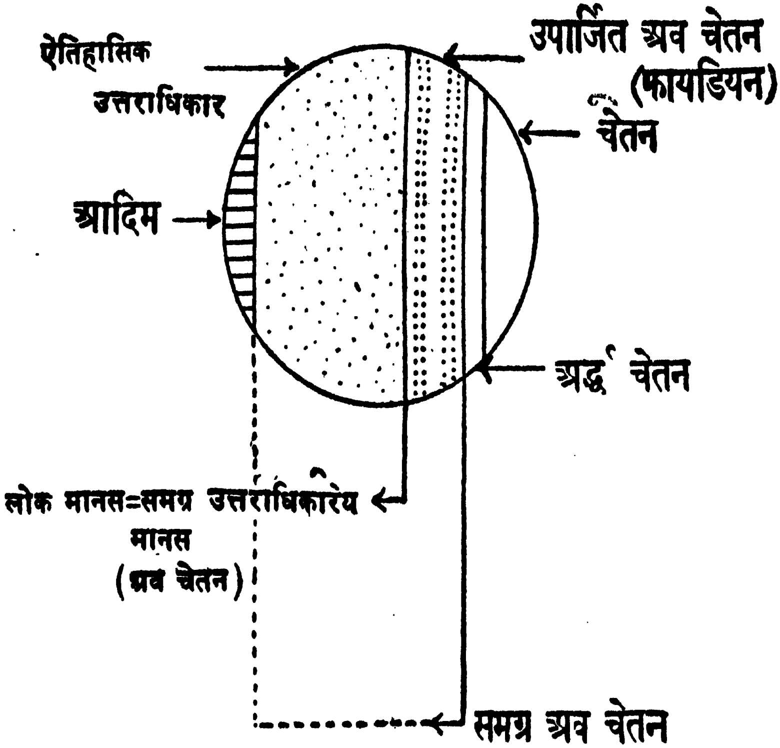
यही लेखक आगे लिखता है कि

"यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि लोकवार्ता में अवशेषों के अवशिष्ट रहने पर विचार किया जाता है तो ये अवशेष क्यों बच रहते हैं? ये भी अन्य बातों की तरह समाप्त क्यों नहीं हो पाते।" लेखक कहता है कि इसका ठीक उत्तर यह है कि ये इसलिए बचे रहते हैं कि ये लोक के उस जीवन के वे उपलक्षण हैं जिनकी निरंतर पुनरावृत्ति होती रहती है और जिनमें ही केवल दीर्घ काल के दौरान में ऐसे अवशिष्ट रूप में रहने की आन्तरिक क्षमता रहती है।" इससे स्पष्ट है कि लोक-जीवन में जो परम्परागत अवशेष रहता है, उस अवशेष के साथ वह मानस भी अवशेष के साथ रहता है, जिसका उस अवशेष से सम्बन्ध है। वस्तुतः जब तक मानस में उस अवशेष के लिए आग्रह नहीं हो तब तक कोई वस्तु अवशेष की भाँति परम्परा से परम्परा में जा नहीं सकती। मूलतः ये मानस की मूल वृत्तियाँ हैं जो मानव के आदिम से आदिम रूप को अपने अन्दर बचाये हुए हैं।

समस्त मानसिक संस्थान में अब इस 'लोक-मानस' की स्थिति को यहाँ पृष्ठ ३२ पर दिये हुए रेखाचित्र द्वारा और भी भली प्रकार देख सकते हैं।

इसमें पहले समस्त मानस के दो बड़े भेद किये जा सकते हैं। १—चेतन तथा २—अवचेतन। ३—तीसरा भेद अर्द्धचेतन का भी मानना होगा। यह अवचेतन और चेतन के बीच का अवकाश नहीं, यह चेतन की परिधि के रूप में है, चेतन की आवश्यक सीमा। अवचेतन के दो बड़े भेद होंगे, उपार्जित अवचेतन, जो मनोविश्लेषण के अनुरूप स्थिति रखता है और कुण्ठाओं तथा दमित वासनाओं से बना हुआ है। २ उत्तराधिकारेय मानस। यही लोक-मानस है। इसके निर्माण में दो तत्व हैं: १. आदिम उत्तराधिकरण—यह मानव के मन की मूल गति का प्राकृतिक दाय है। २. ऐतिहासिक उत्तराधिकरण—आदिम काल से चलकर आज तक उस प्राकृतिक आदिम मानसिक संस्थान के सूत्रों से संलग्न होकर, इतिहास-क्रम में विविध संस्कारों और संस्कृतियों के विकास से उपलब्ध मानसिक संस्कार जो आज हमारी रुचि और प्रवृत्ति के मूल में अलक्षित रूप से विद्यमान रहते हैं।

प्रश्न यह है कि लोक-मानस की यह स्थिति 'व्यक्तिगत' है या 'सामूहिक'। ऊपर से यह प्रश्न कुछ हास्यास्पद प्रतीत होता है। मानस का सम्बन्ध मस्तिष्क


ऐतिहासिक
उत्तराधिकार
उपार्जित अव चेतन
(फायडियन)
चेतन
आदिम
अर्द्ध चेतन
लोक मानस=समग्र उत्तराधिकारेय
मानस
(अव चेतन)
समग्र अव चेतन

मे है। मस्तिष्क किसी शरीर का ही अंश हो सकता है। अतः मानस तो किसी व्यक्ति में ही हो सकता है। किन्तु बात इतनी सरल नहीं। मानव का मनुष्य से सम्बन्ध है। मनुष्य का शरीर से। शरीर व्यक्तिपरक होता है। इसके होते हुए भी हम 'मानव' की एक ऐसी स्थिति भी मानने को बाध्य होते हैं जो मात्र 'व्यक्तिगत' नहीं। यह मानव क्या है ? क्या इसके शरीर नहीं है ? पर वह व्यक्ति रूप में नहीं मिलेगा। व्यक्ति-व्यक्ति में व्याप्त जो शरीर-धर्म है वस्तुतः मानव का वही शरीर है। क्या यह नहीं पूछा जा सकता कि सृष्टि में जो अरबों मनुष्य हैं, उनमें से प्रत्येक को हम मनुष्य ही क्यों मानते हैं ? जातिवादियों (रेस थ्योरी मानने वालों) ने छोटे मस्तिष्क[1] या सिर वाले नीग्रो और विशाल मस्तिष्क वाले यूरोपियनों में भेद माना है, उनकी विविध शक्तियों में अन्तर माना है, उनके द्वारा होने वाले हानि-लाभ को भी आँकने की चेष्टा की है।[2] पर उन्हें 'मनुष्य' सभी ने माना है। यही नहीं सबसे आदिम जंगली मानव से लेकर आज के सभ्यातिसभ्य मनुष्य को भी मानव कहा जाता है। ऐसा क्यों ? कोई ऐसा धर्म अथवा लक्षण अवश्य है जो समान रूप से सब में व्याप्त है। वह प्रत्येक शरीर में प्रकट होता है, किंतु सबमें समान है। यही मानव है जिसमें संसार में फैले हुए प्रत्येक मनुष्य का रूप समाया हुआ है। इस मानव की सत्ता ही उसमें 'मानस' की सत्ता की स्थिति की भी सूचना देती है। जब 'मानव' है तो उसका 'मानस' भी होगा ही। यह मानस वह मानस होगा जो ऐतिहासिक काल-क्रम से आदिम से लेकर आज तक और भौगोलिक-क्रम से समस्त विश्व में प्रत्येक मस्तिष्क में 'सामान्य मानस-धर्म' के रूप में विद्यमान हैं। इस अर्थ में 'लोक-मानस' मात्र व्यक्तिगत

१. कार्ल गुस्तव केरस ने 'सिस्टम आव फिजियालौजी' में बताया है कि यूरोपियनों के मस्तिष्क का आकार बड़ा होता है। ये दिवा जातियां हैं और नीग्रो जाति का मस्तिष्क छोटा होता है यह रात्रि जाति है।

२–मेडिसन ग्रांट ने इसे स्पष्ट किया है। फ्रांज बोआज ने बताया है कि "His (i. e. Madison Grant's) book is a dithyrambic praise of the blondblue-eyed long-headed White and his echievements and he prophesies all the ills tbat will befall mankind because of the presence of Negroes and dark-eyed races. (P. 25 "The Mind of Primitive Man").

नहीं । व्यक्तिगत रूप में स्थित भी वह सामान्य मानस है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति का मानस 'मानस' कहलाता है और जिसके कारण ही मानव 'मानव' के लिए प्रेषणीय हो पाता है । इसी अर्थ में यह सामूहिक भी है, क्योंकि समस्त मानव समूह में अपनी सामान्यता के कारण यह धर्म के रूप में विद्यमान प्रतीत होता है । जैसा ऊपर बताया जा चुका है आज यह लोकवार्ताविदों के द्वारा सिद्ध हो चुका है, कि मानव-मात्र समान मानस धर्म रखता है । [1]

लोक-मानस उस मानव-मानस का ही एक अंश और अंग है । इस लोक-मानस का प्रत्यक्षीकरण किसी व्यक्ति के द्वारा नहीं होता । व्यक्ति में विद्यमान रहते हुए भी मनोवैज्ञानिक इस मानस की झाँकी अभिव्यक्ति के माध्यम से ही कर पाते हैं । अनादिकाल से आज तक और सृष्टि में ओर से छोर तक मनुष्य-मात्र की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ हैं, उनके विश्लेषण से ही लोक-मानस की स्थिति और उसके स्वरूप का ज्ञान होता है ।

लोक-मानस और मानव-प्रकृति

उक्त विवरण से कुछ ऐसा आभास मिलता है कि लोक-मानस और मानव-प्रकृति को अभिन्न मान लिया गया है । वस्तुतः मानव-प्रकृति तो मनुष्य के स्वरूप का मूल है । और मानस उसका एक अंश मात्र । मानव-प्रकृति मानस की दिशा निर्धारक प्रकृति है । मानव-प्रकृति के, रूढ़ मूल स्वरूप के अनुसार जो मानस ढ़ला, वह जिस प्रकार से ऐतिहासिक-भौगोलिक क्रम में प्रतिक्रियावान अथवा क्रियावान, विकसित होता हुआ, पर अपने रूढ़ मूल की सीमाओं अथवा तत्वों को न त्यागता हुआ चला आया है, वही लोक-मानस है । यह आदिम मानस 'प्रिमिटिव माइंड' भी नहीं है, और 'जन-मानस' भी नहीं है । यह तो मात्र वह प्राकृतिक आदिम रूढ़ मूल मानस है, जो ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक स्थितियों के परिणाम को किसी भी रूप में ग्रहण नहीं करता । इस आदिम शब्द का प्रयोग आज विद्यमान आदिम जातियों के लिए भी होता है । अतः आज आदिम मानस से आदिम जातियों की मानसिक विशेषताओं का ही ज्ञान होता है । निश्चय ही यह लोक-मानस नहीं । लोक-मानस का किसी वर्ग अथवा जाति विशेष से सम्बन्ध नहीं । वह तो सर्वत्र

१.—The psychological basis of cultural traits is identical among all races, and similar forms develop among all of them वही (P. 33) तथा...the similarities of culture the world over...justify this assumption of a fundamental sameness of the human mind regardless of race. वही (P. 34.)

मानस के मूल में विद्यमान तत्व है। यह जंगल में भी और शहर में भी मिलेगा।

लोक-मानस को हमें आज जन-मानस से भी भिन्न मानना होगा। जन को यदि जाति 'रेस' का पर्याय माना जाय तो वस्तुतः लोक-मानस उसका विरोधी है। लोक-मानस की अवस्थिति ऐसे जन-मानस के सिद्धान्त को भ्रामक सिद्ध करती है। किन्तु आज जन शब्द 'रेस' अथवा 'जाति' के अर्थ में नहीं आता। आज जन शब्द से जनता का भी अर्थ ग्रहण किया जाता है। जनता शब्द भी विश्वभर के सामान्य मनुष्य का वाचक है, अतः जन-मानस उस सामूहिक 'कलैक्टिव' मनोविज्ञान का एक रूप है, जो वस्तुतः मानस के चेतन पक्ष पर बल देता है। जन-मानस किसी युग का वह साधारणीकृत मानस होता है, जिसमें चेतन-रूप में सामाजिक संस्कार-बद्धता के साथ युग के विधि-निषेधों के परिणाम से उद्‌भूत चेतन वृत्तियाँ फलित होती हैं। इसका सम्बन्ध चेतन-ग्राह्य वृत्तियों से है। मानसिक वृत्तियों की यह पृष्ठभूमि सामाजिक संस्कारों की चेतना और युग-चेतना के साधारणीकरण से प्रस्तुत होती है। इसी कारण यह लोक-मानस से भिन्न है।

और जिस शाब्दिक अभिव्यक्ति अथवा वाणी में जितना यह लोक-मानस अधिक मात्रा में मिलेगा, उतनी ही वह लोक-साहित्य के अन्तर्गत आ सकेगी। मेरेट महोदय ने लिखा है कि, "ऐतिहासिक परिस्थितियाँ बदलतीं हैं, जब कि मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ अपेक्षाकृत स्थायी होती हैं। लोक-साहित्य के विद्यार्थी को दोनों के साथ ही न्याय करना चाहिये।" 'Psychology And Folk-lore P. 121)' क्योंकि आज लोकवार्ता मात्र अवशेषों का ही अध्ययन नहीं है, लोक-मानस के साथ लोक आज के वर्तमान मानव में जीवित है। लोक साहित्य के द्वारा हम उसे इतिहास के साथ विद्यमान रूप में अध्ययन करते हैं।

विश्व लोक-वार्ता के भेद

विश्व लोक वार्ता के अन्तर्गत वह समस्त लोकाभिव्यक्ति आती है, जिसमें लोक-मानस अपने मौलिक प्रयोगों के साथ अपने उत्तराधिकरण को भी प्रस्तुत करता है। इसी कारण लोक-वार्ता के अध्ययन की दो प्रमुख दिशाएँ हो जाती हैं : एक लोक-वार्ता का ऐतिहासिक अध्ययन और दूसरा वर्तमान लोक-वार्ता का अध्ययन। ऐतिहासिक लोक-वार्ता के अन्तर्गत लोकाभिव्यक्ति की वह समस्त संपत्ति आती है जो साहित्य-कलाकौशल में इतिहास की साक्षी के

रूप में बिखरी हुई है, जैसे प्राचीन से प्राचीन लोककृत चित्र[१] मूर्तियाँ[२] विशेषत: मिट्टी की मूर्तियाँ (Terracottas), प्राचीन लिखित अथवा मौखिक लोक-मानस परंपरा[३] का साहित्य, स्थापत्य, स्थापत्यों में उत्कीर्ण अभिप्राय (motifs), उनके प्रसंग[४] प्राचीन आभूषण, अस्त्र-शस्त्र, वाणिज्य की वस्तुएँ, कौड़ियाँ, सीपें[५], परंपरागत नाट्य तथा नृत्य आदि।

१—प्राचीन चित्र फ्रान्स तथा स्पेन की गुफाओं में दिवालों पर उत्कीर्ण मिले हैं। इन चित्रों का लोक-वार्ता से गम्भीर संबंध है, क्योंकि श्री डब्ल्यू जे० पैरी के मतानुसार "It seems probable that this art was concerned with the food supply, that the representation of an animal desired for food helped in some way in its capture. (The Gowth of Ciwlization, 1937 P. 27.) अर्थात् अधिक संभावना यह है कि इस कला का संबंध भोजन-उपलब्धि से था कि भोजन के लिए इच्छित पशु का रेखांकन उसके पकड़ने में किसी न किसी प्रकार से सहायक था।

२—These people (of the Aurigracian stage of culture) also practised sculpture depicting boars and other animals that they chased, but in addition, they made sculptures of feminine form, with the material parts grossly exaggerated" (वही पृ० २८) स्त्रियों के अंगों का यह विशदीकरण निश्चय ही किसी टोने से संबंध रखता है, केवल कला-सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए नहीं हो सकता।

३—प्राचीन साहित्य में अधिकांश लोक-वार्ता ही होती है क्योंकि यह लोक-मानस के स्तर से उत्पन्न भावों को ही व्यक्त करता है।

४—प्रत्येक स्थापत्य और उसमें उत्कीर्ण अभिप्राय तथा प्रसंग में लोक-मानस का कोई न कोई विश्वास संलग्न अवश्य रहता है।

५—ये पदार्थ मेनटोन के निकट गुफा में प्राप्त हुए। ये निश्चय ही हिन्द महासागर से लायी गयी होंगी। यह टिप्पणी ठीक ही प्रतीत होती है कि "These shells are eloquent witnesses of intercourse of some sort or other in those far off days between widely separated parts of the earth. Elliot Smith has shown, in his work on the Evolution of Dragon, why shells were so valued in such remote age, they were supposed to have life giving powers."
इससे इनका ऐतिहासिक ही नहीं लोकवार्ता संबंधी महत्व स्पष्ट हो जाता है।

वर्तमान लोक-वार्ता के अन्तर्गत इसी प्रकार की वह समस्त अभिव्यक्ति आती है जो आज उक्त रूपों में विद्यमान मिलती है, फलतः इसे हम निम्न फलक से समझ सकते हैं।

लोक वार्ता

ऐतिहासिक — वर्तमान

ऐतिहासिक: वाणी विलास, कला-विलास

वर्तमान: वाणी विलास, कला-विलास

यहाँ यह बात ध्यान में अवश्य रखनी चाहिये कि लोक-वार्ता की अभिव्यक्ति में कला केवल किसी सौंदर्यानुभूति का प्रकाशन नहीं, लोकवार्ता की कला का जन-जीवन और इसके विश्वासों से घनिष्ठ संबंध होता है। लोकवार्ता संबंधी कोई भी चित्र मनोरंजन के लिए अथवा शोभा-सज्जा के लिए नहीं अंकित किया जाता। वह समस्त अनुष्ठान का एक अङ्ग होता है, जिसमें धर्म, तंत्र, मंत्र और टोने से मिलते-जुलते भावों का अद्भुत मेल रहता है। प्राचीनतम चित्राङ्कन में जो अभिप्राय आज हमारे अनुमान से सिद्ध होता है, वैसा ही अभिप्राय आज के लोक-वार्ता के चित्राङ्कनों में मिलता है। यद्यपि इनमें व्याप्त भाव उतने वस्तुपरक नहीं रहे, जितने भावपरक होगये हैं। भाव भी स्थूल जैसे कल्याण, संकट से रक्षा, समृद्धि आदि। पुरातन गुफा-निवासी पशुओं के चित्र बनाकर चित्र के टोने से पशुओं को हस्तगत करने की युक्ति रचता था। आधुनिक लोक-परंपरा में जब कोई चित्र प्रस्तुत किया जाता है, तो वह संपूर्ण अनुष्ठान का अङ्ग होता है और समस्त अनुष्ठान के अभिप्राय के अनुकूल होता है। लोक-वार्ता के कला-विलास का क्षेत्र तो बहुत व्यापक है। वाणी की अभिव्यक्ति के रूपों के अतिरिक्त शेष समस्त लोकोद्योग इसी के अन्तर्गत आते हैं जिन्हें यों विभाजित किया जा सकता है।

लोक कला-विलास

१ उत्पादन-संबंधी — २ संग्रह-सम्बन्धी — ३ कौटुम्बिक — ४ सामाजिक

लोक-जीवन में प्रत्येक कार्य और प्रत्येक आचार के सम्बन्ध में लोक-वार्ता मिलती है। उत्पादन-विषयक लोक-वार्ताएँ तो अत्याधिक मिलती हैं। वस्तुतः मनुष्य के समस्त उद्योगों की दो ही तो दिशाएं हैं: उत्पादन और उपभोग। संग्रह भी मूलतः उत्पादन का ही अङ्ग है। आधुनिक अर्थशास्त्र में तो यह

निर्विवाद उत्पादन के ही अन्तर्गत है। उत्पादन का उपभोग एक महान कर्म है। लोक-जीवन में उसे आवश्यक महानता प्रदान की गयी है। उपभोग को सदा उत्सव-विलास से संलग्न कर दिया गया है।

वाणी-विलास भी जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और उत्पादन तथा उपभोग से निरन्तर लिपटा रहता है, फिर भी इसके कई रूप मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं:—

लोक-वाणी-विलास

धर्मगाथा[1]	लोक-कहानी	अवदान या दन्तकथा	चुटकुले	तंत्राख्यान	लोकगीत	पहेलियाँ	मन्त्र

१—लेवीज स्पेन्स ने 'ऐन इंट्रोडक्शन टू माइथालाजी' में इनमें से कुछ रूपों की व्याख्या की है। जिसमें से धर्मगाथा पर संक्षेप में यहाँ दिया जाता है: '**धर्मगाथा** (myth) यह किसी देवता अथवा पराप्राकृत सत्ता का एकविवरण होता है, इसे साधारणतः आदिम-विचारों की शैली में लाक्षणिकता से अभिव्यक्त किया जाता है। यह वह प्रयत्न है जिसके द्वारा मनुष्य का विश्व से सम्बन्ध समझाया जाता है, और जो इसे दुहराते हैं उनके लिए प्रमुखतः धार्मिक महत्व रखता है, अथवा इसका जन्म किसी सामाजिक संस्था, रीतिरिवाज, अथवा परिस्थितियों की किसी विशेषता की व्याख्या करने के निमित्त होता है।"

इस परिभाषा के अनुसार 'धर्मगाथा' में (क) देवता अथवा पराप्राकृतिक शक्ति का विवरण होता है।

(ख) इसमें आदिम-मानस विद्यमान रहता है।

(ग) इसका धार्मिक महत्व होता है। इसे जो दुहराता है या पढ़ता है वह किसी धर्मलाभ की आकाँक्षा रखता है।

(घ) इसके निर्माण के दो प्रमुख कारण हो सकते हैं:।

(अ)—मनुष्य के सृष्टि के साथ सम्बन्धों की व्याख्या करने के लिए अथवा (आ)—किसी सामाजिक संस्था, प्रथा आदि की व्याख्या के लिए।

इसे और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि धर्मगाथा यह बताती है कि 'आदम' नाम के मनुष्य की पसली से हव्वा का जन्म हुआ। पशु अथवा पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए? किसी प्राणी में कुछ विशेषताएँ क्यों हैं? कौवे के एक आँख क्यों है? विशेष प्राकृतिक व्यापार क्यों होता है? चन्द्र को राहु ग्रसता है अतः चन्द्रग्रहण होता है। आदि।

इन रूपों में से कुछ विद्वान धर्म-गाथा को लोकवार्ताभिव्यक्ति नहीं मानते। कुछ का तो कहना यह है कि धर्म-गाथा का पूर्व में कुछ रूप रहा हो, हमारे समक्ष तो वह महान कवियों की रचना के रूप में आती है, इन विद्वानों का लक्ष्य ईलियड तथा महाभारत जैसी रचनाओं की ओर होता है।[1] कुछ का

विद्वानों के मत में धार्मिक आस्था नहीं, धार्मिक पृष्ठभूमि अवश्य होनी चाहिये। उसमें किसी देवता या दैवी पुरुष का समावेश होना आवश्यक है, यदि ऐसा न होगा तो उसे लोक-कहानी कहा जायगा। किन्तु यह बात ध्यान में रखने की आवश्यकता है, कि केवल देवी-देवताओं के आने से कोई लोक-कहानी धर्म-गाथा नहीं हो सकती। कितनी ही लोक-कहानियाँ ऐसी प्रचलित हैं जिनमें शिव-पार्वती, विष्णु आदि का उल्लेख मिलता है, पर उन्हें धर्मगाथा नहीं कहा जा सकता। किसी तथ्य की व्याख्या करने वाली कहानियों में भी देवताओं का समावेश होता है, पर उन्हें भी सदैव धर्मगाथा नहीं कह सकते। उदाहरणार्थ—

१—**गिलहरी की पीठ पर रेखाएँ क्यों हैं**—सीता के वियोग में गिलहरी ने राम को सहायता दी, राम प्रसन्न हुए, उन्होंने उस पर हाथ फेरा और रेखाएँ बन गयीं। यह लोक कहानी है, धर्मगाथा नहीं।

२—**पेट बन्द क्यों है**—पहले पेट खुला होता था और वह एक ढक्कन अथवा परिया से बन्द होता था। किन्तु पार्वती के पेट को खोल कर एक बार शिवजी ने देख लिया और उनके मायके का उपहास किया। तब से पार्वती ने शाप देकर उसे सदा के लिए बन्द कर दिया—यह लोक-कथा है, धर्मगाथा नहीं।

कारण यह है कि धर्म-गाथा के लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि उसमें देवताओं का समावेश हो, यह भी आवश्यक नहीं कि उसमें आस्था हो (यहाँ आस्था से अभिप्राय है कहानी में कही बात पर विश्वास करना)। ऊपर की दोनों कहानियों में वर्णित बात पर कहने-सुनने वाले दोनों ही विश्वास करते हैं, किन्तु धर्मगाथा के लिए आवश्यक है कि उक्त दोनों बातों के साथ उसका धार्मिक माहात्म्य भी हो। उसके कहने-सुनने में किसी धार्मिक लाभ की सम्भावना हो। किन्तु इन सबसे अधिक महत्व का तत्व यह है कि धर्मगाथा में देवी-देवता का समावेश परम्परित कथा-अभिप्राय (मोटिफ) के रूप में नहीं होता। धर्म-गाथा किसी न किसी देवी-देवता के वृत्त से गुँथी रहती है।

(देखिये स्टैण्डर्ड डिक्शनरी आव फोकलोर, माइथालाजी एण्ड लीजेण्ड)

१—ऐसे विद्वानों (जैसे ऐडिथ हैमिल्टन) से हमें यही पूछना है कि धर्म-गाथा का उपयोग महाकाव्यों में हुआ है, या महाकाव्य ही धर्मगाथाएँ हैं। निश्चय ही धर्मगाथा ने महाकाव्य से पूर्व ही जन्म ग्रहण किया। उसी पूर्व

विचार है कि लोकवार्ता-तत्व का संबंध आदिम-मानव के वर्तमान अवशेषों से होता है, किन्तु धर्म-गाथा तो अतीत काल से सम्बन्ध रखती है।[1] यह भी कहा जाता है धर्मगाथा में आदिम-मानस की अभिव्यक्ति नहीं, क्योंकि आदिम मानस का विकास कुछ निम्न क्रम से हुआ है।

(१) मन[2]।

(२) पराप्राकृतिक-वाद—प्राकृतिक पदार्थों के श्रद्धामयोद्रेक में।

(३) आत्मवत् वाद—किसी शक्ति की उद्भावना
आत्मवत् सर्वभूतेषू—मेरे जैसी
बुद्धि, शक्ति, विवेक पशु पक्षियों, पदार्थों में है।

(४) पदार्थात्मवाद—समस्त पदार्थों में आत्मा है।

(५) देववाद—देवताओं की कल्पना

इन विद्वानों के विचार से इस पांचवीं स्थिति में पहुँचने पर ही धर्म-गाथाओं का उदय हुआ।[3] अतः ये मूल लोक-मानस से संबद्ध नहीं। 'भाषा'

रूप के कारण वे धर्मगाथाएँ हैं। उसी महत्व के कारण वे महाकाव्यों का विषय बनीं। वे कथाएँ कवियों द्वारा कल्पित नहीं की गयीं, उनके द्वारा संशोधित भले ही हुई हों। अतः वे अपने मूल रूप में क्या थीं, यही महत्वपूर्ण है।

१—इस तर्क के संबंध में एक तो काट यही है कि आज लोकवार्ता वस्तुतः आदिम-अवशेष मात्र नहीं। धर्मगाथा का संबंध भी उतना ही वर्तमान से है जितना लोकवार्ता के आदिम अवशेषों के वर्त्तमान रूप से होता है। धर्मगाथा का यदि अतीत से संबंध है तो लोकवार्ता के आदिम अवशेषों को क्या बिना अतीत से संबंधित किये आदिम अवशेष माना जा सकता है ?

२—मन शब्द का प्रयोग मेलेनेशियन द्वीपसमूह में होता है, "To describe a mysterious form of energy which is thought of as capable of residing or gathering in men and natural objects, much as does electricity in a leyden jar" यह वस्तुतः आत्म अथवा आत्मशक्ति (Spirit power) का भी मूल सार है। कुछ विद्वान इस क्रम-विकास में 'मन' को पहला स्थान देने से सहमत नहीं। वे 'आत्मवत् वाद' अर्थात् 'ऐनिमेटिज्म' से ही लोक- मानस का मूल मानते हैं।

३—यहाँ प्रश्न यही है कि क्या इस पाँचवी अवस्था तक पहुँचने पर आदिम-मानस की सत्ता मिट चुकी थी। 'देववाद' क्या लोक-मानस की ही उद्भावना नहीं ? यह भी अब स्पष्ट हो गया है कि लोकवार्ता का मूल लोक-मानस से अनिवार्य संबंध नहीं। लोक-मानस की जो दाय रूप में स्थिति है,

में भी जैसा **मेक्समूलर** ने माना:—

पहली अवस्था—धातु निर्माण की है। (The Matic Period)

दूसरी अवस्था—भाषाओं की मूल जातियों के जन्म की है (Dialectic stage)। इस अवस्था में आर्य, सेमेटिक, टर्की आदि की जाति-भाषाओं ने जातीय धर्म ग्रहण करना आरम्भ किया।

तीसरी अवस्था–धर्मगाथापरक (Mythological) है जिसमें मूल शब्दों ने विकारयुक्त होकर गाथाओं को जन्म दिया। इस विकास की अवस्था पर आकर धर्मगाथाएँ बनीं।

चौथी अवस्था–लौकिक (Popular) इस अवस्था पर पहुँच कर राष्ट्रीय भाषाओं का निर्माण हुआ।

धर्म-गाथाओं के निर्माण में भाषा का बहुत हाथ रहा है। **मेक्समूलर** ने यही धारणा बना ली थी कि धर्मगाथा केवल भाषा का रोग है; 'मैलेडी आव लैंग्वेज' है। भाषा जब अपनी श्लेष-शक्ति अथवा असमर्थता के कारण, एक के स्थान पर, साम्य के या भ्रान्ति कारण, दूसरे शब्द को ग्रहण कर लेती है और अर्थ विषयक परिवर्तन भी पैदा कर देती है, तब धर्मगाथा जन्म लेती है। अतः धर्मगाथा का संबंध लोक-मानस से नहीं हो सकता।[1] फिर धर्म-गाथा से लोक-कथाएँ उत्पन्न हुई हैं। अतः लोक-कथाओं और लोक-वार्ताओं की जननी इस धर्मगाथा को पृथक ही मान्यता देनी पड़ेगी। इसी प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि विद्वानों के एक संप्रदाय ने धर्मगाथाओं को सूर्य, चन्द्र, तूफान जैसे किसी प्राकृतिक व्यापार का रूपक सिद्ध किया, तो किसी ने उन्हें किसी न किसी ऐतिहासिक व्यक्ति या तथ्य का ही रूपान्तर तथा लोक परिवर्द्धित रूप माना।

इन युक्तियों में विशेष बल नहीं माना जा सकता। धर्म-गाथा में मूलतः आदिम मानस [primitive mind] ओतप्रोत है। उसमें समस्त

उसकी अभिव्यक्ति भी लोकवार्ता का एक तत्व है। धर्मगाथाओं के विन्यास में लोकमानस व्याप्त है।

१—मैक्समूलर का सिद्धांत अब अमान्य हो चुका है। वास्तविक बात यह है कि लोक-कथा का जन्म पहले होता है। उसके पात्रों का नामकरण बाद में होता है। यह नामकरण की स्थिति ही महाकाव्यों की स्थिति है। सामान्य लोक-कथा + धर्म तथा देव-तत्व = धर्मगाथा + देवतत्व का नामकरण = महाकाव्य। अतः महाकाव्य धर्मगाथा का रूपान्तर है।

विचार, विकास और उद्‌भावना लोक-मानस के परिणाम से है, संस्कृत मानस की मनीषिता उसमें नहीं। यों यह विषय पर्याप्त विवाद की गुंजायश रखता है कि आदिम उद्‌गार धार्मिक भावना के मूल से संयुक्त थे, जैसा कि फ्रेजर ने माना है। मैजिक (टोने) के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए फ्रेजर का कहना है कि लोक-वार्ता का मूल मानस मैजिक भाव का परिणाम है। मूलर ने उधर [ऐनीमिज्म] पदार्थ-आत्म देवसत्तावाद की स्थापना की थी, और रूस के विद्वानों की मान्यता यह हो रही है कि आदिम-मानव की मूल अभिव्यक्ति धार्मिक मूल से युक्त नहीं थी, वह शुद्ध लौकिक थी। ऐडिथ हैमिल्टन ने लिखा है कि "अधुनातन विचार के अनुसार एक वास्तविक धर्मगाथा (Myth) का धर्म से कोई संबंध नहीं होता। वह प्रकृति की किसी बात की व्याख्या होती है, जैसे विश्व में कोई या प्रत्येक वस्तु किस प्रकार अस्तित्व में आयी···धर्मगाथाएँ आरंभकालीत विज्ञान हैं, मनुष्य के उस प्रथम प्रयत्न का प्रतिफल जिसके द्वारा उसने अपने चारों ओर की वस्तुओं की व्याख्या की···किन्तु तथाकथित धर्मगाथाओं में ऐसी भी हैं जो व्याख्या नहीं करतीं। ये शुद्ध मनोरंजन के लिए हैं···अब यह तथ्य प्रायः मान लिया गया है और अब हमें धर्मगाथा की प्रत्येक नायिका में चन्द्र या उषा को ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं रही, न प्रत्येक नायक के पराक्रमों में सूर्य-गाथा ही ढूँढ़नी है (दे० 'मायथालॉजी' नामक पुस्तक) तथापि इस समस्त विवाद-पूर्ण स्थिति के उपरान्त भी यह कहा जा सकता है कि वह धर्म भी लोक-तत्व का अङ्ग था और धर्मगाथाएँ भी उसी लोकतत्व के आधार पर बनीं। 'बिफोर फिलासफी' की भूमिका में ऐच० एण्ड ऐच० ए० फ्रैंकफर्ट द्वारा लोक-मानस के जो तत्व उद्‌घाटित किये गये हैं, उनका ऊपर 'लोक-मानस' में उल्लेख हो चुका है। वे सभी तत्व धर्म-गाथाओं में पूर्णतः मिलते हैं। यद्यपि ऐडिथ हैमिल्टन ने यह लिखकर आदिम-तत्व की धर्म-गाथाओं में कमी बतायी है कि "किन्तु जो बात आश्चर्य की है वह यह नहीं कि जहाँ-तहाँ जंगली विश्वासों के कुछ टुकड़े बच रहे हैं। अद्‌भुत बात तो यह है कि वे इतने थोड़े हैं", फिर भी क्या यूनानी, क्या भारतीय, क्या मिस्री, सभी की धर्मगाथाओं में लोक-मानस आपाद-मस्तक व्याप्त है। अतः धर्म-गाथाएँ, लोकवार्ता साहित्य का ही अङ्ग हैं।[1] धर्म-गाथाओं का अध्ययन लोकवार्ताओं के अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। तथा लोक-वार्ताओं के स्वरूप को समझे बिना धर्म-गाथाओं का भी अध्ययन असंभव है।

१—लोकवार्ता का क्षेत्र बहुत विशद है। उसमें धर्मगाथा का समावेश सहज ही हो जाता है।

दोनों का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। शेष रूपों के संबंध में कोई विशेष मतभेद नहीं। लोक-कहानी, अवदान, तंत्राख्यान आदि सभी निर्विवाद लोक-वाणी-विलास के भेद हैं। तंत्राख्यान का इन सभी रूपों में लिखित-विशिष्ट साहित्य से कुछ विशेष संबंध अवश्य है। भारत के पंचतंत्र तथा ईसप की फेबिल्स का पता हमें 'साहित्य' के द्वारा ही मिला है। पंचतंत्र की कहानियाँ बहुत अधिक प्रचलित हुई हैं। इसके २०० रूपान्तर विश्व की पचास भाषाओं में हुए बतलाये जाते हैं[१]। ये कहानियाँ पशु-पक्षियों से संबंधित हैं। यह कहा जा सकता है, कि ये लोक-कहानियाँ नहीं। पंचतंत्र में नीति और राजनीति को दृष्टि में रखकर जिस प्रकार ये कहानियाँ व्यवस्था-बद्ध की गयी हैं, वह साहित्यिक अहं-चैतन्य अथवा मेधा का परिणाम हैं। किन्तु बस, इस युक्ति में इतना ही सत्य है, कि कहानियों की व्यवस्था मात्र ही साहित्यिक अहं-चैतन्य से युक्त है, पशु-पक्षियों की कहानियों में स्वतंत्र रूप से लोक-मानस के तत्व स्पष्ट हैं। वस्तुतः लोक-क्षेत्र से कहानियाँ लेकर साहित्यिक मेधा ने साभिप्राय व्यवस्था में उन्हें रख दिया है। अतः पंचतंत्र की मूल कहानियाँ लोक-कहानियाँ हैं, अथवा लोक-मानस के तत्वों से परिव्याप्त हैं। पंच-तंत्र के बाहर भी अनेकों पशु-पक्षी-विषयक कहानियाँ हैं। जो शुद्ध लोक-कहानियाँ हैं और इसी वर्ग में रखी जायँगी। लोकोक्ति, कहावत तथा मुहावरों तथा प्रहेलिका के मूल में मनीषी बौद्धिक कौशल दिखायी पड़ता है। पर यह यथार्थता नहीं। इन सभी का मूल लोक-मानस में है। पहेली के उल्लेख तो बहुत प्राचीन मिलते हैं। आदिम अनुष्ठानों तथा टोटकों से इनका घनिष्ठ संबंध था। वेदों तक में अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर पहेलियां बुझायी जाती थीं। आदिम जातियों में वर्षा के न होने पर कहीं विवाह के अवसर पर अथवा जन्म के अवसर पर पहेलियों का आनुष्ठानिक (ritualistic) उपयोग होता है। इससे इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि इनका जन्म लोक-मानस में ही है।

लोक-साहित्य-विषयक संप्रदाय

इस समस्त विवरण के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि लोक-वार्ता तथा लोक-साहित्य के अध्ययन-विषयक तीन संप्रदाय हैं।[२] एक को तो भारतीय

१—देखिये 'द स्टैण्डर्ड डिक्शनरी आफ फोकलोर आदि': पंचतंत्र शीर्षक निबंध।

२—किसी भी विज्ञान का इतिहास प्रायः उसके संप्रदायों के रूपमें प्रस्तुत किया जाता है। लोक-वार्ता-तत्व का इतिहास भी इसी दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है, किसी विज्ञान के इतिहास के अध्ययन की भाँति। लोक-वार्ता-तत्व के

संप्रदाय नाम दिया जा सकता है। इस संप्रदाय की स्थापना यह रही कि धर्मगाथाओं तथा लोककथाओं का जन्म भारत में हुआ और वे भारत से चतुर्दिक फैलीं। धर्मगाथाओं और लोक-कथाओं के जन्म लेने और रूपान्तरित होने का कारण

इतिहास के अध्ययन के महत्व के विषय में सोकोलोव ने लिखा है कि:—

(अ) बिना इतिहासपरक अध्ययन के तो इस क्षेत्र के आधुनिक उद्योगों का यथार्थ मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनके (लोक-वार्ता-तत्व-विदों के) उद्योगों की परम्परा है, उस परंपरा में ही उन्हें ठीक समझा जा सकता है।

(आ) लोक-वार्ता-तत्व विषयक विविध समस्याओं के क्या, कैसे और क्यों को समझने और इस निमित्त किये गये विविध हलों को जानने का मार्ग भी इतिहास से ही मिलता है।

(इ) इस क्षेत्र में क्या उपलब्धि हुई, यह इतिहास ही बतायेगा।

(ई) वैज्ञानिक विचार-विकास में क्या बाधाएँ और त्रुटियाँ रही हैं, इतिहास से ही जाना जा सकता है।

तथा (उ) इस लोक-वार्ता की पृष्ठभूमि क्या है, यह भी इसी से ज्ञात होगा। और जहाँ तक लोक-वार्त्ता-तत्व के विकास का प्रश्न है उसे सम्प्रदायों में बाँटकर किन्नित व्यवस्थित रूप से समझा जा सकता है।

लोक-वार्ता-तत्व का शास्त्रीय अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी माना जाता है। सोकोलोव का मत है कि यह उस विचार-क्रान्ति का परिणाम है जिसे 'रोमाण्टिसिज्म' नाम दिया जाता है। वस्तुतः तो यह लोक-वार्ता-विषयक प्रवृत्ति फ्रांसीसी राज्य-क्रांति का परिणाम थी। जिसने राष्ट्रीयवाद (नेशनलिज्म) को जन्म दिया। सामंतों के अत्याचारों से पीड़ित जन-समूह में चेतना उत्पन्न हुई और उन्होंने स्थापित किया कि राष्ट्र सामन्त-वर्ग से नहीं बनता, जन-साधारण के समूह से अथवा लोक-समूह से बनता है। इस स्थापना के बाद लोक-संस्कृति अथवा लोक-वार्ता का संकलन और अध्ययन आरंभ हो गया। स्वयं सोकोलोव ने माना है कि 'लोक-वार्ता के प्रथम रोमाण्टिसिस्ट संस्करण के प्रकाशन में राजनीतिक उद्देश्य स्पष्टतः और उग्र रूप में प्रकट किये गये हैं।' उनको समझने के लिए केवल यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इन प्रथम प्रकाशनों का समय वही है जो नेपोलियन के युद्धों का है। इस राष्ट्रवादी भावना से अनुप्रेरित शोध और अध्ययन की प्रवृत्ति ने संग्रह-ग्रंथ प्रदान किये और संस्कृत के पाश्चात्य जगत के समक्ष उद्घाटित होने से इस लोक-वार्ता

है शब्द-विकार अथवा मैक्समूलर के शब्दों में 'मैलैडी श्राव वर्डस' है । इस युग के प्रायः समस्त लोक-तत्व-मर्मज्ञ [ओरियंटेलिस्ट], भारतीय तत्व के पंडित तथा भाषा-विज्ञान-विशारद थे। भारतीय तत्व और भाषा-विज्ञान के सहारे ही उन्होंने लोक-तत्व को भी समझने की चेष्टा की थी। इसके लिए तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग किया जाता था।

इस दिशा में सबसे पहला प्रयत्न **विलहेल्म ग्रिम** (१७८७-१८५६) तथा **जेकब ग्रिम** का था।[1] ग्रिम बन्धुओं ने लोक-तत्व के अध्ययन की दृष्टि से विशेष ध्यान माइथालोजी (धर्मगाथा) पर दिया था, इसी कारण इसे माइथालोजी-कल संप्रदाय कहा जाता है। इस संप्रदाय के प्रसिद्ध तत्व-वेत्ताओं में प्रमुख हैं– जर्मनी का अडालबर्ट कुह्न (१८१२-१८८१) 'स्क्वार्ज' (Schwarz) 'मन्न

प्रवृत्ति को वैज्ञानिक रूप प्राप्त हुआ। सोकोलोव ने इस प्रकार लोक-वार्ता का संबंध अपनी दृष्टि से वर्गवादी सिद्धांत से कर दिया है। जबकि सत्य यही प्रतीत होता है कि संस्कृत-भाषा के साहित्य के परिचय से ही एक बौद्धिक क्रांति हुई। भाषा में ही साम्य नहीं दीखा, कथा-कहानियों में भी साम्य था। माइथालाजी में भी था। पुरातत्वविद भारत के साहित्य और लोक-साहित्य दोनों के संग्रह और अध्ययन तथा तुलना में लगे। इसके लिए पाश्चात्य क्षेत्र से भी सामग्री संकलन की गयी। वस्तु-स्थिति तो यह थी कि यह संस्कृत के संपर्क से उदित होने वाली विचार-क्रान्ति मूल में फ्रान्स की राज्य क्रान्ति के राष्ट्रवाद के विरोध में थी। राष्ट्रवाद भौगोलिक और ऐतिहासिक सीमाओं में मानव-धर्म को बाँट कर विश्व में संकुचित क्षेत्र पैदा कर रहा था। जब कि संस्कृत के संपर्क से उत्पन्न विद्वानों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि आर्य जातियाँ इन राष्ट्रीय सीमाओं का उल्लंघन करके एक हैं। फलतः राष्ट्रवाद ने लोक सामग्री प्रदान की और संस्कृत-संपर्क से उत्पन्न मनीषिता ने तुलनामूलक वैज्ञानिक दृष्टि। निश्चय ही इस लोक-विज्ञान की वैज्ञानिकता में भारत की विचारधारा का गहरा प्रभाव है। इसी कारण इस प्रारम्भ के लोक-वार्ता-तत्व के अध्ययन की परम्परा को भारतीय संप्रदाय कहा जाता है। अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसे 'मैथोलौजिकल स्कूल' भी कहा जाता है। इसके प्रवर्तन का श्रेय ग्रिम बन्धुओं को है।

१—जेकबग्रिम की मुख्य रचनाएँ हैं: 'टेल्स फार दी चिल्ड्रन एण्ड दी फैमिली' (१८१२), जर्मन ग्रामर (१८१६) ऐण्टिक्विटीज आव जर्मन (१८२८), जर्मन मैथालाजी (१८३५), हिस्ट्री आव दी जर्मन लैंग्वेज (१८४८)।

हार्ट' (Mannhardt) **अंग्रेजों के मैक्समूलर, फ्रेंच के पिक्टेत, रूस के एफ० आई० बुस्लयेव**, ए० एन० अफनस्पैव, तथा ओ० एफ० मिलर।

इस संप्रदाय की मान्यता यह थी कि:—

(१) समान गाथाओं का उद्‌गम एक स्थान पर हुआ।

(२) समान गाथाओं का जहाँ जहाँ प्रचलन और मान्यता है वहाँ की जातियों का भी उद्‌गम स्थान एक था। वे सब एक परिवार की जातियाँ हैं।

(३) गाथाएँ भाषा-विकार के कारण उत्पन्न हुई।[१]

(४) उनका मूल है कोई प्राकृतिक व्यापार : जैसे **स्क्वार्ज** की स्टार्म थ्योरी। मैक्समूलर की सोलर थ्योरी[२] को महत्व देने वाला माना जाता है।

(५) इसकी प्रणाली तुलनामूलक थी। गाथा, अभिप्राय तथा नाम और शब्दों की तुलना, इसे धर्मगाथावादी सम्प्रदाय की त्रुटियाँ, कमी और दोष, इसके अनुयायियों को ही प्रकट होने लगे थे, फिर भी यह प्रवृत्ति १८५९ ई० तक प्रबल रही।

१८५९ में **थ्योडोर बेन्फी** का **पंचतंत्र** प्रकाशित हुआ, जिसने थ्योरी आव बोरोइंग—उधारवादी संप्रदाय की स्थापना की। बेन्फी की स्थापना यह थी कि ये गाथाएँ अथवा लोक-कथाएँ एक स्थान पर उत्पन्न हुई और वहाँ से दूसरे क्षेत्रों में फैलती चली गयीं। इससे बेन्फी ने धर्म-गाथा-वादी संप्रदाय की इस धारणा का निराकरण किया कि समान धर्मगाथाओं वाली जातियाँ एक ही परिवार की हैं, वे जातियाँ अलग अलग परिवार की हो सकती हैं। उनमें समान धर्म-गाथाएँ इसलिए हैं कि उन्होंने एक मूल स्रोत से उन्हें उधार लिया है।

बेन्फी का विश्वास था कि गाथाओं का मूल उद्‌गम क्षेत्र भारत है। भारत

१—मैक्समूलर ने गाथाओं के उद्भव की दृष्टि से मानवीय संस्कृति के विकास की चार सीढ़ियाँ या युग माने हैं—पहली, थीमैटिक:शाब्दिक (धातुओं और व्याकरण के तत्वों का जन्म),, दूसरी डायलेक्टिक (बोलियों के निजी रूप-ग्रहण की अवस्था अथवा भाषिक:विविध कुलों की भाषाओं के मूल स्वरूप का जन्म हुआ।) तीसरी : माइयालाजीकल : गाथा-तात्विक (इस युग में गाथाएँ बनीं) औरचौथी पोपुलर : इस युग में लौकिक राष्ट्र भाषाएँ खड़ी हुई।

२—स्टार्म थ्योरी में विविध देवी-देवताओं का मूल स्टार्म या तूफान के प्राकृतिक व्यापार से माना जाता है और 'सोलर थ्योरी' में सूर्य से।

से ही ये कथाएँ चली और फैलीं। **बेन्फी** ने उन युगों का निर्देश किया है जिनमें यह कथाओं का संक्रमण विशेषतः हुआ—

उदाहरणार्थ एक युग है सिकन्दर के आक्रमणों का, दूसरा है अरबों के आक्रमण का। तथा धर्म-युद्धों [crusades] का।

बेन्फी ने उन मार्गों को ढूँढ़ निकाला जिनसे होकर ये गाथाएँ एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करती रहीं। **पंचतंत्र** की कहानियों के आधार पर **बेन्फी** ने ये सब स्थापनाएँ सिद्ध की।

इस उधारवादी संप्रदाय के प्रमुख वेत्ताओं में हैं **फ्रांस** के **गेस्टनपटिस**, **कासविवन**, अंग्रेजी के **क्लौस्टज**, जर्मन के **लेनडउ** आदि।

इस **उधारवादी संप्रदाय** को भी भारतीय संप्रदाय के अन्तर्गत स्थान दिया जायगा, क्योंकि, माइथालौजिस्ट 'धर्मगाथावादी' की भाँति यह संप्रदाय भी भारतीय-तत्व को प्रधानता देता है। यद्यपि इसी संप्रदाय के अन्तर्गत ही वे प्रयत्न भी आयेंगे जो लोक-गाथाओं के उत्पत्ति-स्थान और उसके अभिप्रायों की यात्रा का अनुसंधान करेंगे, भले ही वे उनका मूल भारत को न मानें। किन्तु ऐसे प्रयत्न विशेष महत्व नहीं पा सके। मुख्यतः इस संप्रदाय के प्रयत्नों के परिणाम से भारत ही कहानियों का मूल सिद्ध होता था।

किन्तु इस सम्प्रदाय की कमियाँ धीरे धीरे सामने आने लगी थीं। **इंग्लैंड**, **फ्रांस** आदि देशों के साम्राज्य **अफ्रीका**, **अमरीका**, **एशिया**, **आस्ट्रेलिया आदि में** फैले; वहाँ से लोक-वार्ता विषयक सामग्री का संग्रह विद्वानों के समक्ष **आया। इस** सामग्री को इस उधारवादी सिद्धान्त के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता था। तब एन्थ्रापालाजिकल (मूल-प्राकृतिक) सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ। अंग्रेज विद्वान **टेलर** ने सर्वप्रथम '**प्रिमिटिव कल्चर**' नामक पुस्तक में उधारवादी संप्रदाय के विरुद्ध एन्थ्रापालिजिकल सिद्धान्त की रूप-रेखा प्रस्तुत की। वृहद् सामग्री का अध्ययन करके **टेलर** ने स्थापित किया कि :—

(१) सभी जातियों के लोकों की जीवन-प्रणाली, रीति-रिवाजों और धार्मिक वृत्तियों और काव्य-रचना-प्रणाली में अद्भुत साम्य दिखायी पड़ता है। इस साम्य का कारण यह नहीं हो सकता कि एक स्थान से ही इन सबका प्रसरण हुआ।

(२) यह मानवीय स्वभाव-जन्य मानस-विचार-पद्धति और विकास-क्रम के स्वाभाविक साम्य के ही कारण है। मानव सर्वत्र मूलतः मानव ही है। इसका परिणाम यह है कि प्रत्येक जाति ने अपने लोक-वार्ता-तत्वों का निर्माण अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र रूप से किया है, किसी से उधार नहीं लिया और न

किसी एक मूल से ही उदय होकर वे आये हैं। इस धारणा के कारण इस सम्प्रदाय को विषयों के स्वोद्भावन का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

(३) आदिम मानव ने ही हमारे समस्त संस्कृति के मूल बीज का निर्माण किया। उनके उन मूल स्वरूपों का अवशेष आज भी हमें विद्यमान मिलता है, विशेषतः पिछड़े हुए वर्ग में। इसी संप्रदाय ने एनीमिज्म (animism) भूतात्मवाद अथवा पदार्थात्मवाद को आदिम धर्म का मूल बताया था। इस नृवैज्ञानिक संप्रदाय के प्रवर्तक **टेलर** का साथ दिया है **लैंग** महोदय ने।

इस संप्रदाय ने धर्मगाथावादी और उधारवादी सम्प्रदायों से वैज्ञानिक दृष्टि से अधिक ठोस धरातल स्वीकार किया और इस प्रकार लोक-वार्ता-तत्व के विषय में एक बहुत लम्बा डग बढ़ाया, फिर भी यहीं यह विचार-परम्परा समाप्त नहीं हो सकती थी। इस संप्रदाय ने मनुष्य और उसके स्वभाव को एक निरपेक्ष तत्व के रूप में स्वीकार कर उसकी सर्वत्र संभावना स्थापित की थी। वह उन तत्वों तक नहीं पहुँचा था जो मानव-स्वभाव के निर्माता माने जा सकते हैं।

इसी सम्प्रदाय के अन्दर लोक-मानस को भी विशेषतः अध्ययन का विषय बनाया गया। जर्मन विद्वान **विलहेल्म वुंट** इसके अगुआ थे। **'साइकालौजी आव नेशन्स'** में इन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि धर्म तथा काव्य के विविध विचार-विन्दु विशेष परिस्थितियों में मनुष्य के मानस में स्वप्न अथवा भ्रम रूपों में उत्पन्न हूए हैं।

ऐंथ्रॉपालाजिकल सम्प्रदाय के इस मनोवैज्ञानिकवाद में **फ्रायड** को स्थान दिया जायगा, जिसने अपने साइकोऐनेलिसिस (मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली) से यह सिद्ध करने की चेष्टा की, कि लोकगाथा (कथा) के अभिप्रायों का निर्माण दमित काम-भाव का परिणाम है। मनोवैज्ञानिक संप्रदाय सर्वथैव ग्राह्य नहीं हो सका।

इस 'नृवैज्ञानिक संप्रदाय' में **फ्रेजर** का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। **गोल्डन बो** (Golden Bough) में उसने **टेलर-लैंग** की भाँति नृवैज्ञानिक मानवीय समानता का प्रतिपादन करके भूतात्मतत्व (ऐनीमिज्म) को भी माना है, पर उसने यह भी स्थापना की कि उससे पूर्व भी लोक-संस्कृति की एक स्थिति होती है, जिसमें 'मैजिक' वाद का विशेष महत्व होता है, और इस मूल मैजिक भाव के साथ धार्मिक भाव भी सम्बद्ध रहता है।

रूस में इसी नृवैज्ञानिकवाद के साथ **बी० ए० मिलर** (१८४८-१९१३) के उद्योगों से ऐतिहासिक सम्प्रदाय का जन्म हुआ। इस सम्प्रदाय ने रूसी

लोक-साहित्य को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध दिखाया और इतिहास और लोक-साहित्य के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त को स्पष्ट किया। इस संप्रदाय के अध्ययन में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाता था कि लोक-वार्ता साहित्यः—

(१) कहां,
(२) कब,
(३) किन ऐतिहासिक तथ्यों पर और
(४) किन काव्य स्रोतों के सहयोग से निर्मित हुआ है।

इस प्रकार लोक-वार्ता-साहित्य विषयक यह नृवैज्ञानियक सम्प्रदाय दूसरा प्रधान सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के विविध देशों में अपने-अपने अनुकूल रूप ढले।

इन दोनों सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक सम्प्रदाय और माना जा सकता है। यह शुद्ध 'लोक-साहित्यवादी' सम्प्रदाय है और अमरीकी लोक-वार्ता क्षेत्रों में **'आर्न-टामसन'** सम्प्रदाय कहलाता है। इस सम्प्रदाय का दृष्टिकोण न तो लोक-साहित्य के साथ धर्म के प्रश्न को ग्रहण करता है, न मानव के आदिम मानस और स्वभाव को। वह लोक-साहित्य को, उसके रूप, अभिप्राय, उसके साम्य, पारस्परिक आदान-प्रदान आदि की दृष्टि से अध्ययन करता है। यह उनके अतीत आदि में प्रवेश करने की चेष्टा नहीं करता।

इन तीनों सम्प्रदायों तथा इनके उप-सम्प्रदायों और सहवर्ती सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को हृदयंगम करके यही निष्कर्ष निकलता है, कि लोकवार्ता और लोक-साहित्य का अपना इतिहास भी है और उसका अपना विज्ञान भी है। विज्ञान की दृष्टि से इसे भाषा-विज्ञान की समकक्षता प्रदान की जा सकती है और उसी के अनुसार इसे नृवैज्ञानिक पद्धति से भी ग्रहण किया जा सकता है; और लिंग्विस्टिक्स की भाँति 'फोकलोरिस्टिक्स' लोकवार्त्तातत्व को विवरणात्मक (डिस्क्रिप्टिव) रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है।

प्रत्येक दृष्टिकोण से लोकवार्त्ता और लोक-साहित्य का महत्त्व विश्व व्यापी सिद्ध होता है। और यह भी प्रतीत होता है कि लोक-साहित्य मनुष्य की प्रतिभा के लिए मूल स्रोत है। संभवतः मानव की प्रतिभाजन्य वाणी-क्रीड़ा-कला लोक-साहित्य से विलग होकर रह नहीं सकती। प्रत्येक देश और जाति के, प्रत्येक काल के साहित्य में इसकी सत्ता प्रतीत होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से इस सत्ता की व्याप्ति 'लोक-मानस' की सतत विद्यमानता के कारण है।

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्य के निर्माण की पृष्ठभूमि एक परंपरा से संबद्ध रहती है; और यह परंपरा अपने-अपने क्षेत्रों में व्युत्पत्ति-क्रम से आदिम प्राक् ऐतिहासिक मूल तक पहुँचती प्रतीत होती है।

हिन्दी साहित्य परंपरा, मनीषिता और प्रतिभा की दृष्टि से महान है; उसमें भी लोकवार्त्ता के तत्व का महत्त्वपूर्ण समावेश है। कैसे, कितने और किस रूप में? ये प्रश्न हैं जो उत्तर की अपेक्षा रखते हैं।

लोक-साहित्य और साहित्य

जिस प्रकार भाषा का विकास जनवाणी से होता है, वस्तुतः उसी प्रकार जन साहित्य से उदात्त अथवा वर्गोच्च साहित्य 'Classical literature' नाम की वस्तु का निर्माण होता है। लोक-मानस 'फ़ोक माइंड' अपनी बर्बर मानस-परंपरा का उत्तराधिकार अर्थात् आदिम मानव-मानस संस्कारों को बनाये रहता है। इसी मानस को शिष्ट संस्कार के उपरान्त साहित्यिक मानसिकता प्राप्त होती है। प्रत्येक साहित्यिक मानस की यथार्थ पृष्ठभूमि इसी जन-मानस पर टिकी होती है। फलतः लोक-वार्ता की व्याप्ति प्रत्येक काल और प्रत्येक युग के साहित्य में उसी प्रकार मिलती है, जिस प्रकार पूर्वजों का रक्त उनकी संतति में मिलता है। यह व्याप्ति उनकी नवीन से नवीन कल्पना और नवीन से नवीन दर्शन में भी मिलती है; उन तक में भी जिन्हें हम उनकी अपनी निजी उद्भूति मानते हैं। 'एक दीपक किरण-कण हूँ', डा॰ रामकुमार वर्मा की कविता के इस चरण में जो विपरीत-आरोप है जिसमें मानव का दीपकीकरण प्रस्तुत हुआ है, वह उसी आदिम वृत्ति का परिणाम है जो किसी भी वस्तु को प्राणवान मानती है। 'एक दीपक किरण कण हूँ' में अलंकार नहीं, कवि की एक आस्था है जिसमें आदिम मनोवृत्ति ने कुलांच लगायी है।

न जाने कौन, अये द्युतिमान।
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकते तुम हो कौन?

ऐसे गीतों में यथार्थ आदिम मानवीय मनोवृत्ति अवाक् और सप्रभ दिखायी पड़ती है। अन्यथा आज कौन इतना विस्मय कर सकता है! आज का बौद्धिक व्यक्ति इन समस्त प्रकाश-अंधकार के रहस्यों से परिचित है, 'वह न जाने कौन' कह ही नहीं सकता। वह उसे "तुम" भी नहीं कह सकता। क्योंकि

यह "तुम" तो स्पष्टतः मानवीकरण है। अतः केवल मौलिक दृष्टि से ही यह लोक-वार्ता-तत्व तथाकथित उदात्त साहित्य को पृष्ठभूमि ही नहीं प्रदान करता, वह साहित्य के अभिप्रायों[motifs]का भी बीज अथवा केन्द्र होता है। प्रत्येक साहित्य किन्हीं अभिप्रायों (मोटिफ़ों) के आधार पर खड़ा होता है। ये अभिप्राय जन-मानस में लोक-वार्ता से घनिष्ठ रूप से संबद्ध होते हैं और लोक-वार्ता-मय मानस में ही धर्म-गाथा का रूप ग्रहण कर धार्मिक आस्था का अवलंबन बन जाते हैं। यह अभिप्राय लोक-वार्ता की देन होते हैं और विश्व के समस्त उन्नत से उन्नत साहित्य में बड़े गर्व से सिर उठाये मिलते हैं। **राम और कृष्ण** भारतीय वांग्मय के ऐसे प्रबल अभिप्राय हैं जो अनेक नामों और रूपों से साहित्य में व्याप्त हैं। ये मूलतः किस क्षेत्र की देन हैं, इसका अनुसंधान यद्यपि कठिन है, फिर भी अब तक की जो शोध है उसके आधार पर **कामिल बुल्के** के शब्द प्रमाण माने जा सकते हैं :—

"वैदिक काल के वाद इक्ष्वाकु वंश के सूतों द्वारा रामकथा सम्बन्धी आख्यान-काव्य की सृष्टि होने लगी थी, जो चौथी शताब्दी ई० पू० के अन्त तक कुछ प्रचलित हो चुका था। उस समय **वाल्मीकि** ने इस स्फुट आख्यान काव्य के आधार पर राम-कथा विषयक एक विस्तृत-प्रबन्ध काव्य की रचना की।"[1]

वैदिक काल के बाद राम-आख्यान सूतों ने रचा, यह तो लेखक का अनुमान माना जा सकता है पर लेखक का यह निष्कर्ष उसकी वैज्ञानिक शोध का ही परिणाम है कि वाल्मीकि ने राम-आख्यान को लोक-वार्ता से प्राप्त किया, वह आख्यान विविध रूपों में स्फुट लोक में प्रचलित था। वाल्मीकि जी ने उसे प्रबन्ध-बद्ध कर दिया। स्पष्ट है कि वाल्मीकि का मूल स्रोत लोक-क्षेत्र था, अनुश्रुति और जन-श्रुति पर निर्भर। इस अनुश्रुति और जन-श्रुति के स्तरों को भेदकर यदि दूर गहरायी में देखा जाय तो संभवतः यह सत्य उद्घाटित हो सकता है कि **राम-लक्ष्मण** नाम के दो भाई तो कभी इतिहास के इक्ष्वाकु वंश ने हमें अवश्य दिये और वे यशस्वी भी रहे, पर **वाल्मीकि रामायण** ने जिस कथा को **राम-लक्ष्मण** के साथ गूंथा है, वह कथा उन इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों की नहीं, वरन् वह एक ऐसी लोककथा है, जो संभवतः आर्यजाति में उस समय प्रचलित थी जब इस जाति की शाखाऐं मूल से विच्छिन्न होकर पूर्व पश्चिम में बंटी और फैलीं[2]। राम-कथा की बात ही नहीं, कृष्ण-कथा का स्वरूप भी लोक-वार्ता ने प्रस्तुत किया है। **कृष्ण,**

१—**रामकथा—पृष्ठ ४८०**
२—**देखिये काक्स** (Cox) **की 'माइथालाजी आव एर्यन नेशन्स'**

नारायण, **वासुदेव**, **गोपाल** आदि एक ही व्यक्तित्व नहीं, कई व्यक्तियों के सम्मिलित रूप हैं, यह तो अब आधुनिक विद्वान मानने लगे हैं। यह सम्मिलित रूप लोक-मानस का ही प्रदान किया हुआ है। किन्तु जैसे राम की मूल-कथा भारत से बाहर भी व्याप्त है, उसी प्रकार कृष्ण-कथा को भी हम केवल भारत में ही नहीं पाते। यूनानी पुराण में **जियस** के जन्म की कथा क्या कुछ ही रूपान्तर से कृष्ण-कथा नहीं है।

यूरेनस नाम के **आलिम्पस** के प्रथम सम्राट को सिंहासन च्युत करके उसका पुत्र **क्रोनस** सिंहासननासीन हुआ तो उसने '**र्‌हीआ**' (Rhea) से विवाह किया। किन्तु उसकी (क्रोनस की) मां '**गइआ**' ने उसे शाप दिया कि उसे भी उसके (क्रोनस के) पुत्रों में से कोई एक गद्दी से उतारेगा क्योंकि उसने अपने पिता यूरेनस को उतारा है। इससे क्रोनस इतना विकल हुआ कि जब उसके **बच्चा** होता तभी वह अपनी पत्नी से उसे छीन लाता और निगल जाता। पांच **बच्चों** को वह इस प्रकार निगल गया। तब **र्‌हीया** बहुत दुखी हुई। उसने **गइआ** के परामर्श से एक प्रपंच किया। जब छठा पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसे **क्रीट** द्वीप में एक गुफा में छिपा दिया। यहां **अमलथिया** नाम की बकरी ने उसका पालन किया। उधर उस बच्चे के स्थान पर **र्‌हीआ** ने एक पत्थर के टुकड़े को प्रसव के वस्त्रों में लपेट कर **क्रोनस** को दे दिया। **क्रोनस** उसे भी निगल गया। वह बालक वहां **क्रीट** द्वीप में पलकर एक वर्ष में ही बड़ा हो गया। **गइआ** ने **क्रोनस** को वमन करा दिया, जिससे वह पत्थर का टुकड़ा ही पेट से नहीं निकल आया, वे पांचों बच्चे भी निकल आये, दो देवता थे, तीन थीं देवियां। इन्हीं ने क्रोनस को अपदस्थ कर दिया...आदि।[1]

इससे यह बात और भी भली प्रकार सिद्ध हो जाती है कि कृष्ण की कथा का लोक-वार्ता से घनिष्ठ संबंध है। इससे यह भी स्पष्ट है कि केवल भारतीय साहित्य को ही **राम** और **कृष्ण** लोक-वार्ता से नहीं मिले, अन्य भाषाओं के साहित्यों को भी मुख्य मुख्य जातीय अभिप्राय (National Motif) ऐसे ही लोक-वार्ताओं से मिला करते हैं, और वहाँ से साहित्यकार उन्हें ग्रहण कर लोक-विश्वास की मुख्य तीलियों को बिना विचलित किये, उन अभिप्रायों में नूतन कथा-व्याख्या प्रतिष्ठित करता है। इसी कारण किसी भी साहित्य में महान जातीय पुरुष प्राचीन परंपरा अथवा पुराणों से ही अवतीर्ण होते हैं और समय के अनुसार नयी साहित्यिक व्याख्या ग्रहण करते जाते हैं।

१—Lewis Spence, Introduction To Mythology P. 13.

राम **वाल्मीकि रामायण** में भी हैं, **तुलसी** के **रामचरितमानस** में भी, **केशव** की **रामचन्द्रिका** में **सेनापति** के श्लेषों में, **रामसखे** की रचनाओं में भी हैं, और **मैथिलीशरण गुप्त** के **साकेत** में, **निराला** की **राम की शक्ति** पूजा में। **श्यामनारायण पाँडेय** के **तुमुल** में। पुराण-सिद्ध **राम** की रूप-रेखा सर्वत्र एक है किन्तु आत्मा भिन्न हो गयी है। इसी प्रकार पुराणों के **कृष्ण** और **प्रिय-प्रवास** तथा **द्वापर** के अथवा **कृष्णायन** के कृष्ण अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं। पुराणों के कृष्ण भगवान हैं या भगवान के अवतार हैं, किन्तु **प्रिय-प्रवास** के **कृष्ण** एक महापुरुष अथवा जननायक ही दिखाये गये हैं। फलतः **कृष्ण** और **राम** तो लोक-वार्ता से मिलते ही हैं, उनके साथ के समस्त रूढ़ भाव भी लोक-वार्ता से प्राप्त होते हैं। **कृष्ण** केवल **यशोदा-नंद** के पालित पुत्र हैं इतना ही नहीं माना जायेगा, यह भी माना जायेगा कि कृष्ण गोपियों के प्रिय हैं, उन्होंने **गोवर्द्धन** पर्वत उठाया, ब्रज की इन्द्र के कोप से रक्षा की, कितने ही दनुजों को मारा, आदि आदि और इस वृत्त में लोक-वार्ता का दिया हुआ तत्व विद्यमान है। विश्व का ऐसा कोई भी साहित्य नहीं मिलेगा जिसमें यह तत्व प्रचुर मात्रा में नहीं। प्रायः समस्त वर्गोच्च (क्लासीकल) उदात्त साहित्य और विशेषतः उसके महाकाव्य[1] और नाटक ऐसे ही पौराणिक आख्यानों पर निर्भर करते हैं, जो लोक-कथा का ही मूल्य रखते हैं। **शेक्सपीअर** के **किंगलीअर** और उसकी तीन बेटियों की कहानी प्रसिद्ध लोक-कहानी ही है जो भारत में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान मिलती है। **होमर** के महाकाव्यों में जो पौराणिक आख्यान भरे पड़े हैं, वे लोककहानी के स्वभाव के ही तो हैं। इस प्रकार लोक-वार्ता से ही दार्शनिक सिद्धान्तों को भी साहित्य प्राप्त करता है और साहित्यकार उसे और महानता का आवरण प्रदान कर देता है।

1—The epic poem is a popular tale which the highest human genius has imparted a peculiar charm; and the same genius might have handled in like manner other tales which perhaps may never have passed out of the rang of common story tellers. They must all, therefore, be regarded and treated as belonging to vast store of popular tradition. They form indeed in the strictest sense of the works and have formed for thousands of years the folklore or learning of the peopie. Rev. Sir George W. Cox Bart. M.A. "Introduction to the Science of Comparative Mythology and Folklore." Edi. 1881 p. 6—7

हिन्दी में मध्ययुगीन भक्ति का जन्म ही लोक-क्षेत्र में हुआ था, जितने भी संत हुए सभी अशिक्षित और निम्न वर्ग में से हुए और उन्होंने भक्ति को प्रधानता दी। पत्थर की पूजा, नाम का महत्व, निराकार के साकार और साकार के निराकार होने का अद्भुत व्यापार, सभी कुछ तो लोक-वार्ता से प्राप्त हुआ है।[1] 'पत्थर पूजा' आदिम मानस के फ़ेटिश (Fetish) मूर्तिकरण का संस्कृत अवशेष है।

हिन्दी के भक्ति काल का रास-तत्व, दर्शन, अध्यात्म, काव्य के कथा-प्रसंग विषय-गत सामाजिक, व्यावहारिक वर्णन-विवरण, छंद, शैली, भाषा का स्वरूप, सभी में लोक-तत्व और उसकी महत् प्रेरणा विदित होती है—हिन्दी में यह कितनी और कैसी है इसी का विश्लेषण और निरूपण इस प्रबन्ध का मुख्य विषय है। ये सभी लोक-क्षेत्र से ग्रहीत सामग्री आज उच्च उदात्त साहित्य की महिमा से मंडित हमारे समक्ष हैं।[2]

यहाँ तक इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि परिनिष्ठित अथवा उद्दात्त साहित्य लोक-साहित्य से प्रभावित होता है। वस्तुतः इस प्रभाव से साहित्य बच नहीं सकता, क्योंकि साहित्य और लोक-साहित्य दोनों की प्रवृत्तियों में जो मौलिक भेद है वह इस प्रभाव को अनिवार्यता का रूप दे देता है। परिनिष्ठित अथवा उदात्त साहित्य की प्रवृत्ति क्या है? निश्चय ही यह प्रवृत्ति संस्कार और परिमार्जन की प्रवृत्ति है। यह वह प्रवृत्ति है जो वैशिष्ट्य

१—देखिए डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखित 'हिन्दी साहित्य'—"स्पष्ट है अलवारों का भक्तिवाद भी जनसाधारण की वस्तु था जो शास्त्रों का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गया। भक्तों के अनुभूति-गम्य सहज सत्य को बाद के आचार्यों ने प्रदर्शन का क्रमबद्ध और सुचिन्तित रूप दिया।" (पृ० ९०)

२—Psychology of Folklore by R. R. Marret—पृ० १०० पर देखिये "Thus the aesthetic tradition of the folk which is the last home of many decadent interests of a practical kind can furnish material on which the literary genius may profitably draw."

इस कला सौंदर्य की उद्भावना पर आगे विचार करते हुए इन्होंने लिखा है—

'Now possibly the sense of beauty depends more on innate predisposition than on education—Page 116.

चाहती है । यह सौन्दर्य और अनुभूति का ही वैशिष्ट्य नहीं चाहती, अभिव्यक्ति के रूप का भी वैशिष्ट्य चाहती है। अतः इसमें कला ही नहीं कौशल भी आता है । रूप का वैशिष्ट्य और कौशल का उपयोग ऐसे साहित्य को अनुदार सीमा-रेखाओं से बाँध देता है । यह बंधन आगे चलकर नियम और शास्त्र की परंपरा में पर्यवसित होता है । यह परंपरा लकीर के फ़कीरों का महत्व स्थापित कर देती है । मौलिकता का लोप होने लगता है । उधर लोक-साहित्य की धारा प्राकृत धारा है, वह प्राकृत प्रवाह से स्वच्छन्द बहती चलती है, उसके लोक-मानसिक तत्व एक परंपरागत रीढ़ का सहारा लेते हुए भी नयी संभावनाओं, नयी उद्भावनाओं, और नयी अनुभूतियों को अपनाती चलती है । फलतः जैसे ही मनीषी उदात्त साहित्य परिपाटी में पड़कर जीर्ण होने लगता है, वैसे ही उसे लोक-साहित्य से नयी संजीवनी प्राप्त करने के लिए विवश होना पड़ता है । लोक-क्षेत्र की विशालता भी साहित्य को प्रभावित करने में एक कारण है । लोक-साहित्य नयी उद्भावनाओं से ओत-प्रोत महा-सागर की तरह जहाँ चारों ओर उमड़ रहा है वहाँ साहित्यकार उसकी कैसे उपेक्षा कर सकता है । और कुछ नहीं तो उसकी प्रेरणा से उद्भूत अपनी कलात्मक अनुभूति के लिए ही वह लोक-साहित्य का ऋणी हो जाता है । लोक-साहित्य और लोक-वार्ता से वस्तु और प्रतीक लेकर वह उन्हें संस्कृत और परिमार्जित रुचि के अनुकूल ढालने की भी चेष्टा करता है । इसी के साथ एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण कारण यह है कि लोक-साहित्य में मानव का परंपरित मर्म और मूल अवतरित होता है । दूसरे शब्दों में उसमें हमें वह धरातल प्राप्त होता है जिस पर भूतकालीन मानव अपनी नग्नता के साथ वर्तमान मानव से मानव की चिरकालिक सत्ता के धरातल पर मिलता है; जिस पर मानव की समष्टिगत मूर्ति प्रतिष्ठित है, जिस पर मानव की बहुमुखी प्रवृत्ति लहरा रही होती है, जिस पर मानव भौगोलिक और सांस्कृतिक भेद भुलाकर जीवित है, जो व्यक्ति के अलंकार से रहित है, पर व्यक्ति की प्रतिभा के सामान्य को लिये है । ऐसे मर्म से व्यक्तित्व और प्रतिभा की अहम्मन्यता भी देर तक प्रवंचना नहीं कर सकती ।

ऊपर जैसे कुछ कारणों से ही साहित्य को लोकसाहित्य से प्रभावित होना पड़ता है । साहित्य के लिए लोक-वार्ता और लोक-साहित्य स्रोत का काम देते हैं । बड़े बड़े महाकाव्यों ने अपनी वस्तु का चयन लोक-वार्ता और लोक-साहित्य से किया है । यही कारण है कि कथासरित्सागर अथवा बड्डकहा (वृहत कथा) को आचार्यों ने काव्यों के स्रोत का सम्मान प्रदान किया है ?

लोक-वार्ता और लोक-साहित्य केवल कथा और कथानक-रूढ़ियों या अभिप्रायों के लिए ही साहित्यकारों को स्रोत नहीं होता, विचारों, धार्मिक भावों,दार्शनिक तत्वों के लिए भी होता है। यहाँ तक कि छन्द और भाषा के लिए भी उसे लोक के पास जाना होता है। लोक-साहित्य की धारा सहज ही सर्वत्र प्रवाहित मिल जाती है। उसके लिए पाठशालाओं को अपेक्षा नहीं, वह जैसे प्रत्येक मनुष्य से सहज ही संबद्ध है। मौखिक होने से वह सहज ही कानों में पड़ती रहती है। लोक-मानस का किंचित दाय भी मनीषी-मानस को मिलता ही है। विश्व की समस्त साहित्य की पृष्ठभूमि में यह तत्व विद्यमान मिलेगा। हिन्दी के सम्बन्ध में तो यह और भी विशेष रूप से सत्य है। हिन्दी के जन्म से पूर्व की दीर्घ धारा को हम देखते हैं, संस्कृत भाषा के मनीषियों ने एक समय लोक-भाषा का अस्तित्व माना। यह लोक-भाषा उस संस्कृत के लिए प्राकृत थी। प्राकृत-युग में आचार्यों ने प्राकृत के साथ फिर एक 'देशभाषा' की सत्ता स्वीकार की*—तब यह देश-भाषा अपभ्रंश थी। और अपभ्रंश के साहित्यकारों ने भी "देसिल बयना" की ओर संकेत किया—यहाँ हमें अपनी हिन्दी आदि देशी भाषाएं मिलीं। देशी भाषा में साहित्य रचने की परंपरा निरंतर विद्यमान है। इस भाषा को ही लोक-भाषा कहा जाता है और इसका साहित्य आरंभ में जब वह केवल 'देश भाषा' के नाम से चलती है, लोक-साहित्य होता है। फिर लोकसाहित्य साहित्य को पृष्ठभूमि बन जाता है। हिन्दी के उदाहरण से इस लोक विषयक पृष्ठभूमि को स्पष्ट समझा जा सकता है।

हिन्दी साहित्य के विकासक्रम में लोकवार्ता की पृष्ठभूमि

हिन्दी के उदय की बेला पर दृष्टिपात करते ही यह सहज ही प्रतिभासित होता है कि हिन्दी की समस्त पृष्ठभूमि लोकबार्ता और लोक-तत्वों पर निर्मित हुई होगी। हिन्दी लोकभाषा थी और इसमें साहित्य-सृजन करने वाले आरंभ में वे ही लोग थे जिनका या तो संस्कृत से सैद्धान्तिक विरोध था, जैसे बौद्ध या जैन [1] या वे थे जिनका संस्कृत से सम्पर्क ही न था, अर्थात अत्यन्त साधारण जन जो अधपढ़, कुपढ़ या बेपढ़े थे। अतः लोकभाषा का ही आधार इनके साथ था, भले ही वह सैद्धान्तिक आस्था के कारण हो अथवा जन्मजात।

---

* यथा "एवमेतन्तु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देश-भाषा प्रकल्पनम्" (भरतः नाट्यशास्त्र)

१—भगवान बुद्ध मागधी प्राकृत में उपदेश देते थे। उनके शिष्यों ने उनसे पूछा कि आपकी वाणी को संस्कृत में रूपांतरित किया जाय, किंतु उन्होंने उसका स्पष्ट निषेध किया था।

इस स्थिति से संस्कृत-क्षेत्र-वाह्य मूल लोक-सत्ता की एक विशेष मनोवृत्ति* हो गयी थी। इस मनोवृत्ति का बस एक ही परिणाम हुआ करता है : वह यह कि समस्त जन-साहित्य की पृष्ठभूमि और भाव-भूमि लोक-तत्वों से प्रेरणा और सामग्री ग्रहण करती है। जन-मानस लोक-तत्वों का अभिज्ञान लेकर यथार्थ लोक-पार्थिव भूमि पर निर्भर करता है। मुनि-मानस अपनी प्रतिभा के चमत्कार पर पार्थिव भूमि से पृथक् सौन्दर्य-अनुभूति-कल्पना के लोक में विचरण करता है। दोनों मानसों में बहुत गहरी खाई हो जाती है। फलतः मुनि-मानस की सृष्टि एक महार्घता और पूज्य भावशीलता ग्रहण कर लेती है। लोक-मानस ऐसे अवसर पर स्वतंत्र उद्‌भावनाओं से, नई स्फूर्ति से, सृजन करता है और यह सृजन परिणाम और नव-कल्पनाओं की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता जाता है। धीरे-धीरे यह साहित्य के सम्मान का अधिकारी हो जाता है। हिन्दी के विकास की चार अवस्थाओं तक हमें लोक-तत्व धीरे-धीरे साहित्य-गौरव से अभिमण्डित होता दिखायी पड़ता है। हमें हिन्दी साहित्य की इसी पृष्ठभूमि को भली प्रकार देखना है।

ऐसा करने के लिए हमें लोक-तत्व का स्वरूप स्पष्ट करने की आवश्यकता

* इस विशेष मनोवृत्ति को 'लोक-वेद' की परम्परागत दो पद्धतियों में से 'लोक-मनोवृत्ति' ही कहा जा सकता है। यह संस्कृत-सांस्कृतिक नहीं रहती; लोक-संस्कारपरक हो जाती है।

ऐसी ही घटना भगवान महावीर के सम्बंध में कही जाती है।

जैन महाकवि देवसेन के साथ भी कुछ ऐसी ही घटना घटी थी। प्राकृत उस समय शिष्ट भाषा थी, अपभ्रंश या पुरानी हिंदी उस समय थी देशभाषा। देवसेन ने 'नय चक्र' इसी देशभाषा में 'दोहों' में रचा और किन्हीं शुंभकर नाम के विद्वान को सुनाया। वे इस पर हँसे और कहा कि ऐसी ऊँची बातें तो गाथाबंध यानी प्राकृत में शोभा देंगी, यह क्या दोहाबंध (देशभाषा अथवा गँवारी भाषा) के योग्य हैं। देवसेन के शिष्य माइल्ल धवल ने इस कथा का उल्लेख किया है।

सुणि अण दोहरत्थं सिग्धं, हसि ऊण सुभंकरो भणइ,

ऐत्थण सोहइ अत्थो, गाहा बंध गंतदध्व सहाव पयासं दोहय-बंधेम आसिज विद्व

तं गाहा-बंधेण रइयं माइल्ल धवलेण (ना० प्र० स० नवीन संस्करण भाग ८ अंक २, पृ० २२३)

है। आरम्भ में हमें लोक और वेद का पारस्परिक विरोध दिखायी पड़ता है।[1] यह 'लोक' साधारण लोक अथवा जन का प्रतीक है और 'वेद' विशेष ज्ञानवान मुनि-मानसों का। यही लोक और वेद महाभारत-काल से पूर्व से ही दो भिन्न स्तरों पर साहित्य-सृष्टि की धारा प्रवाहित करते आये हैं। संस्कृत के इस 'लोक' शब्द में, जो 'वेद' के विरुद्ध प्रस्तुत किया गया है साधारण जन का तो अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु यह विदित नहीं होता कि वह 'जन' निरा गँवार होता है, जिसकी प्रेरणाएँ जीवन की निजी अनुभूतियाँ न हों, वरन् वे परम्पराएँ हों, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उसे मिली हैं, जिन्हें उसने अध्ययन-अभ्यास से प्राप्त नहीं किया, अपितु प्रकृति की अन्य मुक्त विभूतियों की भाँति जो उसे सहज ही अपनी भूमि से प्राप्त होती चली गयी हैं। किन्तु आज जब हम 'लोकवार्ता' अथवा 'लोक-तत्व' जैसे शब्दों में "लोक" का प्रयोग करते हैं तो इस लोक से हमारा अभिप्राय वेद के विरोध में आये हुए 'लोक' से नहीं होता, वरन् उस 'लोक' से होता है जिसके स्वरूप का कुछ आभास ऊपर दिया गया है। यह लोक अंग्रेजी शब्द 'फोक' का पर्यायवाची होकर हिन्दी में आया है। लोकवार्ता शब्द का अर्थ आज 'फोकलोर' होता है। यह लोकवार्ता का निजी विशेष अर्थ है। और उस अर्थ से भिन्न है जो संस्कृत साहित्य के मनीषियों ने उसे दे रखा था[2]। अँग्रेजों में भी इस शब्द के कई अर्थ विदित होते हैं। आदिम जातियों में तो सम्पूर्ण मनुष्य समुदाय ही 'फोक' कहा जा सकता है। विस्तृत अर्थ में समस्त सभ्य जगत् के जन भी 'फोक' हैं। किन्तु साधारणतः पश्चिमी दृष्टि से जब यह शब्द फोकलोर, फोकम्युजिक या ऐसे ही शब्दों में प्रयोग में आता है तो इसका अर्थ बहुत संकुचित हो जाता है। इसके अन्तर्गत तब केवल वही लोग आते हैं जो नागरिक संस्कृति से शून्य रह जाते हैं, जिन्हें विधिवत् शिक्षा नहीं मिली होती, जो अधपढ़े अथवा बेपढ़े, निरक्षर भट्टाचार्य होते हैं—गाँव के गँवार।[3] इस प्रकार आज के युग में

१—वेदोक्ता वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः, प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिक वैदिकेष्विति प्रयुंजते (म० भा०) अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः (भाग० १५–१८) जैसा आप्टे के कोष में उल्लेख है।

२—देखिए, आप्टे का कोष जिसमें 'लोकवार्ता' का अर्थ 'पोप्युलर रिपोर्ट, पब्लिक र्‌यूमर' दिया हुआ है।

३—देखिए, 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में 'फोक डाँसिंग' पर टिप्पणी।

साधारणतः संस्कृति के दो स्वरूप साथ-साथ विद्यमान मिलते हैं। एक नगर-संस्कृति दूसरी गँवार-संस्कृति[1]। गँवार-संस्कृति से अभिप्राय ग्रामीण-संस्कृति से है। नगर-संस्कृति में वैशिष्ट्य का भाव रहता है—एक परिमार्जन, एक शिष्ट भाव, एक कृत्रिमशील। गँवार-संस्कृति में एक सामान्य भाव रहता है—एक प्राकृतिक, स्वाभाविक तथा रूढ़ि-सिद्ध भावाचार सम्पत्ति। इन दोनों संस्कृतियों का स्वरूप दोनों की अपनी अभिव्यक्तियों में मूर्त होता है[2]। ये अभिव्यक्तियाँ 'साहित्य-संगीत-कला' से त्रिधा मानी जा सकती हैं। गँवार-संस्कृति का उक्त 'त्रिधा' रूप लोकवार्ता के अन्तर्गत आता है।

अतः इस लोकवार्ता में, इस युग में, एक ओर तो हमें ऐतिहासिक आदिम मूल-तत्व मिलता है जो इस लोकवार्ता का अन्तराधार होता है, दूसरी ओर समय-समय पर, युग-युग में हुए इस आधार के परिमार्जन-विकास के भी ध्वंस विद्यमान रहते हैं। इन दोनों ऐतिहासिक स्तरों के साथ इन दोनों के पारस्परिक घोलमेल से बने एक सामान्य स्वरूप में लोक की उस प्रतिभा का अभिमण्डन रहता है, जो प्रत्येक वस्तु को साधारण मानस के लिए भी प्रेषणीय बना देती है, और जिसमें सम्भव-असम्भव, यथार्थ-आदर्श, ऐतिहासिक अथवा कल्पित, स्वाभाविक अथवा कृत्रिम, स्वर्ग्य अथवा मर्त्य, सामान्य अथवा विलक्षण का भेद नहीं रहता। जिसमें प्रत्येक तथ्य अथवा कल्पना सहज ही ग्राह्य और विश्वसनीय होती है। इसी प्रतिभा से लोकवार्ता का निर्माण होता है और यही प्रतिभा है, जो मूल बीजों को सुरक्षित रखते हुए भी

१—ऐसे ही गँवारों का अनादर रीतिकाल के महाकवि बिहारीलाल जी ने खुलकर किया है—

कर लै सूँघि सराहि कैं सबै रहे गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब कौ गँवई गाहक कौन॥

तथा—ते न यहाँ नागर बढ़ी जिन आदर तो आब।
फूल्यौ अनफूल्यौ भयौ गँवई गाँव गुलाब॥

तथा—सबै हँसत कर तारि दै, नागरता के नाँउ।
गयौ गरब गुन कौ सबै बसे गमेले गाँउ॥ आदि

२—हेमचंद्राचार्य ने अपने व्याकरण ग्रंथ 'काव्यानुशासन' में दो प्रकार के अपभ्रंश माने हैं। एक को शिष्ट जन की अपभ्रंश बताया है। इसी का व्याकरण उन्होंने लिखा है। जैन पण्डितों ने इसी भाषा में ग्रंथ रचे। दूसरी 'ग्राम्य अपभ्रंश'। यह भेद शिष्ट और ग्राम्यजन के भेद की ओर स्पष्टतः संकेत करता है।

मनुष्यों के विकास के सामाजिक[1] इतिहास की लोकाभिव्यक्ति को प्रस्तुत करती है।

यह मानव-समाज की स्वाभाविक प्रतिभा और प्रवृत्ति है। यह एक अविच्छिन्न संस्कार की भाँति मानव के जन्म से आज तक चली आयी है। इस प्रतिभा को किसी नदी के प्रवाह से तुलना दी जा सकती है। इसी नदी में प्रवाह की अविच्छिन्नता के अतिरिक्त जो समय-समय और स्थान-स्थान पर उठने-गिरने वाली लहरें हैं वे मानो सभ्यता, मनीषिता और संस्कारिता के वे प्रयोग, प्रयत्न और उद्योग हैं जो किसी विशिष्टता तथा उच्चता से अभिमण्डित होकर कला अथवा साहित्य की महत्तम महानताओं को प्राप्त कर लेती हैं। जिस प्रकार लहरें उठकर फिर नदी में विलुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार से साहित्यिक और कलात्मक उत्थान की तरंगे लोकवार्ता अथवा लोकाभिव्यक्ति के महानद में अपने नाम और रूप दोनों को विलीन कर देती हैं। इस दृष्टि से सामान्य और विशेष में साधारणतः और यथार्थतः कोई विरोध नहीं होता। फिर भी, यह विरोध के रूप में ही ऐतिहासिक मनन-बुद्धि द्वारा ग्रहीत होता है। इसी दृष्टि ने लौकिक-वैदिक का विरोध दिखाया, इसी दृष्टि ने साहित्यिक को 'ग्राम्य' दोषों से बचने का परामर्श दिया, इसी दृष्टि ने नागरिकता को 'गमेले गाँव' का उपहास करने की प्रेरणा दी और इसी दृष्टि ने केशव के मन में भाषा-काव्य करते समय क्षोभ और दुःख पैदा किया।[2] इसी दृष्टि से तुलसी को यह सफाई देनी पड़ी थी कि—

"का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिए साँचु,
काम जु आवे कामरी का लै करै कुमाँचु।"[3]

और इसी दृष्टि तथा प्रवृत्ति ने भाषा तथा संस्कृत का भेद, विरोध और संघर्ष

१—सामाजिक शब्द उस विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसमें अंग्रेजी शब्द 'सोशल' का प्रयोग होता है, और जिसमें सोशल साइंसों का समावेश होता है।

२—हिंदी में रचना करते समय केशव ने यह लिखा था—

भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
भाषा-कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास॥

३—भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥
(रा० च० मानस, बाल काण्ड, आठवें दोहे के उपरान्त)

गिरा ग्राम्य सिय राम जस, गावहिं सुनहिं सुजान
(वही दसवें दोहे के प्राग्)

प्रस्तुत किया था। संस्कृतविद् लोग पं० **महावीरप्रसाद द्विवेदी** के समय तक ही नहीं, आज तक भी हिन्दी को हीन समझते आये हैं। कारण स्पष्ट है। फिर भी लोकाभिव्यक्ति अपनी शक्तिमें प्रबल होती है। उसकी उपेक्षा नहीं की जासकती। हिन्दी लोक-भाषा थी, विशिष्ट वर्ग से भिन्न साधारण लोक की भाषा। स्वभावतः ही यह भाषा लोकवार्ता और लोकतत्वों से अपने लिए प्राणदा सामग्री संचित करेगी। सभ्यता अथवा संस्कृति का दम्भ जिन प्रवृत्तियों, विश्वासों, आचारों और अभिव्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से देखता है और त्याज्य बना देता है, वे ही तो लोकवार्ता और लोक-तत्वों का नाम प्राप्त कर लेती हैं। वह विशिष्ट वर्ग साधारण लोक में से ही उदित हुआ है। समय पाकर अपनी विशिष्टता खोकर वह फिर उसी साधारण लोक में विलुप्त हो गया है। नदी का शान्त, स्थिर, समगति प्रवाह लोक-प्रवाह है, जिसमें लहरों अथवा तरंगों की भाँति साहित्यिक और सांस्कृतिक आन्दोलन उठते हैं और फिर उसी में गिरकर विलीन हो जाते हैं। फलतः इस दृष्टि से संसार की समस्त साहित्यिक भूमि यही लोकाभिव्यक्ति होती है, परन्तु हिन्दी-साहित्य के साथ तो यह एक अनुपेक्षणीय घटना है। भारत के उत्तरी भाग ने अनादि या आदिकाल से आज तक सभ्यता, संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व तथा असाधारण महानता प्राप्त कर ली है। सामान्य लोक-भूमि से उसका स्तर बहुत ऊँचा हो गया है। ऐसी स्थिति में सामान्य लोकभिव्यक्ति का महत्व स्थापित हुआ और उसमें निजी शक्ति उद्भावित हुई। इस महत्व और शक्ति का हमें हिन्दी के आरम्भ से आज तक परिचय मिलता है।

वस्तुतः सातवीं शती से दसवीं शती तक हमें कुछ महान और कुछ लघु उत्थानों का लोक-प्रवाह में लय अथवा प्रलय होता मिलता है। इसी युग में महान बौद्ध-धर्म अपना नाम खोकर पूर्णतः लोक-धर्म अथवा लोक-प्रवाह में समा गया। ब्राह्मण-धर्म अनेकधा होकर लोकाभिव्यक्ति से समन्वय पाने के लिए सचेष्ट था। शैव, शाक्त तथा वैष्णव अनेक मार्गों से इस काल में लोकाभिमुख हो रहे थे। फलतः लोक-शक्ति इस युग में प्रबल हो उठी थी।

लोकाभिव्यक्ति और लोक-तत्वों की शक्तियों ने एक ओर तो लोक से पृथक् हो जाने वाली उच्चता और महानता का अभिमान रखने वाली प्रवृत्तियों को शिथिल किया और अपनी ओर आकर्षित किया, दूसरी ओर इन्होंने स्वयं भी ऐसे नाम-रूपात्मक नवीन, मौलिक और मौखिक सृजन किये कि वे आगे चलकर महार्घ कृतियों की प्रवृत्तियों और उनकी महानताओं को चुनौती देने लगे।

साधारण आदिम मानव ही अपनी आदिम अभिव्यक्तियों में वे मौलिक बीज प्रस्तुत करता है जो चेतन और सभ्य मानव की अभिव्यक्ति द्वारा विकास और परिष्कार प्राप्त करते हैं। भारत के अपौरुषेय वेद भी इसी लोक-भूमि पर निर्मित हुए हैं, और सम्भवतः इसीलिए वे अपौरुषेय भी हैं कि पुरुष यानी पुरुषार्थ के द्वारा उनकी उद्भावना नहीं हुई है, वे सहज उद्गार हैं। वे विश्वास उनमें अभिव्यक्ति हुए हैं, जो आदिम मानव ने अपने व्यक्तित्व और प्रकृतित्व के संयोग से सहज ही उपार्जित किये और जिन्हें किसी वैज्ञानिक प्रणाली से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। 'प्राकृतिक' को व्यक्तित्व का आवरण पहनाना उस मूल आदिम सहज-प्रवृत्ति का परिणाम है जो एक ओर तो धार्मिक विश्वास का रूप ग्रहण कर अलौकिकता अथवा जादू-टोने का आधार बनती है, दूसरी ओर काव्य में रूपकातिशयोक्ति का अलंकारिक रूप ग्रहण कर, पर्सोनिफिकेशन, प्रतीक, समासोक्ति आदि का चमत्कार प्रदान करती है। वेदों में लोक-भूमि की प्रचुरता होते हुए भी, सौन्दर्य चेतना का अभाव नहीं। हमारा उद्देश्य यहाँ इन दोनों प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना नहीं। वेदों की लोक-भूमि ही आगे चलकर पौराणिक स्वरूप ग्रहण कर सकी। पुराणों के समय तक वैदिककालीन लोक कितनी ही परिस्थितियों से जटिल होता चला गया था। फलतः लोकवार्ता, लोक-तत्व अथवा लोकाभिव्यक्ति की लोक-भूमि पर समस्त पुराण-साहित्य निर्मित हुआ।[१] आदि से अन्त तक समस्त पुराण-साहित्य आज के वैज्ञानिक सहज-अविश्वासी मानस के लिए ऐसी अलौकिक और असंभव वार्ताओं का भण्डार है,जिनकी साधारणतः व्याख्या नहीं की जासकती। फलतः इन पर विश्वास करने के लिए व्याख्या की विशेष शक्तियों* का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु एक बात अवश्य है कि पुराण-साहित्य में भारत की समग्र अभिव्यक्ति है। भारत की अभिव्यक्तियों और उनकी प्रेरणाओं के समस्त मर्म को पूर्णता के साथ पुराणों के द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सका, इसीलिए पुराणों के उपरान्त लोकवार्ता की मौलिकता उदात्त साहित्य के लिए

१—ऐसा माना जाता रहा है कि वेदों को समझने के लिए पुराणों की सहायता अपेक्षित होती है। उधर पुराणों के लक्षणों में भी यह स्पष्ट है कि वे केवल इतिहास नहीं। इन कारणों से पुराणों की लौकिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है।

* व्याख्या करने की कितनी ही विशेष शक्तियाँ हैं, जिनमें से कुछ के नाम यहाँ दिये जा सकते हैं : १. अन्योक्ति, २. प्रतीक, ३. रूपक, ४. Allegory ५. Pesonifciation ६ श्लेष आदि।

किसी सीमा तक समाप्त हो गयी। अब लोकवार्ता की शक्ति का विधायकत्व उदात्त साहित्य में केवल इतना रह गया कि वह पुराण-प्राप्त सूत्रों को जोड़-तोड़कर अपने अस्तित्व की सूचना देती रहे। पुराणों से सामग्री लेकर और नये पुराण बनाती रहे। आज तक की समस्त साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक-मात्र आन्तरिक आधार यह पुराण-वार्ता है जो वस्तुतः लोकवार्ता है। भारत की समस्त अभिव्यक्ति के दो ध्रुव राम और कृष्ण इसी पुराण-वार्ता से प्रसूत हैं। शिव, शक्ति, ब्रह्मा, विष्णु सभी का मूल इसी पुराण-संग्रहीत लोक-भूमिवर्ती-वार्ता में है किंतु 'लोकवार्ता साहित्य' से पुराणों ने कुछ छँटी हुई सामग्री ही ली; युग-युग से चली आने वाली बहुशः परँपराओं से समृद्ध लोक-साहित्य के अक्षय भण्डार का मौखिक आदान-प्रदान चलता रहा; जिनमें पुराण-त्याज्य लोक-कथा, कहानी, गीत आदि चलते रहे। इनके अस्तित्व की सूचना हमें वृहत्कथा, जातक, जैन-कथा, लोक-प्रेम-गाथा आदि की पुराणातिरिक्त लौकिक प्रवृत्तियों द्वारा निरंतर मिलती रही है।

किसी भी अभिव्यक्ति में तीन तत्व होते हैं, जिन्हें आधार, निर्माण अथवा आधेय और रूप कह सकते हैं। इन्हें साहित्य में वस्तु, विचार तथा शैली अथवा कला का नाम दिया जाता है। आधार, निर्माण और रूप वस्तुतः अभिन्न हैं। आधार ही निर्माण में विकसित होता है और निरन्तर निर्माण के साथ विद्यमान रहता है। इसी प्रकार कला भी निर्माण की वितन्वानता के साथ-साथ सहज ही अवतीर्ण होती जाती है। लोक-प्रवाह विवर्तनशील प्रकृति के कारण अभिव्यक्ति के ये तीनों ही तत्व विकसित और परिमार्जित होते जाते हैं। फलतः क्या वस्तु, क्या विचार, क्या कला, तीनों में तीनों का आरम्भिक मूल-तत्व किसी-न-किसी रूप में विद्यमान पाया जा सकता है।

मनुष्य-जीवन के अन्य क्षेत्रों में जैसे संघर्ष और युद्ध होते हैं और जय-विजय होती है, हारा हुआ क्षुद्रता ग्रहण करता है, विजेता महत्व पाता है, वैसे ही लोकवार्ताओं और अभिव्यक्तियों के क्षेत्र में भी एक जाति की वार्ता पर दूसरी का आक्रमण होता है और विजय अथवा हार होती है। इसके परिणाम स्वरूप हारी तथा जीती दोनों वार्ताएँ ही अपने-अपने स्वरूप में विकार को जन्म देकर एक नयी प्रकार की वार्ता का प्रचलन करती हैं। कौन नहीं जानता कि आज की भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का स्वरूप कई भिन्न जातीय मानव-समूहों और उनकी वार्ताओं के संघर्ष का परिणाम है और संकर-संस्कृति का एक सुन्दर, पवित्र तथा महान स्वरूप प्रस्तुत करता है।

हिन्दी साहित्य के मर्म पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि

वस्तु, विचार और कला तीनों में ही लोकवार्ता के आधार से अविच्छिन्न संबंध रखा गया है।

हिन्दी साहित्य के जन्म-काल की परिस्थितियों में बौद्ध, ब्राह्मण और जैन-साहित्य के उच्च स्तूप धराशायी होकर लोक-भूमि में धूलि-धूसरित होते मिलते हैं और इस सामान्य भूमि पर एक नई लोकवार्तापरक दार्शनिकता, धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता का निर्माण करते मिलते हैं। बौद्ध सिद्धों की और भक्तों की अभिव्यक्ति का स्वरूप इस बात का प्रमाण है। नाथ-सम्प्रदाय ने तो **गोरखनाथ** के नेतृत्व में समग्र उत्तर भारत को एक सामान्य लोक-धर्म के आधार पर, जितने भी लोक-परिकर के धर्म थे, उन्हें एक संगठन-सूत्र में बाँधने की चेष्टा की थी। इसी संगठन के द्वारा इस काल में दो प्रवृत्तियों का संघर्ष हुआ था—एक ब्राह्मण-प्रवृत्ति तथा दूसरी लोक-प्रवृत्ति। लोक-प्रवृत्ति समस्त अब्राह्मण-प्रवृत्ति का पर्याय थी। ब्राह्मण-प्रवृत्ति भेद और भिन्नता की भित्त पर खड़ी थी, लोक-प्रवृत्ति सर्व-ग्राहिणी थी, उसमें सबका समावेश तथा सबका आदर था। ब्राह्मण-प्रवृत्ति इस काल में पिछड़ी और जितनी भी अब्राह्मण धार्मिक प्रवृत्तियाँ थीं उन सबको गोरखनाथ जी ने नाथ-संप्रदाय में आत्मसात कर लेने की चेष्टा की।

लोकवार्ता-प्रवृत्ति सर्व-ग्राहिणी होती है, फलतः उसमें हमें एक साथ ही ऐसी बातों का समन्वय मिलता है, मिल जाता है, और मिल सकता है ज साधारणतः असम्भव और विरोधी प्रतीत होती हैं। इसी के कारण **गोरखनाथ** का लोकपरक नाथ-सम्प्रदाय योग को लेकर चला—उस योग को जो लोक की वस्तु नहीं हो सकती। उधर ब्राह्मण-प्रवृत्ति के उत्थान के प्रवर्तक **तुलसी दास** हमें यह कहते मिलते हैं—

भगति भूमि भूसर सुरभि सुरहित लागि कृपाल।

वह भक्ति तो मूलतः उस अब्राह्मण-प्रवृत्ति पर पनप सकती है, जो शुद्ध लोक-आश्रित होती है, उसी भक्ति को भूसुर 'ब्राह्मणों' के साथ **तुलसीदास** ने स्मरण किया है।

इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप सहजिया-सम्प्रदाय और धामी-सम्प्रदाय में अद्भुत बातें मिलती हैं, ऐसी बातें मिलती हैं जिनमें हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई तत्वों का सम्मिश्रण है। इसी प्रवृत्ति ने **राम और रहीम** को एक ही

नहीं किया भैरों जी को, सरवरसुलतान जैसे सूफी फकीर का दूत बना दिया है।[1]

इसी प्रवृत्ति का आश्रय गोरखनाथ जी ने लिया और जो भी इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने को तत्पर थे उन्हें उन्होंने अपना लिया। अधिकांश जन-समूह, वर्ग, जातियाँ इस महान आन्दोलन के प्रभाव में आ गये। गोरखनाथजी ने एक महान लोक-धर्म का प्रवर्तन किया—जैसे तुलसी में एक विरोध मिलता है वैसे ही गोरख में भी। तुलसीदास जी ने लिखा था कि 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग'। गोरख ने इस भक्ति को ही नहीं भागया, और भी कुछ किया। तुलसीदास जी ने ही वस्तु-स्थिति का बहुत स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।

करम धरम गयौ, आश्रम निवास तज्यौ,
आसन चकित सो परावनौ परौ सौ है।
करम उपासना कुबासना विनास्यौ ज्ञान,
बचन विराग वेस जतन हरौ सौ है॥

१—इसी प्रवृत्ति में उस विरोधाभास का हल है जिसके कारण यह विवाद खड़ा होता रहा है कि विद्यापति शैव थे, वे वैष्णव भक्त नहीं थे। लोकमानस में शिव और विष्णु एक साथ रहने लगे थे। इसका ऐतिहासिक प्रमाण गाहड़वाल नरेशों की प्रशस्तियों में मिल जाता है। वे अपने को माहेश्वर कहते थे और अपनी प्रशस्तियों में लक्ष्मीनारायण की स्तुति भी किया करते थे (देखिये हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृ० ३९)। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि उड़ीसा में शिव और विष्णु की मिश्रित मूर्तियों में भी यही तत्व था। प्रद्युम्नेश्वर के मंदिर की मूर्ति भी शिव और विष्णु का मिश्रण थी। विजय सेन परम शैव होते हुए भी प्रद्युम्नेश्वर की मूर्ति बनवाते हैं। विद्यापति में भी इस रूप के हमें दर्शन हो जाते हैं जब वे गाते हैं :—

"खनहरि खनहर खन तब कला, खन पीत बसन खनहिं बघछला।"

और यही प्रवृत्ति जैन महाकवि स्वयंभू की इन पंक्तियों में ध्वनित हो रही है :

अरहन्तु बुद्ध तुहुँ हरिहरु वि.
तुहुँ अण्णाण-तमोह-रिउ
तुहुँ सुहुम णिरञ्जणु परम-पउ
तुहुँ रवि बम्भु सयम्भु सिउ।

इस सामाजिक निर्बन्ध स्थिति के साथ लोक की संस्थिति तो ठीक रहती है, पर योग तो लोकपरक नहीं। इस लोक-धर्म में योग को इतना महत्व मिलना प्रत्यक्षत: लोक-धर्म के स्वभाव के विरुद्ध है। वरन् आश्रम के साथ तुलसी ने जैसे भक्ति का मेल लोक-भूमि के कारण ही बिठाया है, वैसे ही लोक-प्रवृत्ति की मौलिक जादू-टोने में विश्वास रखने वाली भूमि पर ही योग टिक सकता था। नाथ-सम्प्रदाय में योग की सिद्धि और चमत्कारों का ही विशेष प्राधान्य था, जिससे साधारण लोक को आकर्षण होता था। योग स्वयं भले ही लोकोत्तर वस्तु हो, पर उसका योगी-जीवन को अलौकिक स्वरूप प्रदान करने का भाव लोक-प्रवृत्ति पर ही विशेष निर्भर करता था। इस सम्प्रदाय के योगियों का योग भी सिद्धियों से सम्बन्ध रखता था। ये योग और अलख भी धीरे-धीरे अपनी साख खो बैठे और लोक-भूमि के निर्मम स्तर पर सिर पटककर, अपनी अगम्य रहस्यशीलता छोड़कर सामान्य लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल ढलने लगे। योग के चमत्कार कहानियों के विषय बनकर रह गये, सामान्य भूमि के प्रभाव ने योग के उद्योग को भी वर्जित कर दिया—

गोरख पौन राखि नहीं जाना, जोग मुकुति अनुमाना,
रिधि सिधि संचय बहुतेरे, पारब्रह्म नहिं जाना।

सुरति और सहज को महत्व प्रदान किया गया। अलख मूर्त होकर राम-नाम में अवतरित हुआ। सामान्य लोक-भूमि से इस 'सहज' और 'सुरति' को लेकर कबीर ने इन्हें अपनी प्रतिभा से फिर एक रहस्य का रूप प्रदान किया—

सुन्न सहज मन सुमिरत, प्रगट भई एक जोति,
वाहि पुरुष की मैं बलिहारी, निरालम्ब जो होति।
अविगत की गति का कहौं, जा के गाँव न ठाँव।
गुन बिहूना पेखना, का कहि लीजै नाँव।

सामान्य लोक-भूमि के समस्त तत्कालीन तत्वों को अपनी वाणी का विषय कबीर ने बनाया। प्रत्येक साम्प्रदायिक पाखण्ड का स्वरूप स्पष्ट किया और आगे उसी के आधार पर पुनः एक सम्प्रदाय की रचना आरम्भ कर दी। बस इसी प्रयास में कबीर-परम्परा का साहित्य पुनः लोकवार्ता और लोकतत्वों के सूत्रों और बिन्दुओं पर नई सृष्टि के द्वारा लोकोत्तर होता गया, लोक से विलग होता गया।

कबीर ने भक्ति को अपनाया, योगादि को भागते भूत की लँगोटी की

भाँति साथ लगाये रखा, अलख को राम-नाम दिया, उसे समस्त सम्प्रदायों तथा धर्मों से परे पर सबका मर्म माना और साम्प्रदायिक विषमताओं और भिन्नताओं को विश्वास की सम-भूमि प्रदान की। कबीर ने इस प्रकार लोक-भूमि के उस भाग को ग्रहण किया जो लोक-संस्कारों से सम्बन्ध रखता था, लोक के आचारों के साथ जिसका गठबन्धन था।

लोक-भूमि का वह भाग, जिसमें योग के चमत्कारों ने लोक-कहानियों में परिणति पा ली थी, अपनी पृथक् सत्ता रखता था। इसे सूफियों और प्रेम-गाथाकारों ने ग्रहण किया। सूफियों की प्रेम-गाथाओं में एक ओर जहाँ जैन-कहानियों के विद्याधरों के चमत्कारों का भी किंचित उपयोग है, वहाँ प्रत्येक कहानी में किसी-न-किसी रूप में जोगी या योगी भी अवश्य आता है। यह योगी नाथ-सम्प्रदाय के योगी का ही अवशेष[1] है। नायक ने बहुधा जोगी बनकर ही अपनी प्रियतमा को प्राप्त करने की चेष्टा की है।

पद्मावती अथवा **पद्मिनी** का **सिंहल** से सम्बन्ध भी नाथ-सम्प्रदाय की उस मान्यता के कारण है जिसमें **सिंहल** में सिद्ध को **पद्मिनी** नायिकाएँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार प्रेमगाथाओं की पृष्ठभूमि नाथ-सम्प्रदायों द्वारा उद्भूत लोकवार्ताओं के आधार पर खड़ी हुई है। इस **पद्मिनी** की कहानी का संक्षिप्त रूप **पृथ्वीराज रासो** में भी मिलता है। इस प्रेम-कथा का मूल स्वरूप वस्तुतः '**नल-कथा**' में भी उपलब्ध है, जहाँ नल के पास हंस आकर **दमयंती** के प्रति प्रेम और उसे प्राप्त करने की चेष्टा उत्पन्न कर देता है।

दक्षिण से आने वाली भक्ति ने उत्तर में आकर विविध रूप धारण किये और विविध विकास की स्थितियों में होकर वह प्रवाहित हुई। उत्तर में आकर इस भक्ति ने मायावाद से अधिक 'निर्गुण-निराकार' का विरोध किया। यद्यपि **कबीर** निर्गुणिये कहे जाते हैं, पर उनमें भी उस 'निर्गुण-निराकार' के साथ सामंजस्य होता नहीं दीखता, जो उनसे पहले अलख बन चुका था। इस भक्ति-सम्प्रदाय ने धीरे-धीरे प्रत्येक क्षेत्र में आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था और धीरे-धीरे सिद्धों और नाथों का प्रभाव कम कर

१—"उसमान" ने 'चित्रावली' में ऐसे योगी को गोरख योगी के रूप में स्पष्टतः दिखाया है—

आगे गोरखपुर भल देसू, निबहै सोइ जो गोरख भेसू।
जहँ-तहँ मढ़ी गुफा बहु अहहीं, जोगी जती संनासी रहहीं।
चारि ओर जाप नित होई, चरचा आन करै नहिं कोई।
काउ दोउ दिसि डोले बिकारा, कोउ बैठ रह आसन मारा।
काऊ पंच अगिन तथ सारा, काउ लटकइ रूखन डारा।

दिया था। सिद्धों और नाथों का प्रभाव कम होते ही वैष्णव लोक-वृत्त उभर कर सामने आ गये। दक्षिण से आने वाली इस भक्ति का मूलाधार **विष्णु** ही थे, यह वैष्णव भक्ति थी। फलतः **विष्णु** के वे लोकस्थ अवतार, जो जैनियों की धार्मिक रचनाओं में **"वासुदेवहिंडि"** तथा **"पउमचरिउ"** में **"कृष्ण"**, **"बलदेव"** तथा **"राम"** चरित्र के रूप में एक दुर्बल रूप में सांस ले रहे थे, वैष्णव पुनरुत्थान के द्वारा सनातन पौराणिक प्रणाली पर उभरे। सूर ने 'कृष्ण-चरित्र' और तुलसी ने 'राम-चरित्र' को अपनाया। कृष्ण-चरित्र के सम्बन्ध में अनेकशः विद्वानों ने विचार किया है और शोध-प्रवृत्त तत्वज्ञ इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि कृष्ण एक संसृष्ट व्यक्तित्व है। यह संसृष्टि लोक-वार्ता का विशेष गुण है। लोकमेधा समानधर्मा व्यक्तियों को एक में मिला देने में अत्यन्त कुशल होती है, तो कृष्ण तो मूलतः लोकवार्ता की देन हैं और उनके विस्तृत वृत्त में अनेक शुद्ध लोकवार्ताएँ हैं। किन्तु सूर ने महाभारत अथवा भागवत से ही कृष्ण-वृत्त को नहीं लिया, उन्होंने कई ऐसी बातें उसमें सम्मिलित की हैं, जो नयी हैं। ये नयी बातें लोक-मेधा से उन्हें प्राप्त हुई थीं। तुलसी की राम-कथा की तो लोक-यात्रा और भी रोचक तथा लम्बी है। एक ही व्यक्तित्व किस प्रकार विविध लोक-भूमियों पर चलकर नये रंग ग्रहण करके नया रूप प्राप्त कर सकता है, यह तुलसी की राम-कथा के आन्तरिक अध्ययन से जाना जा सकता है। तुलसी का "भगतिभूमिभूसुर सुरभि सुर" आदि भी लोक-प्रवृत्ति की देन हैं। कथा के ताने-बाने में ही नहीं, उनमें जो दार्शनिक तथा धार्मिक तत्व हैं, उन सभी में वह रंग है जो लोक की देन है। इस समस्त साहित्य की लोकवार्ता-सम्बन्धी पृष्ठभूमि का विस्तृत अध्ययन आज अपेक्षित है।

ऊपर हिन्दी साहित्य के विकास-क्रम में जिन प्रवृत्तियों का उल्लेख हुआ है वे हैं १—सिद्ध, २—नाथ, ३—संत, ४—प्रेमगाथा, ५—धर्मगाथा : रामविषयक, ६—धर्मगाथा : कृष्णविषयक, ये एक परम्परा में प्रतीत होते हैं। यह परम्परा सामान्य लोक से सम्पर्क रखने वाली है। ७—रासो, ८—चरित, आदि स्फुट प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखते हैं। यह भले ही सामान्य लोक से घनिष्ठ सम्पर्क न रखती हो; पर बहुत सी सामग्री के लिए स्रोत इसका भी लोक-साहित्य ही रहा।

हिन्दी के उदय की पृष्ठभूमि का विश्लेषण

ऊपर बहुत संक्षेप में यह संकेत किया गया है कि कि हिंदी के जन्म-विकास के समय की पृष्ठभूमि क्या थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय साहित्य

ने मेधा के महत्व को बुद्धि से अधिक समझा। भारत में बहुत समय से ही कितने ही सम्प्रदायों का होना सिद्ध है। भगवान बुद्ध स्वयं कितने ही सम्प्रदायों के महान नेताओं के पास जीवन के लिए मार्ग पाने गये थे और निराश हुए थे[१]। वही परंपरा इस युग में भी विद्यमान थी। राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों के विकारों में से भारतीय विचार और भाव की धारा अपने निजी विकास के मार्ग से प्रभावित होरही थी और साहित्यकार उसी से अपने लिए सामग्री प्राप्त करता था। हिन्दी का जन्म आठवीं शताब्दी में भी माना जा सकता है[२] किन्तु १०वीं

१—भगवान बुद्ध के समय ये संप्रदाय थे :—१—आजीवक, २—निगंथ, ३—जटिल, ४—परिव्वाजक, ५—अवरुद्धक, ६—गज, ७—हय, ८—गाय, ९—कुत्ता, १०—काग, ११—वासुदेव, १२—बल्देव, १३—मणिभद्द, १४—पुन्नभद्द, १५—अग्नि, १६—नाग, १७—सुपण्णा, १८—यक्ख, १९—असुर, २०—गंधव्व, २१—महाराज, २२—चंद, २३—सूरिया, २४—इंद, २५—ब्रह्म, २६—देव, २७—दिसा। (यह उल्लेख निद्देस में है)

२—हिंदी के जन्म पर विचार :—हिंदी का जन्म अपभ्रंश से हुआ। पं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिंदी' नामक लेख में लिखा : "विक्रम की सातवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक अपभ्रंश की प्रधानता रही"। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने माना है कि "स्पष्ट ही १० वीं से तेरहवीं शताब्दी तक की बोलचाल की भाषा में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ने लगा था। इन कुछ शताब्दियों में अपभ्रंश से मिलती-जुलती भाषा पद्य का वाहन बनी रही और गद्य की भाषा तत्सम-बहुल होती गई। कीर्तिलता में इसकी स्पष्ट सूचना मिलती है। धीरे-धीरे तत्सम शब्दों और उनके तद्भव रूपों के कारण भाषा बदली भी जान पड़ने लगी। और १४ वीं शताब्दी के बाद वह बदल ही गई। इसके पूर्व अपभ्रंश और देश्य मिश्रित अपभ्रंश की प्रधानता बनी रही। इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी काल, जिसे हिंदी का आदि काल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिंदी। (हिंदी साहित्य का आदिकाल पृ० २१)। उधर राहुल सांकृत्यायन ने अपनी नयी शोधों के आधार पर 'पुरानी हिंदी' का आरम्भ आठवीं शताब्दी में माना है। उन्होंने आठवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक के कवियों की परम्परा भी दी है। आठवीं शती के 'सरहपा, सबरपा, स्वयम्भू और भूसुकपा' ये चार कवि हैं। इनमें तीन सिद्ध हैं, स्वयम्भू जैन कवि हैं। स्वयम्भू को राहुल जी हिंदी का प्रथम सर्वोत्तम कवि मानते हैं। नवीं शताब्दी के दसों कवि सिद्ध हैं। दसवीं में

शताब्दी तक तो उसका स्वरूप स्पष्ट हो चुका था,[1] इतना स्पष्ट है कि बिना किसी संकोच के उसे हिन्दी कहा जा सकता है। १४ वीं शताब्दी में वह अपभ्रंश के प्रलोभन से भी पूर्णतः मुक्त होकर 'हिन्दी' ही रह गयी। फलतः हिन्दी का उदय ८ वीं से १४ वीं शताब्दी तक हुआ। इन सात शताब्दियों की उस पृष्ठभूमि पर हमें विचार करना है जिसने इस युग में भाषा और साहित्य को प्रभावित किया है। आठवीं शताब्दी से १४ वीं शताब्दी तक का भारतीय इतिहास का युग अब तक अन्धकार युग माना जाता रहा है। **डा० काशीप्रसाद जायसवाल** ने पुराणों के आधार पर इस युग पर सबसे पहले प्रकाश डाला और एक सुसंबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया। इस काल में दो विशेष बातें इतिहास की दृष्टि से दिखायी पड़ती हैं: एक बात है मुसलमानी आक्रमण, दूसरी है पारस्परिक युद्ध। किंतु इन दोनों से भी महत्वपूर्ण है तीसरी बात धार्मिक उद्वेलन।

वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग युद्धों से परिपूर्ण था। कोई शक्तिशाली केन्द्र सम्राट हर्ष के उपरान्त नहीं रहा था। किन्तु इस युग के युद्धों की एक विशेषता अवश्य थी। इन युद्धों से साधारण जन विशेष प्रभावित नहीं होता था। कुछेक आक्रमणों और युद्धों को छोड़कर युद्ध-नीति आदर्श पर स्थित थी, उसमें न तो प्रजा को सताया जाता था, न उनकी फसल असुरक्षित रहती थी, उनके गाँवों को भी कोई भय नहीं था। जगत के प्रायः समस्त व्यापार निर्विघ्न चलते थे। इसी का प्रभाव था कि **तुलसीदास** की **मंथरा** ने **कैकेयी** को आश्वस्त करने के लिए कहा था "कोउ नृप होउ हमहिं का हानी" और इसके द्वारा दीर्घकालीन ऐतिहासिक स्थिति से उत्पन्न साधारण जन की मनोवृत्ति प्रकट करायी थी, इसी का प्रभाव था कि धर्मप्रशस्तियों तक में मुसलमानी शासकों को कल्याण का आशीर्वाद दिया गया[2]। उदाहरण है बटियागढ़ का

आठ कवि हैं। राहुल जी के अनुसार इस शती का 'पुष्पदंत' हिंदी का दूसरा सर्वोत्तम कवि है। डा० द्विवेदी का अनुमान है कि यही पुष्पदंत वह पुष्पभाट है जिसे शिवसिंह ने टाड के आधार पर हिंदी भाषा की जड़ माना है। अभिप्राय यह है कि हिंदी का जन्म ८ वीं शताब्दी में हुआ और १४ वीं में वह अपने पैरों पर खड़ी होने योग्य हो गयी।

१—इसी कारण शुक्लजी ने हिंदी का आदिकाल १०५० से माना है।

२—बटियागढ़ के एक संस्कृत श्लोक में इस काल के मुसलमान शासक के कल्याण की कामना इस प्रकार है:—

असित कलियुगे राजो शकेन्द्रो वसुधाधिपः।
योगिनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम्॥
सर्व सागर पर्यन्ते वशीचक्रे नराधिपान्।
महमूद सुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनंदतु॥
(ना० प्र० प० वर्ष ४४ अंक १, वैशाख १९९६, पृष्ठ ७६)

शिलालेख। यह शिलालेख सं० १३८५ (सन १३२८) का है।

इसी का एक अन्य परिणाम यह हुआ कि समस्त वातावरण भी दो स्तरों में बँट गया—एक राजकीय वातावरण, दूसरा साधारण। कवि, लेखक और विचारक दोनों ही क्षेत्रों में थे। एक का केन्द्र हुआ राजा और उसकी कीर्ति, दूसरा लोक-साहित्य की परंपरा का संवर्द्धक। स्पष्ट है कि दोनों के विषय भिन्न हो गये। और इसी लोक परम्परा से धर्म-चक्रों का सम्बन्ध रहा।

इस काल की कृतियों पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजकीय वर्ग के कवियों ने अधिकांशतः चरित-काव्य लिखे जो राजस्तुतिपरक थे। जैन वर्ग के कवियों की कृतियों में या तो किसी धर्म का प्रतिपादन था या फिर कोई कथा-कहानी है।

यह भी विदित होता है कि ऐसे चरित-काव्य संस्कृत में अपभ्रंश से अधिक लिखे गये। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह अभिमत है कि "फिर भी सचाई यह है कि [इस काल के राजा] अपभ्रंश में लिखी स्तुतियाँ ही समझ सकते थे। इसलिए अपभ्रंश में तेजी से राजस्तुतिपरक साहित्य की परम्परा स्थापित होने लगी। संस्कृत में भी यह बात थी पर संस्कृत में और भी सौ बातें थीं [१]। अपभ्रंश साहित्य का अभी पूर्ण उद्घाटन नहीं हो पाया। अपभ्रंश का जन्म ५ वीं-६ वीं शताब्दी के पूर्व ही हुआ, क्योंकि कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' में अपभ्रंश का दोहा मिलता है [२]।

दण्डी और भामह इससे परिचित थे। फलतः ५ वीं से १४ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में केवल २४-२५ ग्रन्थ ही रचे गये, इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। वस्तुतः उपलब्ध सामग्री प्रकट करती है कि 'अपभ्रंश' में राजकीय स्तर की रचनाएँ कम और धर्म तथा जन-स्तर की रचनाएँ विशेष थीं। चरित नाम की अपभ्रंश-रचनाएँ विशेषतः धार्मिक महापुरुषों और अवतारों की हैं*। सिद्धों की रचनाएँ धर्म-चक्र आश्रित थीं।

१—देखिये "हिंदी साहित्य का आदिकाल", चतुर्थ व्याख्यान पृ० ६८

२—वही-पंचम व्याख्यान पृ० ९१-९२।

* डा० हरिवंश कोचड़ ने 'अपभ्रंश साहित्य' में परिशिष्ट (१) में अपभ्रंश के ६० कवियों की प्रायः ८७ रचनाएँ बतायी हैं। इनमें १४०० तक की लगभग ५० रचनाएँ हैं। इन पचास रचनाओं में ३३ तो निश्चय ही कथा-काव्य हैं। इनमें से विद्यापति तथा, चंदबरदायी की रचनाएँ ही राज-परक हैं। अद्दहमाण के 'संदेशरासक' के अतिरिक्त शेष सभी प्राचीन धार्मिक पुरुषों के वृत्त हैं या लोक-कथाएँ हैं जिन्हें धर्मोपदेश के काम में लाया गया है।

८ वीं से १३ वीं शताब्दी तक साहित्य में जिन रूपों और शैलियों का प्रयोग हुआ है वे ये हैं :—

गाथाबंध—गाथाबंध से बहुधा प्राकृत साहित्य का ज्ञान होता है क्योंकि गाथाओं का विशेष प्रचलन प्राकृत साहित्य में ही था। **माइल्ल धवल** ने अपने गुरु से सम्बन्धित जिस घटना का उल्लेख किया है, उससे यह भेद स्पष्ट हो जाता है कि 'गाथाबंध प्राकृत में होता था। यह गाथा **माइल्ल धवल** के समय में सम्मान से देखी जाती थी।

दोहाबन्ध—यह अपभ्रंश का पर्यायवाची माना जाने लगा था, ऐसा उक्त **माइल्ल धवल** वाली घटना से सिद्ध है। अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' इसी कारण कहा जाता है।[1] 'दोहाबंध' माइल्ल धवल के समय में उपहास की वस्तु थी।

पद्धड़ियाबंध—पद्धड़ियाबंध बहुधा अपभ्रंश के कथा-काव्य में आता था। इस बंध को **चतुर्मुख** अथवा **चउमुहेण** ने समर्पित किया था, यह **स्वयंभू** ने बताया है:—
छड्डणिय दुवइ धुवएहिं जड़िय चउमुहेण समप्पिअ पद्धणियाँ"
"छर्दनिका द्विपदी और ध्रुवकों से जड़ित पद्धणियाँ चतुर्मुख ने दी" यह पद्धति पश्चिम में विशेष प्रचलित थी।

चौपाईदोहाबंध:रमैनी—**सरहपा सिद्ध** ने सम्भवतः सबसे पहले चौपाई और दोहे के मेल से कुछ रचना प्रस्तुत की। यह प्रणाली पूर्व में विशेषतः प्रयोग में आने लगी। यह प्रणाली **कबीर** के समय में रमैनी कही जाती थी।

छप्पयबंध—चन्द का रासो विशेषतः इस बंध में लिखा गया

कुण्डलया बंध—

रासाबंध—रासा नाम का छंद भी **स्वयंभू** के समय में प्रचलित था और रासा-बंध काव्य शैली भी थी। रासाबंध छंद का लक्षण **स्वयंभू** ने यह दिया है—

"एक्कबीस मत्ताणिह णउ उद्दाम गिरु।
चउदसाइ विस्साम हो मगणा विरहथिरु॥
रासाबंधु समिद्धु एह अभिराम अरु।
लहु अति अल अवसाण विरयअ महुर अरु॥

और "रासा काव्य" का लक्षण इन्हीं स्वयंभू ने यह दिया है :

"धत्ता छड्डुणिआहि पद्धणियाहि सुअण्ण रूएहि

१—**हि० सा० का आ० काल, चतुर्थ व्याख्यान पृ० ६२**

रासाबंधो कव्वे जणमण अहिराउओहोहि ।।

धत्ता, छर्दनिका, पद्धणिया आदि विविध छंदों से युक्त रासोबंध काव्य होता था ।

चर्चरी या चाचर—लोकगीत था । इस नाम से कितनी रचनाएँ हुई हैं ।

फाग—यह भी लोकगीत था ।

साखी—सबदी—**कबीरदास** से पूर्व इन रूपों का बहुत प्रचार था, उन्होंने स्वयं कहा है : ' माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना

साखी सबदी गावत भूलै आतम खबर न जाना ।।

दोहरे—ये साखी से भिन्न जैनों में प्रचलित एक प्रकार के अपभ्रंश दोहे ।

सोहर

पद

मंगलकाव्य

चौतीसा

विप्रमतीसी

कहरा

वसंत

वेलि

विरहुली (साँप का विष उतारनेवाला गान)

हिंडोला

कवित्त-सवैया—ये विशेषतः ब्रजभाषा के छंद हैं

इन छंद-रूपों में निबद्ध काव्य-रचना के विषय की दृष्टि से भी कुछ विशेष रूप मिलते हैं । चरित-काव्य की ही इनमें प्रधानता है । इन चरित-काव्यों में से अधिकांश धार्मिक महापुरुषों के हैं, कुछेक अवश्य राजा महाराजाओं के हैं । इन्हीं चरितों में कथाएँ भी हैं, वे कथाएँ जो मूलतः लोक-प्रसूत हैं और बहुधा ली गयी हैं कथा-सरित्सागर से । दूसरे वे कथाएँ हैं जो पौराणिक अथवा धार्मिक हैं । बौद्ध साहित्य धार्मिक अनुभूति अथवा उपदेश और नीति विषयक है ।

इस समस्त साहित्यिक रचना की भूमि क्या थी, इसका भी संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है । ऊपर जैसा उल्लेख किया गया है, इस काल में राजकीय क्षेत्र में तो दो प्रकार के संघर्ष थे; एक देश-विदेश का, दूसरा देश के राजाओं का, पारस्परिक । यह यथार्थ में ऊपरी स्तर का था; जन-साधारण तथा साधु-सन्त राजकीय क्षेत्र के इन विकारों से प्रायः अछूते थे । इसी जन-भूमि के स्वरूप को हमें किंचित और अधिक हृदयंगम करना है ।

इतिहास बदलता रहा, इतिहास की नीति बदलती रही। सांस्कृतिक संघर्ष हुए, आन्दोलन चलते रहे—ये समस्त विकृतियाँ चंचल उत्तुंग तरंगों की भाँति उत्पन्न हुई, इन्होंने साहित्य में भी अपनी सत्ता प्रकट की, और साहित्य को इन्हीं तरंगों के कारण लोक-संपर्क को आधार के रूप में बार-बार ग्रहण करना पड़ा। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उद्वेलन जब तक चलते रहे, साहित्य का लोक-सम्पर्क घनिष्ठ बना रहा और जब ये उद्वेलन शिथिल होगये तभी साहित्य ने युग-युगीन प्रवृत्ति को प्रकट करनेवाले साहित्य के रूप को स्थिरतापूर्वक अपना लिया।

सातवीं शताब्दी से १६ वीं शताब्दी तक ये उद्वेलन चले। हर्ष की मृत्यु के बाद भारत के इतिहास का प्राचीनकाल समाप्त हुआ, और मध्यकाल अवतीर्ण हुआ। इतिहास के इस मध्यकाल के अवतीर्ण होने के कई अर्थ हैं—इस नये युग की अवतारणा से नये जीवन-मान प्रस्तुत होने ही चाहिये। नये अभिव्यक्ति के माध्यम प्रबल होंगे ही। अभिव्यक्तियों की कला की स्वरूप और सामग्री भी परिवर्तित होगी। ये परिवर्तन और अभिव्यक्तियाँ क्या थीं ? संक्षेप में यहाँ उनका उल्लेख करना उचित हैं :

१—इस बीच धीरे-धीरे तत्सम-बहुल रूप प्रकट होने लगा था। नवीं-दसवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों के प्रवेश का प्रमाण मिलने लगता है और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से तो तत्सम शब्द निश्चित रूप से अधिक मात्रा में व्यवहृत होने लगे। क्रियाएँ और विभक्तियाँ तो ईषत् विकसित या परिवर्द्धित रूप में बनी रहीं पर तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ जाने से भाषा भी बदली सी जान पड़ने लगी।"

(हि० सा० का आ० का० पृ० १७)

इसका अभिप्राय है कि तद्भव प्राधान्य की प्रवृत्ति को हटाकर भाषा ने तत्सम प्रधानता का मार्ग ग्रहण किया, और इस काल में यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, जिसमें भाषा ही बदल गयी। भाषा में यह प्रवृत्ति क्यों आयी ? **डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी** के मत से दो कारण हैं :—

(अ) भक्ति के नवीन आन्दोलन के कारण, इससे भागवत पुराण का प्रभाव विशेष पड़ा।

(आ) शांकरमत की दृढ़-प्रतिष्ठा के कारण।

२—ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम पर काव्य लिखने की प्रथा बाद में खूब चली। इन्हीं दिनों ईरान के साहित्य में भी इस प्रथा का प्रवेश हुआ। उत्तर-पश्चिम सीमान्त से बहुत-सी जातियों का प्रवेश होता रहा—पता नहीं उन जातियों की स्वदेशी प्रथा की क्या क्या बातें इस देश में चलीं।

साहित्य में नये-नये काव्य-रूपों का प्रवेश इस काल में हुआ अवश्य। सम्भवतः ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर काव्य लिखने या लिखाने का चलन भी उनके संसर्ग का फल हो। परन्तु भारतीय कवियों ने ऐतिहासिक नाम भर लिया, शैली उनकी वही पुरानी रही जिसमें काव्य-निर्माण की ओर अधिक ध्यान था। (वही—पृ० ७०)

अभिप्राय यह है कि इस युग में नये काव्य-रूपों की उद्भावना हुई जिसमें से एक रूप वह था जिसमें ऐतिहासिक आश्रय और नाम लेकर काव्य-कल्पना का कौतुक प्रकट किया जाता था।

३—**संदेश रासक** में कवि ने जिस बाह्य प्रकृति के व्यापारों का वर्णन किया है वह **रासो** के समान ही कविप्रथा के अनुसार है। उन दिनों ऋतु-वर्णन के प्रसंग में वर्ण्यवस्तुओं की सूची बन गयी थी। बारहवीं शताब्दी की पुस्तक **कवि कल्पलता** में और चौदहवीं शताब्दी की पुस्तक **वर्णरत्नाकर** में ये नुस्खे पाए जा सकते हैं। इन बाह्य वस्तुओं और व्यापारों के आगे न तो **रासो** का कवि गया है, न **अद्दहमान** ही। (वही—पृ० ८४)

इससे विदित होता है कि काव्य-रचना में विशेषतः बाह्य अथवा प्राकृतिक वर्णनों में "कवि-प्रथा" का अनुसरण होता था। कवि नयी उद्भावनाएं नहीं कर सकता था।

४—नया छन्द नये मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक लौकिक संस्कृत के आविर्भाव का सन्देशवाहक है—जिस प्रकार श्लोक संस्कृत की मोड़ का सूचक है उसी प्रकार गाथा प्राकृत की ओर के झुकाव का व्यंजक है। तीसरे झुकाव की सूचना लेकर एक दूसरा छन्द भारतीय साहित्य के प्रांगण में प्रवेश करता है। यह दोहा है। स्पष्ट ही दोहाबंध का अर्थ अपभ्रंश है। अपभ्रंश को 'दूहाविद्या' कहा गया है। (वही पृ० ९०व९२)

दोहा नये युग की उद्भावना से संबंधित है।

५—दोहा वह पहला छन्द है जिसमें तुक मिलाने का प्रयत्न हुआ और आगे चलकर एक भी ऐसी अपभ्रंश-कविता नहीं लिखी गयी जिसमें तुक मिलाने की प्रथा न हो। इस प्रकार अपभ्रंश केवल नवीन छन्द लेकर ही नहीं आयी, बिल्कुल नवीन साहित्यिक कारीगरी लेकर भी आविर्भूत हुई। (वही पृ० ९३)

६—दोहों को प्रबंध-काव्य के योग्य बनाने के लिए चौपाई का उपयोग किया गया। किसी कथानक-सूत्र को जोड़ने के उद्देश्य से सोलहवीं शताब्दी में दोहों के बीच-बीच में चौपाई जोड़कर कथानक को क्रमबद्ध करने का प्रयास किया गया था। (वही पृ० ९४)

७—इस काल में उद्भावित-काव्य रूप—

१—आदि मंगल (मंगल काव्य)
२—रमैनी (चौपाई दोहे)
३—शब्द (गेय पद)
४—ग्यान चौंतीसा (वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से आरम्भ करके पद लिखना)
५—विप्रमतीसी
६—कहरा
७—वसन्त
८—चांचर
९—बेलि
१०—विरहुली (सांप का विष उतारने वाला गान)
११—हिंडोला
१२—साखी (दोहे)
१३—दोहा-चौपाई वाला चरित काव्य
१४—कवित्त-सवैया
१५—दोहों में आध्यात्म और धर्म-नीति के उपदेश
१६—बरवै
१७—सोहर छन्द
१८—विनय के पद
१९—लीला के पद
२०—वीर काव्यों के लिए उपयोगी छप्पय, तोमर, नाराच आदि की पद्धति
२१—दोहों में सगुन विचार
२२—फागु
२३—अखरावट (वही पृ० १०४, १०१, १०७)
२४—नहछू
२५—रासक
२६—रास
२७—रासो
२८—कुंडलिया
२९—भमरगीत
३०—मुकरी
३१—दो सखुने

३२—बुझौवल

३३—षटऋतु

३४—बारहमासा

३५—नखशिख

३६—दसम [दशावतार]

३७—भंडौश्रा

३८—जीवनी काव्य

यह इतिहास के मध्ययुग के साहित्य-रूपों श्रौर उनकी प्रवृत्तियों का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग साहित्य के लिए कितने ही परिवर्तनों को लेकर श्रवतीर्ण हुश्रा। इन परिवर्तनों के मूल में कितने ही उद्वेलन थे जिन्हें यहाँ गिनाया जाता है—

१—वज्रयान

२—सहजयान

३—सिद्ध-सम्प्रदाय

४—शैब-सम्प्रदाय

५—शाक्त-सम्प्रदाय

६—नाथ-सम्प्रदाय

७—भक्ति श्रान्दोलन

८—संत-मत

९—सूफी मत

१०—कृष्ण सम्प्रदाय

११—राम सम्प्रदाय

१२—राधा सम्प्रदाय

१३—जैन-मत

१४—इसलाम श्रादि

हमें जिस युग का श्रध्ययन करना है वह भवित श्रान्दोलन के दूसरे तथा तीसरे चरण से संबंधित है। भक्ति श्रान्दोलन के पांच चरण प्रतीत होते हैं—

(१) संधि-चरण—भवित का हिन्दी क्षेत्र में श्रारम्भ। बीजारोपण।

(२) अंकुरण —अंकुर जिस प्रकार भूमि से संबद्ध रहता हुश्रा भी उससे ऊपर श्रपने व्यक्तिगत स्वरूप के श्रभिमान से लहलहाने लगता है, उसी प्रकार भक्ति श्रपने थाले में से बाहर

फूटी—निर्गुणोपासक संत-संप्रदाय की भक्ति का यही रूप मानना होगा।

(३) प्रेमाभिसारण

(४) अवताराश्रयी-चरमोत्कर्ष।

(५) स्थिरत्व

भक्ति के विकास की इस द्वितीय स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते युग की प्रवृत्तियों में जो परिवर्तन प्रस्तुत हुए, उसका मूल तत्त्व था वैविध्य का साधारणीकृत एकत्व और उसकी "वैष्णवत्व" में समर्पित होने की चेष्टा। यह स्थिति विकास और विवर्त्तन का परिणाम थी। भारत में मत-स्वातंत्र्य की सुविधा होने के कारण प्रत्येक युग में यहाँ अनेकों मत-संप्रदाय रहे हैं। और वे साथ-साथ चलते रहे हैं।[1] पहले वैदिक धर्म ने प्रबलता प्राप्त की।

१—क—वैदिक युग में यज्ञ-कर्ता आर्यों के साथ 'शिश्न देवों' का उल्लेख है।

ख—भगवान बुद्ध निम्नलिखित संप्रदायों से परिचित थे। वे उनके समय में प्रचलित थे। १—आजीवक, २—निगंथ, ३—जटिल, ४—परिव्राजक, ५—अवरुद्धक, ६—हाथी, ७—घोड़ा, ८—गाय, ९—कुत्ता, १०—कौवा, ११—वासुदेव, १२—बलदेव, १४—पुण्णभद्द, १५—अग्नि, १६—नाग, १७—सुपण्ण, १८—यक्ख, १९—असुर, २०—गंधर्ब, २१—महाराज, २२—चंद, २३—सूरिय, २४—इन्द्र, २५—ब्रह्म, २६—देव, २७—दिसा। (निद्देस)

ग—बाणभट्ट ने हर्ष-चरित में निम्न सिद्धांतवादियों और सांप्रदायिकों का उल्लेख किया है :

१. आर्हत—सम्भवतः यापनीय जैन।
२. मस्करी—नियतिवादी।
३. श्वेतपट—श्वेताम्बर जैन।
४. पांडुरिभिक्षु—आजीवक।
५. भागवत—भृगु के अनुयायी।
६. वर्णी—गुरु के अनुयायी-तपस्वी।
७. केशलुंचन—दिगंबर जैन
८. कापिल—सांख्यवादी, जटाधारी
९. जैन-बौद्ध
१०. लोकायित
११. काणाद

फिर बौद्ध धर्म ने। बौद्ध धर्म के उपरान्त धार्मिक क्षेत्र में हमें जो प्रवृत्ति मिलती है, वह वस्तुतः एक नयी प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति "सुसम्बद्ध समन्वित महत्व" की प्रवृत्ति कही जा सकती है। वैदिक धर्म ने शिश्न-देवों को घृणा की दृष्टि से देखा। बौद्धों ने अपने से इतर समस्त मतानुयायियों को हीन समझा। किन्तु जो नया युग प्रवर्तित हुआ वह उस धर्म को लेकर उठा जिसे आज 'हिन्दू' धर्म कहते हैं। पहली अवस्था में वे समस्त मत समन्वित होते प्रतीत होंगे जो बौद्ध-धर्म से विरोध रखते थे, दूसरी अवस्था में इस उदार भावना ने स्वयं बुद्ध को आत्मसात कर लिया और बौद्ध धर्म भी समन्वित हो गया। इस 'समन्वय' को लाने के लिए एक ऐसी दार्शनिक भूमिका प्रस्तुत करनी पड़ी जिसने एक दूसरे से भिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं को परस्पर सुसंबद्ध करने का प्रयत्न किया। यह लोक-प्रवृत्ति का परिणाम थी।

इस नयी क्रान्ति से हमें आलोच्य युग तक पहुँचते-पहुँचते तीन चरण मिलते हैं :

प्रथम— वैष्णव—१—चरण
द्वितीय—शैव-शाक्त)
तृतीय—सिद्ध) नाथ—२
चतुर्थ—नाथ)
पंचम— भक्ति—३

---

१२. **औपनिषदिक—वेदांती (शंकर-पूर्वके)**
१३. **ऐश्वर कारणिक—नैयायिक**
१४. **कारंधयी**
१५. **धर्मशास्त्री**
१६. **पौराणिक**
१७ **साप्ततंतव—मीमांसक-यज्ञकर्त्ता**
१८. **शाब्द—वैयाकरण**
१९. **पांचरात्रिक—चतुर्व्यूहवादी**

विशेष रोचक बात यह है कि ये सभी सम्प्रदायवादी एक ही आश्रम में एक साथ रहते थे। (हर्ष-चरितः डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)।

घ—इसी प्रकार 'सरहपा' (७६० ई०) ने भी कई पाखंडों (सम्प्रदायों) का उल्लेख किया है जैसे

ब्रह्म सम्प्रदाय {
१. ब्राह्मण—(बम्हणिँ म जाणन्त हि भेउ।
एँवइ पढ़िअउ ए चउवेउ (चतुर्वेद)।।
२. एकदण्डी
३ त्रिदण्डी
४. भगवाँ वेषधारी
} एकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसे

प्रथम 'वैष्णव' 'चरण' ब्राह्मण धर्म अथवा हिन्दू धर्म के नाम से भी अभिहित किया जा सकता है, और इसका ऐतिहासिक उत्कर्ष ईसवी की पहली दूसरी शताब्दी तक माना जा सकता। इस उत्कर्ष में वैष्णव धर्म ने समस्त बौद्ध विरोधी सम्प्रदायों को अपनी परिधि में समेटने का प्रयत्न किया। यह सहज ही समझा जा सकता है कि यह प्रयत्न वेदों को ही आगे करके बढ़ा होगा। क्योंकि बौद्ध-धर्म जिस प्रबल सम्प्रदाय के विरुद्ध खड़ा हुआ था, वह मुख्यतः वैदिक था। बौद्ध-धर्म दुर्बल हुआ तो वेदों की प्रतिष्ठा को फिर बढ़ाने का प्रयत्न हुआ, किन्तु इतनी शताब्दियों का व्यवधान विवश कर रहा था कि वेदों के समस्त योग-दान को नये प्रकार से प्रस्तुत किया जाय। पुराणसाहित्य में हमें वह प्रयत्न दिखायी पड़ता है। अतः प्रथम वैष्णव चरण का मूलाधार वैदिक व्याख्या थी।

दूसरे चरण में दो या तीन संप्रदाय प्रस्तुत किये गये हैं। ये तीनों परस्पर एक दूसरे से गुँथने लगे थे। यों तो बौद्ध धर्म की ह्रासावस्था में लोक-प्रवृत्ति ने पहले सिद्धों को ही अवतीर्ण किया। पर सिद्धों के सिद्ध-सिद्धान्तों के साथ शिव-शक्ति के शैव तत्व से समन्वित होकर नाथ-संप्रदाय प्रबल हो उठा। सिद्धों की देन भी इस युग में महत्वपूर्ण थी।

सिद्धः—'सिद्ध' का संबंध 'सिद्धि' से है। सिद्धियों से युक्त पुरुष सिद्ध कहा जायेगा। साधारणतः सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गयी है। आज से कुछ वर्ष पूर्व चौरासी सिद्धों का उल्लेख आश्चर्यमय लोकवार्ता का ही विषय था। किन्तु इधर पच्चीस वर्षों के अन्दर जो नये अनुसंधान हुए हैं, उनसे चौरासी सिद्धों की ऐतिहासिकता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। आज हम पर्याप्त निश्चितता के साथ इन चौरासी सिद्धों के नाम भी गिना सकते हैं।

सिद्ध-युगः—राहुल सांकृतायन जी ने लिखा है—"अतएव चौरासी सिद्धों का युग ७५०-११७५ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धों की

ईश्वर सम्प्रदाय	५.	आचार्य—(अइरिएहिं उद्दूलिअ छारे)
	६.	दीपकवाले (घर ही वइसी दीवा जाली)
	७.	घंटा बजाने वाले (कोनहि बइसे घण्डाचाली)
	८.	हठयोगी (अक्खि णिवेसी आसणबंधी)
	९.	मंत्रदाता (कण्णेहिं खुखखुसाइ जणधन्धी)
	१०.	सखी-सम्प्रदाय या साघुनियाँ (रण्डी-मुण्डी अण्ण 'वि वेसें)
अर्हन्त	११.	दीर्घनखा (दीहणक्ख जइ मलिणे वेसें)
	१२.	क्षणपक (खवणेहि जाण-विडंविअ वेसें)
बौद्ध	१३.	भिक्षु
	१४.	स्थविर

चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी। किन्तु 'चौरासी' संख्या में बँधकर ही सिद्ध नहीं रह गये, न उनके साथ काल बंधन ही रहा – वे ११७५ के बाद भी 'सिद्ध' हुए, यद्यपि वे चौरासी सिद्धों में नहीं गिने गये। इन समस्त सिद्धों की संख्या डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार १२० तक पहुँच जाती है, और यह संख्या चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ होने के पूर्व तक की है[1]। इस हिसाब से आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक सिद्धों की दीर्घ परंपरा फैली हुई मिलती है। चौदहवीं शताब्दी के उपरान्त भी सिद्धों का अत्यन्ताभाव नहीं कहा जा सकता, पर इस काल के उपरान्त के सिद्ध इतने महत्वपूर्ण नहीं रहे, और यह सिद्ध-संप्रदाय स्वयं एक ओर तो ऐतिहासिक कारणों से शिथिल हो गया, दूसरे नाथ-संप्रदाय जैसे नये संप्रदायों ने उद्‌भावित होकर उसे उच्छिन्न कर दिया। सभी जानते हैं कि नाथ-संप्रदाय में भी चौरासी सिद्धों की मान्यता है, वे नाथ-सिद्ध कहलाते हैं। इनसे भिन्न सिद्ध सहजयानी और बज्रयानी सिद्ध हैं जो बौद्धधर्म की उस परंपरा में है जो महायान से मंत्रयान में परिणत होता हुआ सहजयानी और वज्रयानी परंपरा में परिणत हुआ। यह नाथ-संप्रदाय इस प्रकार सहजयानी-बज्रयानी सिद्धों का आश्रय लेकर खड़ा हुआ और उनकी मौलिक परंपरा से अलग होकर पृथक नाथ-संप्रदाय की स्थापना में सफल हुआ। नाथ-संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। किन्तु नाथ-संप्रदाय ने सांप्रदायिक रूप 'गोरखनाथ' के हाथों प्राप्त किया। यद्यपि 'गोरखपा' नाम से 'गोरखनाथ' भी सहजयानी सिद्धों में माने गये हैं, पर इसका समाधान तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ के इस उल्लेख से हो जाता है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे, बाद में वे शैव होगये। गोरखनाथ का शैव होने का काल ही वस्तुतः नाथ-संप्रदाय की संप्रदाय रूप में पृथक स्थापना का काल होगा।

आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक का युग सिद्ध-साहित्य की दृष्टि से महत्व पूर्ण है। इस काल में हमें कई प्रकार के सिद्ध मिलते हैं। बौद्ध-धर्म से उद्‌भूत, ह्रास में जकड़े हुए वज्रयान और सहजयान के सिद्धों की एक बड़ी परंपरा थी। जैन धर्म भी सिद्धों से शून्य नहीं था। पर जैन-सिद्ध बौद्ध वज्रयानी और सहजयानी सिद्धों की भाँति न तो उतने अन्य प्रवाहों से प्रभावित हुए, और न उस रूप में वाममार्ग से आवृत। शाक्त सिद्धों की एक पृथक परंपरा थी। सहजयानी सिद्धों और नाथों,

---

१—नाथ संप्रदाय पृष्ठ ३२.

दोनों परंपराओं के कितने ही सिद्ध समान हैं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तुलनापूर्वक ३३ नाम ऐसे बताये हैं जो दोनों संप्रदायों में एक हैं।[1] इन सभी संप्रदायों के सिद्धों में तांत्रिक अनुष्ठान की किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिष्ठा हुई, किन्तु इसी कारण सिद्धों में 'नाथों' का अन्तर्भाव नहीं होता। नाथों के पूर्ववर्ती भाव से ही सिद्धों के अस्तित्व को मानना होगा, भले ही वे कहीं-कहीं नाथ-संप्रदाय के सिद्धों के समानान्तर रहे हैं।

सिद्ध-युग की पृष्ठभूमि :—सिद्धयुग भारत में महान ऐतिहासिक उथल-पुथल का युग था। हर्ष की मृत्यु हो चुकी थी। साम्राज्य की धुरी नष्ट हो जाने से छोटे-छोटे सामन्त जहाँ तहाँ खड़े हो गये थे। राजपूत राज्यों की स्थापना इसी काल में हुई। चारों अग्निकुल राजपूतों का उद्भव इसी युग में हुआ। इस युग में राजनीतिक तथा ऐतिहासिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण ही दृष्टिगोचर हो रहा था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह था कि व्यक्ति का अपना बल या गुण ही उसका साथी और महत्व-अर्जन में सहायक था। यह व्यक्ति विधि और विधान का परिणाम नहीं था, न अपनी प्रतिष्ठा के लिए वह इन पर निर्भर था। वह अपने निजी गुणों के चमत्कार से ही अपना महत्व और अपनी प्रतिष्ठा जमा सकता था और सुरक्षित रह सकता था। यह 'व्यक्ति-प्रभुता' इस युग का सामान्य धर्म बन गयीं थी। यही कारण है कि धार्मिक क्षेत्र अथवा साम्प्रदायिक परम्पराओं में गुरु का जो महत्व इस युग में हुआ वह और कभी नहीं होसका। इससे पूर्व गुरु थे, उनका महत्व भी सामाजिक क्षेत्र में था, पर उसका आधार गुरु की ज्ञानगरिमा के प्रति श्रद्धा थी, उनकी शक्ति के प्रति आतंक नहीं था। इस युग में गुरुओं के महत्व का एक आवश्यक अङ्ग उनकी शक्ति का आतंक अथवा चमत्कार था। इस व्यक्ति-वादी गुरुत्व की दौड़ में होड़ भी थी जिसके कारण हमें वे लोकवार्ताएँ मिलती हैं जिनमें दो सिद्ध पुरुष अपनी अपनी अलौकिक शक्तियों से एक दूसरे को पछाड़ने की चेष्टा करते पाये जाते हैं। गोरखनाथ और कण्हपा में भी ऐसी चोटें हुई थीं, इनका उल्लेख लोक-कथाओं में है।[2] यह विदित होता है कि

१—नाथ संप्रदाय पृष्ठ २७-३२

२—"इसके बाद गोरखनाथ बकुल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए। उधर कानफा ठीक उनके सिर पर से उड़ते हुए आकाश मार्ग से कहीं जा रहे थे। छाया देखकर गोरखनाथ ने सिर ऊपर उठाया और क्रोधवश अपना खड़ाऊँ ऊपर फेंका। खड़ाऊँ ने कानफा को पकड़ कर नीचे किया। गोरखनाथ के सिर पर से उड़ने के अविचार का फल उन्हें हाथोंहाथ मिला पर कानफा ने व्यङ्ग करते

सिद्धों की ऐसी कथाओं को विस्तार नाथ-युग में ही मिला होगा। किन्तु सिद्ध युग में नाथ-युग के सिद्ध से सिद्ध की कुछ भिन्न परिभाषा की जाती थी— मैं समझता हूँ कण्हपा ने निम्न पद में 'सिद्ध' की ही परिभाषा दी हैं :

णित्तरंग-सम सहज-रूअ सअल-कलुस-विरहिए।
पाप-पुण्य-रहिए कुच्छ णाहि काण्ह फुर कहिए ॥
वहिण्णिक्कालिआ सुण्णासुण्ण पइट्ठु।
सुण्णासुण्ण-वेणि मंज्झे रे बढ़ ! किम्पि ण दिट्ठु ॥
सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड़ काण्ह परिजाणइ।
सत्थागम बहु पढइ सुणइ बढ़ ! किम्पि ण जाणइ ॥
अह ण गमइ ऊह ण जाइ। वेण्णि-रहिअ तसु णिच्चल ठाइ॥
भणइ काण्ह मण कहबि ण फुट्टइ णिचल पवण घरिणि-घर बट्टइ ॥
वरगिरिकन्दर गुहिरे जगु तहिं सअल, बि तुट्टइ।
विमल सलिल सोँस जाइ, कालग्गि पइट्ठइ ॥
पह बहन्ते णिअ-मणा, बन्धण किअऊ जेण।
तिहुअण सहलं बि फारिआ, पुणु सारिअ तेण ॥
सहजे णिच्चल जेण किअ, समरसेँ णिअ-मण-राअ।
सिद्धो सो पुण तक्खणे, णउ जरामरणह भाअ ॥

(हिन्दी काव्यधारा—पृ० १४६-१४८)

सहज से यह 'निश्चल' की प्राप्ति इतनी 'सहज' नहीं। कण्हपा ने स्पष्ट किया है:

णिच्चल णिव्विअप्प णिव्विआर। उअअ-अत्थमण-रहिअ सुमार।
अइसो सो णिव्वाण भणिज्जइ। जहिँ मण माणस किम्पि ण किज्जइ।

यह निश्चल निर्विकल्प निर्विकार स्थिति 'निर्वाण' कहलाती है। यहाँ मन की गति नहीं है। क्योंकि 'मन' तो रह जाता है पीछे, मृतवत् और उभर आता है निश्चल। यह मन की निश्चलता असाधारण है, इसमें निज गृहिणी का साथ होना आवश्यक है—

हुए कहा कि बड़े सिद्ध बने हो, कुछ गुरु का भी पता है कि वे कहाँ हैं। कदली देश में महाज्ञान भूलकर स्त्रियों के साथ वे विहार करते हैं, उनकी शक्ति समाप्त हो गयी है। यमराज के कार्यालय में देखकर आ रहा हूँ कि उनकी आयु के तीन ही दिन बाकी हैं। बड़े सिद्ध हो तो जाओ गुरु को बचाओ। गोरख नाथ ने कहा—मुझे तो समझा रहे हो कुछ अपने गुरु की भी खबर है तुम्हें ? मेहरकुल की महाज्ञानशीला रानी मयनावती के पुत्र गोपीचंद ने उन्हें मिट्टी में गड़वा रखा है। आदि। **(नाथ संप्रदाय पृ० ४७)**

जे किम्र णिच्चल मण-रम्रण, णिम्र-घरणी लइ एत्थ
सोइ वाजिरा-णाहु रे, मयिँ वुत्तो परमत्थ ।

और 'गृहिणी' का यह साथ किस प्रकार का हो—

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरिणी लइ चित्त ।

जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है, ऐसे ही गृहिणी हो जाय चित्त में। इस वर्णन से विदित होता है कि यह 'चित्त' या मन साधारण चित्त या मन नहीं, यह वह पराक्षेत्र का चित्त है जो 'परमशिव' की अवस्था में होता है तो शक्ति उसमें चिन्मयी होकर रमती है। इस 'चिन्मयता' को कैसे समझाया जा सकता है ? जल में मिले हुए नमक की भाँति ही वह 'चिन्मयी' शक्ति या कला शिव अथवा चित्त या अ-कला में विलीन हो जाती है, तभी यथार्थ में 'निश्चलता' प्राप्त हो सकती है। 'नमक' के पानी में विलीन होने की स्थिति का ज्ञान 'सरहपा' ने कण्हपा से ५०-६० वर्ष पूर्व ही करा दिया था—

अलिम्रो ! धम्म-महासुह पइसइ ।
लवणो जिमि पाणीहि विलिज्जइ । (हि० का० धारा पृ० २)

सरहपा ने जिस महासुख का यहाँ उल्लेख किया है, वही सिद्धों का परम-ध्येय है। कण्हपा ने भी 'नमक-पानी' के एकमेक होने—अद्वितीय (वेण्णि-रहिम्र) होने के 'निश्चल ठाम' की चर्चा की है और बताया है कि—

"एहु सो गिरिवर कहिम्र मँइ, एहुसो महसुह ठाव"

तो इस अद्वितीय स्थिति को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? सभी सिद्ध एकमत हैं कि यह न शास्त्र-ज्ञान से, न पोथी-पत्रे से, न जंत्र-मंत्र से, न पाखंडों से ही प्राप्त हो सकती है—७६० ई० के लगभग सरहपा घोषणा करते हैं—

'मन्त' ण तन्त ण धेम्र ण धारण"
"सब्ब वि रे बढ़ ! बिब्भम-कारण"

८३० ई० के लगभग लुईपा कहते मिलते हैं:'

जाहि र वण्ण-चिन्ह-रूम्र ण जाणी
सो कइसे आगम-वेएँ बखाणी

ऐसे ही शब्द दारिकपा ने ८४० ई० के लगभग कहे :

"किन्तो मन्तो किन्तो तन्ते किन्तो झाण बखाणे
अप्प पइट्ठा महासुह लीलें दुलक्ख परम-निवाणे

कण्हपा ने तो काव्यमयी भाषा में समस्त पंडित पंथ को पके श्रीफल के ऊपर मंडराकर भिनभिनानेवाला भ्रमर मात्र बताया है :

"आगम-वेम्र-पुराणे, पण्डिम्र माण वहन्ति
पक्क-सिरीफले अलिम्र जिम, बाहेरीम्र भमन्ति ।"

इसी प्रकार सभी सिद्धों को हम वेद-पुराण तथा जंत्र-मंत्र की तुच्छता प्रकट करते पाते हैं। पाखंड-खंडन में तो हम काल-क्रम में सब से पहले सिद्ध सरहपा को अपने अति परिचित कबीर की भाँति ही कबीर से लगभग ६०० वर्ष पूर्व यों अक्खड़ता के साथ व्यंग्य करते पाते हैं :—

बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ।
एँवइ पढ़िअउ ए चउवेउ।
मट्टि पाणि कुस लई पढन्त।
घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त।
कज्जे विरहइ हुअवह होमें।
अक्खि डहाविअ कडुएँ धूयें।
एकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ बेसेँ।
विणुआ होँइअइ हंस-उएसेँ।
मिच्छेहाँ जग वाहिअ भुल्लेँ।
धम्माधम्म ण जाणिअ तुल्लेँ।
अइरिएहिँ उद्दूलिअ छारेँ।
सीस सु बाहिअ ए जडभारेँ।
घरही बइसी दीवा जाली।
कोणहिँ बइसी घण्डा चाली।
अक्खि णिवेसी आसण बन्धी।
कण्णेहिँ खुसखुसाइ जण धन्धी।
रण्डी-मुण्डी अण्ण वि वेसेँ।
दिक्खिज्जइ दक्खिण-उद्देसेँ।
दीहणक्ख जइ मलिणे वेसेँ।
णग्गल होइ उपाडिअ केसेँ।
खवणेहि जाण-विडंविअ वेसेँ।
अप्पण वाहिअ मोक्ख-उवेसे।

जइ णग्गाविअ होइ मुत्ति, ता सुणह सिआलह।
लोम उपाडण अत्थि सिद्धि, ता जुवइ-णिअंबह।
पिच्छी गहणे दिट्ठ मोक्ख, ता मोरह चमरह।
उंछ-भोअणेँ होइ जाण, ता करिह तुरंगह।
सरह भणहि खवणाण मोक्ख, महु किम्पि न भावइ।
तत्त-रहिअ काआ ण ताव, पर केवल साहइ।

चेल्लु भिक्खु जे थविर उदेसे। बन्देहिँ आ पब्बिज्जउ-वेसे।

कोइ सुतण्त वक्खाण बइट्ठो। कोवि चिण्ते कर सोसइ डिट्ठो।

इस लम्बे उद्धरण से हमें आठवीं शताब्दी के प्रचलित बहुत से संप्रदायों का ज्ञान भी हो जाता है। साथ ही कबीर की पाखंड-खंडिनी प्रवृत्ति के आदि रूप का भी पता चल जाता है। सरहपा मानता है कि इन पाखडों के द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। उसी की भाँति उसकी परंपरा के सभी सिद्ध यही बात कहते चले जाते है।

इस प्रकार यह प्रकट है कि सिद्धों का संप्रदाय समस्त पाखंडों से रहित था, और सहज पर आश्रित था। किन्तु जिन पाखंडों का उल्लेख ऊपर हुआ है, उनसे भिन्न इस सहज का भी एक पाखंड खड़ा होगया था—यह सहज शून्य-अशून्य से परे था—

"सुण्णासुण्ण-वेणि मज्झें रे बढ़! किम्पि ण जाणइ।
सहज एक्कु पर अत्थि तहि फुड़ काण्ह परिजाणइ।" (कण्हपा)

यहाँ मन और पवन निश्चल हो जाते हैं, पाप-पुण्य रहित यह अद्वैत निश्चल स्थल है। न यह देखा जा सकता है, न पवन इसे हिला सकता है, न अग्नि जला सकती है, मेघ जल से यह भीगता नहीं, न पैदा होता है, न मरता है। यहाँ सहज से उन्मत्त होकर योगी गृहिणी से रमण करता है। यहीं उसे महासुख प्राप्त होता है। इस "सहज" को क्या कोई सहज ही पा सकता है—

जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़! चित्त विसाम करु, सरहें कहिअ उएस।
आइ ण अन्त ण मंझ णउ, णउ भव णउ णिब्बाण।
एँहु सो परममहासुह; णउ पर णउ अप्पाण।

सअ-संवित्ति-करहु रे धन्धा।
भावाभाव सुगति रे बन्धा।
णिअ मण मुणहुरे णिउणें जोई।
जिम जल जलहिं मिलन्ते सोई।
पढ़में जइ आभास विसुद्धो।
चाहते चाहते दिट्ठि णिरुद्धो।
एसें जइ आयास विकालो।
णिअ मण दोस ण बुज्झइ बालो।
मूल-रहिअ जो चिन्तइ तत्त।
गुरु-उवएसे एत्त-विअत्त।

अतः यह स्पष्ट है कि सहज की सिद्धि प्राप्त करने के लिए 'गुरु' की अनिवार्यता इस संप्रदाय में निश्चित हुई।

व्यक्तिवादी युग ने अहंचेतना से व्यक्तित्व को गुरुत्व से अभिमण्डित किया। इस गुरुत्व ने युग-संस्कारों को आध्यात्मिक धरातल पर ऐसा ढाला कि गुरु अनिवार्य हो गया। यह गुरु बिना सिद्ध हुए उस गुरुत्व को सिद्ध कैसे कर सकता था ? नहीं, उसे स्थिर रखना तो और भी कठिन था। इन सिद्धों को एक ओर तो अपने संप्रदाय को अन्य संप्रदायों की अपेक्षा अत्यन्त सहज भी दिखाना था, दूसरे उसे ऐसा दुरूह भी रखना था कि गुरु का महत्व ही समाप्त न हो जाय। इस द्वैध के कारण इस संप्रदाय में सहज और साधना दोनों का साथ-साथ पोषण हुआ। उसकी कुंजी भी गुरु के हाथ में रही। गुरु की कृपा हो तो चमत्कार रूप में शिष्य या भक्त को वह 'सहज' सहज ही प्राप्त हो जाय। किन्तु शिष्य इस व्यक्तिवादी युग में केवल सहज को पाकर क्या करेगा ? वह सिद्ध की कृपा पर ही क्यों रह जाय ? उसे तो स्वयं सिद्ध होना चाहिये। उस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए गुरु की और भी अधिक आवश्यकता है, क्योंकि सिद्ध का मार्ग तो तलवार की धार पर चलने का मार्ग है। गोरख की वाणी से स्पस्ट सिद्ध होता है कि 'सहज' शनैः-शनैः स्थूल 'शील' से आरंभ होकर जटिल शून्य की स्थिति तक पहुँचता है—गोरखनाथ कहते हैं:—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा धीरैं धरिबा पाँव।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरष राँव।
(छन्द २७ पृ० ११ गोरखबानी)

यह 'सहज' शीलगत सहज ही है, यद्यपि 'सहज' में रहन की भावना से सहज-शील का स्वरूप त्यागकर आध्यात्मिक गूढ़ अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु समस्त द्वंद्व की परिपाटी से यह 'शील' का ही सहज है। इस 'शील' के 'सहज' को प्राप्त करने के बाद, इस शील का रूप ऐसा करले कि समस्त शरीर ही इस शील का हो जाय—यह समस्त शरीर के संस्कार का प्रश्न है—

गिरही सो जो गिरहै काया। अभि अन्तर की त्यागै माया।
सहज-शील का धरै सरीर। सो गिरही गंगा का नीर।
(वही, छन्द ४५ पृ० १७)

शरीर सहज-शील का कब हो सकता है ? कब वह स्थिति प्राप्त हो सकती है कि सहज-शील और शरीर एकमेक हो जायं ? उतर होगा—तभी जबकि शरीर को सहज-समाधि प्राप्त हो जाय। समाधि ही तो तन्मयावस्था हैं तो बत या गया कि:—

निद्रा सुपनैं बिन्द कूं हरैं। पंथ चलंतां आतमा मरै।
बैठां षटपट ऊभां उपाधि। गोरख कहै पूता सहज-समाधि।
(वही, छन्द २१२, पृ० ७०)

अब स्पष्ट है कि सहज की स्थिति जटिल हो चली। सहज की समाधि के लिए बिन्दु का अपहरण आवश्यक है, पंथ चलती आत्मा को भी मारना होगा, और इस सहज समाधि में पहुँचकर—

जिहि घरि चंद सूर नहिं ऊगै, तिहि घरि हो सी उजियारा।
तिहाँ जे आसण पूरौ तौ सहज का भरौ पियाला, मेरे ग्यांनी।
(वही, पद ४, पृ० ९०)

सहज का प्याला उस घर में आसन लगाकर पीना पड़ेगा, जिस घर में चन्द्र-सूर्य के बिना उजियाला है। ये चन्द्रसूर्य साधारण चन्द्र-सूर्य नहीं, इनका भी अपना एक विशेष अर्थ है। तो सहज का प्याला पीने का यह घर इस काया गढ़ को जीत लेने पर ही प्राप्त होता है—

इंहाँ नहीं, उहाँ नहीं, त्रिकुटी मँझारी।
सहज सुंनि मैं रहनि हमारी। (वही, पद ३९, पृ० १३४)

सरहपा का मत है—सब्ब रूअ तहिं ख-सम करिज्जइ...
सो बी मगु तहिं अमगु करिज्जइ। सहज सहावै सो पर रजइ।

वह घर भी सहज का घर है, वह सहज जो शून्य है।

इस प्रकार शील का सहज धीरे धीरे कदम बढ़ाता हुआ शून्य तक पहुँच गया। भला इस समस्त साधना को गुरु के बिना कौन समझा सकता है? अतः गुरु है, सहज स्थिति प्राप्तव्य है, उसके लिए साधना का आयोजन है।

साधना के इस आयोजन का 'योग' से संबन्ध बहुत घनिष्ठ है, इसलिए इन सिद्धों ने 'योगी' का उल्लेख बारबार किया है:—

भव जाई ण आवइ ण एण्थु कोई।
अइस भावे विलसइ काण्हिन जोई।

गोरखनाथ ने कहा—जोगी सो जो राषै जोग।
जिभ्यायन्द्री न करै भोग।

भूसुकपा योगी को संबोधन कर उपदेश देते हैं—

मारु रे जोगिया! मूसा पवना। जासे टूटै अवना-गवना।

इस योगी का संबंध काया को गिरह देने से है, पवन अथवा प्राण को बाँधने से है।

मारु रे जोगिया मूसा पवना। जासे टूटै अवना-गवना।

यह मूसा बहुत भयानक है—निसि अंधियारी मूसा करै संचारा।
अमृत भक्ष्य मूसा करै अहारा। (भूसुकपा)
क्योंकि समस्त अमृत को यही खा जाता।

किन्तु काया को गिरह देने की इस साधना को सिद्ध ने योगियों की साधना से भिन्न कर दिया है। वह केवल गुरु-कृपा से ही सहज-सिद्ध होता है। शबरपा कहते हैं कि—गुरु वाक पुंजिआ धनु णिअ-मण वाणे।
एके शर सन्धाने विन्धह विन्धह परम-णिवाणे।
भूसुक ने बताया है कि :—

करुणामेह निरन्तर फारिआ। भावाभाव द्वंदल दालिआ।
उइउ गअण माज्झे अदभूआ। पेख रे भूसुक ! सहज सरुआ।
जासु सुणन्ते तुट्टइ इंदआल। णिहुए णिज मण देइउ उल्लाल।
विसअ विसुज्झे मइँ बुज्झिउ आणंदे। गअणहँ जिम उजोली चन्दे।
ए तिलोए एत बि सारा। जोइ भूसुकु फडइ अंधियारा।

इस प्रकार सिद्धों ने योगी की साधना के आरंभ तक पहुँच कर उस साधना के स्वरूप को एकदम बदल दिया। और उस साधना की कुंजी गुरु के हाथ में देदी। जो कार्य पवन को बाँधकर चक्र बेधने से होता, वह गुरु-उपदेश और गुरु कृपा से। इसलिए 'लुईपा' ने लिखा :—

काआ तरुवर पंच बिडाल। चंचल चीए पयट्टा काल।
दिढ़ करिअ महासुह परिमाण। लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।

साधना के इस स्थल पर पहुँच कर सिद्ध-साहित्य 'रहस्य' मय हो जाता है। वह कण्हपा के साथ गा उठता है—

नाडि शक्ति दिढ़ धरिआ खाटे। अनहा डमरु बजइ विरनाटे।।
काण्ह कपाली जोइ पइठ अचारे। देह न अरि विहरइ एककारे।।
अलि-कलि घंटा नेउर चरणे। रवि-शशि-कुण्डल किउ आभरणे।।
राग-दोष-मोहे लाइअ छार। परम मोख लवए मुत्ताहार।।
मारिअ सासु नणँद घरे शाली। मा मरिअ काण्ह भइल कपाली।।

'रहस्यवाद' साधना का पक्ष नहीं, महासुख के भोग और आनंद की स्थिति का आस्वादन है। सिद्ध-साहित्य में इस रहस्य के उद्घाटन की भी विकास-श्रेणियाँ परिलक्षित होती हैं—कहीं तो 'सहज' की स्थिति 'भाव-अभाव' दोनों से ऊपर बताने के लिए साधारण शब्दावली में इसे आश्चर्य के साथ प्रस्तुत किया गया है :—

भाव ण होइ अभाव ण जाइ।
अइस सँबोहें को पतिआइ।

लुई भणइ बढ़ ! दुलख विणाणा।
तिघातुए विलइ ऊह लागेना।
जाहि र वण्ण-चिन्ह-रूग्र ण जाणी
सो कइसे ग्रागम-वेएँ बखाणी।'''ग्रादि

तो कहीं इस स्थिति को 'उन्मत्तता' बताया गया, ग्रौर उसके लिए सहज वारुणी सिद्ध करने की बात कही गयी।

विरूपा ने यह निर्धारित किया :—

एक से शोंडिनि दुइ घरे सांधग्र।
चीग्र न वाकलग्र वारुणी बाँधग्र।
सहजे थिर कार वारुणी सांधय।
जे ग्रजरामर होइ दिढ़ काँधग्र।'''ग्रादि

यह भाव-ग्रभाव से परे की स्थिति ग्रभाव में भाव के रमण की ही स्थिति है। सहज तो शून्य ही है। यहाँ दो का रमण है, जिसमें समुद्र की लहरें तो समाप्त हो जाती हैं, समुद्र की समरसता रह जाती है। द्वैत के इस रमण को ग्रब गुंडरीपा यों ग्रभिव्यक्त करते हैं :—

तिग्रड्डा चाँपि जोइनि दे अँकवाली।
कमल-कुलिश घोँटि करहु विग्राली।
जोइनि तइँ बिनु खनहिं न जीवमि।
तो मुह चुम्बि कमल-रस पीवमि।
खेपहुँ जोइनि लेप न जाग्र।
मणिकुले बहिग्रा उडिग्राने समाग्र।
सासु घरे घालि कोंचा-ताल।
चाँद-सूज बेण्णि पखा फाल।
भणइ गुंडरी ग्रम्हे कुंदुरे वीरा।
नर ग्र नारी माझे उभिल चीरा।

ग्रौर ग्रब इस 'जोइनि' या 'जोगिनी' ने डोम्बी का रूप धारण किया तो कण्हपा उससे विवाह करने चल पड़े—

भव-णिव्वाणे पड़इ माँदला।
मण-पवण-वेण्णि करंडँ कशाला।
जग्र जग्र दुन्दुहि सद्द उछलिला।
काण्हे डोम्बि-विवाहे चलिला।
डोम्बि विवाहिग्र ग्रहारिउ जाम।
जउतुके किग्र ग्राणूतू धाम।

अहरिणसि सुरअ-पसंगे जाअ ।
जोइणि जाले रअणि पोहाअ ।
डोंबिए संगे जोइ रत्तो ।
खणह ण छाडअ सहज-उमत्तो ।

यहीं सिद्धों को युगनद्ध अद्वय की उपलब्धि हुई । इस सबके लिए तांत्रिक साधना ग्रहण की गयी । विवाहित डोमनी महामुद्रा बन गयी, जिसमें महामुद्रा सिद्धि प्राप्त होती हैं ।

यहाँ तक हमने सिद्धों की उस पृष्ठभूमि को दिखाया है जो मूलतः सामान्य लोकवृत्ति-परक रही है । सामान्य लोक-प्रवृत्ति के कारण ही बौद्ध धर्म को सहजयान का आश्रय लेना पड़ा ।

किन्तु सिद्ध सम्प्रदाय के विकास में सामान्य लोक-प्रवृत्ति ही का योग नहीं था । उसकी जड़ में मूल लोक-मानस भी व्याप्त था । यह मूल लोक-मानस सिद्ध-सम्प्रदाय की आधार भूत मान्यताओं से सम्बद्ध है । सिद्ध-सम्प्रदाय की १ सहज, २ महामुद्रा, ३ तन्त्र-योग, ४ सिद्धि तथा ५ गुरु ही आधार-शिलाएँ हैं । 'सहज' में व्याप्त सामान्य लोकभूमि हम देख चुके हैं । वेद-शास्त्र, तन्त्र-मन्त्र, जप-तप, पाखण्ड सभी को त्याग कर 'सहज' मिलता है । किन्तु लोक-मानस जहाँ एक ओर ऐसी सहज स्थिति का वरण करता है, वहाँ वह आनुष्ठानिक टोने (Ritualistic magic) के बिना भी नहीं रह सकता । वह अपने मनोरथ की पूर्ति के लिए ऐसे तन्त्र की प्रतिष्ठा करता है जिससे विविध तत्व प्रकृति, पुरुष, उनकी जीवित तथा मृतात्माएँ उसके मनोरथ को पूर्ण कर सकें । सिद्धों में 'सहज' के साथ-साथ 'तन्त्र योग' इसी कारण चल सका । मूल आदिम समाज में यह आनुष्ठानिक तन्त्र हमें प्रायः आरम्भ से ही दो रूपों में मिलता है । एक, व्यक्ति-आश्रित : प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनोरथ पूर्ति के लिए कुछ आनुष्ठानिक तन्त्र का विधान कर सकता था । वह पशुओं के चित्र बनाता था कि इससे वे उसे सरलता से प्राप्त हो सकेंगे । सिद्धों का या शाक्तों का 'तन्त्र' उसी मूल-लोकमानस की दृढ़ भूमि पर स्थित हैं । दूसरे सामाजिक सम्मिलित अनुष्ठान । इसमें एक पूरा समूह का समूह भाग लेता था । आनुष्ठानिक नृत्यों का आविर्भाव ऐसे ही सामूहिक अनुष्ठानों में हुआ है ।

'महामुद्रा' के सिद्धि का स्वरूप मूल लोक-मानस की सृष्टि-रचना की मूल गाथा से संलग्न है । इस मूल गाथा में आकाश को पृथिवी पर लेटा हुआ माना गया है । ये दोनों आरम्भ में युगनद्ध थे । यह अद्वय भारत में तांड्य-ब्राह्मण में बताया गया है । माओरी जाति के लोग आज भी यही मानते हैं । बाद में इन दोनों को पृथक कर दिया गया । न्यूजीलैंड में इन दोनों को एकदूसरे से अलग उनके

लड़के ने किया। मिस्र में उन्हें वायु के देवता 'शू' ने अलग-अलग किया। यहाँ आकाश को स्त्री और पृथ्वी को पुरुष रूप में चित्रित किया गया है।* तांड्य ब्राह्मण में उल्लेख है कि जब ये अलग-अलग हो गये तो दोनों ने विवाह कर लिया। सिद्धों की महामुद्रा-साधना में लोक-मानस का यही प्रत्यावर्तन प्रत्यक्ष है, पर उसके साथ आनुष्ठानिक तन्त्र सन्निविष्ट है। समस्त तांत्रिक साधना के मूल में 'मैथुन' का जो महत्व मिला हुआ है, वह समस्त आदिम-मानस के प्रजनन विषयक आनुष्ठानिक टोने का ही संशोधित रूप है। इस प्रक्रिया से मूल लोक-मानस मनोरथ की सिद्धि में विश्वास करता था। दूसरे शब्दों में आनुष्ठानिक रूपेण सिद्धि और साधन का भेद किया जाय तो यह प्रक्रिया साधन है और मनोरथपूर्ति सिद्धि है।

तन्त्र में चक्रपूजा का समस्त वातावरण और आनुष्ठानिक तन्त्र उसी मूल लोक-मानस की अभिव्यक्ति का एक अपूर्व उदाहरण है। चक्र का विकास योनि-प्रतीक के रूप में हुआ है। योनि-प्रतीक देवी या महामुद्रा का यांत्रिक प्रतिस्थानीय है। ऊपर लोक-मानस की स्थिति पर विचार करते हुए यह बताया जा चुका है कि अत्यन्त प्राचीन काल में जो कुछ मृण्मूर्तियाँ मिलीं उनमें स्त्री-अङ्गों का विशदीकरण किया गया है। और उसका आनुष्ठानिक टोने से सम्बन्ध था, इसमें कोई संदेह नहीं। चित्र, मूर्ति आदि आदिमकाल से-सहानुभूतिक टोने (sympathetic magic) के रूप में काम में आते रहे हैं। उसी आदिम भाव का रूपान्तर हमें चक्रों में और उसकी पूजा में मिलता है।ऽ सिद्धों में भी इस चक्र-पूजा का अत्यन्ताभाव नहीं था।

* "Heaven was originally lying upon earth; but the two were separated, and the sky was lilted up to its present position. In New Zealand this was done by their son; in Egypt it was done by the god of the air, Shu, who is now between earth and sky. And heaven is depicted as a woman bending over the earth with outstretched arms while the good Shu supports her."—Before Philosphy पृ० २७

ऽ इस चक्रपूजा के सम्बन्ध में अर्नेस्ट ए० पयने (A Ernest Payne) ने अपनी पुस्तक 'द शाक्तास' (The Saktas) में यह विवरण दिया है:

"An equal number of men and women who may belong to any caste or castes and may be near relations—husband, wife, mother, sister, brother—meet in secret, usually at night and sit in a circle. The

महामुद्रा समागम से सिद्धि प्राप्त करने के विधानों के साथ ये तत्व जुड़े हुए हैं, और इनके साथ है 'सिद्ध' और 'गुरु'। साधक सिद्धि प्राप्त करके ही सिद्ध होता है, और सिद्ध होने पर गुरु हो सकता है। बिना गुरु के सिद्धि हो ही नहीं सकती। गुरु के इस व्यक्ति-परक महत्व पर लोक-प्रवृत्ति का प्रभाव हम ऊपर दिखा आये हैं। गुरु का यह महत्व साम्प्रदायिक स्थिति-स्थापकता से मूल-रूपेण सम्बन्धित है, यह किसी बाहरी औद्योगिक प्रवृत्ति के साम्य से उद्भूत नही। इसके अतिरिक्त इस युग में गुरु को ऐसा महत्व मिलने का एक और गहरा कारण वही मूल लोक-मानसिकता है जो इस सम्प्रदाय के ताने-बाने में व्याप्त थी। इस मानसिकता में गुरु=सिद्ध या सिद्ध=गुरु=स्याना। स्याना झाड़-फूँक करने वाला होता है, इस पर देवी-देवता भी आते हैं। किसी आत्मा का आवेश उसमें होता है भूत-प्रेतों को वश करता है। इस व्यक्ति का महत्व अपनी इन्हीं व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण होता है। उस समाज में वह विशेष प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इस युग में गुरु और व्यक्ति का ऐसा विशिष्ट महत्व इन्हीं कारणों से हुआ। इतिहास यह बताता है कि सिद्धों का संबंध ऐसे लोगों से था जिनमें स्यानों का महत्व था।

इस युग में सिद्ध-साहित्य के दोहे, पद आदि लोक की अपनी संपत्ति थी। इन सिद्धों के अतिरिक्त शेष साहित्य में जो रूप खड़े हुए वे भी इस लोक-भूमि को स्पष्ट करते हैं। उनमें से अधिकांश का सम्वन्ध लोक-नृत्यों, लोक-गीतों और लोकोत्सवों से था। कुछ तो लोकानुष्ठानों तक से लिये गये हैं। सरसरी दृष्टि से यह कहा जासकता है कि मंगल, सोहर, नहछू का सम्बन्ध घर के संस्कारोत्सवों से था। हिंडोला, फाग, बारहमासा ऋतुपरक लोकायोजनों से संबद्ध थे। हिंडोला झूले का,फाग होली या वसन्त का, बारहमासा वर्षा ऋतु का गीत था। 'चांचर' और रास सामूहिक लोक-नृत्यों से सम्बद्ध हैं। बिरहुली विष उतारने के स्यानों के गीत का ही रूप हैं। किन्तु यहाँ सिद्धों में प्रचलित एक विशेष प्रणाली की ओर विशेष ध्यान जाता है। वह संधा भाषा है जिसमें प्रतीक से गुह्यार्थ प्रस्तुत किये

---

goddess may be represented by an image of a yantra which is actully a drawirg of pudendum muliebre in the centre of a circle formed by nine pudenda. The liturgy consists of the repetition of mantras,the ritual in partaking of the five tattvas, i. e. elements, viz. wine, meat, fish, parched grain and sexual intercourse." पृष्ठ १५.

गये हैं। इन प्रतीक रूपकों का प्रत्यक्ष अभिधामूलक अर्थ मैथुन-परक होता है, किन्तु उससे सहजयोग का गूढ़ार्थ निकाला जाता है। लोक-मानस भूमि की पहेली या बुझौवल (Riddle) संबंधी प्रवृत्ति का ही यह विकास है। आदिम लोकमानस में पहेली का अनुष्ठानों से गहरा सम्बन्ध था। मूल-सिद्धान्त इसमें सहानुभूतिक टोने का ही था। पहेली का अर्थ खुल गया तो मनोरथ-सिद्धि का मार्ग भी खुल जायगा, तुल्य से तुल्य की प्राप्ति की भावना ही थी। वहीं से यह प्रहेलिका-प्रवृत्ति प्रत्येक रहस्य-सिद्धि अथवा फल-प्रतीक्षा के आयोजन के साथ संलग्न मिलती है। सिद्धों ने भी गुह्य को प्रस्तुत करने के लिए इसी प्रवृत्ति के विकास में संधा भाषा या साभिप्राय भाषा का उपयोग किया। और क्यों उसे यौन-प्रतीकों से युक्त किया गया? यह हम देख चुके हैं कि यौन-भावना का भी आदिमानुष्ठानों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वही मानस-भूमि सिद्धों में परि-व्याप्त है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्ध-सम्प्रदाय की मूल भूमि आदिम मूल मानसिकता या लोक-मानस से युक्त है। आज यह सिद्ध हो चुका है कि सिद्धों का सम्बन्ध ऐसी जातियों से था जिनमें आदिमत्व विशेष था। सिद्धों में ब्राह्मण से लेकर शूद्र जाति तक के व्यक्ति थे, महामुद्राऐं भी ऐसी ही थीं। जाति-पाँति का भेद इनमें नहीं था। वस्तुतः शबर मछुए, सरकंडों का काम करने वाले तक तो इनमें थे। सिद्धों की ही नहीं समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों की मूल भूमि प्रायः यही थी।

अतः लोक-मानस की मूल भूमि से सिद्धों का घनिष्ठ सम्पर्क था। वहां के जीवन के मान्य तत्वों को सिद्धों ने ग्रहण किया और उन्हें एक साम्प्रदायिक महार्घता प्रदान की। उसे एक दार्शनिक व्याख्या देकर एक उच्चता से अभि-मण्डित कर दिया। इसके लिये उन्होंने भाषा-गौरव, श्लेष, रूपक-प्रतीक, अलं-कार आदि प्रणालियों के उपयोग में पूर्ण पाण्डित्य प्रकट किया। इस प्रकार 'सहज' को कठिन कर 'कमल-कुलिश' के विरोध-विवर्ती सिद्धान्तों को सिद्ध कर दिया है।

इस प्रकार सिद्धों ने अपनी विशिष्टता के साथ लोक-तत्वों का समादर किया। पर सिद्धों में से ही नाथ-सम्प्रराय ढला, और उसने इस दूसरे चरण को प्रबल वेग से आच्छादित कर लिया।

दूसरा चरण पूर्ण उत्कर्ष पर दसवीं शताब्दी में पहुँचा। इसका दृष्टि-कोण वैष्णव दृष्टिकोण से भिन्न था। यह अवैदिक था। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेद-वाह्य होने के कारण न हिन्दू थे और न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में प्रचलित हुआ तो नाना कारणों से देश दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिन्दू समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे।" (नाथ-सम्प्रदाय—पृ० १४७) शेष वेद-वाह्य सम्प्रदाय गोरख सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हुए, किन्तु वे ही जो 'योग' को मानते थे। जो लोग वेद विमुखता और ब्राह्मण विरोधिता के कारण समाज में अग्रहीत रह जाते, वे उन (गोरखनाथ) की कृपा से ही प्रतिष्ठा पा सकते थे। (वही पृ० १६३)

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदाय ने बिखरे सम्प्रदायों को एक सूत्र में पिरोने का कार्य सम्पादित किया। नाथ-सम्प्रदाय दसवीं शताब्दी में चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ह्रास की ओर अग्रसर हुआ।

तभी भक्ति 'आन्दोलन' उठा। यह 'वैष्णव' आन्दोलन का ही नया संस्करण था। इसने समस्त लौकिक-वैदिक तत्वों को समन्वित करने का प्रयत्न किया। भक्ति की भावना, अवतार में आस्था, निर्गुण-सगुण का समन्वय, सहज-सुरति और योग की योजना, पूजा, कीर्त्तन और काव्य का उपयोग, नाम और रूप का आश्रय— ये सभी प्रमुखतः लोक-तत्व हैं, जिनके पोषण के लिए किसी-किसी ने 'वेद-उपनिषद और ब्रह्मसूत्र' का भी आधार ग्रहण किया। वस्तुतः वेदों का आश्रय तो प्रमाणार्थ ही लिया गया, इस भक्ति-आन्दोलन का समस्त रूप और आत्मा लोक-तत्वों से निर्मित थी। इस नये आन्दोलन ने वैदिक-अवैदिक समस्त भारतीय साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों का एकीकरण कर दिया, इनमें वैष्णवीय अहिंसा अथवा दाक्षिण्य की भावना प्रधान हो गयी, अतः केवल उग्र शाक्त ही इसमें नहीं समा सके। ये उग्र शाक्त लोक-ग्राह्य भी नहीं थे। भक्ति की इस नयी अवतारणा के दाक्षिण्य ने मुसलमानों को भी अग्राह्य नहीं माना।

हरि को भजे सो हरि का होई।

यह मनोवृत्ति प्रधान हो चुकी थी।

दूसरा अध्याय

निर्गुण सम्प्रदाय के तत्व

हिन्दी के जन्म और उसकी आरम्भिक अवस्थाओं का जो रूप ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि हिन्दी की निर्गुण-धारा का मूल नाथ-सम्प्रदाय में से होकर सिद्धों में है। सिद्धों ने जो तत्व दिये, वे नाथों के द्वारा संशोधित हुए और अधिकाधिक लोक-भूमि के निकट लाये गये, और जब वे लोक-वार्ता के अंग बन गये तब उन्हें हिन्दी की निर्गुण-धारा ने ग्रहण किया।

सिद्धों ने जिन तत्वों की स्थापना की उनमें से कुछ संक्षेप में ये थे—

१ स्कंध

२ भूत

३ आयतन

४ इंद्रिय

५ शून्य

६ चित्त

७ भव

८ निर्वाण

९ माया

१० सहज

११ करुणा
१२ अद्वय साधना
१३ समरसता
१४ प्रज्ञोपाय
१५ मैथुन
१६ युगनद्ध
१७ निरंजन
१८ समुत्पाद
१९ अमनस्कार
२० राग-महाराग
२१ गुरु
२२ आदिकर्म
२३ एवं
२४ बोल कक्कोल
२५ वज्र
२६ खसम
२७ सुरति-निरति
२८ उलटी साधना

इन तत्वों का इतिहास लोकतत्व की सामर्थ्य को बहुत स्पष्ट करता है।

सिद्ध-साहित्य में भी इन शब्दों का प्रयोग विशेष अर्थ में होने लगा था। नाथ-सम्प्रदाय में इसके अर्थ में दूसरा विकास हुआ और संत-सम्प्रदाय ने उससे आगे। और यह विकास लोक-प्रवृत्ति का परिणाम था।

१—स्कंध—रूप, वेदना, संस्कार, संज्ञा तथा विज्ञानादि ये पाँच स्कंध हैं। यह शब्द और यह विभाजन सिद्धों ने विज्ञानवाद से लिया है। विज्ञानवादियों ने स्कंध के इन पाँचों भेदों पर और भी अधिक विस्तार से विचार किया। सिद्धों ने वह विस्तार अनावश्यक समझा। उन्होंने पाँच स्कंधों से ही काम चलाया। नाथ-सम्प्रदाय में स्कंध की चर्चा समाप्त हो गयी। उससे आगे सन्त तो इससे अपरिचित ही रहे।

इससे स्पष्ट है कि लोक-धारा ने स्कंध को स्वीकार नहीं किया। जो सम्प्रदाय जितना ही लोकपरक रहा, उतना ही वह स्कंध के शास्त्रीय स्वरूप की सूक्ष्मता को त्यागता गया।

२—भूत— ये भी पांच हैं, और पंच महाभूत कहलाते हैं। सर्वास्तिवादियों

ने क्षिति, जल वायु तथा हुताशन ये चार ही महाभूत माने, सिद्धों में भी सरहपा ने भी यही चार भूत माने, पर कण्हपा ने पांच तत्व माने। उन्होंने गगन को भी एक भूत स्वीकार किया। स्पष्ट है कि सिद्धों ने प्रचलित परंपरा से ही भूतों को पांच माना। गगन को 'शून्य' रूप में ग्रहण करके उन्होंने उसे सभी में व्याप्त स्वीकार करके भूत के क्षेत्र से पृथक नहीं किया। पंच महाभूतों की मान्यता इतनी सामान्य हो गयी थी कि यह समस्त लोक की अपनी मान्यता बन गयी थी। इस मान्यता को संतो ने स्वीकार किया। कारण स्पष्ट है कि ये पंचतत्व शास्त्रीय दृष्टि से कितनी ही मौलिक अमूर्त्त सत्ता क्यों न रखते हों, लोक-प्रवृत्ति में उनकी मूर्त्त और यथार्थ सत्ता विद्यमान थी। यही नहीं, लोक-तत्व इन्हें प्रबल शक्तियों के रूप में स्वीकार करता आ रहा था। ऐसी अवस्था में इन तत्वों को वह महत्व देता ही। इसी समवायता के कारण लोक में विद्यमान इन तत्वों को सांप्रदायिक दृष्टि से धर्म-विकास की परंपरा की अंतिम कड़ी के रूप में संतों ने स्वीकार कर लिया।

३—आयतन—आयतन का अर्थ होता है आधार-स्थल। सिद्धों में इन्द्रियों के विषय का जो आधार स्थल होता है, उसे आयतन कहा जाता है। और इस विषय की इन्द्रिय को भी आयतन कहा गया है। अतः आयतन के दो प्रकार होते हैं : एक इन्द्रिय आयतन, दूसरा विषय या रूप आयतन। 'आयतन' नाम का आगे एक प्रकार से लोप हो गया है। नाथ-संप्रदाय में 'गृह' का उल्लेख हुआ है। यह 'गृह' आयतन से कुछ भिन्न है। यहाँ यह स्पष्ट है कि जब इन्द्रिय से काम चल सका तो उसके सूक्ष्म तत्व को लोक-मानस क्यों ग्रहण करता।

४—इन्द्रिय—साधारणतः पंचमहाभूतों के साथ पंचेन्द्रिय सिद्धों ने मानी हैं : नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र। किन्तु कहीं-कहीं 'मन' को सम्मिलित करके 'षडेन्द्रयाँ' भी मानी गयी हैं। नाथ-संप्रदाय में 'इन्द्रिय' के समकक्ष 'द्वार' शब्द का प्रयोग हुआ है, पर यहाँ भी यह इन्द्रिय के पूर्व पारिभाषिक शब्द से भिन्न है—पंच द्वार हैं : श्रुति, नासिका, चक्षु, लिंग और गुदा। संतों ने पाँच इन्द्रियाँ ही मानी। संतों में द्वार दस हो गये।

५—शून्य—प्रथम अवस्था में 'शून्य' का अर्थ है 'अनस्तित्व', दूसरी अवस्था में विज्ञानवादियों ने 'शून्य' का अर्थ किया 'तथता'—जैसे तरंगों के नष्ट हो जाने पर जल हो जाता है, वैसे ही भव के विनाश से चित्त की जो स्थिति होती है वह 'तथता' है। तीसरी अवस्था में सिद्धों ने इसी को 'परमार्थ' भी कहा और इसी शून्य के तीन रूप माने—तत्व-रूप में अगोचर, अगम; ज्ञान-रूप में भाव-अभाव, ग्राह्य-ग्राहक तथा अन्त-आदि से रहित; स्वभाव-रूप में ख-सम, आकाश अथवा शून्य के समान चित्त-स्वभाव। इस शून्य

को अपनी शैली में सिद्धों ने नैरात्मवालिका, प्रज्ञा या महामुद्रा कहा। इसे अद्वय तत्व माना। चौथी अवस्था में नाथों ने इसी शून्य को परमतत्व का पर्याय मानकर हठयोग के शब्द-ब्रह्म या नाद से जोड़ दिया। अब शून्य-प्राण-नाद। यह नाद 'नाद-विन्दु' के नाद से संबंधित है। ब्रह्मरंध्र या दशमद्वार को भी शून्य माना गया। शिवलोक भी शून्य कहा गया। पांचवी अवस्था में शून्य संतों के हाथ में पड़ा। यहाँ यह शून्य अपना मौलिक तात्विक अर्थ खो बैठा। यहाँ शून्य शब्द भी है,[1] शून्य आदितत्व भी है[2], शून्य आकाशतत्व को जन्म देने वाला है,[3] शून्य पूर्णता है, शून्य जीवन-मरण रहित है, शून्य सहज है। वह अद्वय भी है;[4] त्रिकुटी में शून्य है[5], शून्य, शून्य मंडल, शून्य सरोवर, शून्य महल, शून्य शिखा, शून्य नगर, शून्य हाट—आदि अनेक रूपों में प्रस्तुत हुआ।

६—चित्त—सर्वप्रथम विज्ञानवादियों ने 'चित्त' की स्थिति मानी। यही एक मात्र सत्य है। सिद्धों ने चित्त को भव और निर्वाण दोनों का बीज माना। यही चित्त मन का पर्याय आगे चलकर समझा गया। और संतों में इस 'मन' के कितने ही रूप हो गये, और इसे कितने ही प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त किया गया। तरुवर, करभ, बैल, हाथी, मूषक, मेंढ़क, शृगाल, सिंह, हंस, भँवरा, मृग, कपास, आम आदि के द्वारा मन को कभी चित्त या बोधिचित, कभी प्रयत्न प्रकाशक चित्त, कभी साधना में लगा हुआ मन, कभी उन्मनमन, कभी माया का शिकार होता हुआ मन, कभी वासनायुक्त मन, कभी निर्मल मन, कभी सदाचार प्रेमी मन, कभी विषयों में आसक्त मन आदि, अनेक रूपों में मन चित्रित किया गया है।

७—माया—भव और मोहजाल तथा संसार एक ही हैं। सिद्धों ने इसका चित्त से उद्भव माना है। यह संकल्पों से निर्मित होता है, और संकल्प चित्त का ही प्रक्षेपण हैं। यह संध्या या माया चित्त से उदय होकर चित्त को ही ग्रस लेती है।

सिद्धों का यह संकल्प-स्वरूप नाथों में कुछ ठोस सत्तावान होता दीखता है। मत्स्येन्द्रनाथ ने माया को छत्तीस तत्वों में से छठा तत्व माना है। परमशिव

१—उल्टे मनु जब सुन्नि समावे। नानक शब्दे शब्दि मिलावे (नानक)

२—सुन्न ते सम्भू होवे आदि। सुन्न ते नीलु अनील अनादि (नानक)

३—आकाश सुन्न ते उतपत जानौ।

४—शून्य सहज में दोऊ त्यागे राम न कहूँ सुखदाइ (रैदास)
एक न दोइ (सुंदरदास)

५—सुखमनि सुन्न आनि त्रिकुटी में तुलसी दरद दिल दुगन मिटा,
(तुलसी साहिब)

में सिसृच्छा होने से दो तत्व हो जाते हैं, १—शिव, २—शक्ति। तीसरा तत्व 'सदाशिव' जगत को अपने से अभिन्न मानता है। वह 'अहं' है। चौथा ईश्वर-तत्व जो जगत को अपने से भिन्न 'इदं' रूप में ग्रहण करता है। सदाशिव की शक्ति पाँचवा तत्व है, और यह 'शुद्ध' विद्या के नाम से अभिहित है। ईश्वर की शक्ति 'माया' कहलाती है, यह छठा तत्व है। 'इदं' रूप ईश्वर की शक्ति 'माया' शिव को तीन मलों से आच्छादित करती है: १—आणव (अपने को अणु मात्र समझना), २—मायिक (भेद बुद्धि से जगत के अद्वैत को ग्रहण करना), ३—कर्म (नाना जन्मों में स्वीकृत कर्मों का संस्कार)। इन तीनों से आच्छादित होने पर शिव 'जीव' रूप में परिणत होते हैं। यहाँ इस एक सिद्धान्त में 'माया' की वलवत्तरता देख रहे हैं। जीव, माया और शिव का संबंध यहाँ स्पष्ट होने लगा है।

गोरखनाथ ने 'माया' को छठा तत्व ही माना है, पर उसका संबंध पिंडों से लगाया है। माया साकार पिंड नामक तीसरे पिंड से संबंधित है। गोरख के द्वारा माया को कोई विशेष महत्व नहीं मिला। किन्तु 'माया' का मौलिक 'इदं' कर्तृत्व-शक्ति-तत्व भूला नहीं जा सका था। फलतः दूसरी परम्परा से आने वाले 'माया' तत्व की प्रबलता ने संत मत में 'माया' का महत्व पुनः स्थापित किया। सदाशिव की शक्ति के नाम से 'शुद्धविद्या' ने ईश्वर की इदंपरक शक्ति माया को 'अविद्या' से सम्बद्ध करने की प्रवृत्ति दी होगी। माया और अविद्या मिले तो 'माया' ने शक्ति-रूपिणी नारी के साथ समस्त प्रपंच-रचना का श्रेय प्राप्त कर लिया। कबीर ने माया के संबंध में बताया है कि यह ठगिनी है, फँसाने वाली है, यह सर्वत्र व्याप्त है, यह मिथ्या व सारहीन है, यह ईश्वर की इच्छा है। यह डाइन है जो मनुष्य को डसती है। इसके पाँच पुत्र हैं[1]। माया की वेलि सर्वत्र फैली हुई है और उसकी जड़ ऐसी विचित्र है कि सारी टहनियों को काट-छाँट देने पर भी वह फिर से कोंपल देकर हरी-भरी हो जाती है। इसे ज्ञान-रूपी अग्नि में एक बार भस्म कर देने से भी काम नहीं चलता, क्योंकि जब तक इसके मोह-रूपी फल का एक भी कामना-रूपी बीज अवशेष है, इसके एक बार फिर अंकुरित होकर लहलहा उठने का भय बना हुआ है। इस प्रकार माया ने एक नया रूप ग्रहण कर लिया। और

१—ये पांच पुत्र 'पंचकंचुक' हैं: (१) विद्या या अविद्या, (२) कला, (३) राग, (४) काल, तथा (५) नियति। ये काम, क्रोध, मोह, मद व मत्सर नहीं जैसा श्री परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है।
(दे० उत्तरी भारत की संत परंपरा पृ० २०० तथा नाथ-संप्रदाय पृ० ६७)

इसको हृदयंगम करने के लिए संतों को लोक-प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ा ।

८—सहज—सहज सिद्धों का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण शब्द है । डा० धर्मवीर भारती ने लिखा है, "किन्तु एक सर्वथा नवीन शब्द हमें सिद्ध साहित्य में मिलता है" वह शब्द है 'सहज' । जो जो गुण शून्य के हैं बिल्कुल वे ही सहज के हैं, जिससे स्पष्ट है कि सहज शून्य से अलग कोई अन्य तत्व नहीं ।" पर वही कुछ आगे चलकर लिखते हैं कि "इस प्रकार हम देखते हैं कि तत्वज्ञान अथवा स्वभाव रूप में 'सहज' नाम से नवीन होने पर भी वास्तव में वज्रयानियों का चिरपरिचित परमार्थ और शून्य ही है । किन्तु सिद्धों ने इसे इतना महत्व दिया है कि अपनी साधना से संबंधित प्रत्येक वस्तु का नाम सहज दिया है । सहज तत्व, सहज ज्ञान, सहज स्वरूप, सहज सुख, सहज समाधि, सहज काया, सहज पथ, यहाँ तक कि बुद्ध को सहज सम्वर और नैरात्मा या शून्यता को सहज सुन्दरी कहा जाने लगा ।" भारती जी यहीं विचार करते हुए लिखते हैं, "परमतत्व को यह नयी संज्ञा देने का क्या कारण है । क्या शून्य उस परमतत्व के पूरे अर्थ को नहीं अभिव्यक्त कर सकता था ।" और उनका ही उत्तर है : "वास्तव में बात यही थी । शून्यता ज्ञान या ख-सम स्वभाव के अतिरिक्त एक तत्व और था जिसकी ओर सिद्ध विशेष रूप से संकेत करना चाहते थे । वह तत्व था करुणा ।"

अतः निश्चय ही शून्य और सहज अभिन्न नहीं थे । अद्वय शून्य और करुणा के अद्वय से जिसका तात्विक सम्बन्ध था वह सिद्धों का 'सहज' था । और यह स्थिति निश्चय ही शून्य से भिन्न थी ।

यह विशिष्ट स्थिति होते हुए भी 'शून्य' के महत्व ने सहज को छोड़ा नहीं । चार शून्यों में सर्वशून्य ही 'सहज' है, क्योंकि यहीं प्रज्ञोपाय अद्वैत या अद्वय स्थिति प्राप्त होती है । अतः परम तत्व के रूप में 'सहज-शून्य' ग्रहीत हुआ ।

नाथ-संप्रदाय में भी इस सहज-शून्य का उल्लेख मिलता है :

'सहज-सुंनि तन मन थिर रहे[1] ।

संतों में सहज-शून्य का महत्त्व और भी अधिक होगया । संतों में कुछ की दृष्टि में तो शून्य और सहज का अंतर है । वे सहज को शून्य से ऊण मानते हैं । कुछ सहज को शून्य नगर में एक स्थल मानते हैं, कुछ सहज को उपाय मानते हैं । नाथों में विद्यमान सहजविषयक सभी धारणाएँ संतों में जहाँ तहाँ

१—यह सहज का परमतत्व रूप है । नाथ-संप्रदाय में सहज को परम-ज्ञान भी माना गया । सहज को योगिनी या शक्ति से संगम लाभ करने वाली योग-पद्धति भी माना गया । उसे समाधि भी, परमपद या आनंद भी और जीवन पद्धति के रूप में भी ग्रहण किया गया ।

मिल जाती हैं। किन्तु संतों में भी कुछ और मिलता है, वह है सहज को व्यक्तित्व प्रदान। सहज स्वयं एक सत्ता के रूप में स्थापित हो गया, वह राम हो गया है, ब्रह्म हो गया है। 'सहज' को लेकर सन्तों ने 'सहज रहनी और सहज करनी' भी गोरखनाथ से मांग ली, पर उनसे अधिक इन्हें महत्व संतों ने दे दिया। "मांहै है पर मन नहीं, सहज निरंजन सोइ"—दादू

करुणा—'करुणा' का उदय महायान में हुआ। सिद्धों में यह शून्य के साथ जुड़ी और 'उपाय' के लिए पर्यायवत् हुई। शून्य और करुणा का उदय सहज हुआ। 'करुणा' के इतने नाम हुए और प्रज्ञोपाय प्रणाली तथा युगनद्धता के सिद्धान्त ने 'करुणा' का महत्व कम कर दिया। नाथों और संतों में वह एक प्रकार से लुप्त ही हो गयी।

अद्वय साधना,	ये सभी एक ही स्थिति के विविध दृष्टियों से
समरसता,	विवरण मात्र हैं। शून्य और करुणा के अद्वय
प्रज्ञोपाय,	को सहज कहा गया। यह सहज ही 'समरसता' थी।
युगनद्ध,	शून्य और करुणा का नामकरण सिद्धों में प्रज्ञा
मैथुन	और उपाय के रूप में हुआ। इन्हें नारी और
	पुरुष का रूप दिया गया। यही 'प्रज्ञोपाय' का

अद्वय 'तान्त्रिक' प्रभाव से नारी-पुरुष का अद्वय अथवा 'मैथुन' या 'युगनद्ध' हो गया। यही नाथों की 'द्वैयष' रहित स्थिति है, यही संतों का दो के बीच का मारग है। इसमें 'द्वै द्वै मिटी तरंग[१]'। इस प्रकार यही संशोधति 'सहज' संतों के पास गया।

निरंजन—प्रज्ञोपाय अथवा युगनद्ध स्थिति को सर्वोपरि बताने के लिए सिद्धों ने महायानी बौद्धाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण काया, सम्मान काया और धर्मकाया नाम की तीन कायाओं से परे चौथी सहज काया की प्रतिष्ठा की। यह सहज द्वयताओं और क्लेशादि मलावरणों से निरावृत्त शुद्ध सहज रूप होती है अतः इसी को निरंजन कहते हैं।[२] नाथ-सम्प्रदाय में निरंजन 'नाथ तत्व' का पर्यायवाची हुआ।[3] वही लोक प्रचलित 'अलख-निरंजन' कहलाया। धीरे धीरे नानाभावविर्निमुक्त[४] स्थिति 'निरंजन' की हुई। 'सो घरवारी कहिये

१—सहज रूप मन का भया जब द्वै द्वै मिटी तरंग।
ताता सीला सम भया तब दादू एकै अंग॥ (दादू)

२—सिद्ध साहित्य : डा० धर्मवीर भारती

३—निखिलोपाधि हीनो वै यदा भवति पूरुषः
तदा विवक्षते अखंड ज्ञानरूपी निरंजनः (शिवसंहिता—१०६८)

४—"नाना भाव विनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरंजन" (दे० नाथ-सम्प्रदाय)

निरंजन की काया'—हमें इससे विदित होता हैं कि नाथ-सम्प्रदाय ने एक ओर तो निरंजन को साधन की अवस्थाओं में से एक देवता माना थौर दूसरी ओर उसे उपलब्धि में भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। दोनों स्थितियों को यों समझा जा सकता है :—

साधना की दृष्टि से :—

बिन्दु के अधःपतन के देवता—विग्रहर
नंदिनी वृत्ति के देवता —काम
स्थिरीभाव के देवता —निरंजन
ऊर्ध्वगमन के देवता —कालाग्नि रुद्र

उपलब्धि का स्वरूप—

स्वयं (पर) शिव

१ अपर	१ निजी
२ परम	२ परा
३ शून्य	३ अपरा
४ निरंजन	४ सूक्ष्मा
५ परमात्म	५ कुण्डली

दोनों दशाओं में निरंजन वह तत्व है जहाँ पहुँचकर ही उपलब्धियाँ सम्भव हैं। यहीं से ऊर्ध्वगमन आरम्भ होता है। यहाँ से पूर्व तो 'प्रपंच' से छुटकारा पाने की ही स्थितियाँ हैं। 'निरंजन' समभूमि है जहाँ पहली बार प्रपंच अथवा नाना भाव से मुक्ति मिलती है। यहाँ पहुँच जाने के अर्थ हैं ऊपरी उपलब्धियों को पाने के संकटों का सर्वथैव शमन। इसी लिए निरंजन बहुत महत्वपूर्ण है। इसी लिए यह 'नाथ-तत्व' है, क्योंकि नाथ-सता का यथार्थ प्रथम छोर यही है। संतों ने भी इसे अपनाया। दादू ने कहा है :—

तहँ पाप-पुण्य नहिं कोई, तहँ अलख निरंजन सोई।
तहँ सहज रहै सो स्वामी, सब घटि अन्तरयामी।

कबीर ने कहा :—"अंजन छाँड़ै निरंजन राते, ना किस ही का दैना।"
तथा—"मन थिर होइत कवल प्रकासै कवला मांहि निरंजन बासै।"
(कबीर-ग्रन्थावली)

नाथ-सम्प्रदाय में इस अलख निरंजन का महत्व बढ़ा पर यह उनकी समस्त

व्याख्या का एक स्थल था। आगे एक निरंजन सम्प्रदाय ही खड़ा हुआ। जिसे कुछ विद्वान नाथ और संतों के बीच की कड़ी मानते हैं।[1]

समुत्पाद—विज्ञानवाद में चित्त को भवजाल से मुक्त कर करुणा से समन्वित कर साधना के लिए अग्रसर करने की प्रणाली को समुत्पाद कहा जाता था (सिद्ध सा० पृ० १६०)

सिद्धों में इस 'समुत्पाद' को विशोधन, हनन, स्थिरीकरण या 'दृढ़ीकरण' कहा है।

अमनसिकार—१–सर्वास्तिवादी 'मनस्कार' को दशभूमिक चैत्त धर्मों में से एक मानते थे जिसका अर्थ था सांसारिक कार्यों में प्रवृत्त होना।

२—विज्ञानवादियों ने इसे मन की सभी वृत्तियों को परिचालित करने वाली मूल प्रवृत्ति माना।

इस 'मनस्कार' से छुटकारा पाना अमनस्कार है। जिसे सिद्धों में 'अमन' करना भी कहा गया। संतों में भी अमनियां शब्द मिलता है।

गुरु—बौद्ध धर्म में गुरु का महत्व नहीं था। पर जैसे जैसे बुद्ध का महत्व बढ़ा, जिसका सूत्र था : 'बुद्धं शरणं गच्छामि' वैसे ही बुद्ध को गुरु स्वीकार किया गया, और तन्त्रयान में गुरु अनिवार्य हो गया और बुद्ध से मिलकर गुरु का स्थान और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गया। इसके पीछे लोक-मानस था। इसी परम्परा में गोरखनाथ भी 'गुरु' हुए और संतों में गुरु-गोविन्द अभिन्न हो गये। यों महत्व में गुरु गोविन्द से भी बढ़ गये।

एवं—बीज है। इसे हेवज्रतंत्र में प्रज्ञोपाय, युगनद्ध, अद्वय का अक्षर-प्रतीक माना गया हैं। 'ए'—माता, प्रज्ञा, कमल, भगवती
'व'—पिता, उपाय, कुलिश, भगवान

इनका योग साधना के लिए तांत्रिक महत्व था। यह 'एवं' योगाचार सम्प्रदाय के 'सद् गहन' अर्थात बीजाक्षर 'अर्हन' के स्थान पर सिद्धों ने ग्रहण किया था। अर्हन में अ—धर्म
र—बुद्ध तथा
हन—संघ

माना गया था। अद्वय स्थिति की मान्यता से 'एवं' को उस अद्वय के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया।

पहले ये अक्षर 'युगनद्ध' के भाव को स्मृत रखने की दृष्टि से योगाभ्यास में काम में लाये गये, फिर ये मंत्र का महत्व पा गये। यहीं इन्हें मंत्र और नाम का समन्वित महत्व प्राप्त हुआ।

१—देखिये डा० बर्तवाल तथा परशुराम चतुर्वेदी

यह 'एवं' का ध्यान-योग, नाथ-संप्रदाय में अजपा-जाप हुआ।संत-संप्रदाय में योगाभ्यास के लिए द्वयक्षर हुए सोहं—स-हं। ये मूलतः बीजाक्षर हैं। 'एवं' के स्थान पर विधि में तो 'सोहं' आया पर साध्य की दृष्टि से वही 'राम' नाम से अभिहित हुआ। संतों में अजपा-जाप भी माना गया।

बोलकक्कोल—ये शब्द वस्तुतः उपाय तथा प्रज्ञा या कुलिश और कमल के लिए प्रयोग में आये हैं।

वज्र—मूलतः इन्द्र का आयुध था। बौद्धों में इसका अर्थ हुआ शून्य, स्मृद्धि और अश्मतनु। वज्रयान ने इस वज्र को प्रधानता दी। सिद्धों में वज्र का यह रूप विद्यमान रहा। किन्तु संतों में वज्र ने इस महत्व को खो दिया, फिर भी 'वज्र किवाड़' के रूप में 'दशमद्वार' के साथ यह अवशेष में रहा।

ख-सम—यह शब्द 'ख+सम' के लिए थे। ख—शून्य। यह 'शून्य-समता' बौद्ध-धर्म के शून्य से सत्तात्मक शून्य में सिद्धों ने परिणत की, और पुरुषत्व समन्वित परमतत्व में 'खसम' करके संतों ने इसे ग्रहण किया।

सुरति-निरति—वज्रयान में 'सुरत' 'सुरअ' का अर्थ है कमल-कुलिश की कोमल क्रीड़ा। वज्रयान के इस मैथुनपरक अर्थ से इसे हटाकर नाथ-संप्रदाय ने सुरति को शब्द की वह अवस्था माना जो चित्त में स्थित रहती है। इसके विपरीत निरति चित्त और शब्द की इस लीनावस्था से ऊपर की स्थिति है। संतों में सुरति के साथ शोध-सुत्ति-सुर्ति-सुरति वाला अर्थ भी जुड़ गया। मछीन्द्र ने सुरति को साधक बताया था, 'साधक' या शोधक—खोज करने वाला अर्थ सुरति में था जिससे कबीर ने कहा था, 'जिन खोजा तिन पाइयाँ'। कबीर ने जहाँ, 'कथता, वकता और सुरता सोई' कहा है, वहाँ भी 'सुरता' है। सुरता का अर्थ है १ शोधक-साधक। २ स्मरण करने वाला। 'नामस्मरण' और 'योग-साधन' साथ-साथ चलते हैं, इसलिए सुरति में स्मरण और शोध दोनों अर्थ समा गये। साधक या शोधक की अंतर्मुख स्थिति में नानक-संप्रदाय के एक विद्वान ने इसकी यह व्याख्या की—

"विदित रहे कि जिस चैतन्य वस्तु को 'आत्मा' इस प्रकार वेदान्त शास्त्र कहता है, शब्द योग के आचार्य श्री गुरु महाराज जी ने उसका नाम 'सुरति' रखा हुआ है। क्योंकि स्थूल, सूक्ष्म आदि समूह संहात में होने वाले क्रिया प्रतिक्रिया रूप समग्र व्यापार सूझ (अनुभवाऽकारा मति) इसी चैतन्य वस्तु से ही हुआ करते हैं। तांते सूझ (सोझी) साक्षात्कारिता की कारण होने से इसे 'सुरति' इस नाम से संकेतित किया गया है। सुरति-संबित-सँवेदन-चितकला-जीव कला आदि सभी शब्द इस एक ही अर्थ के बोधक हैं। (श्री प्राण संगली संत संपूर्णसिंह कृत टिप्पणी—पृ० १४४)

उलटी साधना—उलटी साधना का अभिप्राय उस साधना से है जहाँ बाह्य को अन्तर में लीन किया जाता है, अथवा अध को ऊर्ध्व में, दूसरे शब्दों में इस सृष्टि तत्व को उलटकर उसके मूल उद्भावक निर्विकार तत्व में विलीन करना। इन शब्दों के व्यूह में से निकल आने पर यह विदित होता है कि संत सम्प्रदाय जिस परम्परा में से आया है उसका मूल तांत्रिक है। ये तंत्र शुद्ध 'लोकतत्व' के रूप थे। इस सम्बन्ध में डा० धर्मवीर भारती ने स्पष्ट लिखा है:

"इस प्रकार तन्त्र वास्तव में उन अगणित लोकाचारों, लोक में पूजित देवियों तथा लोक प्रचलित रहस्य अनुष्ठानों का परिणत रूप हैं जो आदि निवासियों ने सृष्टि से संग्राम करते समय अपना लिये थे।" वस्तुतः यह तन्त्र उन तत्वों से निर्मित था जो लोक-प्रचलित, आदिम परम्पराओं पर आधारित अनुष्ठान से सम्बन्धित थे।*

***यही तथ्य 'द शाक्ताज' नामक पुस्तक में पायने ने कई प्रकार से समर्थित किया है। कुछ स्थल ये हैं :—**

"There are Buddhist Tantras as well as Hindu Tantras, Vaishnava Tantras as well as Sakta one. The common element seems to be that they are all expression of a system of magical and sacramental ritual which propose to attain the highest aims of religion by means of spells, diagrams, gestures and other physical methods. (पृ० ५१)

"The Tantras not merely sanction the lowest rites of primitive savagery and superstition, they are guilty of the crime of seeking philosophical justification for such things. पृ० ६०

Hindu ecleticism has no difficulty in assimilating local cults, and regarding the deities worshipped as mainfestation of the chief gods and goddesses of the Pantheon···Many of the cults point back to a totemistic stage of religion. P. 67

Local cults, often cults belonging to pre-Aryan India, and in some cases, perhaps, to pre-Dravidian India ,have been admitted into Hinduism,have reacted upon one another, have been traced to a common source, have received philosophical justification and have been allegorical. पृ० ७१

तन्त्र के तत्व सम्प्रदायवादियों के हाथ में पड़े और उन्हें दार्शनिक ऊहा-पोह में डालकर उन्हें एक अलौकिक स्तर पर रख देने की चेष्टा की गयी। पर शीघ्र ही यह प्रयत्न रुका और पुनः लौकिक तत्व उभरे। मन्त्रयान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान, सहजयान से सिद्ध, सिद्ध से नाथ, नाथ से संत इसी प्रगति के परिणाम हैं। संत-मत में हमें उक्त परम्परा के परिणाम के साथ भक्ति-तत्व का समावेश और उसपर वैदिक और वैष्णव छाया के लोकरूप का का समन्वय विदित होता है। इसमें मुस्लिम लोक-तत्व का भी बहिष्कार नहीं था, क्योंकि लोक-तत्व में वस्तुतः साम्प्रदायिकता नहीं होती। यह समस्त समन्विति लोक-भूमि पर हुई और लोक-मानस के तत्वों से सर्वथैव युक्त रही।

हिन्दी में इस समन्विति का प्रबल उद्गार कबीर ने किया। कबीर में 'लोक-भूमि' अत्यन्त प्रबल है, कबीर को हिन्दी में संतमत का प्रवर्त्तक माना जाता है। हमें संतमत के साहित्य में लोक-तत्वों की प्रधानता मिलती है। अब यह आवश्यक है कि कबीर के सम्बन्ध में जो प्रमुख दृष्टियाँ रहीं हैं, उन्हें समझ लिया जाय—

विद्वद्वर चंद्रबली पांडे जी ने सिद्ध किया है कि कबीर जिन्दीक अर्थात् सूफी थे। वे जन्म से मुसलमान ही नहीं थे, सूफी मत से मुसलमानी विश्वासों को मानने वाले थे, और उन्हें उन्होंने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है:—

कबीर चाल्या जाइ था, आगे मिल्या खुदाइ,
मीरां मुझ सों यौं कह्या, किनि फुरमाई गाइ ?
गाफिल गरब के अधिकाई, स्वारथ अरथि बधैं ये गाई।
जाको दूध धाइ करि पीजै, ता माता का बध क्यूँ कीजै।
लहुरें थकें दुहि पीया खीरो, ताका अहमक भखै सरीरो।

इनमें गोबध करने का निषेध कुरान के उस मत से सम्बन्धित है, जिसमें गोबध को 'विधि' नहीं बताया गया।

एक अचंभा देखिया बिटिया जायौ बाप
बाबल मेरा ब्याह करि, वर उत्यम ले चाहि।
जब लग वर पावें नहीं, तब लग तँही ब्याहि।

"From being a worship followed by aboriginies and outcasts, Tantricism passed by the help of Buddhist prestige to take its place, in the twelfth or thirteenth century, among the higher classes." Page 72.

"No doubt each affected the other but what was really happening over the whole area was absorption and blending primitive beliefs and practices." पृ० ७३.

ये सूफी संस्कार हैं, और बदरुद्दीन अल्शहीद जोलो और 'इब्नुल्फारिज' के अनुकरण पर हैं (देखिये : स्टडीज इन् इसलामिक मिस्टीसीज्म, पृ० ११३)

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ
गले राम की जेवड़ी, जित खेंचें तित जाउँ

यह 'कुत्ते' की उपमा कल्बे मुस्तफा और 'कल्बेअब्बास' का फल है।

कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ
देहिं पईसा ब्याज कौं, लेखाँ करता जाइ

इसमें 'सूद न लेने' की इस्लामी शिक्षा है।

सात्त समंद की मसि करौं लेखनि सब बन राइ
धरती सब कागद करौं, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ।

यह कुरान की आयत का तर्जुमा है। (देखिये सू० लुकमान ३१ पा० उल्लुमा ऊहिय—२१, डा० नजीर का अनुवाद)

हमरे राम रहीम करीमा केसो, अलह राम सति मोई।

यह भाव भी कुरान से है—(दे० सू० बनी इस्माईल १७, पा० सुब्हान-ल्लजी १५)

या करीम बलि हिकमति तेरी खाक एक सूरति बहुतेरी
अर्धगगन में नीर जमाया, बहुत भाँति करि नूरनि पाया।
अवलि आदम पीर भुलाँना, तेरी सिफति करि भए दिवाँना।
कहै कबीर यहु हेत विचारा, या रब या रब यार हमारा।

(देखिये सू० नूर २४, पा० क़द अफ्लहल मोमिनून, पृ० ४६६ तथा सू० फातिर ३५, पा० वमैं यक्नुत २२, वही पृ० १०८)

पाण्डे न करसि वाद विवादं, या देही बिन सबद न स्वादं।
अंड ब्रह्मण्ड खंड भी माटी, माटी नव निधि काया।
माटी खोजत सतगुरु भेटया, तिन कछु अलख लखाया।
जीवत माटी मूया भी माटी, देखौ ग्यान बिचारी।
अंति कालि माटी में बासा, लेटै पाँव पसारी,
माटी का चित्र पवन का थंमा, व्यन्द संजोगि उपाया।
भानै घड़ै सँवारै सोई, यहु गोव्यन्द की माया।।
माटी का मन्दिर ग्यान का दीपक, पवन बाति उजियारा
तिहि उजियारै सब जग सूझै, कबीर ग्यांन बिचारा।।

(देखिये सू० सज्दह ३२, पा० उल्लुमा उहिय २१, वही पृष्ठ ५८७ हसन निजामी की टीका)

हम भी पाहन पूजते, होते रन के रोझ
सतगुरु की किरपा भई, डार्‌या सिर थें बोझ।
जिहि हरी की चोरी करी, गये राम गुण भूलि
ते विधना बागुल रचे, रहे अरध मुखि भूलि।

यह मनुष्य के पशुयोनि में जाने का इस्लाम का 'मस्ख' नामक तनासुख अथवा जन्मान्तरवाद है।

मनुष्य जन्म बार बार नहीं मिलता यह इसलामी सिद्धान्त है और कबीर ने इसे बहुधा व्यक्त किया है—

मानिख जनम अबतारा, नाँ ह्वै है बारम्बारा
+ + +
मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारम्बार,
तरवर थें फल झड़ि पड्या, बहुरि न लागै डार।
कबीर हरि की भगति करि, तजि विषया रस चोज,
बार बार नहि पाइस, मनिषा जन्म की मौज।

कबीर का कर्मवाद भी मुसलमानी सिद्धान्त के अनुकूल है।

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ,
मासा घटै न तिल वधै, जो कोटिक करै उपाइ।
बहुरि हम काहि आवहिंगे।
आवन जाना हुक्म तिसैका, हुक्मै बुज्झि समावहिंगे
जब चूकै पंच धातु की रचना, ऐसे मर्म चुकावहिंगे।
दर्सन छांड़ि भए समदर्सी, एकौ नाम धियाबहिंगे।
जित हम लाए तितही लागे, तैसे करम कमावहिंगे।
हरिजी कृपा करै जौ अपनी, तौ गुरु के सबद कमावहिंगे,
जीवत मरहु मरहु पुनि जीवहु पुनरपि जन्म होई।
कहु कबीर जो नाम समाने, सुन्न रह्या लव सोई।

इस पद में कबीर का इस्लामी स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है। कबीर का पारब्रह्म 'अल्लाह' कर्त्ता रूप है—

लोका जांनि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलक मैं खालिक सब घट रह्यौ समाई।
अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निन्दा,
ता नूर थैं सब जग कीया, कौन भला कौन मन्दा।
ता अला की गति नहीं जानी, गुरि गुड़ दीथा मीठा।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहिब दीठा।

श्रौर यही नहीं सृष्टि का उत्पादन भी उसी कोटिक्रम में है। कबीर के नारद 'इबलीस' हैं। चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा माहि—

'चौदह चंदा' मुसलमानों में पूर्णमासी के लिए श्राता है।

'श्रवतार' के लिए उन्होंने 'नरसिंघ प्रभू कियौ' नहीं लिखा वरन इस दृष्टि से कि श्रल्लाह कर्त्ता है, वह किसी रूप में भी उद्धार कर सकता है श्रतः वे उपाधिवादी हैं।

इस प्रकार मुसलमानी संस्कारों का कबीर में व्याप्त होना दिखायी पड़ता है। वस्तुतः वे स्वतन्त्र विचार के सूफी यानी जिन्दीक हैं इसलिए सूफी परम्परा की बातें वे ग्रहण करते हैं, जिससे कट्टर इसलामियत उनमें नहीं मिल पाती।

उनमें योग मिलता है योग-दर्शन के प्रतिपादन के लिए नहीं, वरन् 'काम' के 'अंकुश' के लिए।

वे श्रपने को नामदेव श्रादि के साथ भक्तों की कोटि में नहीं रखते, गोरख श्रादि के साथ श्रभ्यासी की कोटि में रखते हैं।

यों तो चन्द्रवली पांडे जी का मत यह है—

'कबीर वास्तव में मुसलमान कुल में उत्पन्न हुए श्रौर मुस्लिम संस्कार से बँधे जीव थे जो स्वतन्त्र विचार श्रौर सत्य के श्रनुरोध के कारण इसलाम से 'श्राजाद' हो गये श्रौर धीरे धीरे 'जिन्द' से केवल वैष्णव बन गये। किन्तु वे श्रन्त में यही कहते हैं कि—

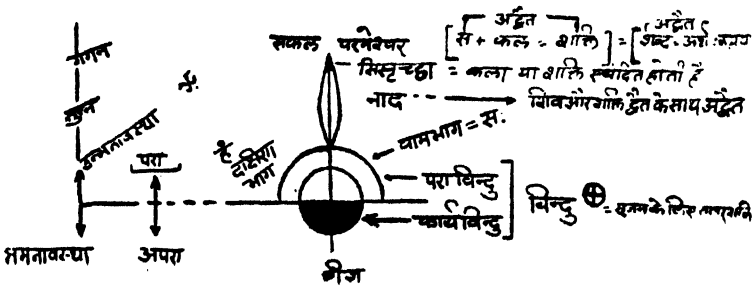
'हमतो प्रस्तुत सामग्री के श्राधार पर कबीर को जिन्द कहना ही ठीक समझते हैं।"

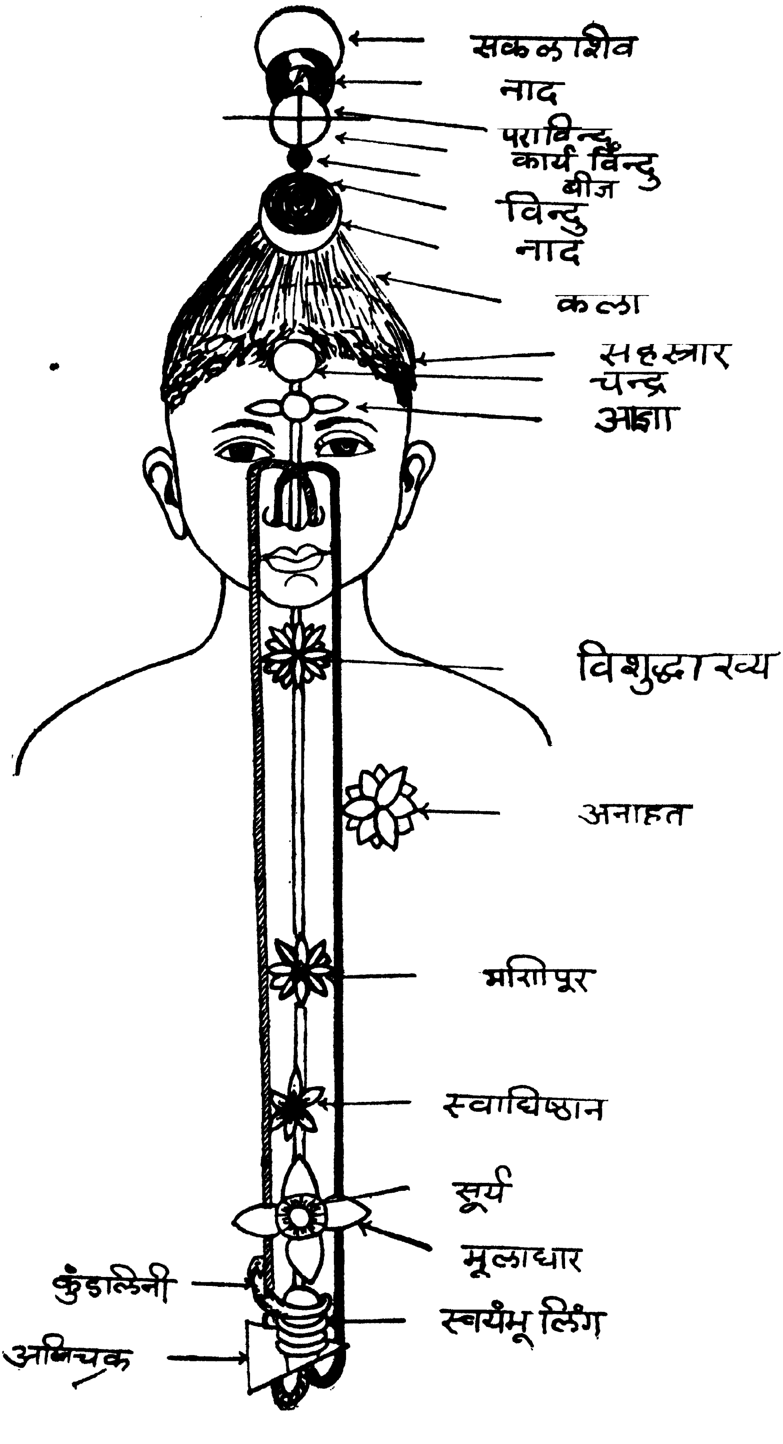
श्रर्थात् उनका 'वैष्णवत्व' भी 'जिन्दीक' रूप में ही है।

इससे यह विदित होता है कि कबीर की श्रभिव्यक्ति मुसलमानी ढाल में ढली हुई है।

उधर कबीर में हमें 'हठयोग' का शास्त्रीय रूप भी दिखायी पड़ जाता है।

कबीर के हठयोग की भूमिका समझने के लिए हमें योग के शास्त्रीय रूप को समझना श्रावश्यक है। इस भूमिका को निम्न चित्रों द्वारा कुछ कुछ हृदयंगम किया जा सकता है।




सकलशिव
नाद
पराविन्दु
कार्य विंदु
बीज
विन्दु
नाद
कला
सहस्रार
चन्द्र
आज्ञा
विशुद्धाख्य
अनाहत
मणिपूर
स्वाधिष्ठान
सूर्य
मूलाधार
कुंडलिनी
स्वयंभू लिंग
अग्निचक

हँसे न बोलै उनमनीं, चंचल मेल्ह्या मारि,
कहै कबीर भीतर भिद्या, सतगुरु के हथियारि।

बिन्दु कबीर की 'चौहाट' है।

चौपडि मांड़ी चौहटै, अरध उरध बाजार।

[इसके (अरध) नीचे भी और (उरध) ऊपर भी बाजार है।]

कहै कबीरा रामजन, खेलै संत विचार
सायर नाहीं सीप बिन, स्वाति बूँद भी नांहि
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ माँहि
मन लागा उनमन्न सौं, गगन पहूँचा जाइ
देखा चंद विहूँणा चाँदिणां, तहाँ अलख निरंजनराइ
मन लागा उनमन्न सों, उनमन मनहि विलग्ग
लूंण विलागा पाँणिया, पाँणी लूंण विलग्ग।
गगन गरजि अमृत चवै, कदली कवल प्रकास
तहाँ कबीरा बंदिगी, कै कोई निजदास
कबीर कवल प्रकासिया ऊग्या निर्मल सूर
निस अँधियारी मिटि गई, जागे अनहद नूर
अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान
अभिमत अंतरि प्रगटे, लागे प्रेम धियान।
अकासे मुखि, औंधा कुवां, पाताले पनहारी
ताकर पाणी को हंसा पीवै, विरला आदि विचारी
सिव सकती दिसि कौण जु जैवै, पछिम दिसा उठें धूरि
जल में सिंघ जु घर करै मछली चढ़ै खजूरि
सुरति ढीकुली, लेज ल्यौ, मन चित ढोलन हार
कँवल कुंवां में प्रेमरस, पीवै बारम्बार
गंग जमुन उर अंतरें, सहज सुंनि ल्यौ घाट
तहाँ कबीरै मठ रच्या, मुनिजन जोवें बाट

इन उल्लेखों से विदित होता है कि कबीर को जितना इसलाम का ज्ञान था, उससे भी अधिक हठयोग का। क्योंकि इसलाम विषयक जितनी बातों का उल्लेख किया है, वे इतनी सामान्य हैं कि उन्हें मुसलमानों के साधारण सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति भी जान सकता है, पर हठयोग विषयक कबीर के उल्लेख असाधारण ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं। हठयोग के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का उसने प्रयोग किया है। उस समस्त साधना के एक विस्तृत स्वरूप को उसने प्रस्तुत किया है।

इसी के साथ हम देखते हैं कि 'नाम' का आश्रय प्रबल है, वह नाम भी 'राम' का है। इस रामनाम के साथ 'वैष्णवत्व' लगा हुआ है। इसी के साथ भक्ति भी है। कबीर का स्वरूप श्री चन्द्रबली पांडे जी ने यों दिया है—

"कबीर की साधना में हठयोग का भी पूरा योग है। कबीर वेदान्त, हठ-योग और प्रेम को एक में मिलाकर साधना के क्षेत्र में उतरते और 'केवल' की प्राप्ति करते हैं। कबीर ने हठयोग पर इतना ध्यान दिया है कि लोग उन्हें गोरखनाथ का चेला बना देना चाहते हैं, एवं 'ब्रह्म' तथा 'केवल' का इतना उल्लेख कर दिया है कि लोग उन्हें शंकर से अलग नहीं देख सकते, रही 'प्रेमभगति' साखी सो वह उन्हें वैष्णव बनाने के लिए तुली हैं। कबीर अपने को वैष्णव तो नहीं पर वैष्णव को अपना साथी अवश्य समझते हैं। आखिर बात है क्या कि कबीर वेदांन्ती, योगी, और वैष्णव दिखायी तो दे जाते हैं, परन्तु अपने को समझते सदैव उनसे भिन्न हैं। (विचार विमर्श पृ० ३२)

इसके साथ यह भी जोड़ना पड़ेगा कि वे 'कुरान और इस्लाम' के अनुयायी जैसे भी मिलते हैं, पर हैं नहीं। श्रद्धेय 'पांडे जी' का निष्कर्ष है कि ऐसा इस-लिए है कि वे सूफी हैं, जिन्द हैं, स्वतन्त्र विचार के मुसलमान हैं। पर प्रश्न है कि क्या यह इतना ही यथार्थ है? कबीर के स्वरूप को सिद्ध करने के लिए कसौटी क्या होनी चाहिये? क्या उन तत्वों का मूल जिनसे कबीर का निर्माण हुआ है, इस कसौटी का स्थान ले सकते हैं? यदि हाँ तो कबीर के निर्माण के तत्व क्या ये हैं कि—

१. उन्होंने गोवध का विरोध किया
२. उन्होंने अपने को 'कोरी' अथया 'जुलाहा' लिखा।
३. उन्होंने लिखा है 'चौथे पन में जन का ज्यंद'
४. उन्होंने अपनी 'हज' गोमती तीर पर पीताम्बर पीर के यहाँ बतायी।
५. उनकी कुछ रचनाओं में कुरान तथा सूफी कवियों की छाया मिलती है
६. वे मनुष्य का पुनः मनुष्य-योनि में जन्म ग्रहण करने के सिद्धान्त को नहीं मानते।
७. उनके कर्म का स्वरूप कुछ और है?
८. 'पूरब जनम' का उल्लेख प्रकृति-विधान अथवा 'लोह महफूज' के लिए है।
९. वेद और कुरान का जहाँ विरोध किया है वहाँ यह भी लिखा है, 'वेद कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जो न बिचारैं

१०. वे 'जोति' से सब को उत्पन्न मानते हैं ।

११. उनका उद्देश्य 'प्रेम' का प्रचार था ।

१२. उन्होंने 'चौदह चंदा' पूर्णिमा को लिखा है ।

१३. उन्होंने हठयोग की साधना का वर्णन किया है । कुण्डलिनी, सुरति, निरति, चक्र, इड़ा-पिंगला, सुषुम्ना, बिंदु, उन्मन, आदि का उल्लेख उन्होंने किया है ।

१४. राम के नाम का जाप और भक्ति का उन्होंने प्रतिपादन किया है ।

१५. उन्होंने राम को अवतार के रूप में भी माना है, और यह भी लिखा है कि 'ना दसरथ घर औतरि आया'

१६. उन्होंने 'मरजीवा' बनने का आदेश दिया है ।

१७. कबीर ने 'गुरु' का महत्व माना है, और उसे 'गोविंद' से भी बढ़कर स्वीकार किया है—

'गुरु गोविंद दोनों खड़े काके लागूँ पाँय
बलिहारी गुरुदेव का गोविंद दियो बताय'

१८. संत के स्वरूप को उन्होंने महत्व दिया है—उसे सारग्राही बताया है—

'सार सार को गहि रहे थोथा देइ उड़ाय'

१९. उन्होंने माया के अस्तित्व को स्वीकार किया है, पर उसे ठगिनी माना है ।

'माया महा ठगिनि हम जानी'

२०. उन्होंने 'मस्जिद और मन्दिर दोनों का विरोध किया है ।

२१. उन्होंने न हिन्दुओं को ठीक मार्ग पर पाया न मुसलमानों को—'हिंदुन का हिंदुआई देखी तुरकन की तुरकाई'

कबीर के इस समस्त स्वरूप को दृष्टि-पथ में लाते ही यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि कबीर को किसी एक सम्प्रदाय या मजहब का, अथवा उससे प्रभावित नहीं मान सकते ।* कबीर बेपढ़े थे । उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त

*इस सम्बन्ध में पं० परशुराम चतुर्वेदी जी ने भी लिखा है—"इस प्रकार भिन्न-भिन्न परंपराओं तथा इनकी रचनाओं के उपलब्ध संग्रहों में यत्र-तत्र पाये जाने वाले विविध पद्यों के आधार पर एक ही व्यक्ति को दो नितांत भिन्न धर्मों व संस्कृतियों का अनुयायी मानकर उसी के अनुसार उसके सिद्धान्तों के निरू-

किया वह लोक-ज्ञान था अतः 'लोक-धर्म' ही कबीर ने प्रस्तुत किया। 'लोक-धर्म' ही वस्तुतः सारग्राही हो सकता है। लोक-धर्म का सार ग्रंथों से नहीं लोकवार्त्ता से ग्रहण किया जाता है। कबीर से पूर्व के विविध संप्रदायों में प्रचलित विविध बातें लोक-धरातल पर पहुँच कर लोक-धर्म का सारग्राही रूप प्रस्तुत कर रही थीं, उसी लोक-धर्म को कबीर ने अपनाया, उसीको उसने हिंदू-मुसलमानों की कसौटी माना। उसीको उसने साहित्य में अपने शब्दों और साखियों द्वारा उतार दिया। लोक-धर्म में विविध संप्रदायों की गहरी बातें भी किसी सीमा तक ग्रहण कर ली गयी थीं पर वे सभी ऐसी बातें थीं जिनमें परस्पर संप्रदाय-भावना का आग्रह नहीं था। उनमें एक समन्वय और सामंजस्य था। वह समन्वय और सामंजस्य लोकवार्त्ता के क्षेत्र में साधारणी-कृत हो गया था। वहीं से स्वसंवेद्य सिद्धान्त के रूप में कबीर तथा सन्तों ने ग्रहण किया।

क्योंकि लोक-प्रवृत्ति सामान्य रूप से बिना किसी प्रकार की भेद-बुद्धि रक्खे जहाँ-तहाँ से जो कुछ मिलता है उसे संग्रह करती रहती हैं और यदि उसमें उसे आस्था और निष्ठा हुई तो उसे सुरक्षित रखकर उसकी एक परम्परा बनाती

पण की भी परिपाटी पृथक-पृथक देखी जा रही है। अतएव बहुत से विद्वानों का इनके विषय में यह भी अनुमान है कि ये एक मत विशेष के अनुयायी न होकर भिन्न-भिन्न मतों से अच्छी-अच्छी बातें लेकर उनके आधार पर एक नया सम्प्रदाय खड़ा करने वाले व्यक्ति थे। इन्होंने हिन्दू धर्म से अद्वैत सिद्धांत, वैष्णव संप्रदाय की भक्तिमयी उपासना, कर्मवाद, जन्मान्तरवाद आदि बातें ग्रहण कीं, बौद्धधर्म से शून्यवाद, अहिंसा, मध्यमार्ग आदि अपनाये तथा इस्लाम धर्म से एकेश्वरवाद, भ्रातृभाव और सूफी सम्प्रदाय से प्रेम-भावना को लेकर सबके सम्मिश्रण से एक नया पंथ चला देने की चेष्टा की। इन्होंने जिन-जिन धर्मों में जो-जो बुराइयाँ देखीं उनकी आलोचना की और उन्हें दूर करने के लिए लोगों को उपदेश दिये और उनका महत्वपूर्ण बातों को एक में समन्वित कर उनके आधार पर एक ऐसे मत की नींव रक्खी जो सर्वसाधारण के लिए ग्राह्य हो सके। इनके उस नये मत में इसी कारण कोई मौलिकता नहीं दीख पड़ती और न ऐसी कोई भी बात लक्षित होती है जो इनकी ओर से हमारे लिए एक 'देन' कही जा सके। क्या सिद्धांत क्या साधना सभी पर प्रचलित मतों व संप्रदायों की गहरी छाप लगी हुई है जो उन्हें अधिक से अधिक एक 'सार-ग्राही' मात्र ही सिद्ध करती है। [उत्तरी भारत की संत-परम्परा-पृष्ठ १८३-१८४]

चली जाती है। महात्माओं और कवियों ने सन्तों की जो परम्परा दी है उससे भी यही विदित होता है कि सन्तों का स्वरूप लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल ढलता है। यह प्रवृत्ति सारग्राहिणी होती है।

इस सारग्राहिता के कारण सन्तों में मत-मतान्तरों का अभेद होजाता है और विविध दार्शनिकवादों में जो तत्व भी सार-जैसे प्रतीत होते हैं उन्हें वह ग्रहण कर लेता है। सन्त मत की दार्शनिकता 'सार और थोथे' की व्याख्या पर ही निर्भर करती है। यों तो सामान्यतः यह कहा सकता है कि विश्व की समस्त दार्शनिकता का ही आधार यही सार और थोथे का अन्तर है। सार और थोथा, जो सत्य और मिथ्या का पर्यायवाची अथवा लौकिक रूप है, समस्त दार्शनिक विश्वास और विचारणा का मूल है। किन्तु सन्तमत की सार और थोथे की कसौटी अन्य दार्शनिकवादों की तरह वाद-भूमि पर निर्भर नहीं करती, उनकी दृष्टि वहिष्कार की नहीं अङ्गीकार की है। विविध दार्शनिकवाद जो सार और थोथे का अन्तर करते हैं उनकी दृष्टि यह देखने की रहती है कि क्या मिथ्या है। और वे प्रत्येक वस्तु को इसी भय से देखते जाते हैं कि कहीं इसमें मिथ्यात्व तो नहीं है। मिथ्यावादिनी दृष्टि के प्रमुख हो जाने से उनके विवेक को एक-एक करके प्रत्येक वस्तु में मिथ्यात्व दीखता चला जाता है और उनकी दृष्टि इस क्रम से अधिकाधिक संकुचित होती चली जाती है जिसका परिणाम कहीं तो शून्यवाद की स्थापना होती है कि सार कुछ है ही नहीं सब कुछ असार और मिथ्या है, और कहीं कोई तत्त्व साररूप में प्रस्तुत होता है तो वह अकेला ही सम्पूर्ण सार बन जाता है और शेष सब निस्सार हो जाता है। यह दृष्टि थोथे को देखती है सार को नहीं। जबकि सन्त प्रवृत्ति लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल सार को देखती है और जहाँ-जहाँ जो-जो सार मिलता जाता है उसे ग्रहण करती जाती है। परिणाम में यह दृष्टि उपरोक्त दार्शनिकों की वाद-दृष्टि के बिल्कुल विपरीत हो जाती है। वाद दृष्टि संकुचित होती है और सन्तवृत्ति अथवा सारग्राही दृष्टि उदार और महत् होती है।

यह प्रवृत्ति सन्तमत को लोक-प्रवृत्ति से ही प्राप्त हुई है। कारण स्पष्ट है कि विश्व के इस मानव-विधान में दो प्रवृत्तियाँ साथ-साथ सदा और सर्वत्र मिलती हैं। ये प्रवृत्तियाँ विशिष्ट और सामान्य कही जा सकती हैं। जैसे भाषा-क्षेत्र में प्राकृत सामान्य भाषा के रूप में सामान्य लोक-तत्त्वों को लेकर प्रवाहित होती रहती है और उसमें से विशिष्ट प्रवृत्ति के परिणाम विशेष परिस्थितियों में उत्कर्ष पाकर अपनी एक विशिष्ट संस्कृति प्रस्तुत करके विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार विविध विशिष्ट भाषाएँ प्राकृत में से उद्भूत होकर प्राकृत से अलग अपना वैशिष्ट्य घोषित करती हुई फिर प्राकृत में ही समा-

जाती हैं। उसी प्रकार लोक अथवा सन्त प्रवृत्ति प्राकृत की भाँति समग्रलोक के सामान्य तत्त्वों से युक्त होकर निरन्तर विद्यमान रहती है। उसीमें से विशेष दार्शनिक मतवाद और धर्म उत्पन्न होकर कुछ काल के लिए अपना आतङ्क दिखाकर रह जाते हैं, किन्तु यह सन्त-प्रवृत्ति निरन्तर प्रवाहित रहती है।

यही कारण है कि वादयुक्त दार्शनिकता और धार्मिकता, वस्तुतः खण्डन पर खड़ी होती है किन्तु सन्तमत मण्डन को ही प्रधानता देता है। यहाँ यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि हिन्दी साहित्य में सन्तमत के प्रवर्त्तक कबीर हैं। और उनमें खण्डन की प्रवृत्ति बहुत प्रबल दिखायी पड़ती है। तब या तो वे सन्त-प्रवृति के प्रतिनिधि नहीं और सामान्य और लोकभूमि से उन्हें पृथक मानना होगा अथवा सन्त-मत की प्रवृति मण्डनात्मक ही होती है इस प्रतिपादन को अमान्य करना होगा।

यह सच है कि हमें यह विदित होता है कि कबीर खण्डन करने के लिए भी खड्गहस्त हैं। किन्तु देखना यह है कि क्या कबीर का खण्डन खण्डन है अथवा और कुछ। कबीर कहते हैं—

मूँड़ मुँड़ाए हरि मिलें सब कोई लेइ मुड़ाय।
बार बार के मूँड़ते भेड़ न बैकुण्ठ जाइ॥
माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।
कर का मनका छाँड़ि के, मन का मनका फेर॥

इसी प्रकार से और भी अनेकों उद्धरण कबीर से दिये जा सकते हैं—अरे इन दोउन राह न पाई। हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।

कबीर के समस्त खण्डन विषयक उद्‌गारों पर एक दृष्टि डालकर पहला विचार तो यह बनता है कि कबीर की सफ़ाई के लिए यह तर्क दिया जाय कि सामयिक पृष्ठभूमि के कारण उनमें यह उग्रता आगयी और वे खण्डन करने पर तुल गये। जो चीज भी उन्हें मिथ्या लगी उसी को उन्होंने रोष और बलपूर्वक पटक मारा और खण्ड खण्ड कर दिया। और उन्होंने सन्त की जो परिभाषा दी थी कि थोथा देइ उड़ाइ—जैसे उसके अनुकूल ही वे अपने सूप-स्वभाव से उस थोथे को उड़ा रहे हैं। इस सफाई से सन्तों की मूल प्रवृत्ति की जो परिभाषा की गयी है उसकी रक्षा नहीं होती। खण्डन तो रहता ही है। दूसरी दृष्टि से यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि कबीर में मिलने वाली यह प्रवृत्ति और अन्य वाद दृष्टियों में मिलने वाली खण्डन प्रवृत्ति क्या एक ही हैं। और इस अन्तिम प्रवृत्ति को कसौटी पर कसने से क्या क़बीर की प्रवृत्ति को खण्डनवादी प्रवृत्ति कह सकते हैं।

ऊपर जो विवेचना की गयी है उसके आधार पर दोनों दृष्टियों का तात्विक

भेद यह प्रतीत होता है कि एक खंडन करने के लिए ही प्रस्तुत होती है, उसे प्रत्येक में मिथ्यात्व दिखायी पड़ता है और इसलिए उसे खण्डित करती चली जाती है और सृष्टि में मिथ्याप्राधान्य दृष्टि की सृष्टि करती है और दूसरी दृष्टि जो उदार और सारग्राही होती है, वह सार ढूंढ़ने के लिए निकलती है। साथ ही यह भी विदित होता है कि इस सारग्राहिता के साथ असारता का दृष्टिकोण लोकहित के अनुकूल होता है, संकुचित दृष्टि के परिणामतः वादहित की दृष्टि से नहीं। दार्शनिक वादी की खण्डन कसौटी वाद-दृष्टियुक्त होती है। जो उसके वाद के अनुकूल नहीं वही असार और मिथ्या है। लोकहित उसकी कसौटी नहीं होता। इसीलिए वह अनुदार और संकुचित होती है; कबीर में खण्डन की प्रवृत्ति का मूल लोकानुकूल प्रतीत होता है। वे जैसे खण्डन नहीं कर रहे केवल सार पर से थोथे को हटा रहे हैं। थोथे में ही सार है, और थोथा सार को आवृत्त किये हुए है। इसीलिए उसे हटा दिया जाय। वह कोई मिथ्या तत्त्व है, कूड़ा-करकट है, अपदार्थ है, अयथार्थ या अवास्तविक है ऐसा मत उनका नहीं होता है। धान्य में धान्य है और उसके ऊपर उसका उत्पादन करने के लिए उत्पादन-क्रम में जो आवरण होता है, सार बनाने के लिए जो उसे अपने में से पोषक तत्त्व देकर स्वयं थोथा हो जाता है उस थोथे को वह हटा रहे हैं। इसीलिए थोथा अन्न के पक जाने पर ही थोथा होता है, उससे पूर्व नहीं। अतः आज परिपक्व सार के मिल जाने पर उससे लिपटा हुआ जो निस्सार है, उसे झटक कर पृथक कर दिया जाय और उड़ा दिया जाय, यह कबीर की दृष्टि है और इसे दार्शनिक शब्दों में यथार्थतः खंडन नहीं किया जा सकता। यह सार को मण्डन करने की ही प्रवृत्ति कही जायगी। इसीलिए कबीर ने मूँड़ मुड़ाने की बात कही है। वे कहते है कि हरि को प्राप्त करने के लिए अब मूँड़ मुड़ाने की आवश्यकता नहीं रह गयी। मूँड़ मुड़ाने और हरि को प्राप्त करने में कोई कार्य और कारण का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। अतः इस उल्लेख में प्रधानता हरि मिलने की है मूँड़ मुड़ाने के खण्डन की उतनी नहीं। उधर हम देखते हें कि कबीर में सारग्राहिता का पक्ष कहीं प्रबल है। विद्वानों ने कबीर पर जो विचार किया हैं उससे यह बात भली प्रकार सिद्ध हो जाती है। स्वर्गीय विद्वद्वर चन्द्रवली पाण्डेयजी ने सिद्ध किया था कि कबीर जिन्दीक थे इसके लिए उन्होंने कबीर की रचनाओं से अनेकों उदाहरण दिये हैं। जिन्दीक में जो उदार इस्लामियत होती है वह कबीर में भरपूर है। यहाँ तक कि कबीर की कितनी ही साखियों और पदों में कुरान की आयतों की झाँकी तक मिल सकती है।

अन्य विद्वानों को कबीर के हठयोग की साधना में पूर्णतः साम्प्रदायिक

रूप प्रतिष्ठित हुआ दिखायी पड़ता है। ऐसे विद्वान कहते हैं कि कबीर ने स्वयं अपने को भक्तों की कोटि में नहीं रक्खा, गोरख आदि के साथ अभ्यासी की कोटि में रक्खा है। उनकी रचनाओं में हठयोग की सूक्ष्म से सूक्ष्म और ऊँची से ऊँची बातों का समावेश हुआ है।

तीसरा पक्ष उन्हें वैष्णव मानता है और उन्हें एक उच्चकोटि के भक्त या भगत की मान्यता देता है। उनकी साखियों में से और पदों में से अनेकों ही नहीं परन्तु सभी ऐसे हैं जिनमें या तो स्पष्टतः रामनाम और भक्ति का आग्रह है, अनेकों में अन्तरधारा के रूप में यही भक्ति व्याप्त है।

एक चौथा पक्ष है जिसे कबीर प्रवर्तित्त सन्तमत और उसके द्वारा ग्राह्य भक्ति और मानवीय करुणा में स्पष्टतः ईसाई धर्म का प्रभाव दिखायी पड़ता है। अन्वेषण करने पर विदित होगा कि कबीर में योगी, सूफी, वैष्णव, इस्लाम, ईसाई धर्म के तत्त्व ही प्रतिष्ठित नहीं हैं, इनसे भी कुछ अधिक उनमें है। यह स्थिति निर्विवाद रूप से यह सिद्ध करती है कि कबीर सारग्राही हैं। और उनकी सारग्राहिता सन्तमत की आधार-शिला है। वस्तुतः इन समस्त धर्मों का जो स्वरूप कबीर में प्रतिष्ठित होता हुआ हमें मिलता है वह स्वरूप ऐसा है जो लोक-मानस और लोक-भूमि के अनुकूल है। कबीर ने सन्तमत का प्रवर्तन करते हुए जिस सत्य को ग्रहण किया वह लोकजीवन का सत्य था। लोक-जीवन का सत्य एक महासागर की भाँति है जिसमें अनेकों नदी नाले गिरते हैं और एक में एकमेक होकर एक महान सत्ता की सृष्टि करते हैं। 'जिनकी रही भावना जैसी' के अनुसार इस महासागर में से गंगावादी गंगाजल निकाल करके प्रसन्न हो सकता है, सिन्धुवादी सिन्धु जल निकाल करके प्रसन्न हो सकता है; किन्तु उस 'एकमेव द्वितीयो नास्ति' युक्त महासागर में न गंगा का पृथक अस्तित्व है, न सिन्धु का। इसी प्रकार लोक-जीवन के सत्य से जो लोक-धर्म खड़ा होता है, वह इसी प्रकार के विविध मतवादों को आत्मसात् करके एक महान सत्ता के रूप में सम-विषय लहरियों से युक्त होकर प्रस्तुत होता है। यही लोक-धर्म कबीर का धर्म था और इसी पर सन्त-मत खड़ा हुआ है।

किन्तु इस सार-ग्रहण में कुछ विलक्षण सार और ग्राह्य हुए जो कि पहली दृष्टि में लोक-तत्व विदित नहीं होते। उदाहरणार्थ यह परिकल्पना होती है कि सन्तमत वैराग्य का प्रतिपादक है।

सामान्यतः यह माना जायगा कि लोक प्रवृत्तिवादी है निवृतिवादी नहीं। सन्त-मत द्वारा ग्रहीत निर्गुणोपासना और ज्ञानवाद भी ऐसे ही तत्व विदित होते हैं जो लोक-तत्त्व के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किये जा सकते।

ऐसी समस्त विलक्षणताएँ गम्भीर विचार करने पर दृष्टिदोष ही विदित

होती हैं क्योंकि सन्त-मत के विद्वान यह मानते हैं कि कबीर ने केवल निर्गुण को नहीं माना, उसने केवल सगुण को भी नहीं माना, निर्गुण और सगुण से ऊपर के तत्त्व को उसने सारतत्त्व माना है। इससे स्पष्ट है कि कबीर को न निर्गुणवादी कहा जा सकता है, न सगुणवादी। जिसमें ये दोनों तत्त्व विद्यमान हैं और इनके अतिरिक्त भी जो कुछ और है वह सब कुछ कबीर को मान्य है। कबीर के साथ अन्तरतः समस्त सन्तमत का भी यही प्रतिपाद्य है। सन्तमत को कबीर ने भक्ति से समन्वित किया। इसे भी निर्विवाद माना जाता है। अतः सन्तमत ज्ञानवादी भी कैसे कहा जा सकता है। समग्र दृष्टि से देखने पर ज्ञान और भक्ति दोनों से समन्वित और इनसे भी कुछ अतिरिक्तता रखने वाला ही सन्तमत कहा जायेगा।

ऊपर के विवेचन से जब निर्गुण और ज्ञान सन्तमत की विशेषताएँ नही कही जा सकतीं तो सन्तमत वैराग्य का प्रतिपादक कैसे कहा जा सकता है।* कबीर गृहस्थ थे और सन्तमत में न गृह-कर्म का विरोध है, न व्यवसाय का, न किसी और प्रकार से अपनी आजीविका के निर्वाह का विरोध है। वस्तुतः देखा जाय तो इन समस्त प्रवृत्त पक्षों की सन्तमत में महत्ता है। चरखा चलाते हुए, जूता सीते हुए, कसाई का काम करते हुए, नाई का काम करते हुए, वेश्यात्व करते हुए, कोई भी पेशा क्यों न हो, उसे करते हुए भी मनुष्य सन्त हो सकता है, सन्त ही नहीं पहुँचा हुआ सन्त हो सकता है। यह बात अनेकों सन्तों की जीवनियों पर दृष्टि डालने से अनायास ही सिद्ध होती है। अतः लोकभूमि से सन्तमत को दूर नहीं कहा जा सकता, फिर मी यह तो मानना ही होगा कि सामान्य लोक से इन सन्तों में लोक के लिए ही एक विशेष प्रकार की साधना रही है। इस साधना का मूल था लोक के स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए लोक-द्वारा ग्रहीत अध्यात्म को पुष्ट करने के लिए लोक के 'मनःसंस्कार' को सम्पन्न करना। समस्त सन्त साहित्य ने निर्विशिष्ट भाव से इसी विशिष्ट महान धर्म को सिद्ध करने की निरन्तर साधना की है। हिन्दी के सन्त-साहित्य में इस साधना का बहुत ही उज्ज्वलतम रूप हमें दिखायी पड़ता है, इसी के कारण विविध मत-मतान्तरों की आँधियों के बीच मानव की अखण्ड मूर्ति हमें देदीप्यमान दिखायी पड़ती है।

*** दादू जी ने स्पष्ट कहा है :**

"बैरागी बन में बसे, घरबारी घर माँहि। राम निराला रहिगया दादू इनमें नाँहि।
(पृ० २३८)

दादू जिनि प्राणी कर जाणिया, घर बन एक समान।
घर माँहैं बन ज्यों रहै, सो है साध सुजान। (पृ० ३३८)"

संतमत की लोकभूमि का स्वरूप

संतमत की सारग्राहिणी प्रवृत्ति ने लोक-मानस के अनुकूल तत्वों को ग्रहण किया और संत-मत स्थापित किया। जिस प्रकार 'नाथ-सम्प्रदाय' में नाथ का अर्थ करते हुए बताया जाता है कि ना=अनादि रूप और थ=(भुवनत्रय का) स्थापित होना अर्थात 'वह अनादि धर्म जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है, ('नाथ सम्प्रदाय' ले० डा० ह० प्रसाद द्विवेदी पृ० ३;) उसी प्रकार संतमत को भी आदि धर्म कहा गया है। कभी कभी 'आदि जुगादि' कहा गया है। संत मतानुयायी सम्भवतः कुछ-कुछ ऐसा समझते थे कि वे जिस मत का प्रतिपादन कर रहे हैं वह एक दीर्घ परम्परा ही नहीं रखता, अत्यन्त आदिम मनोभावों से संबद्ध है।

यों तो जैसा ऊपर कबीर के सम्बन्ध में कहा जा चुका है, हठयोग का अत्यन्त विस्तृत और शास्त्रीय वर्णन इस सम्प्रदाय में मिलता है। प्रत्येक आचार्य ने किसी-न-किसी बहाने इस हठयोग का एक प्रकार से पूरा पूरा विवरण दिया है। ऐसा उन्होंने दो कारणों से किया है : एक तो इसलिए कि वे उस परम्परा से ही अवतीर्ण थे जो हठयोग पर निर्भर करती थी—नाथ-सिद्धों की परम्परा। दूसरे इसलिए भी कि उन्हें लोक-समूह को भी यह दिखाना था कि वे सहजमार्ग या शब्दयोग या भक्ति-योग का उपदेश कर रहे थे, इसलिए नहीं कि वे हठयोग या कष्टयोग को जानते नहीं थे, वरन इस लिए कि एक तो सहजयोग सहज था, गुरु-कृपा से वह अनायास ही सिद्ध हो सकता था, दूसरे इसलिए भी कि हठयोग की सिद्धि से सहज-योग की सिद्धि ऊँची थी।* सहजयोग या शब्दयोग के मार्ग को उन्होंने 'मीन-मार्ग' भी कहा : हठयोगी तो कुंडलिनी को सुषुम्ना के सहारे विविध चक्रों में से होकर ही ऊपर लेजा सकता था, जैसे कोई व्यक्ति खूँटियों के सहारे दिवाल पर चढ़कर छत पर पहुँच रहा हो। और शब्द-योग का मार्ग मीन-मार्ग था। जैसे बरसात होने पर जल की धारा के सहारे मछली ऊपर चढ़ती चली जाती है, बिना किसी खूँटी या अन्य वस्तु का आश्रय लिए, केवल जल की धारा के आश्रय से ही,

---

* भजन में है जुगल मारग, विहँग और पपीलनं
पपील मद्धे सिद्ध कहिये बिहँग सन्त कहावनं
अनेक जन्म जब सिद्ध होवे अन्त सन्त कहावनं
सिद्ध से जब सन्त होवै आवागमन मिटावनं। आदि।
पलटू साहब—बानी पृ० ६८

वैसे ही शब्द-योगी शब्द के सहारे चढ़ता चला जाता है, फलतः इस शब्द-योग में नाम का माहात्म्य हुआ। शब्द और नाम अभिन्न हो गये हैं। नाम का यह जाप भले ही अजपाजाप हो, संतमत का मूलाधार होगया है।

कबीर कहते हैं :—

कबीर कहें मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेश,
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस।
तत तिलक तिहुँ लोक मैं, राम नाँव निज सार।

(कबीर ग्रन्थावली—ना० प्र० सभा० पृ० ५)

इस नाम-स्मरण से क्या होता है ? कबीर बताते हैं :

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि। (वही पृ० ५)

नानक के ये वचन हैं :

शब्द के धारे सगले खंड। शब्द के धारे कोटि ब्रह्मण्ड॥
शब्द के धारे पाणी पउण। शब्द के धारे त्रिभवण भउण॥

× × × ×

आस अँदेसे ते शब्द निआरा। तीन लोक शब्द पसारा॥
शब्द अदिष्ट मुष्ट नहिं आवै। सप्त दीप शब्द धुनि गावै॥
शब्द अनाहद निरंजन का वेषु। आदि मंत्र शब्द उपदेशु॥
चउदह ब्रह्मण्ड शब्द की धर्मशाला। नानक सोहं शब्द दइ आला॥

(प्राण संगलि—पृ० ११३-११४)

× × × ×

तथा—

सगली स्रिष्टि शब्द के पाछे। नानक शब्द घटे घटि आछे॥

(वही पृ० १८४)

सुणि रे भरथरि गोरखनाथा। नाम बिना डूबे बहुँ साथा॥
साधिक सिद्ध गुरू बहु चेले। गुरु शब्दु बिना दुखीए दुहेले॥

(वही पृष्ट १४५)

× × × ×

जहिं देखउ तहँ शब्दि निवासा। शब्दि विचारि खंडित सभ आसा॥

× × × ×

जो देखउ सो सगल बिनासु। शब्दु अमरु होरु सगले नासु॥

× × × ×

शब्दे शब्दु होआ आकासु। शब्दै शब्दि कला परगासु॥

उलटा शब्दु गगनि धरु छाया । नानक शब्दै शब्दु समाया।।

× × × ×

गुरु कै शब्दि भेटै भगवानु ।

(वही पृष्ठ १८५–१८८)

इसी प्रकार दादू का कथन है कि—

"एकै अष्षर पीव का, सोई सत करि जाणि ।

राम नाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाणि ।

दादू नीका **नांव** है, तीनि लोक ततसार ।

राति दिवस रटिबो करौ, रे मन इहै विचार ।

धरमदास कहते हैं—

खोजहु सँत सुजान सो मारग पीव कौ

समुझि **सब्द** देहु स्रवन, मूल जहँ जीव कौ

+ + × ×

का भरमत भटकत फिरो, करो खोज बनाई

मूल **सब्द** चीन्हे बिना, जिव जम लै जाई ।।

इस प्रकार 'संत-सम्प्रदाय' में 'शब्द' अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भीखा साहब कहते हैं :

"ऐकै **शब्द ब्रह्म** फिरि एकै, फिरि एकै जग छाया ।

+ × + +

नाम नित्य तजि अनितै भावै, तजि अमृत विष खाया ।

सतगुरु कृपा कोऊ कोउ बाचै जो सोधै निज काया ।

(भीखा० वा० पृष्ठ २०)

और भी—नाम अनादि एक को एक । भीखा सब्दसरूप अनेक । [वही पृष्ठ २४]

इसी कारण इस सम्प्रदाय को 'शब्द-योग' भी कहा जाता है, और इसमें 'शब्द' का पूर्ण दर्शन ही प्रस्तुत हो गया है। ऐसा क्यों हुआ है ? शब्द-नाम-मन्त्र इन सबके साथ मूल-लोक-मानस की विद्यमानता है। संत-सम्प्रदाय में 'शब्द या नाम' वही सामर्थ्य और शक्ति रखता है जो मंत्र रखता है। 'मंत्र' की सामर्थ्य धार्मिक तत्व नहीं, वह जादू-टोने या मैजिक का अंग है। जादू-टोने का यह रूप लोकमानस की उस प्रवृत्ति का परिणाम है जो सृष्टि में जड़-चेतन में अभेद मानता है, अपने जैसा ही सबको समझता है, नाम और नामी में अंगांगी सम्बन्ध मानता है, और 'अंगांगी टोने' (कंटीग्युअस मैजिक) से शब्दांग या नामांग के द्वारा नामी को ही वश में कर लेता है, उसी के द्वारा

उसे प्राप्त कर लेता है, और तब 'नाम' को ही शक्तिशाली मानने लगता है। अतः शब्द के इस महत्त्व का सार या 'ततसार' इस लोक-मानस में है।*

शब्द-नाम-मंत्र की परम्परा का एक संक्षिप्त विवरण महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने गंगा पुरातत्वांक में दिया था। उसमें आपने बताया है कि बौद्ध धर्म में मंत्र-प्रवेश किस प्रकार हुआ—

"मंत्र कोई नई चीज नहीं हैं। मंत्र से मतलब उन शब्दों से है जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदों में भी पाते हैं। ओं वौषट, श्रोषट् आदि शब्द ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञों में आवश्यक माना जाता है। मंत्रों का इतिहास ढूँढ़िये तो आप इन्हें मनुष्य की सभ्यता पर पैर रखने के साथ-साथ, तरक्की करते पायेंगे, बाबुल (बेबीलोन) असुर, मिश्र आदि देशों में भी मंत्र का अच्छा जोर था। फलतः मन्त्रयान बौद्धों का कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि बौद्धों में इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक शक्ति क्या थी? पाली के 'ब्रह्म जाल सूत्त' से मालूम होता है कि बुद्ध के समय में ऐसे शान्ति सौभाग्य लानेवाले पूजा प्रकार या काव्य प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्या पर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्ध ने इन सबको मिथ्याजीव (झूठा-व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओं में पड़ने से न रुक सके। बुद्ध के निर्वाण को जितना ही अधिक समय बीतता जाता था उतने ही लोगों की नजर से, उनके मानुष गुण भी ओझल होते जाते थे।...... वहाँ अलौकिक गुणों वाले बुद्ध की सृष्टि का उपक्रम बढ़ता जाता था...... जब लोगों ने बुद्ध की अलौकिक जीवन कथाओं को अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर टूट पड़े।...... उनकी कथा से लोगों को वर्त्तमान में क्या लाभ?...... तब बुद्ध की अलौकिक शक्तियों का वर्त्तमान में भी उपयोग होने के लिए, बुद्ध के वचनों के पारायण मात्र से पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्र से रोग, आदि का नाश समझा जाने लगा? उस समय भूत-प्रेत आज से बहुत अधिक थे!...... 'बुद्ध लोगों को इन भूतों की बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हें वश में करने के लिए भी कुछ सूत्रों की रचना होने लगी। स्थविरवादियों

* इसके विस्तृत विवेचन के लिए देखिये 'भारतीय साहित्य' जनवरी १९५६ वर्ष १ अंक १ 'मंत्र' शीर्षक लेख। पृ० ४३ से ६३ तक। यहाँ उसी निबन्ध में से डा० आर० ऐच० वान गुलिक (Dr. R. H. VAN Gulik) का अभिमत उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है। उन्होंने बताया है कि—

ने (जो कि मानुष बुद्ध के बहुत पक्षपाती थे) ही 'आटानाटीय-सुत्त'[१] से इसका आरम्भ किया।" फिर क्या था, रास्ता खुल गया·········

उक्त क्रम से पहले अठारह प्राचीन बौद्ध सम्प्रदायों ने सूत्रों में ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरू कीं और कुछ खास सूत्र भी इस के लिए बनाये। फिर वैपुल्य वादियों ने, लम्बे लम्बे सूत्रों के पाठ में विलम्ब देख कर, कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी धरणियाँ बनाई······अन्त में दूसरे लोग पैदा हुए जिन्होंने लम्बी धारणियों को रटने में तकलीफ उठाती जनता पर, अपार कृपा करते हुए, ओं मुने मुने महा मुने स्वाहा", 'ओ आ हुँ', "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा' आदि मन्त्रों की सृष्टि की। अब अक्षरों का मूल्य बढ़ चला। फिर लोगों को एक-एक मन्त्राक्षर की खोज में भटकते देख, उन्होंने "मंजुश्रीनामसंगीति" के

"Mantra means magic incantation or formula and as such has been defined as "power in the form of sound". Yana (litl. vehicle) is a means of crossing the sea of rebirths and attaining to salvation: it is the usual term employed to denote a certain trend of Buddhism. Hence Mantrayan is the methcd through which one can reach salvation by muttering certain words and phrases. The roots of this curious system may be traced back to very old, probably even pre-Indo Aryan days. The belief in the power of the magic formulae plainly evinces itself in many cantos of the Atharvaveda such as Abhicharakani, curses and incantations against demons, sorcerers and enemies generally. This belief seems to be particularly rooted in the propensity towards magic existing among the ancient aboriginal tribes of India. Many of these ancient conceptions were adopted by the Indo-Aryan conquerors and made an integral part of their own conceptions. In different parts of India, however, situated outside the centre of Indo Aryan culture, where the aboriginal population was better able to preserve its own character, the native usages of magic and witchcraft maintaind themselves in a form more closely resembling the pristine.

१. "दीघ निकाय" का एक सुत्त, जिसमें यक्षों और देवताओं का बुद्ध से संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओं के प्रतिनिधियों ने प्रतिज्ञाएँ की है, जिनके दोहराने से आज भी उनके वंशज देवताओं को अपने पूर्वजों की प्रतिज्ञा याद आ जाती है और वे सताने से बाज आ जाते हैं।

कहे अनुसार सभी स्वर और व्यंजन वर्णों को मन्त्र करार दिया। और अब 'ओं' और 'स्वाहा' लगा कर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था, बशर्ते कि उसके कुछ अनुयायी हों।·········संक्षेप में, भारत में बौद्ध मन्त्र-शाखा के विकास का यही ढंग रहा है। इस मन्त्रकाल को यदि हम निम्नक्रम से मान लें, तो वास्तविकता से बहुत दूर न रहेंगे—सूत्र रूप में मंत्र—ई. पू. ४००–१००, धारणी मंत्र–ई. पू. १००–४०० ईस्वी, मंत्र मंत्र—ई. ४००–१२०० ई०।

इस प्रकार मंत्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्म को मंत्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न मार्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) मन्त्रयान (नाम) ई. ४००–७०० (२) वज्रयान (नाम) ई. ८००–१२००। (गंगा-पुरातत्त्वांक)

बौद्ध धर्म में विकसित वज्रयान, सहजयान और सिद्ध सम्प्रदाय में परिणत होकर नाथों तक पहुँचा, और नाथों से संतों में आया, इस क्रम को ऊपर के पृष्ठों में देख चुके हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यह शब्द-नाम परम्परा लोक-भूमि के अनुकूल होकर संतों तक आयी। इस शब्द-नाम का संत-गुरु या 'सतगुरु' से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। बिना सतगुरु के नाम का कोई महत्व नहीं—

कबीर सतगुरु नां मिल्या, रही अधूरी सीष
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि मांगै भीष।
(क० ग्रं० पृष्ठ ३)

साधक, साधन और सिद्धि की नाम द्वारा अद्वैतता कबीर ने यों बतायी है:

मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं ह्वै रहा, सीस नवावौं काहि। (वही पृष्ठ ५)

पर ऐसा हो सकता है 'सतगुरु' के द्वारा ही। भीखा साहब की वाणी है कि—जो सत शब्द लखावै सोइ आपन हित हेरा।

+ + . + ×

भीखा जाहि मिलै गुरु गोविन्द, वै साहब हम चेरा।
(भीखा साहब की वाणी पृष्ट २१)

'सतगुरु' का यह व्यक्तिपरक महत्त्व संतों में भी सिद्धों से कुछ कम नहीं। संतों में भी निगुरा को कोई स्थान नहीं। यह महत्त्व उसी लोक-मानस का अवशेष है जो शब्द-नाम-मंत्र का ओझा या स्याने के साथ अद्वय सम्बन्ध मानता है।

"गुरु गम सब्द समुद्रहिं जावे परत भयो जल थीर।
केलि करत जिय लहरि पिया संग·· ······(भी. वा. पृष्ट २४)

इस 'नाम' और 'गुरु' के तत्वों के साथ संतमत में भक्ति को अपनाया गया है। यों तो भक्ति का यह आकर्षण सामयिक तकाजे के रूप में था। फिर भी यह 'भक्ति-तत्व' भी तो मूल लोक-मानस का ही परिणाम था।

संतो में हठयोग, सहजयोग, शब्द-योग के साथ भक्ति का समन्वय कुछ अद्भुत-सा लगता है। सैद्धान्तिक रूप से 'निर्गुण की भक्ति' का कोई अर्थ नहीं होता। तभी कुछ आगे सूरदास ने गाया था—

"निरालम्ब मन चकृत धावै"
"ताते सूर सगुण पद गावें।"

किन्तु संतों का यह निर्गुण क्या निर्गुण था? यह तो निश्चित ही है कि वे परमतत्व को 'न निर्गुण न सगुण' मानते थे। इस द्वैत से परे अद्वैत मानते थे। पर वह अद्वैत भी संतों का 'व्यक्ति रहित' तत्व नहीं था। भीखा साहब कहते हैं :—"निर्गुन में गुन क्योंकर कहियत, व्यापकता समुदाय।
जहँ नाहीं तहँ सब कुछ दिखियत, अँधरन की कठिनाय।
अजपा जाप अकथ को कथनो, अलख लखन किन पाय।
भीखा अविगति की गति न्यारी, मन बुधि चित न समाय।
(भीखा वाणी पृष्ठ ३३)

और भी—कोउ लखि **रूप शब्द** सुनि आई। (भी. वा. पृष्ठ ३७)

वह तत्व 'शब्द-आधार' अथवा 'ज्योति-आधार' पर व्यक्तित्व युक्त हो गया हैं। अतः 'भक्ति' का आधार बन सकता था। पर वह 'भक्ति' उससे भी अधिक 'गुरु' के प्रति भी अपेक्षित है। उस परमतत्व के 'व्यक्तितत्व' के कारण ही संतों में 'बिरह' की भावना मिलती है।

'बिरहिनी फिरै है नाथ अधीरा।
उपजि बिनां कछू समझि न परई,
बांझ न जानें पीरा। टेक
या बड बिथा सोइ भल जानें, रांम बिरह सर मारी।
कै सो जानें जिनि यहु लाई, कै जिन चोट सहारी।
संग की बिछुरी मिलन न पावै, सोच करै अरु काहै।
जतन करै अरु जुगति बिचारै, रटै रांम कूँ चाहै।
दीन भई बूझै सखियन कौं, कोई मोहि राम मिलावै।
दास कबीर मीन ज्यूँ तलपै, मिलैं भलैं सचुपावै।
(कबीर ग्रन्थ० पृष्ठ १८५)

उसी व्यक्तितत्व के कारण संतों में प्रेम-चर्चा सम्भव हो सकी है। प्रेम का यह तत्व जहाँ सूफी प्रभाव की ओर संकेत करता है, वहीं प्रेम के साथ भक्ति

की संलग्नता उसे वैष्णवत्व के निकट ला देती है। पर यह निर्विवाद है कि भक्ति-तत्व मूलतः 'लोक-मानस' की उद्भावना है। इसमें 'गुरु' की प्रधानता का कारण समस्त साम्प्रदायिक साधना का आधार-भूत तत्व शब्द-नाम-मंत्र योग है। फ्रेजर ने भारत के सम्बन्ध में ब्राह्मणों के महत्व को लेकर यह लिखा है :

"इसी प्रकार आधुनिक भारत में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की महत्त्रयी भी जादूगरों के वश में है। ये अपने टोनों से उन सर्वातिशयी शक्ति से सम्पन्न देवताओं को इस प्रकार विवश कर सकते हैं कि वे नीचे पृथिवी पर और ऊपर स्वर्ग में वे ही कार्य करें, जिनकी आज्ञा उनके ये स्वामी जादूगर उन्हें दें। एक यह लोकोक्ति सारे भारत में प्रचलित है कि सारा विश्व देवताओं के वशीभूत है, देवता मन्त्रों के वशीभूत हैं, मन्त्र ब्राह्मणों के वश में हैं, अतः ब्राह्मण हमारे देवता हैं।" (फ्रेजर : गोल्डन बो०—पृ० ५२)

यही स्थान वस्तुतः ओझा का है, और इसी मूल से सतगुरु का सम्बन्ध सत शब्द से है जिसके द्वारा परमतत्व पाया जा सकता है।

गुरु के इस महत्त्व को संतों में प्रचलित संतों की जीवनियों से भली प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। जैसे चमत्कार सिद्धों और नाथों के द्वारा होते माने गये हैं, वैसे ही चमत्कार इन संतों के सम्बन्ध में कहे गये मिलते हैं, और उन पर विश्वास किया जाता है। कुछ चमत्कारों का वर्णन असमीचीन न होगा—

१. सूखा बाग था, संत के पहुँचने से हरा हो गया। (गुरु नानक)
[—"संगलादीप। शिवनाभ राजे के बाहर बसेरा कीया। राजे शिवनाभ का बाग नौलखा सूका पया था हरिया होया।" (उत्थानका श्री प्राणसंगली की—पृष्ठ ६०)]
गोरखनाथ के सम्बन्ध में भी ऐसी ही घटना का लोक-गीत जाहरपीर में तथा अन्य में भी उल्लेख है।

२. एक राजा के लड़के को जिबह कराया, उसका मांस रँधवाया, फिर उसे जिला दिया [गुरु नानक सिंगला दीप के राजा शिवनाभ के घर पहुँचे तो राजा ने कहा 'जो प्रशादि का हुकम होवै। गुरु जी ने कहा—"जो मनुख का मांस होवै, …उह आदमी होवै…राजा के घर इको (अकेला) पुत्र होवै…अते बारह वर्षा का होवै…व्याह होय को दिन बारां होए…होउ।" राजा का बेटा ऐसा ही था। लड़के और लड़के की बहू से पूछा दोनों गुरु के

काम आने के कारण प्रसन्न। उसे लेकर गुरु के सामने पहुँचे। गुरु ने कहा—"माता इसकी बाहाँ पकड़े। ईस्त्री इसके पैर पकड़े–तूं हाथ छुरी लै जिबह करहि तो कंम है।" ऐसा ही किया गया। मांस रँध कर आया। खाते समय वह बालक जीवित होकर साथ बैठ गया। गुरु अदृश्य हो गये।···[प्राणसंगली पृष्ठ ६४-६५।

इस पर टिप्पणीकर ने लिखा है,—"बहुत से पाठक गुरु साहब के सेवकों की केवल घडंत मात्र यह घटना मानेंगे···इसे असम्भवता की भेंटा करेंगे। परंतु विचार-शीलों को इसमें संशय का अविकाश नहीं है—" आदि।

मोरध्वज की भक्ति की परीक्षा की लोक-कथा या पुराण-कथा से इसका साम्य अत्यन्त स्पष्ट हैं।

३. तीन दिन गुरूजी पानी के अन्दर गुप्त रहे।—प्राणसंगली पृष्ठ ५०

४. मोदीखाने का सब सामान लुटा दिया, नवाब ने जाँच करायी तो रु० ७३०) नवाब के जिम्मे गुरुजी का निकला। (नानक—वही पृष्ठ ५२)

५. दूध दिया गया तो रख छोड़ा। पूछने पर बताया कि एक साधु आरहा है उसके लिए रखा है। कबीर। (कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ ३०)

६. वेड़ी से पकड़ कर नदी में फेंका। बेड़ियाँ टूट गयीं। वे बच गये।
—कबीर। गंग गुसाँइन गहिर गँभीर। जंजीर बाँधि करि खरे कबीर।
गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर। मृगछाला पर बैठे कबीर।
(कबीर ग्रन्थावली ग्रन्थ साहब से पृष्ठ ३०-३१)
(प्रह्लाद की प्रसिद्ध कथा से साम्य।)

७. काजी ने धधकते अग्नि कुण्ड में डाला, पर आँच तक न आयी।
(कबीर। वही पृष्ठ ३१)

८. बाँध कर हाथी के आगे डलवाया। हाथी ने प्रणाम किया।
कबीर। "कहा अपराध संत हो कीन्हाँ, बाँधि पोट कुंजर कूँ दीन्हाँ।
कुंजर पोट बहु बन्दन करै, अजहूँ न सूझै काजी अँधरै।
(वही पृष्ठ ३१)

९. मरने पर शरीर लुप्त, उनके स्थान पर पुष्प। (कबीर, वही पृष्ठ ३३)

१०. एक औघड़ सिद्ध ने सिद्धि से उनका पानी मदिरा कर दिया, पर जब

उन्होंने मँगाया तो वह फिर पानी होगया। (भीखा—पृष्ठ २)

११. नंगे साधु ने आकर मथुरा के पेड़े माँगे, उस साधु ने अपनी सिद्धि से पेड़े बाँटे पर उनके लिए नहीं बचे। संत ने पेड़े माँगे, सिद्ध नहीं लासके। अण्डकोश बढ़ गया। संत के चरणों में गिरा तो ठीक होगये। (भीखा-पृष्ठ ३)

१२. एक व्यक्ति दिन में ही खाना खाते थे। संत ने रात को ही दिन कर दिया। (भीखा—पृष्ठ ३)

१३. मौनी बाबा सिंह पर सवार होकर आये, स्वागत के लिए जिस भीत पर बैठे थे उसे ही आज्ञा दी, वह आगे बढ़ गयी। (भीखा—पृष्ठ ३)

१४. काशी में पानी डाला, उससे जगन्नाथपुरी के मंदिर की आग बुझा दी। (कबीर—कबीर साहिब की शब्दावली, पृष्ठ ४)

१५. संत के दरवाजे पर बहुत भोजनार्थी पहुँचे। (१) भगवान बहुत से बोरे गेहूँ डाल गये। जो सबको बाँट देने पर भी बच रहे।

(२) एक हाँडी में कुछ खाना रख दिया। एक कपड़े से ढक कर खाना बाँटा। सबको पेट भर मिला। फिर भी हाँडी ज्यों की त्यों। (कबीर, वही पृष्ठ ४)

[अक्षय मंजूषा या थैली या अन्नपूर्णा की लोक-कथा।]

१६. राजा ने कैद में डाल दिया, पर ताले खुल गये, जंजीरें टूट गयीं।
(१) चरणदास। (चरणदास की वानी, प० भा० पृष्ठ २)
(२) गरीबदास। (गरीबदास की वानी, पृष्ठ २)

१७. संत ने प्रार्थना की तो भगवान की मूर्ति सिंहासन से उतर कर उनकी गोद में आगयी। (रैदास, पृ० २)

१८. संत ने सुपाड़ी गंगा पर चढ़ाने भेजी, उसे गंगा ने हाथ निकाल कर ग्रहण किया। (रैदास, पृष्ठ ४)

१९. एक धड़ से पृथक सिर को अमीरूपी प्रसाद से जीवित कर दिया।-कबीर [सम्मन-सेऊ की कथा—सम्मन को साका किया, सेऊ भेंट चढ़ाय।] —गरीबदास की वानी पृष्ठ १४

२०. सेना नाई के लिए भगवान स्वयं नाई बने और जाकर राजा की हजामत बनायी। (सेना नाई)

'गुरु' के साथ इतनी ही नहीं और भी कितनी हीं चमत्कारक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। ये घटनाएँ केवल कही-सुनी ही नहीं जाती, उनमें विश्वास भी किया जाता है। इस बीसवीं सदी में भी इनके विश्वासी प्रायः यों लिखते पाये जाते हैं।

"पर ऐसी करामातें महात्मा···सरीके भारी गति के पुरुष के लिए महा-

तुच्छ बात है क्योंकि पूरे साधु की अपने भगवंत से एकता हो जाती है अर्थात् दोनों में कोई भेद नहीं रहता।" [दे० चरणदास की बानी [पहिला भाग] वेलबेडियर प्रेस, प्रयाग]

यह पुराण-प्रवृत्ति वह लोक-मानस है जिसकी परम्परा वेद-पूर्व से आज-तक निरन्तर चली आयी है। इन करामातों में जिन अभिप्रायों अथवा कथानक-रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है, वे युग-युगों से लोक-वार्त्ता की संपत्ति हैं। फिर संतमत तो नाथ-सिद्धों की एड़ी से चिपका हुआ आया है। संतों की रचनाओं में इसीलिए स्थान-स्थान पर सिद्धों से वाद और गुष्टि का उल्लेख है, जिसमें सिद्धों को परास्त होना पड़ा है।

संतों ने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए भी लोक-प्रचलित वार्त्ताओं और आख्यानों का प्रायः उपयोग किया है।

पारवती के उर धरा अमर भई छिन मांह।
सुक की चौरासी मिटी निरालंब निज नाम।
भैंस सींग साहब भया पांडे गावैं गीत,
महिमा सुन निज नाम की गहे **द्रौपदी** चीर
सेत बँधा **पाहन** तिरे **गज** पकड़े थे ग्राह
गनिका चढ़ी विमान में निरगुन नाम मलाह
राम नाम **सदनै** पिया बकरे के उपदेश (गरीबदास)

सनक सनंदन जैदेव नांमां, भगति करी मन उनहुँ न जानां
सिव विरंचि नारद मुनि ग्यानी, मन की गति उनहूँ नहिं जानी
धू प्रह्लाद बभीषन सेषा तन भीतरि मन उनहुँ न देषा
ता मन का कोई जान भेव, रंचक लीन भया **सुषदेव**
गोरख भरथरी गोपीचंदा, ता मन सौं मिलि करैं अनंदा।
कवीर ग्रन्थ, पृष्ठ ६००

ब्रह्मा खोजि पर्‌यौ गहि नाल*

---

*इन उदाहरणों में जिन आख्यानों की ओर संकेत हैं, वे प्रायः सभी लोक-वार्त्ता के अंग बन गये हैं, और लोक में अत्यन्त प्रचलित हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्थानीय हैं, और संतों में ही प्रचलित मिलते हैं। 'भैंस सींग' से जिस वार्त्ता की ओर संकेत है, वह यह है कि एक ग्वाला संत के पास पहुँचा और भक्त बनना चाहा। संत ने कहा कि तू अपनी भैंस को बहुत प्यार करता है, उसी का ध्यान किया कर। एक दिन संत ने उसे आवाज दी तो उसने कहा महाराज आया, मैं अपनी भैंस के सींगों में उलझ गया हूँ। वह ध्यान में ही उलझ गया था। बस संत ने उसकी निष्ठा देखकर उस सींग से ही उसे साहब तक मिला दिया। इसी प्रकार सदन कसाई की बात यों है कि वह एक बकरे के कुछ अंश को काटने लगा तो बकरे ने कहा कि पूर्व जन्म में मैंने तुम्हारा सिर काटा था, उसके बदले में तुम मेरा सिर ही काट सकते हो। इस ज्ञान से वह भक्त होगया। आदि।

संत-साहित्य में जिन साहित्य-रूपों को अपनाया गया है, वे उसे और भी अधिक लोक-भूमि पर ले आते हैं। प्रायः प्रत्येक संत ने आरती[१], हिंडोला[२] झूला[३], बारहमासा[४], होली[५], जँतसार[६], चांचर[७], मंगल[८], बधावे[९], गाली[१०] सोहर[११], सेहरा[१२] लिखे हैं। इन गीतों में इन सन्तों ने केवल लोक-प्रचलित राग ही नहीं अपनाये, उनके विषय भी अपनाये हैं। कहीं कहीं तो पूरा लोक-गीत ही लेकर उसे अपने मतानुकूल कुछ शब्द जोड़कर अपना लिया गया है।

इसी के साथ यह भी स्पष्ट है कि समय समय पर जो प्रवृत्ति प्रबल रही है, उसे भी संत-सम्प्रदाय ने अपनाया है, और उससे अपनी मूल मनसा के अनुसार सामंजस्य स्थापित किया है। इसका एक अच्छा उदाहरण चरणदास जी का शुक-सम्प्रदाय है। चरणदास जी ने ब्रज और कृष्ण की वैष्णव लीलाओं को सगुण रूप में ग्रहण करते हुए भी निर्गुण और शब्द-योग को पूरा महत्व दिया है।

लोक का यह निकटत्व इसलिए भी था कि प्रायः अधिकांश संत निरक्षर

---

१. आरती—धरम० बानी पृ० १६, गरीब० बानी पृ० १४३

२. हिंडोला—क० ग्र० पृष्ठ ६४ 'हिंडोलना तहाँ झूलै आतमराम'

३. झूलना – गरीब० बानी पृष्ठ ११४

४. बारहमासा...ध. धरम. पृष्ठ ५७, धरनी. बानी—पृष्ठ ४८, क० ग्र० पृष्ठ २३४, श्रीप्राणसंगली—पृष्ठ ३६७

५. होली—धरमदास जी की बानी—पृष्ठ ६०-६१

६. चक्की पीसने के समय के गीत।

७. नृत्य के साथ का गीत

८. मंगल—ध. धर० बानी पृष्ठ ३८, गरीबदास की बानी पृष्ठ १५६

९. बधाए—ध. धरम० बानी पृष्ठ ५४

१०. गाली—धनी धरमदास जी की शब्दावली—पृष्ठ ६६

सतगुरु आये द्वार सुरति रस बिजना

काहे कै बैठक देउँ, सुरति रस बिजना

चंदन पीढ़ी बैठक सुरति रस बिजना आदि। यह गीत गाली नामके 'लोक-गीत' की तर्ज परही नहीं, इसकी शब्दावली भी ऐसे लोक-गीतों की ही शब्दावली है।

११. 'सोहर' धनी धरमदास जी की शब्दावली पृष्ठ ६२–'साहेब मोर बसत अगमपुर जहाँ गमन हमार हो।

१२. सेहरा...गरीबदास की बानी पृष्ठ १५७। आदि।

थे, जिन्होंने 'मसि-कागद' तक नहीं छुआ था, तथा सभी जातियों के थे। 'जाति-पाँति जानैं नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि कौ होई।'

प्राणसांगली में उल्लेख है कि

ठाकुर भगतां का पिआरा जाति न भावई।।
नामा छीपा रविदासु चमारा उधरे भगति करि
कबीरु जुलाहा, वाल्मीक चंडारा मुक्ते नामु जपि
धन्ना जट्ट तुमारा गऊ चरावणे। आदि।*

गरीबदास की बानी है कि

कौम छतीस एक ही जाती। ब्रह्म बीज सबकी उत्पाती।[1]

यह सिद्धान्त केवल कहने भर के लिए ही नहीं था। इन सन्तों में नाई, कसाई, वेश्या, चमार, जुलाहा, छीपी, आदि सभी थे।[2] इन समस्त गुरुओं और भक्तों का मौलिक साम्य वहीं हो सकता था जहाँ संस्काराभिमान छूटा हुआ हो। इसकी भूमि लोक-भूमि हो सकती थी, वह लोकभूमि जो लोक-मानस से अनुप्रेरित और अनुप्राणित रहती है।

संतों में 'पिंड में ही ब्रह्मण्ड' को देखने और पाने का विश्वास दृढ़ है, उसकी उपलब्धि की यही मुख्य कुंजी है। इसलिए ब्रह्माण्ड को पिंड में पाने के भाव से संतों के लिए 'घट' या शरीर ही महत्वपूर्ण है। सन्तों ने इसलिए घट में ही ब्रह्माण्ड की स्थापना करने का प्रयत्न किया है। यहाँ तक कि घट में ही 'रामायण' की कथा तक सिद्ध कर दी है। बहिर्मुख से अन्तर्मुख करने की यह साधना, अन्तर्मुख होने पर भी 'अध' से 'ऊरध की ओर ले जाती है। यह मूल की ओर प्रत्यावर्तन है, इसी को सामान्यतः 'उलटी साधना'[3] कहा

* श्री प्राणसांगली (तरन तारन प्रकाशन) द्वितीयावृत्ति...पृष्ठ ३८८

१. गरीब० बानी...पृष्ठ १४३

२. पलटू साहिब कहते हैं: "हरि को भजै सो बड़ा है जाति न पूछै कोय
× × ×
बधिक अजामिल रहे रहे फिर सदन कसाई।
गणिका विस्वा रही विमान पर तुरत चढ़ाई
नीच जाति रैदास आपु मैं लिया मिलाई।
(पृष्ठ ६७)

३. दादू समिता राम सौं, बैसे अंतरि माँहि
उलटि समाना आप मैं, सो सुख कतहूँ नाँहि। (पृष्ठ ६८)
× × × ×
मन उलट्या दरिया मिल्या, लागा मलि मलि न्हान (क० ग्रं० पृष्ठ १७)
उलटी साधना के लिए संतों को 'मीन' और 'अलल पक्षी' के प्रतीक

गया है। वह मूल जो परमतत्व है, वह घट में ही है।[४] इसी में वह प्राप्त हो सकता है। गुरु के शब्द के माध्यम से शब्द-मूल तक पहुँच होती है। यह समस्त आस्था उस मूल मानस से प्रतिफलित है जो सहानुभूतिक टोने पर निर्भर करती है। इसके साथ ही इसमें 'आत्मावेश' भी गुम्फित मिलता है। इस 'आत्मावेश' ने ही 'ऊरध' से 'अध' को आने वाले 'आवेश' को लौटकर 'उलट' कर उसके मूल से संलग्नता का भाव प्राप्त किया है। किसी ओझा या स्याने पर किसी देवता का आवेश 'ऊरध' से 'अध' की ओर होता है। तब 'अध' से उलटकर 'ऊरध' की ओर जाकर ही उस मूल को पाया जा सकता है।

यह विवेचन इसे स्पष्ट कर देता है कि संत-संप्रदाय लोक-मानस के प्रायः सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखता है। हाँ, लोक-मानस के आनुष्ठानिक (Ritusliatic) पहलू की ओर अवश्य आग्रह नहीं है, पर वह नितान्त शून्य भी नहीं हो पाया है। आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं में एक तत्व दूसरे का स्थान ग्रहण करता जाता है। यहाँ तक कि शब्दों में ही किसी प्रक्रिया का उल्लेख उस प्रक्रिया के संपादन करने के समान ही महत्व रखता है। मानसी पूजा भी उसी क्रम से उस पूजा का स्थान पाती है। प्रायः प्रत्येक संत गुरु ने विरह और रति का उल्लेख किया है। इसके लिए उसे 'पुरुष' और 'स्त्री' का रूपक ग्रहण करना पड़ा है। भक्ति और प्रेम के सूत्र को इन गुरुओं ने और भी अनेक रूपों में व्यक्त किया है। उन्हीं तक ये अपने को सीमित रख सकते थे। विरह-मिलन और रति आदि तक न पहुँचते तो भी ये अपनी साधना के समस्त स्वरूप को प्रकट कर सकते थे। पुरुष-स्त्री की यह कल्पना उनके लिए वस्तुतः रूपक-कल्पना नहीं, अतः इसका महत्व आलङ्कारिक नहीं। कुंठा का परिणाम भी नहीं माना जा सकता। यह तो उसी आनुष्ठानिक प्रक्रिया की परिणति प्रतीत होती है,

---

बहुत प्रिय हैं। मीन वर्षा की धारा के साथ 'अध' पृथ्वी से 'ऊरध' 'आकाश' की ओर चढ़ती जाती है। अलल पक्षी आकाश में ही अंडे देता है, वह अंडा नीचे 'अध' की ओर चलता है, पर पृथ्वी पर पहुँचने से पूर्व ही वह फूट जाता है और अलल पक्षी का शावक उसमें से निकलकर फिर आकाश में अपनी माता की ओर ऊपर 'ऊरध' की ओर चल पड़ता है, और उससे जा मिलता है।

४. दादू काया अंतरि पाइया सब देवन का देव।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव॥ पृष्ठ ६४

'सतगुरु मिलि परदा गया, तब हरि पाया घट माँहि। (क.ग्र.पृ. ८१)

क्योंकि संतों के साथ भी सिद्धि का अप्रत्यक्ष चमत्कार विद्यमान है।*

*संतों के इन चमत्कारों का एक विवरण तो उदाहरणरूपेण हम ऊपर दे चुके हैं। संतों की बानियों में भी इनका उल्लेख मिलता है, ऐसा एक विवरण गरीबदासजी की वाणी में निश्चय का अंग में मिलता है, उसे यहां दिया जाता है—

"अपने दिल साधू नहीं वाकूं दरसा साध। भैंस सींग से जानिये गत कुछ अगम अगाध।
उसके मन की फुरत है, अपने मन की नांहि। गनिका चढ़ी बिमान मैं अजामील की बाँहि

+ + + +

निःचय ऊपर नामदेव पाहन दूध पिलाये। भैंस सींग में साहब आये नाम रतन धन पाये
निःचय ही से देवल फेरा पूजो क्यों न पहारा। नामदेव पिछवारे बैठा पंडित के पिछवारा।
निःचय ही से गऊ जियाई निःचय बच्छा चूगै। देस दिसंतर भक्ति गई है फिर को लावै भूगै।
निःचय सेऊ सीस चढ़ाया चोरी संत सिधारे। बनियां कूं जहूं पकड़ लिया है करदै सीस उतारे।
पिता समन और माता नेकी जिनके निःचय भारी।
जहाँ कबीर कमाल फरीदा भोजन की भई त्यारीं।
सेऊ के धड़ सीस चढ़ाया मीनमेख नांहि कोई।

+ + + + +

तपिया के तो अकतक कीना, लोदिया के घर आये। ताड़ी घाल लिये परमेसर निश्चय हाथ बँधाये।
निःचय ऊपर बालद आई और कैसो वनजारा। नौलख बोरी लदा लदीना कासी नगर मंझारा।
निःचय पंडा पाव बुझाया जगन्नाथ के माँही। अटका फूट पड़ा पाँवन पर अजहूं बात न भाई।

× × × ×

कासी तज मगहर कूं चाले, किया कबीर पयाना। चावर फूल बिछे ही छाँड़े, सबदै शब्द समाना।

+ + + +

कनक जनेऊ कंध दिखाया है रैदास रँगीला। धरे सातसै रूप तास कूं ऐसी अद्भुत लीला।
पीपा तो दरिया में कूदे ऐसा निःचय कहिये। मिले विसम्भरनाथ प्रासु कूं झूठी भक्ति न चहिये।
सेना के घर साहब आये करी हजामत सेवा। + +
नरसी की तो हुण्डी झाली, कागज सीस चढ़ाया। ध्योती का तो व्याह भया जब भात भरन कूं आया।

+ + + + +

तिरलोचन के भये बिरतिया ऐसी भक्ति कमाई। + +

फलतः मनसा-तंत्र संतों में एक स्तर पर प्रकट हुए बिना नहीं रह सका । यह विकास या परिणति भी स्पष्टतः लोक-मनसा की प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है । सिद्धों में सिद्धि उनकी वैयक्तिक उपलब्धि के रूप में आती है, नाथों में वह है तो वैयक्तिक ही पर गुरु-शब्द से संलग्न है, फिर नाथ स्वयं शिव हैं, जिससे शब्द या मंत्र से सिद्धि वस्तुतः शिव-सिद्ध ही है; संतों में गुरु-गोविंद में अन्तर नहीं रहा, गुरु-शब्द ही शब्द-ब्रह्म है, उसके द्वारा गोविंद से तादात्म्य प्राप्त होता है । किंतु संत भक्त हैं अतः वे इस तादात्म्य को गुरु-कृपा या हरि-कृपा से संभव मानते हैं । गोविंद से तादात्म्य का भाव रहते हुए भी भक्त के एक पृथक अस्तित्व का भी आभास यहाँ विद्यमान मिलता है । भगवान या गोविंद स्वयं भगवान का ध्यान रखते प्रतीत होते हैं—यथा—

भक्त सेना नाई कुछ संतों की सेवा में लगा था और राजा की हजामत का समय बीतता जारहा था, यह देखकर भगवान स्वयं सेना नाई बनकर राजा की हजामत बना आये, भक्त के किसी भी काम में बाधा न पड़ने दी । प्रायः प्रत्येक भक्त के संबंध में ऐसी कथाएं मिल जाती हैं । पर साथ ही हम पहुँचे—संतों को सिद्धों की भांति स्वयं भी चमत्कार प्रकट करते भी देखते हैं । कबीर ने सेऊ को आवाज दी तो वह आ उपस्थित हुआ, यद्यपि रात में उसका सिर स्वयं उसका पिता काट लाया था । अतः 'सिद्ध+भक्त' दोनों की संधि इस संत-साहित्य में मिल जाती है । ये दोनों भाव यहाँ एक तुलना के रूप में यों दिये जा सकते हैं—

भक्त-भाव

कहै कबीर **कृपा भई,**
गुर ग्यांन कह्या समझाइ ।
(क० ग्रं० पद ३००पृ० २९०)
\+ + + +
भजन को प्रताप ऐसो,
तिरे जल पाषान ।
अधम **भील** अजाति
गनिका चढ़े जात बिवांन ।
\+ + + +
नि:चा ऊपर नाम का
कहा ग्यान कहा ध्यान ।
नि:चा खेमा निपाइया
कांकर बोई जान ।
\+ × + +

सिद्ध-भाव

चंदन कै संगि तवरर बिगर्यो,
सो तरवर चंदन ह्वै निबर्यो ।
पारस के संग तांबा बिगर्यो ।
सो तांबा कंचन ह्वै निबर्यो ।
संतन संग कबीरा बिगर्यो ।
सो **कबीर राम ह्वै** निबरो ।
(क० ग्र० पृ० २८१)
कहै कबीर भव बंधन छूटै,
जोतिहि जोति समाना ।
(क० ग्र० पृ० १११)
साहब साधू एक हैं दुनिया दूजा जान
(गरीब० पृ० ८९)
साहब परगट संत हैं जिनका एकै मन्न ।
(वही पृ० ८८)

मीरा हाथ सितार था
पद गावं लौ लाय।
पत्थर की थी पतिमा
जामें गई समाय।

साँई सरीखे साध हैं,
इन सम तुल नाहिं और।
संत करे सोइ होत है
साहब अपनी ठौर।
(वही पृ० ९३)

\+ \+ \+ \+

भवन तेग थी काठ की जैसे चमकी बीज।
(गरीबदास जी की बानी पृ० ७७-८५)

\+ \+ \+ \+

जन कबीर तेरी सरनि आयौ,
राखि लेहु भगवान।
(वही पद ३०१ पृ०१६०)

\+ \+ \+ \+

भगति बिन भौजल डूबत है रे।
(पद ३१०, पृ० १६३)

जगन्नाथ जगदीस गुरु सरना आया तोहिं।
(गरीब० पृ० ३७)

चरन कमल के ध्यान सूं,
कोटि बिघन टल जायँ।
(वही पृ० ३७)

अधम उधारन भगति है,
अधम उधारन नांव।
(वही पृ० ३३)

संतों में भक्ति और सिद्धि से तानेबाने की धूप-छाँह स्पष्ट है, जिसमें कभी भक्तिभाव प्रबलता से झलकता दीखता है तो कभी सिद्ध-भाव। फिर भी सिद्ध-भाव पिछड़ता सा लगता है, भक्त पर भगवान की दया के रूप में चमत्कार उभरते मिलते हैं। साथ ही वैष्णव प्रतीक-विधान भी प्रबल हो चला है। भगवान की नाममाला में निर्गुण नामों के साथ वैष्णव नामों की ही प्रधानता है। राम-कृष्ण आदि बार बार आते हैं।

निर्गुण-सगुण का यह संधि-स्थल है। गुरु की सगुणता धीरे धीरे ब्रह्म की सगुणता की ओर बढ़ती मिलती है। लोक-मानस की यह अनुकूलता कितनी अभिनंदनीय प्रतीत होती है।

तृतीय अध्याय

प्रेमगाथा

आरम्भिक

हिंदी साहित्य के इतिहास से स्पष्ट है कि कबीर से आरंभ होकर निर्गुण-धारा प्रवहमान हो उठी और वह परिपुष्ट होती गयी। उसी के साथ प्रबंध-कथाओं को लेकर एक काव्यधारा और खड़ी हुई। इन कथाओं में प्रेमकथाओं की प्रधानता रही। ये प्रेम गाथाएँ कहलाती हैं। इनके काव्य का विधान लोक-मेधा ने किया, इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। प्रेमगाथाओं की कहानियाँ सभी लोक-कहानियाँ हैं, भारत की अपनी कहानियाँ हैं।

ये लोक-कहानियाँ प्रायः समस्त भारत में ही नहीं समस्त संसार में व्याप्त मिलती हैं।

लोक-कहानियों की साहित्यिक अभिव्यक्ति

जो कहानियाँ हिन्दी-क्षेत्र में मिलती हैं, वे बङ्गाल, बुंदेलखण्ड तथा दक्षिण भारत में ही नहीं, जर्मनी इटली आदि में भी मिलती हैं। अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने यह माना है कि इन कहानियों का मूल उद्गम भारत में हुआ। यद्यपि इस मत को सभी विद्वानों ने ग्रहण नहीं किया है। बाद में ऐसे भी व्यक्ति हुए जिन्होंने कहानियों का उद्गम अन्य

प्रदेशों में भी सिद्ध करने की चेष्टा की। फिर भी, इस विवाद के उपरांत भी भारत का महत्व कम नहीं हुआ।* भारत में लोककहानियों की 'साहित्यिक' अभिव्यक्ति की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान मिलती है। 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' के प्रथम अध्याय में हम लोकगाथा और लोक-कहानी के उद्गम की कुछ चर्चा कर चुके हैं। वेद-साहित्य की प्राचीनतम पुस्तक है। उसके कितने ही वृत्त कहानी के रूप में हैं। यहाँ कहानियाँ भी हैं[1] और कहानी के बीज भी हैं। भारत में जो विश्वास प्रचलित है कि पुराण वेदों की व्याख्या करते हैं, बिना पुराणों के वेद समझे नहीं जा सकते, यह बिल्कुल निराधार नहीं। लोक-दृष्टि से वैदिक देवों की व्याख्या पुराणों में देखी जा सकती है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि वेदों की बीज-कहानियाँ ही पुराणों की कथाओं में पल्लवित-पुष्पित हुई हैं, जबकि यथार्थ यह है कि वेदों ने उन कथाखंडों या कथा-बीजों को उन्हीं लोक-क्षेत्रों से लिया है जहाँ से पुराणों ने लिया है।[2] पुराणों ने उसे लोक-प्रचलित रूप में विस्तार से दे दिया है, वेदों ने अपनी अपेक्षा के अनुसार उनका संकेत ही किया है। इस प्रक्रिया में वेदों से पुराणों में बहुत कुछ उलट-फेर हुई मिलती है, इसमें सन्देह नहीं। वेदों में जिन देवताओं का

१—देखिये इसी पुस्तक का प्रथम अध्याय पृ० ४७

२—देखिये हिन्दी में प्रकाशित "वैदिक कहानियाँ"

* पुराणों के मूल रूप के सम्बन्ध में पार्जीटर महोदय ने लिखा है—It is highly probable that they (i.e., puranas) consisted at first mainly of ancient stories, geneologies, ballads, etc, which formed the popular side of ancient literature, and were quite probably in Prakrit originally. In fact, it seems to me that they were largely in an old literary Prakrit used by the higher classes, but that, as the spoken languages diverged in time more and more Sanskrit through political vicissitudes, that literary Prakrit became unintelligible; while Sanskrit remained the only polished language of Brahmanic Hinduism. Hence it was natural that this literature should be Sanskritized, if it was to be preserved..." Dynasties of the Kali Age, Introduction, Page xvii, footnote 2 by F. E. Pargiter, Oxford 1913—यह उद्धरण आर० सी० मजूमदार के ग्रंथ 'द क्लासीकल एज' में पृ० २९६ से लिया गया है। इसी सम्बन्ध में 'हिन्दुत्व' में श्री रामदास गौड़ ने यह अभिमत प्रकट किया है:—

विशेष महत्व था वे गौण हो गये, जो गौण थे वे महत्वशाली हो गये। यही नहीं बलदेव, शंकर, लक्ष्मी, पार्वती, कुबेर, दत्तात्रेय जैसे नये देवता भी प्रकट हुए और पुराण-कथा में वेदों पर लोकवार्त्ता के प्रभाव को भी सिद्ध करने लगे। इस नये प्रभाव के कारण वैदिक देवताओं का कहीं-कहीं अपमानजनक चित्रण भी हुआ। यह सब विकासावस्था की ही परिणतियाँ हैं। इन सबके मूल जिनके आधार पर पुराण कथाएँ पल्लवित हुई, प्रायः वेदों[1] में देखे जा सकते हैं। विशेषतः उन लोक-वार्त्ताओं

"वेद में जो बात बहुत संक्षेप से किसी विशेष उद्देश्य से वर्णन की गयी है, पुराण में वही विस्तृत आख्यायिका के रूप में वर्णित हुई है। पौराणिक कवियों के हाथ में साधारण जनों के कौतूहल को उद्दीपन करने के लिए छोटा सा विषय अगर बहुत बड़ी आख्यायिका में परिणत हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस वृहत आख्यायिका में अनेक अवान्तर-कथाओं का आजाना भी असंभव नहीं है। यह भी संभव है कि वेदव्यास द्वारा संग्रहीत-साहित्य के पहले भी परम्परा से बहुत सी जबानी कथाएँ चली आती हों। यह सब उपाख्यान के इशारों की तरह वेद में देख पड़ती हैं। क्योंकि वेद उपाख्यानमूलक ग्रन्थ नहीं हैं। वेद में स्थल-विशेष पर उदाहरण-स्वरूप उपाख्यान भी खुल पड़े हैं। किन्तु पुराण में उन सब उपाख्यानों को एकत्र करने की चेष्टा हुई थी। इसीसे वेद की अपेक्षा पुराण में आख्यायिकाओं का बाहुल्य और विस्तार देख पड़ता है। विशेषतः एक ऐसा बहुकालीन रूपक या उपाख्यान जिसे कभी कोई लिपिबद्ध करे तो उसमें अनेक काल्पनिक कथाओं का आश्रय पा जाना स्वतः सिद्ध है। वेद का एक क्षुद्र प्रसंग पुराण में जब बिपुल काय धारण करने लगता है तो एक स्वतन्त्र रूप पकड़ लेता है। इसोसे हम वेद और पुराण में समान वैलक्षण्य देखते हैं। यही समझकर हम शेषोक्त आख्यायिका को अद्भुत् उपाख्यान या नितान्त आधुनिक वस्तु कहकर परित्याग नहीं करते।"

इस विवेचन में श्री गौड़ ने मूल यथार्थ को प्रकट कर दिया है। वस्तुतः ये उपाख्यान लोक-कथाओं के रूप में वेदों के समय में भी उसी प्रकार प्रचलित थे जिस प्रकार पुराणों के समय में। वहीं से पुराणकार या पुराणकारों ने इनका संग्रह किया। यदि कभी पुराणों का लोक-तात्विक दृष्टि से गंभीर अध्ययन किया जायगा तो यह बात विदित होगी कि विविध पुराणों में एक ही आख्यान जो पृथक-पृथक रूप में मिलता है, वह उसकी पृथक क्षेत्रीय परंपराओं को बताता है। उसमें संशोधन-परिवर्द्धन मूलतः लोक-क्षेत्र में हुआ है।

१—वेदों में मूल इसलिए माना जाता है कि पुराणों से वेद प्राचीन हैं। पुराण-कथाओं के जो बीज वेदों में हैं वे बीज कालक्रम से पुराणों के पूर्वज ही हुए। उन्ही में पुराणों से बहुत पहले से लोकप्रचलित कथा के संकेत हैं।

के मूल जिनका सम्बन्ध सौर-परिवार से है। भले ही यह सम्बन्ध 'शब्द' की अर्थशक्ति के श्लेष के कारण ही क्यों न हुआ हो। वैदिक साहित्य में वेद ही नहीं, आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषद् सभी सम्मिलित होते हैं। इस विकास को समझने के लिए एक उदाहरण देना ठीक रहेगा।

वैदिक बीज वरुण—यदि समस्त वैदिक साहित्य को लिया जाय तो वेद की ऋचाओं के बीज से एक पूर्ण कथा का विकास इस साहित्य में मिल जाता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में 'वरुण' की वह प्रार्थना ली जा सकती है जो शुनःशेप ने की है। ऋग्वेद में इसका कोई वृत्त नहीं मिलता। आगे उपनिषदों तक पहुँचते पहुँचते इसका एक अच्छा कथानक बन गया है। इसमें 'वरुण' ने हरिश्चन्द्र को रोहित नाम के पुत्र होने का वरदान इस शर्त पर दिया कि वह अपने उस पुत्र को वरुण को प्रदान कर देगा। वरुण ने हरिश्चन्द्र से उसे कई बार मांगा। हरिश्चन्द्र ने उसे कई बार टाला, कई बहाने किये। अन्त में रोहित बन में चला गया। वहां अजीगर्त को कुछ गौएं देकर शुनःशेप को उसने अपने स्थान पर बलि चढ़ाने के लिए क्रय कर लिया। कुछ और गायों के लोभ से अजीगर्त स्वयँ ही शुनःशेप को बलि चढ़ाने के लिए भी तत्पर हो गया। विश्वामित्र ने उसे अपना पुत्र बनाया और वरुण से प्रार्थना करा उसे मुक्त कर दिया। यह कथा बड़ी महत्वपूर्ण है। राज्याभिषेक के अवसर पर इस वेदांग का पाठ इसके अर्थ गौरव को और भी बढ़ा देता है।* ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों से शुनःशेप के बलिदान की कहानी तो वैदिक साहित्य में ही प्रस्तुत हो गयी। लोकवार्ता में इसने और भी रूप बदला। यदि अत्यन्त सूक्ष्मदृष्टि से देखा जाय तो यही कहानी 'सत्य-हरिश्चन्द्र' की प्रसिद्ध लोक-गाथा बनी है। प्रायः नाम सभी वैदिक हैं। हरिश्चन्द्र हैं ही, रोहित रोहिताश्व हो गया है, विश्वामित्र भी बदल नहीं सके। वैदिक कहानी में मूल में दो तत्व थे, विश्वामित्र का शुनःशेप के पक्ष में हरिश्चंद्र के यज्ञ का विरोध। इससे लोकवार्त्ता को यह सूत्र मिला कि विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के विरोधी थे। रोहित बन-बन मारा-मारा फिरा, वरुण जब तब आकर अपनी बलि माँगने लगा। इस तत्व में बहुत परिवर्तन हुआ। आगे वैदिक देवताओं का जो विकास हुआ, उसमें वरुण का कोई स्थान नहीं, कहानी में भी वह स्थान कैसे रहता। वरुण हरिश्चन्द्र से बलि माँगता था, उसका स्थान विश्वामित्र को ही मिला। विश्वामित्र बार बार हरिश्चन्द्र से दक्षिणा माँगने आते हैं। 'रोहित' का बन-बन डोलना, हरिश्चन्द्र के सकुटुम्ब काशी

* विलियम एच० राबिन्सन लिखित 'दी गोल्डन लीजेंड आफ इण्डिया' की भूमिका।

जाने के रूप में बदला। दूसरा प्रधान-तत्व है 'रोहित' के स्थान पर शुनःशेप की बलि की तय्यारी, कुछ ही क्षण शेष हैं कि उसकी बलि करदी जायगी, तभी विश्वामित्र-प्रेरित प्रार्थना से वरुण द्वारा उसकी मुक्ति। लोक-गाथा में रोहित ही शुनःशेप बना है, उसे सर्प ने काटा है, वह मर गया है। अजीगर्त और बलि का काण्ड लोक-गाथा के ब्राह्मण और सर्प के रूप में परिणत हो गया है। यहाँ भी देवताओं ने उसे प्राणदान दिया है।

और आगे विकास में मूलतः यही 'वरुण-कथा' 'सत्यनारायण' की कथा में बदली है। दोनों के प्रधानतत्व यहाँ तुलना की दृष्टि से दिये जाते हैं।

१—हरिश्चन्द्र वरुण से पुत्र की याचना करता है, वरुण उसे पुत्र देता है। किन्तु यह वचन ले लेता है कि वह उस पुत्र को वरुण को दे देगा।	१—सेठ पुत्र-कामना से सत्य-नारायण की पूजा का संकल्प करता है।
२—पुत्र होता है, वरुण माँगता है। हरिश्चंद्र उसे कभी कोई बहाना बनाकर कभी कोई बहाना बनाकर टालता है।	२—पुत्री होती है। सेठ सत्यनारायण की पूजाकथा को टालता जाता है। कभी किसी बहाने, कभी किसी बहाने।
३—रोहित वरुण से बचने के लिए घर छोड़कर बन में चला जाता है।	३—पुत्री का विवाह हो जाता है। जामातृ ने रोहित का स्थान ले लिया। सेठ जामातृ के साथ व्यापार के लिए वहाँ से बाहर चला जाता है।
४—रोहित कोई चारा नहीं देखता तो अपने स्थान पर शुनःशेप को बलि देने को प्रस्तुत होता है।	४—कई संकटों के बाद सत्य-नारायण की मानता करते हुए जब ये घर लौटते हैं तो जामातृ के साथ नाव पानी में डूब जाती है।
५—विश्वामित्र आदि की प्रार्थना से प्रसन्न वरुण शुनःशेप के रूप में रोहित को मुक्त कर देता है।	५—माता-पुत्री द्वारा पूजा की सविधि पूर्णता से प्रसन्न सत्यनारायण जामातृ को पुनः प्रकट कर देते हैं।

देवताओं के विकास में 'वरुण' विशेषतः जल के देवता ही रह गये हैं। सेठ की कहानी में अधिकांशतः सत्यनारायण की कृपा की अभिव्यक्ति जल में ही हुई है। लोक-वार्ता में कथा की सृष्टि करनेवाला 'सत्यनारायण'[1] में हमें उसी वरुण के दर्शन कराता मिलता है।

१—'सत्यनारायण' शब्द में भी 'वरुण' का अर्थ बोलता है। 'सत्य' और 'ऋत' वेद में 'अनृत' से विरुद्ध भाव रखते हैं। ऋत वेदों में प्रायः तीन

इससे और आगे इस कथा के 'पुत्र-दान' वाले अंश ने तो एकानेक रूप ग्रहण किये हैं। 'वरुण' का स्थान कहीं किसी देवता ने ले लिया है, कहीं किसी सिद्ध पुरुष ने, तो कहीं किसी दानव ने। जिस सम्प्रदाय ने इस कथा-वस्तु को ग्रहण किया उसने अपने अनुकूल ही 'वरुण' के स्थान पर किसी अपने इष्ट को स्थानापन्न कर दिया। गोरखपंथियों के प्रभाव से प्रभावित कहानियों में यह कार्य सिद्ध ही करते मिलते हैं; बहुधा स्वयं गोरख या उनके कोई पहुँचे शिष्य।[1] किन्तु अज

अर्थों में प्रयुक्त हुआ है:—तीनों अर्थ परस्पर सुसम्बद्ध हैं। एक अर्थ ऋत का 'सत्य' भी है, तभी जो सत्य नहीं हैं उसे 'अनृत' कहा जाता है। वरुण 'ऋत' का स्वामी है, ऋत का रक्षक, ऋत का उद्गम (सा ऋतस्य, २, २८, ५) कहा गया है। 'नारायण' शब्दतः 'नार-अयण' है। यह सिंधुपति' का पर्याय माना जा सकता है। वेद में 'सिंधुपति' शब्द मित्र और वरुण दोनों के लिए आया है। इसी नारायण=सिंधुपति के सूत्र से 'मित्र' और 'वरुण' का जो संयोग हुआ है उसने मित्र=सूर्य तथा वरुण को सत्यनारायण में मिला दिया है। ऋत का सम्बन्ध वरुण से विशेष था, 'सत' का मित्र से। मित्रावरुण मिलकर 'ऋत-सत' (ऋतश्च सत्यञ्च) के पालक हुए। यही मित्र तो 'सवितृ' भी है, जिसके सम्बन्ध में नारमन ब्राउन ने लिखा है—

"यह भी तो पता चलता है कि एक ऐसा भी देवता था जिसका विशेष कर्तव्य यह भी था कि वह यह देखे कि दूसरे देवता अपना धर्म पालन कर रहे हैं या नहीं। यह सवितृ था। यह 'सत्य' अर्थात् 'सत' के नियमों के अनुसार लोगों से व्रतों का पालन कराता है। इसी कारण वह है 'सत्यधर्मन' यहाँ तक कि देवता भी उसकी आज्ञा के विरुद्ध चलने या उसकी अवज्ञा करने का साहस नहीं कर सकते (२, ३८, ७९; ५-८२-२) वह प्राणियों को उनके ध्येय तक पहुँचाता है (१. १२४. १, ५. ८१. २ [=वाजसनेयी संहिता १३. ३]; २. ३८. १; १. १५९. ५) अन्यत्र वह सौर देवता है, वह जलों को बाहर निकालता है (३.३३.७) JOAS खंड ६२ पृ० ९९—The Creation Myth of the Rgveda by W. Norman Brown.

इस उद्धरण से वह प्रक्रिया स्पष्ट हो जाती है जिसके कारण लोक-मानस में वरुण, मित्र और सवितृ का समीकरण हुआ, और उसका एक नाम 'सत्य-नारायण' हुआ, जिसमें 'सत्य धर्मन' का 'सत्य' शब्द ज्यों का त्यों उतर आया है।

१—जाहरपीर में गुरु गोरख ने फल अथवा जौ दिये हैं। नल का जन्म भी ऐसे ही साधु के वरदान से होता है। दशरथ के चारों पुत्र यज्ञ-चरु के हवि से होते हैं। आदि

में प्रचलित एक कहानी में लोक-मानस ने इस 'वरुण' को दानव का रूप भी प्रदान कर दिया है। दाना बाबाजी बन के आता है, पुत्र का वरदान देता है, पर कहता है कि वह पुत्र मुझे देना पड़ेगा। आखिर बाबाजी वरुण तो हो नहीं सकता। तब वह उसे खायेगा, मनुष्य को खाने वाला 'दानव या दाना'! लोक-मानस में कहानी की रूपरेखा ठीक हो गयी, और 'वरुण' को यहाँ 'दाना' बनना ही पड़ा। अब वह तैल के कढ़ाह में पका कर उस बालक को खायेगा। उस बालक से सात परिक्रमाएँ भी करायेगा। 'दाना' तो बना, पर लोक-मानस उसे भी धार्मिक कर्मकाण्डी बना गया। यह दाना वह दाना नहीं जो अन्य कहानियों में मनुष्यों को यों ही बिना किसी अनुष्ठान के मार-मार के खा जाता है। 'तैल का कढ़ाह' यज्ञ का प्रतीक है, सात परिक्रमा उसे और भी धार्मिक रंग दे देती हैं। इस कहानी में कहीं तो वह बालक मारा जाता है, और बाद में उसका बड़ा या छोटा भाई आकर उसे पुनरुज्जीवित करता है, दाने को मारता है, कहीं स्वयं बालक ही दाने को अपने स्थान पर तैल के कढ़ाह में डाल देता है, और यहाँ वरुणत्व के द्योतक 'मणि-मूँगा' हमें मिल जाते हैं। वह दाना कढ़ाह में पड़ते ही मणि-मूँगों में परिणत हो जाता है। बालक हर दशा में शुनःशेप की भाँति ही मुक्त हुआ है। किसी-किसी उदार लोक-मानस ने उस बाबाजी को दाना न बनाकर जादूगर ही बना दिया है, वह बालक वहाँ विद्या सीखता है और अन्त में अपनी विद्या से अपने गुरु बाबाजी से झपटें करके और उसे मार कर अपने माता-पिता के पास आजाता है। वरुण में दानवत्व का आरोप भी अकारण नहीं, उसका बीज ऋग्वेद में आये शब्दों में ही मिलता है। वरुण के लिए वेद में 'असुर' शब्द का प्रयोग हुआ। भाषा-वैज्ञानिक जानते हैं कि यह 'असुर' जेन्दाबस्ता का 'अहुर' है जो 'अहुरमज्द' नाम से जरथुस्त्र मतावलम्बियों के लिए 'वरुण' जैसा ही प्रधान देवता है। 'असुर' शब्दार्थतः शक्तिशाली को कहा जायगा, किन्तु 'सुरों' के विरोध में आगे चलकर 'असुरों' की जो कल्पना हुई उससे यह राक्षस और दानव का अर्थ देने लगे तो आश्चर्य की बात नहीं होगी।* वरुण को ऋग्वेद ने

* 'असुर' शब्द पर विद्वानों में काफी विवाद रहा है। एक मत यह भी है कि असुर लोग असीरियन थे। 'वरुण' असुर थे और इनकी राजधानी 'सुषा' द्वारिका से पश्चिम समुद्र के मार्ग से १६०० मील दूर है। आजकल इसका नाम ईरानियों ने 'शुस्तर' रख छोड़ा है। यह अनार्य देवता हैं। 'वरुण' उसी प्रकार 'असुर' थे, जिस प्रकार बलि, बाणासुर, प्रह्लाद, हिरण्यकशिपु आदि। पुराण में उषा-अनिरुद्ध के वृत्त में बाणासुर का नगर 'शोणितपुर' या 'रुधिरपुर' बताया गया है। यह वरुण की नगरी 'सुषा' से आगे थी। बाण

मायिन भी बताया है : प्रति यक्नाचष्टे अनृतमनेया अ द्विता वरुणो मायीनः सात। यही मायावी वरुण कभी बाबाजी बन जाय, और जादू आदि के विविध चमत्कार दिखाये तो अपने विकास के मार्ग से दूर नहीं पड़ेगा। यह 'वरुण' की कथा का एकरूप है। इन लोककथाओं में वरुण का उल्लेख कहीं भी प्रत्यक्ष रूप में नहीं हुआ। किन्तु ब्रज में एक ऐसी भी कहानी मिलती है, जिसमें इस देवता का नाम भी सुरक्षित है। यह कहानी 'कार्तिक' में 'कार्तिक-स्नान' के अनुष्ठान में स्त्रियाँ कहती-सुनती हैं। यह कहानी 'बरन बिदाक' की कहानी कही जाती है। यह 'बरन' 'वरुण' के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? बिदाक तो 'वृन्दारक' है ही। 'बरन बिदाक' की कहानी में निम्नलिखित मुख्य बातें हैं :—

१—एक राजा की बेटी, फूलों से तुलती, कार्तिक-स्नान करती पर बरन-बिदाक की कहानी न सुनती : इस पर 'बरन-बिदाक' रुष्ट हुआ।

२—दूसरे दिन इस देवता ने जल में इसका पैर छू दिया। अब वह फूलों से पूरी न तुली : इससे देवता का क्रोध विदित हुआ।

३—देवता से प्रार्थना : वह प्रसन्न हुआ : उसने प्रायश्चित बताया।

४—प्रायश्चित यह था :

'राजा की वह बेटी अपने भाई को साथ लेकर, काले कपड़े पहन, सबका उपहास सहते हुए धारा नगरी की यात्रा करे : धीरे-धीरे कपड़े सफेद होने लगेंगे। वहाँ पत्थर के किवाड़ मिलेंगे। उन्हें खोलने पर जल के घड़े और ध्वजा मिलेगी। पानी पीये नहीं। ध्वजा लेकर दोनों लौटें। उपहास सहते आयें। ध्वजा मुझ पर चढ़ाएँ। कपड़े सफेद हो जायँगे, कलंक छूट जायगा।'

५—यही उन्होंने किया और कलंक से मुक्त हुए।

'बरन बिदाक' का भी जल से सम्बंध है। यह भी राजा की बेटी के 'सत' के द्वारा उसके धर्म 'ऋत्' का प्रतिपालक है, क्योंकि उसके रुष्ट होने पर राजा की बेटी जो फूलों से तुलती थी, न तुल सकी। यहाँ भी देवता अपनी उचित

को हराकर लौटते हुए श्रीकृष्ण को सुवा में वरुण से युद्ध करना पड़ा था। बाण की यह राजधानी 'निनेवा' थी। बाइबिल में इसी को 'ब्लडी सिटी' या 'रुधिरपुर' कहा गया है। यदि विविध विद्वानों की इन मान्यताओं को स्वीकार कर लिया जाय तो 'वरुण' संबंधी कई बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। निनेवा के असुर क्रूर बताये गये हैं। इसीसे उनके नगर को रुधिर-पुर कहा गया था। 'वरुण' ने रोहित को प्राप्त करने के लिए इसी जातीय प्रवृत्ति के कारण क्रूरता दिखायी। असुरों में मायावीपन था ही। शुक्र इन्हीं असुरों के पुरोहित थे, वे मृतसंजीवनी विद्या जानते थे। (देखिये 'ब्रजभारती —सं० २००९: पौष-फाल्गुन—'श्रीकृष्ण का असीरिया पर आक्रमण और विजय'—ले० श्री अमृत बसंत पंड्या)

माँग न पाने के कारण रुष्ट हुआ है । इस रोष का मूल वह वैदिक भाव है जो 'वरुण' को व्रत-अभिरक्षक मानता है : 'वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा', वह न्यायकर्ता है । रानी की बेटी फूल से न तुल सकी, उसने सोचा, मैंने क्या पाप किया है ?—जैसे वेद के इस मंत्र का भाव ही यहाँ ज्यों का त्यों लोकवार्ता में विद्यमान हो :

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षूपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् ।
समानमिन्मे कवयश्चिदाहुरयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते । (ऋ० ७, ८६, ३)

यह भी असंदिग्ध है कि वरुण प्रार्थना से संतुष्ट होता है, और अपराध का प्रायश्चित चाहता है । प्रायश्चित कर लेने पर वह प्रसन्न होता है ।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में हमें वे बीज और बिन्दु और किसी सीमा तक उनका विकास मिलता है, जो संसार की लोक-वार्ता और लोक कहानी के एक विशद भाग का मूलाधार हैं । अनेकों लोक-कहानियों का मूल, वेदों के द्वारा सौर-देवताओं में पाया जा सकता है, पाया भी गया है[1] । हम यहाँ इतने विस्तार से इस विषय की चर्चा नहीं कर सकते । कुछ प्रमुख वैदिक-कहानियों की रूप-रेखा 'ब्रज साहित्य का अध्ययन' नामक पुस्तक के प्रथम अध्याय में तथा यहाँ प्रस्तुत करदी गयी है । मैक्समूलर तथा उसकी शाखा के विद्वानों का यह अभिमत है कि इन वैदिक दिव्य देवताओं की कहानियाँ वेदों से भी पुरानी हैं । इन वार्त्ताओं का मूल ढाँचा विविध आर्य-परिवारों के एक दूसरे से पृथक होने से पूर्व ही गढ़ा जा चुका था । यह हमारी शोध का विषय नहीं । इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वेदों में जो संकेतात्मक उल्लेख है, उनसे तत्सम्बन्धी उस काल में ज्ञात किसी भी कहानी के विकसित तथा लोक-प्रचलित रूप का ही पता चलता है । वेदोंमें अनेकों कथाओं का संकेत है । वरुण, इन्द्र, सूर्य, उषा आदि के सम्बन्ध में वैदिक कथाओं का कुछ उल्लेख यहाँ हुआ ही है । 'अश्विन' (जो बाद में अश्विनीकुमार हो गये) की कथा कम आकर्षक और विचित्र नहीं ।* श्री ऐच० एल० हरियाना ने 'ऋग्वैदिक लीजेण्डस थ्रू द ऐजेज' नामक पुस्तक में बताया है कि 'शौनक' के 'वृहद्देवता' में ४० आख्यानों (legends) का उल्लेख हैं । आख्यान-विषयक अध्ययन की दृष्टि से यही प्राचीनतम ग्रन्थ है । वृहद्देवता, कात्यायन की सर्वानुक्रमणी, सद्गुरुशिष्य की

१—देखिये 'दी माइथालोजी आव दी आर्यन नेशन्स' — लेखक रेवरेण्ड सर जी० डब्ल्यू काक्स तथा इस पुस्तक का तथा 'ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन' नामक पुस्तक का प्रथम अध्याय ।

* देखिये घाटे महोदय की पुस्तक 'लैक्चर्स आन ऋग्वेद', अध्याय ३, पृ० ७० तथा व्याख्यान आठवां तथा नवां ।

उस पर टीका तथा सायण का भाष्य, इन सब में वैदिक आख्यानों पर प्रचुर सामग्री उपलब्ध हो जाती है। इन्द्र के पचहत्तर से भी ऊपर पराक्रमों का उल्लेख हुआ है। आश्विनों का चरित्र भी महत्वपूर्ण है, उसमें आधुनिक चिकित्साशास्त्र की उपलब्धियों के समान ही उपलब्धियों का संकेत है। श्री हरियाना आगे लिखते हैं कि इन दिव्यात्माओं (deties) के अतिरिक्त ऋग्वेद में सामान्य प्रकार की २९ आख्यायिकाएँ (legends) मिलती हैं। वे ये हैं—

१ सरमा १-६-५
शुनस्सेप १-२४-१
कक्षिवत् तथा स्वनय, १, १२५
दीर्घतमस १-१४७
५ अगस्त्य तथा लोपामुद्रा १-१७९
गृत्समद २-१२
वशिष्ठ तथा विश्वामित्र ३-५३., ७-३३ आदि
सोमावतरण ३-१३
वामदेव ४-१८
१० त्र्यरुण तथा वृषजान ५-२
अग्नि-जन्म ५-११
श्यावाश्व ५-५२
सप्त वध्रि ५-७८
ब्रबु तथा भरद्वाज ६-४५
१५ ऋजिश्वन तथा अतियाज ६-५२
सरस्वती तथा वध्र्यश्व ६-६१
विष्णु के तीन पग ६-६९
वृहस्पति-जन्म ६-७१
राजा सुदाम—७-१८ आदि
२० नहुष ७-९५
असंग ८१-३३
अपाला ८-९१
कुत्स १०-३८ (१, ३३, ५७, ९७ आदि)
राजा असमाति तथा चार होता १०-५७-६०
२५ नाभानेदिष्ठ १०-६१, ६२
वृषाकपि १०-८६
उर्वसी तथा पुरुरवा १०-९५

देवापि तथा शान्तनु १०-६८
नचिकेतस १०-१३५

इनके साथ में 'दान-स्तुतियों' में पाकस्थासन, कुसंग, कशु, तिरिन्दर, त्रसदस्यु, चित्र, वरु, पृथु श्रवस, ऋक्ष, तथा अश्वमेध, इन्द्रोन तथा अतिथिग्व आदि (८ वाँ मंडल) की प्रशस्तियाँ हैं। इनका भी संबंध उन घटनाओं से हैं जिनसे दान प्राप्त हुआ और जिनके कारण यह प्रशंसा की गयी।[1]

उपनिषद-कहानी—वेदों में जा आख्यान मिलते हैं उनसे तो विद्वानों ने नाटक के मूल की भी कल्पना की है।* इन आख्यानों में से प्रसिद्ध आख्यान हैं पुरूरवा तथा उर्वशी का, यम-यमी का। अगस्त्य और लोमामुद्रा की कहानी भी इसी वर्ग की है। वेद और वैदिक साहित्य की इन कहानियों को इस उपनिषद-काल से पूर्व का कह सकते हैं। उपनिषदों में इन्हें कुछ नया रूप मिलता है। गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद, सत्काम जावाल, प्रवाहण तथा अश्वमति की कहानियाँ उपनिषद-युग में मिलती हैं। वैदिक काल की कहानियाँ किसी-न-किसी रूप में यज्ञ की विधि और अनुष्ठान से अथवा स्तुतियों (जैसे दान-स्तुतियाँ) से सम्बन्धित थीं। विविध देवताओं के कृत्य ही इन कहानियों के विशेष विषय थे। उपनिषद काल की कहानियों में यह अलौकिकता और आनुष्ठानिक स्वरूप नहीं मिलता। देवताओं का स्थान राजा या ऋषिपुत्र ने ग्रहण किया है। इन उपनिषदों में 'दृष्टान्त' कहानियों का भी उपयोग हुआ है। केन उपनिषद में आई दिव्य पुरुष सम्बन्धी रोचक कहानी कौन भूल सकता है। कठोपनिषदऽ भी स्वयं एक कहानी है, जो हिन्दी में अपने दार्शनिक तत्व को गौण करके 'नासिकेतोपाख्यान' के रूप में सदल मिश्र द्वारा संस्कृत से अनुवाद द्वा ा लायी गयी है। उपनिषद युग प्रबल चिन्तना का युग था। फलतः 'कहानी' के उद्‌घाटन की प्रेरणा इस युग में दुर्बल हो गयी थी। किन्तु इस युग के बाद जो युग आता है, उसने तो कहानी को इतना महत्व दिया कि वही सब प्रकार के भावों का माध्यम बन गयी। यथार्थ में 'कहानी' की वास्तविक प्रतिष्ठा इसी युग में हुई।

---

१. देखिये : Rgvedic Legends Through The Ages पृ० १३६-१४०

*'वैदिक आख्यान' लेखक जे०बी० कीथ तथा 'दसंस्कृत ड्रामा' लेखक वही।

ऽ—केन उपनिषद की 'प्रकाश की लाट' (pillar of light) एक महत्वपूर्ण अभिप्राय है जो माइथालाजी में बहुधा मिलता है। भारतीय धर्म-गाथाओं में भी इसका एकाधिक बार उपयोग हुआ है। शिवलिंग भूपर पतित होने पर अनन्त प्रकाशस्तम्भ के रूप में खड़ा होगया था। इसी प्रकार यमलोक या मृत्यु-लोक में जाने की घटना भी लोक-कथा या धर्मगाथा का अत्यन्त प्रचलित विश्व प्रसिद्ध अभिप्राय या मोटिफ है।

यह युग रामायण-महाभारत का युग कहा जा सकता है। रामायण और महाभारत पौराणिक युग के पूर्व-गामी महाकाव्य हैं। रामायण और महाभारत के स्वभाव में बहुत अन्तर है। रामायण में प्रायः एक ही सुसम्बद्ध कथानक है। इतना होते हुए भी संदर्भ की भाँति इसमें भी कई कहानियाँ और पिरोयी मिलती हैं। 'गंगावतरण' तथा 'गौतम या अहल्या' की दो प्रसिद्ध कहानियाँ तो बालकाण्ड में ही मिल जाती हैं। और भी छोटी-बड़ी कहानियाँ इसमें मिलती हैं। 'महाभारत' तो कहानियों का वृहत्कोष ही है। इसमें कहानियों का मूल-कथा-सूत्र से उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं। इसमें एकानेक उद्देश्य और अभिप्राय वाली अनेकानेक कहानियां हैं जो कहीं तो मुख्य कथा-वस्तु की प्रासंगिक वस्तु का काम देती हैं, कहीं दृष्टान्त की भाँति हैं। कहीं पूर्वेतिहास के रूप में हैं, और इनके द्वारा नीति और राजनीति, धर्म और समाज, प्रेम और मर्यादा के न जाने कितने सत्य और तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं। इस महाभारत में इतिहास और लोकवार्ता के तथ्य इतने घुलेमिले हैं कि इसके पात्रों के अस्तित्व के सम्बन्ध में भी संदेह होने लगता है। ऐसे विचारों का यह परिणाम हुआ है कि कुछ विद्वान कृष्ण, युधिष्ठिर आदि को काल्पनिक और अनैतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। 'महाभारत' का हमारे यहाँ अत्यन्त महत्व है। धर्म और समाज का तथा हमारे इतिहास और विश्वास का यह स्रोत है। अनेकों महाकवियों को इसमें से अपने काव्यों के लिए अखण्ड सामग्री और प्रेरणा प्राप्त हुई है। हमें यहाँ इसके ऐतिहासिक मूल्य का विचार नहीं करना है। हम यहाँ यह भी नहीं कहना चाहते कि महाभारत आदि से अन्त तक मात्र कहानी-कथा का ही संग्रह है। किन्तु लोक-वार्त्ता का रूप उसमें प्रकट हुआ है, यह निर्विवाद है। इसमें प्रधान-वस्तु के साथ दृष्टान्त-स्वरूप अनेकों आख्यान और उपाख्यान आये हैं। ये आख्यान और उपाख्यान महाभारत से भी पहले की लोक-प्रचलित कथाएँ ही हैं। वनपर्व में 'नल' की कथा ऐसी ही है। इस कथा का उपयोग युधिष्ठिर को दुःख में धैर्य और आशा जागृत करने के लिए किया गया है। इसी प्रकार शान्तिपर्व में विशेष उपदेशों को हृदयङ्गम कराने के लिए कहानियों और उपाख्यानों को दृष्टान्त-स्वरूप दिया गया है। उपाख्यानों का महाभारत में क्या मूल्य है इसे तो महाभारत की साक्षी से ही समझा जा सकता है। आदि पर्व १।१०२-१०३ में कहा गया है :—

> उपाख्यानैः सह ज्ञेयमाद्यं भारतमुत्तमम्।
> चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारत संहिताम्।
> उपाख्यानैर्विना तावद्भारतं प्रोच्यते बुधैः।।
> ततोऽप्यर्धशतंभूयः संक्षेपं कृतवानृषिः।।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत के एकलाख श्लोकों में से २४००० श्लोकों में प्रधान वस्तु है। शेष ७६ ०० में उपाख्यान हैं। एक चौथाई मूल कथा को तीन चौथाई उपाख्यानों के साथ महाकवि ने पल्लवित कर 'महाभारत' का निर्माण किया है। महाभारत में एक नहीं अनेकों लोक-वार्ता के रोचक तत्व मिलते हैं, जो विविध रूपों में विविध लोक-वार्ताओं और कथाओं में मिल जाते हैं। 'कर्ण' का नदी में बहाये जाना, उसका सूत द्वारा पालन वह सूत्र है जो अनेकों ब्रज की कहानियों में आज भी मिलता है।

इस वृत्त में तीन तत्व हैं : (१) पिटारे में बंद करके नदी में बहाना। (२) सद्यजात शिशु का बहाना। इसी का रूपान्तर हुआ सद्यजात शिशु को माँ से अलग कर अन्यत्र फिकवा देना। (३) किसी अन्य द्वारा उसका पालन-पोषण। इन तीनों के मूल तथा रूपान्तर युक्त वृत्त कई तरह के रूप ग्रहण कर लेते हैं। ये विश्व की अनेकों लोकवार्त्ताओं और लोक-कथाओं में मिलते हैं। संख्या १ का अभिप्राय तो 'मूसा' से भी सम्बन्धित है और ईस्वी २-३ हजार वर्ष पूर्व मिस्र में भी ओसीरिस को जीवित ही पिटारे में बन्द करके नदी में बहा दिया गया था। यह ओसिरिस शिशु नहीं, पूर्ण वय प्राप्त मनुष्य था। पर मूसा तो शिशु ही था, अतः मूसा के साथ सं० २ का तत्व भी विद्यमान है। इन प्रसिद्ध वृत्तों के अतिरिक्त शतशः अन्य लोक-कहानियों में ये अभिप्राय मिल जाते हैं।

'हिरणावती' की कहानी में ही नहीं, एक लोकगीत-कहानी में भी एक राजा की रानी के पुत्र को उसकी सपत्नियाँ घूरे पर फिकवा देती हैं, उसे कुम्हार पालता है। वीर विक्रमादित्य की एक कहानी में भी इसी प्रकार उस लड़की के पुत्र को सपत्नियाँ घूरे पर फिकवा देती हैं जिसने यह भविष्यवाणी की थी कि उसके जो लड़का होगा वह लाल उगलेगा। इन कहानियों में घूरे का उल्लेख है, अन्य कई कहानियों में इसी प्रकार नदी का भी उल्लेख मिलता है। भीम की कहानी तो लोक-वार्त्ता की सार्वभौम सम्पत्ति है। भीम से विकल होकर कौरवों ने उसे विष खिलाकर गंगा में पटक दिया। भीम पाताल में नागों के लोक में जा पहुँचा। सर्पों ने उसे काट लिया। अब तो एक विष ने दूसरे को नष्ट कर दिया, भीम जग पड़ा, उसने सर्पों को खूब मारा। इस पराक्रमी मानवी बालक को देखने की उत्कण्ठा वासुकि में उदय हुई। वासुकि के साथ आर्यक भी था। आर्यक भीम की माता का प्रपितामह था। वह वासुकि का भी अत्यन्त प्रिय था। वासुकि ने आर्यक के इस सम्बन्धी को मनचाही वस्तु भेंट करने की इच्छा प्रकट की। आर्यक ने कहा कि भीम को आप अमृत पी लेने दें। भीम ने आठ कटोरे यह शक्तिप्रद जल पिया। जल में गिरकर सर्प-लोक पहुँचने

की वार्त्ता एक में नहीं, अनेकों कहानियों में मिलती है। 'वासुकि' के प्रसन्न होकर कुछ देने की बात भी साथ ही रहती है। ब्रज की प्रसिद्ध लोक-गीत-कहानी 'ढोला' में इसी प्रकार समुद्र में फेंक देने पर नल वासुकि के पास पहुँचा है। जहाँ उसने वह अँगूठी प्राप्त की है जिससे वह अपने मनोनुकूल चाहे जैसा रूप धारण कर सकता है। इसी प्रकार लोक-वार्त्ता के अनेकों परिपक्व तत्व महाभारत में मिलते हैं, जिनके प्रयोग से महाभारत के महाकवि ने अपने प्रकृत कथानक को अद्भुत और रोचक बनाया है। तभी सर जार्ज ग्रियर्सन ने महाभारत के संबन्ध में यह अभिमत प्रकट किया है: "कि महाभारत भी पहलेपहल लोक महाकाव्य (Folk Epic) के रूपमें एक प्राचीन प्राकृतभाषा में अवतीर्ण हुआ, और बाद में यह संस्कृत में अनूदित हुआ, जिस भाषा में इसमें काफी संशोधन परिवर्द्धन किया गया, तब कहीं इसे अन्तिम रूप प्राप्त हुआ"—(ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका खण्ड xxii पृ० २५३)

महाभारत की भाँति पुराणों में भी कथा-साहित्य का अखण्ड भण्डार भरा पड़ा है। पर जैसा हम पहले अध्याय में कह चुके हैं, इनमें लोकवार्त्ता का अंश रहते हुए भी ये धर्म-गाथाएँ हैं। इनसे भारत की धार्मिक भावनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है।*

कथा-साहित्य की दृष्टि से शुद्ध लोक-कहानियों का वृहत् संग्रह गुणाढ्य की पैशाची में लिखी 'बड्डकहा' है। यह वृहत्कथा आज अप्राप्य है। इसका

वृहत्कथा

संस्कृत अनुवाद 'कथासरित्सागर' के रूप में आज तक मिलता है। यह ग्रन्थ वास्तव में कथाओं का सागर ही है। इसमें अति प्राचीन प्रचलित कहानियों का संग्रह है। महाभाष्य[1] में एक महाकाव्य, तीन आख्यायिकाओं और दो नाटकों का उल्लेख मिलता है। आख्यायिकाएं ही लोक-कथाएं हैं। ये लोक-कथाएं हैं—वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, और चैत्ररथी। 'वासवदत्ता' यथार्थ में उदयन की कथा का मूलाधार प्रतीत होती है। 'कालिदास' ने मेघ को बताया है कि जब वह उज्जयनी में पहुँचेगा तो उसे वहाँ 'उदयनकथा' कहने वाले वृद्ध मिलेंगे।[2] कथा-सरित्सागर का संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना उचित प्रतीत होता है। कथा-सरित्सागर में अठारह खंड हैं, जिनमें १२४ अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय पूर्व पीठिका है। शिवजी ने एकान्त में पार्वतीजी को कहानियाँ सुनायीं। पार्वती जी ने यह निषेध कर दिया था कि कोई भी उस समय

---

* देखिये इसी पुस्तक के इसी अध्याय का पृ० १४०-१४१

१— महर्षि पतंजलि-कृत महाभाष्य।

२.—प्राप्यावन्तीनुदयन कथा कोविद ग्रामवृद्धान्,
पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्री विशालां विशालम्। (मेघदूत २०)

उनके पास न जाय ।[१] किन्तु शिव के एक गण पुष्पदन्त ने छिपकर वे कहानियाँ सुन लीं । अपनी स्त्री जया को उसने वे कहानियाँ सुना दीं । जया ने पार्वती को वे फिर जा सुनायीं, तो रहस्य खुला । पार्वती ने रुष्ट होकर पुष्पदन्त को शाप दिया कि वह पृथ्वी पर मनुष्य योनि में जन्म ले । माल्यवान ने उसके पक्ष में कुछ कहना चाहा तो उसे भी वही शाप मिला । पार्वतीजी ने बताया कि एक यक्ष शाप वश कुछ काल के लिए पिशाच बन गया है, जब पुष्पदन्त की उससे भेंट होगी और उसे अपनी पूर्वस्थिति का स्मरण हो आयेगा, तब यदि वह पुष्पदन्त शिव से सुनी कहानियाँ उस पिशाच को सुना देगा तो अपने दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर लेगा । माल्यवान इन्हीं कहानियों को उस पिशाच से सुनकर मुक्त हो जायगा ।

पुष्पदन्त ने वररुचि का अवतार लिया, माल्यवान हुआ गुणाढ्य । वररुचि अनेकों आश्चर्य-जनक घटनाओं में से होता हुआ उस पिशाच से मिला । उसे कहानियाँ सुनाकर शाप मुक्त हुआ । इसी प्रकार गुणाढ्य पिशाच से मिला, उससे वे कहानियाँ सुनीं, उन्हें पैशाची में लिखा और सातवाहन राजा को भेंट-स्वरूप देने गया । राजा ने उन्हें स्वीकार नहीं किया, तो पशु-पक्षियों को सुना-सुनाकर वह एक-एक पृष्ठ जलाने लगा । तब राजा ने महत्व समझकर उस ग्रंथ के अवशेष को बचाया और संस्कृत में लिखाया । इस प्रकार गुणाढ्य भी मुक्त हुआ । यही कथाएं सरित्सागर की कथाएं हैं । इस अध्याय में कितनी ही रोचक और महत्वपूर्ण बातें मिलती हैं । वररुचि और पाणिनि दोनों वैयाकरण थे । उनके संबंध में किम्बदन्तियों का कुछ उल्लेख इसमें है । पर लोक-वार्ता की दृष्टि से वररुचि की पत्नी 'उपकोशा' की कथा महत्व की है ।

पाणिनि से परास्त होने पर वररुचि को बड़ा क्षोभ हुआ । वह व्याकरण की सिद्धि के लिए हिमालय में महादेव की तपस्या करने चला गया । घर का प्रबन्ध अपनी पत्नी को सौंप गया । उपकोशा गंगा-स्नान को जाया करती थी । उस पर राजपुत्र के गुरु, कोतवाल (नगर-रक्षकों का अधिकारी) तथा राज-पुरोहित की दृष्टि पड़ी और सभी उन्मादग्रस्त होगये । उसने उन्हें अलग-अलग समय पर अपने घर आने का निमंत्रण दे दिया । जिस महाजन के पास रुपये जमा कर दिये गये थे, उपकोशा ने जब उससे रुपये माँगे तो वह भी प्रेमोन्मादी हो गया । उपकोशा ने सबसे अन्त का समय उसे दे दिया । अब उसने उनके दंड की व्यवस्था की । पहले राजगुरु आये, उन्हें अँधेरे कमरे में लेजाकर स्नान

१ —यह कथानक रूढ़ि या अभिप्राय शिव-पार्वती को लेकर भारत में अनेकों कथाओं में मिलता है । गणेश चतुर्थी की कहानी में तथा शुकदेव-जन्म की कहानी में यह अत्यन्त प्रख्यात है ।

कराने के बहाने तेल-कालौंच से खूब पोत दिया। तबतक राजपुरोहित आ धमके भेद न खुले इसलिए राजगुरु को एक मंजूषा में बन्दकर दिया गया। इसी प्रकार राजगुरु और नगर-रक्षक के साथ किया गया। तब महाजन हिरण्यगुप्त आया। वह उसे तीनों मंजूषाओं के पास ले गयी और वहाँ उससे यह घोषित कराया कि वह उस सम्पत्ति को जो उसका पति उसके पास रख गया है, दे देगा। उपकोशा ने तीनों मंजूषाओं को सम्बोधन करके कहा कि हिरण्यगुप्त की इस प्रतिज्ञा को हमारे तीनों देवता सुनलें। तब उस महाजन को भी कालौंच से पोता गया। तब तक सबेरा होने लगा और नौकरों ने उसे घर से बाहर नंग-धड़ंग निकाल दिया। उपकोशा प्रातःकाल राजा के यहाँ गयी और महाजन पर अपना अभियोग उपस्थित किया। राजा ने महाजन को बुलाया। उसने कहा कि मैंने कोई भी धन नहीं पाया। उपकोशा ने मंजूषा के देवताओं की साक्षी दिला दी। महाजन मंजूषा की वाणी से भयभीत हुआ। उसने सम्पत्ति लौटा देने का वचन दिया। मंजूषा सभा में ही खोली गयीं, तीनों रसिकों का उपहास हुआ। उन्हें देश-निष्कासन का दण्ड मिला। यह कहानी अत्यन्त लोकप्रिय कहानी है। यूरोप और फारस में बहुत काल से लोककथा के रूप में प्रचलित है।[1] ब्रज में यही कहानी रूपान्तरित होकर ग्रामीण वातावरण के अनुकूल बन गयी है, और इसका नाम हो गया है 'ठाकुर रामप्रसाद'।

दूसरी महत्व की बात है वररुचि के गुरुभाई इन्द्रदत्त का योगविद्या के द्वारा अपने शरीर को छोड़कर राजा नन्द के मृत शरीर में प्रवेश कर जाना। आत्मा का एक शरीर को छोड़ कर दूसरे में जाना भारतीय लोक-कहानियों में बहुधा आता है। वीर विक्रमाजीत की कहानी में तो इसका विशेष उल्लेख है।

दूसरे भाग में कौशाम्बी के राजा उययन के पराक्रमों तथा उज्जयिनी की राजकुमारी वासवदत्ता से उसके विवाह का वर्णन है। तीसरे भाग में मगध की राजकुमारी से उसके विवाह का वृत्त है, चौथे भाग में वासवदत्ता से नरवाहनदत्त नामक पुत्र के उत्पन्न होने की कहानी है। नरवाहनदत्त के साथ ही उदयन (वत्स) के मन्त्रियों के भी पुत्र उत्पन्न हुए। ये नरवाहनदत्त के सखा और मंत्री बने। पाँचवें भाग में एक ऐसे मनुष्य का वृत्त है, जिसने अपने पराक्रम से विद्याधर योनि में जन्म लिया। यिद्याधरों के राजा का भी वर्णन किया गया

१---स्काट ने 'ऐडीशनल अरेबियन नाइट्स' में यह कहानी 'लेडी आव करो एण्ड हर फोर गैलेण्टस' के नाम से दी है और 'टेल्स एण्ड ऐनैकडोट्स' में मरचैण्टस वाइफ एण्ड हर सूटर्स के नाम से। 'अरौरा के नाम से यह फारसी कहानियों में मिलती है। यूरोप में कहीं इसका नाम कंस्टण्ट वु हैमिल अथवा 'ला डेम कुइ अट्प अन प्रिवीट् एट अन पारेंस्टियर' है।

है, क्योंकि भविष्यवक्ताओं ने यह सूचना दी है कि नरवाहनदत्त भी विद्याधरों का राजा बनेगा।

इन अध्यायों में देवस्मिता की कहानी ध्यान देने योग्य है। गुहसेन और देवस्मिता एक दूसरे को अत्यन्त प्रेम करते हैं, गुहसेन को काम से बाहर जाना पड़ता है। स्वप्न में शिवजी इन्हें एक-एक लाल कमल का फूल देते हैं। इस फूल से उनकी पवित्रता की परख हो सकती है। जब उनके चरित्र में मलिनता आयेगी फूल कुम्हिला जायेगा।[1] गुहसेन से उसकी पत्नी के सत की प्रशंसा सुनकर चार मनुष्य उसकी परीक्षा लेने चल पड़े। उन्होंने एक वृद्धा भिक्षुणी को इस कार्य सम्पादन के लिए नियुक्त किया। इस वृद्धा ने देवस्मिता से हेल-मेल बढ़ाया। यह एक कुतिया को साथ ले जाती थी। उसकी आँखों में मिर्च भर देती थी जिससे आँसू निकलते रहते। देवस्मिता ने रोने का कारण पूछा। उसने बताया, कि पहले जन्म में यह कुतिया और मैं एक ब्राह्मण की पत्नियाँ थी। ब्राह्मण बहुधा बाहर जाया करता था, तब मैं तो मन की मौज के अनुसार एक मनुष्य के साथ रमा करती थी, यह पातिव्रत और संयम से रहती थी, फलस्वरूप मैं तो स्त्री बनी और यह कुतिया। पूर्व-जन्म की याद कर रोती है। देवस्मिता चक्र को ताड़ गयी। उसने बुढ़िया से कहा कि वह उसके लिए कोई प्रेमी बताये। बुढ़िया एक एक कर चारों को उसके यहाँ पहुँचा आयी। देवस्मिता ने उन्हें धतूरा पिलाकर बेसुध किया और हर एक के माथे पर कुत्ते के पंजे से दाग कर दिया। उस वृद्धा भिक्षुणी के उसने नाक-कान काट लिये। चारों व्यापारियों के चले जाने पर देवस्मिता ने उनका पीछा किया, राजा की सभा में जाकर उसने उन चारों को अपना भृत्य सिद्ध किया। इस कहानी में कुतिया का जिस रूप में उल्लेख हुआ है, कुछ वैसा ही अनेकों पाश्चात्य कहानियों में हुआ है।[2] यह कहानी भी अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

शक्तिदेव की कहानी भी अद्भुत है। वर्द्धमान की राजकुमारी उसी पुरुष से विवाह करना चाहती है जिसने 'स्वर्ण नगर' देखा हो। शक्तिदेव उस नगर को देखने के लिए चल पड़ता है। एक साधु के पास पहुँचता है, वह उसे अपने बड़े भाई के पास भेज देता है। वहाँ से उसे किसी द्वीप पर जाने को कहा जाता है। समुद्र-यात्राओं में उसका जहाज डूबता है, वह एक स्थान पर भँवर

१—जिस प्रकार यहाँ कमल का उपयोग हुआ है, उसी प्रकार 'सत' की परख के लिए और भी उपाय अन्य कहानियों में उपयोग में आते मिलते हैं।

२—देखिये एच० एच० विलसन के संस्कृत साहित्य के विषय के लेखों का दूसरा भाग तथा टानी संपादित कथासरित्सागर अध्याय १३ के अन्त की टिप्पणी।

में फँस जाता है, उसमें से एक वट वृक्ष की लटकती शाखा को उछलकर पकड़ लेने पर ही बच पाता है। वटवृक्ष पर से उसे गरुड़ ले उड़ता है और स्वर्ण-नगर में पहुँचा देता है। वह विद्याधरियों का देश है। वहाँ उसका स्वागत होता है। सबसे बड़ी विद्याधरी उसे अपना भावी पति बताती है, किन्तु विवाह के लिए माता-पिता की आज्ञा आवश्यक है। वे विद्याधरियाँ वह आज्ञा लेने चली जाती हैं। शक्तिदेव अकेला रह गया है। उसे यह समझा दिया गया है कि वह मध्यवर्ती भवन में न जाय। उसकी उत्सुकता बढ़ जाती है। आदेश की अवहेलना करके वह उसमें जाता है। वहाँ उसे तीन सुन्दरियों के शव मिलते हैं। एक उनमें से उसी वर्द्धमान सुन्दरी का शव है। वह बड़े आश्चर्य में पड़ता है। आगे बढ़कर उसे एक कसाकसाया घोड़ा मिलता है। वह घोड़ा उसे ठोकर से पास के तालाब में गिरा देता है। शक्तिदेव तालाब से बाहर निकलता है तो देखता है कि वह अपने उसी वर्द्धमान नगर में है। वर्द्धमान की राजकुमारी को वह इस नगर का विवरण बताता है। वह राजकुमारी वास्तव में विद्याधरी थी, उसी का शरीर वहाँ शव के रूप में वह देख आया था। उसके शाप की अवधि समाप्त हो गयी। वह उड़ गयी। शक्तिदेव उसे पाने के लिए पुनः स्वर्णनगर की खोज में चला। उसे मार्ग में दो और विद्याधरियों से विवाह करना पड़ा। वह स्वर्णनगर में पहुँचा तो उसे वही वर्द्धमान सुन्दरी मिली। उससे तथा विद्याधरियों की रानी से उसका विवाह हुआ। उसने शक्तिदेव को विद्याधरों का राजा बना दिया।

यह कहानी भी पूर्व और पश्चिम में अत्यन्त लोक-प्रिय हुई है। कुछ ऐसी ही कहानी जैन-कथाओं में भी प्रचलित हैं, जिनका अंग्रेजी में संग्रह और अनुवाद जे० जे० मेयर महोदय ने 'हिन्दू-टेल्स' नाम से किया है। वस्तुतः विद्याधरों का अभिप्राय प्रधानतः जैन अभिप्राय प्रतीत होता है। पुनर्जन्म का स्मरण भी मूलतः जैन अभिप्राय है। ब्रज म इसी कहानी के अनुरूप कई कहानियाँ हैं। किसी किसी कहानी में इस कहानी का कुछ अंश ही मिलता है। राजा चन्द की कहानी में वृक्ष के ऊपर बैठने से, वृक्ष द्वारा ही एक दूरस्थ नगरमें पहुँच जाने की बात मिलती है। 'बेजान शहर' की कहानी में 'राजकुमार' गरुड़पक्षी के द्वारा ही 'अखैबर' के पास पहुँचाया जाता है। होमर के 'ओडसी' महाकाव्य में भी 'यूलिसीज' समुद्र की भँवर में फँसने पर इसी प्रकार वृक्ष पर चढ़कर बचा है। 'तम्बोली की लड़की' की ब्रज-प्रचलित कहानी में तम्बोली की लड़की उसी से विवाह करना चाहती है जो 'बेजान नगर' का हाल बतायेगा। यह घटना 'शक्ति-देव' की घटना से मिलती है। जिस प्रकार 'स्वर्ण नगर' का हाल सुनकर कनकरेखा अपने मूल रूप को

प्राप्त कर लेती है, और यहाँ उसका शरीर पड़ा रह जाता है, इसी प्रकार ब्रज की कहानी में जैसे जैसे तम्बोली की लड़की वृत्त सुनती जाती है, पत्थर की होती जाती है। इन दोनों कहानियों में और भी बहुत से साम्य है। तंबोली की लड़की भी अप्सरा थी, जिसका वास्तविक शरीर 'बेजान नगर' में रहता था। राजकुमार अन्त में उसे प्राप्त ही कर लेता है। झील में गिरने पर दूसरे लोक में पहुँच जाने की बात भी कई कहानियों में है। हितोपदेश के कंदर्पकेतु में भी ऐसी ही घटना है।*

छठे खंड में कलिंगसेना की पुत्री का नरवाहनदत्त से विवाह होने का वृत्त ही प्रधान है। कलिंगसेना वत्स से विवाह करना चाहती है। पर वत्स और विवाह करना नहीं चाहता, दो पहले ही कर चुका है। विवाह किया जाय या नहीं इस सम्बन्ध में कलिंगसेना और उसकी सखी विद्याधरी में जो विचार होता है उसमें कितनी ही कहानियाँ दृष्टान्त स्वरूप दी गयी हैं। अन्त में एक विद्याधर वत्स का रूप धारण कर आ जाता है, कलिंगसेना का उससे विवाह हो जाता है। उनके जो पुत्री होती है उसका विवाह नरवाहनदत्त से होता है। इस खण्ड की कहानियों में से एक तो मूर्ख ब्राह्मण की स्त्री की है जिसने पिशाच से अपने पति को बचाया था। अट्ठाइसवें अध्याय में राजा गुहसेन के राजकुमार और व्यापारी ब्रह्मदत्त के पुत्र की मित्रता की कहानी का मूल अंश ब्रज की 'यारु होइ तौ ऐसो होइ' से ही नहीं मिलता, अन्य कहानियों से भी मिलता है। केवल कुछ अन्तर है। ब्रज में 'भैया दौज' की कहानी में भी ऐसे संकटों का उल्लेख है। दरवाजे के गिरने की घटना दोनों में समान है। कथा-सरित्सागर की कहानी में हार और आम का उल्लेख है। ब्रज की कहानियों में वृक्ष की शाखा के गिरने का उल्लेख है। सागर की इस कहानी में मंत्री-पुत्र ने आने वाले संकटों को विद्याधरियों से सुना है। उन्होंने ही क्रुद्ध होकर अभिशाप के रूप में ये संकट डाले हैं। 'यारु होइ तौ ऐसौ होइ' में ये पक्षियों से सुने गये हैं। मित्र को राजकुमार की रक्षा के लिए अन्तिम बार राजकुमार के अन्तरंग भवन में भी जाना पड़ता है। सागर की कहानी में तो राजकुमार को प्रत्येक छींक पर 'ईश्वर की कृपा याचना' करने के लिए मित्र की खाट के नीचे छिपना पड़ा है। उसे वहाँ से निकलते ही वह राजकुमार देख सका, 'यारु होइ तौ ऐसौ होइ' में आने वाले साँप से बचाने के लिए वह मित्र वहाँ गया हैं। साँप का विष रानी के ऊपर पड़ा है, उसे पोंछने के उपक्रम में राजकुमार ने मंत्री-पुत्र को संदेह में पकड़ा है। तात्पर्य यह है कि यह कहानी बहुत

*—राल्सन की 'रशियन' फोक टेल्स में इस घटना के यूरोपीय संस्करणों का उल्लेख है। बङ्गाल में यह बेजान-नगर के नाम से ही मिलती है।

महत्वपूर्ण है । ब्रज की प्रचलित लोक-कहानी सागर की कहानी से पुरानी परम्परा में विदित होती है ।

'हरिशर्मा' की कहानी, जो कथासरित्सागर में बीसवें अध्याय के अन्त में आयी है ब्रज की लोक कहानियों में सगुनी कोरिया की कहानी बन गयी है । ब्रज की लोक-कहानी में 'नींदरिया' ने जो काम किया है, वही यहाँ 'जिह्वा' ने किया है । सागर की कहानी के स्थूलदत्त के जामातृ का घोड़ा ब्रज की प्रचलित कहानी में कुम्हारी का गधा बन गया है ।[1]

सातवें खंड में नरवाहनदत्त और एक विद्याधरी के विवाह की कहानी प्रधान है । यह विवाह हिमालय के शिखर पर होता है । विवाह हो जाने पर जब दम्पत्ति लौट कर घर आते हैं, तब कौशाम्बी में तो विद्याधरी रत्न-प्रभा ने अपने भवनों के द्वार अपने राजा के सभी मिलने वालों के लिए खोल दिये । उसने कहा स्त्री का सतीत्व उसके मन से होता है । इसके पक्ष में उसने एक दृष्टान्त दिया, तब कहानियों का क्रम आरम्भ हो गया । राजा के मित्रों ने भी स्त्री-स्वभाव को प्रकट करने के लिए कहानियाँ कहीं । इन कहानियों में स्त्री-चरित्र पर विविध प्रकाश डाला गया है । इसी खंड में वर्द्धमान के राजकुमार श्रृङ्गभुज की कहानी है । श्रृङ्गभुज ने एक सारस के तीर मारा वह भागा । श्रृङ्गभुज उसके पीछे भागा, वह सारस भयानक राक्षस था । श्रृङ्गभुज रक्त-बिन्दुओं के सहारे टोह लगाता इस राक्षस के यहाँ जा पहुँचा । उसकी पुत्री से इसका प्रेम हो गया । उसकी सहायता से अनेकों कष्ट झेलकर और अनेकों परीक्षाएं पार करके श्रृङ्गभुज रूपशिखा को लेकर लौटा । इस कहानी के विविध तन्तुओं से बनी पश्चिम तथा पूर्व में एकानेक कहानियाँ मिलती हैं । ब्रज-क्षेत्र में कहानी के नायक को पुड़िया मिलती है । एक पुड़िया छोड़ देने से तूफान उठता है—एक से आग, एक से पानी । इन्हीं साधनों से नायक दानों और डाहिनों से अपनी रक्षा कर पाता है ।

आठवें खण्ड में वज्रप्रभ नामक विद्याधरों का राजा नरवाहनदत्त को अभिवादन करने आता है । नरवाहनदत्त विद्याधरों के दोनों प्रदेशों का सम्राट होगा, इसीलिए यह राजा अपने भावी सम्राट से भेंट करने आया । यह एक

१—ग्रिम की संग्रहीत कहानियों में डा० आल्लिवसेंड की कहानी इस कहानी से मिलती जुलती है । इस कहानी का मंगोलियन, रूपान्तर 'सिद्धिकुर' में सुरक्षित है । बेनफी के मतानुसार इस कहानी का वास्तविक रूप लिथुनियन प्रवदान में है । इस लिथुअनियन कहानी में हरिशर्मा का स्थान एक दरिद्र झोंपड़ी में रहनेवाले ने ले लिया है । यह कहानी हेनरीकस बेकलियस (१५०६) के 'फेसिटी' में भी है । यहाँ ब्राह्मण का काम कोयले-जलाने वाले को मिला है । देखो टानी का कथासरित्सागर पृ० २७४-२७५ ।

क्षेत्र के सम्राट सूर्यप्रभ की कहानी सुनाता है कि किस प्रकार मानव-योनि में जन्म लेकर भी वह विद्याधरों के एक क्षेत्र का सम्राट हो सका। इसमें आकाश और पाताल के विविध लोकों में कहानीकार कथा-सूत्र को ले गया है। असुर मय का इन कहानियों में विशेष भाग है।

नवे खण्ड में कुछ कहानियाँ तो नरवाहनदत्त और अलंकारावती के कुछ काल के वियोग में धैर्य प्रदान कराने के लिए हैं। इनका अभिप्राय यह है कि वियुक्त हो जाने पर प्रियजनों का पुन: मिलना असम्भव नहीं। कुछ कहानियाँ अन्य प्रासङ्गिक विषयों की पुष्टि के लिए हैं। वीरवर की कहानी स्वामिभक्त सेवक का आदर्श प्रस्तुत करती है। यह कहानी भी बहुत लोकप्रिय है। हितोपदेश में भी आयी है। वीरवर ने राजा विक्रमतुङ्ग के जीवन के लिए प्रसन्नता पूर्वक अपने पुत्र को दुर्गा पर चढ़ा दिया, उसकी पुत्री ने भाई के वियोग में प्राण दिये, स्त्री दोनों बच्चों के साथ जल गयी। बीरवर भी अपना बलिदान देने को प्रस्तुत हुआ, तभी दुर्गा ने राजा को शतायु होने का वरदान देकर तथा उसके पुत्री-पुत्र और स्त्री को जीवनदान देकर बीरवर को संतुष्ट किया। लखटकिया की कहानियों का आरम्भ इसी कहानी की भाँति होता है। गुजरात और ब्रज में प्रसिद्ध जगदेव की कहानी में भी यही अभिप्राय मिलता है। इसी खण्ड में राम-सीता, लव-कुश की कहानी आयी है, और अन्त नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कहानी से हुआ है।

दसवें खण्ड में अन्य कहानियों के साथ हमें वे कहानियाँ मिलती हैं जो पंचतंत्र की कहानियाँ कही जा सकती हैं। इन कहानियों का इतिहास बड़ा रोचक है। ये भारत से संसार के विविध भागों में गयी हैं। यूरोप में 'पिल्ले' की कहानियों के नाम से चलती हैं। 'कलील वा दमना' भी इन्हीं कहानियों का संग्रह है। बेनफी ने तुलना करके यह सिद्ध किया है कि कथासरित-सागर में कहानियों का पंचतंत्र की अपेक्षा अधिक प्राचीन रूप मिलता है। इस खण्ड की अधिकांश कहानियाँ ऐसी ही हैं, ये विविध देशों में अनेक रूपों में फैल गयी हैं। ये कलील वा दमना, पंचतंत्र, हितोपदेश, अनवार सौहिली, तूतानामा, बहारदानिश में संग्रहित हैं। इसी खण्ड में बन्दर और शिशुमार (मकर) की कहानी है। ब्रज की लोककहानी में भी इसका रूपान्तर मिलता है। इसी खण्ड में प्रसिद्ध ठग घटकर्पर की कहानी है, जिसके तन्तुओं से बनी ठग-शिरोमणियों की कई कहानियाँ ब्रज में मिलती हैं।

ग्यारहवें खण्ड में बेला की कहानी है। बेला का विवाह एक व्यापारी के पुत्र से हुआ है। उन दोनों को अनेकों आपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। प्रेमगाथा

की एक प्रारम्भिक रूपरेखा इसमें है। समुद्र में जहाज डूबने से ये बिछुड़ते हैं और पुनः मिलते हैं।

बारहवें खण्ड में ऐसी कई कहानियाँ आयी हैं जिनमें मनुष्यों को जादूगरनियों ने पशु बना लिया है। इस खण्ड का प्रधान कथा-सूत्र अयोध्या के कुमार मृगांकदत्त का उज्जियिनी की राजकुमारी से विवाह है। विवाह होने से पूर्व ही मृगांकदत्त का पिता उससे छूट कर उज्जयिनी को चल पड़ता है। मार्ग में एक तपस्वी एक नाग से वह तलवार मंत्र-बल से प्राप्त कर लेना चाहता है जिसे पाने से परामानवीय शक्तियाँ मिल जाती हैं। वह उन युवकों की सहायता चाहता है। तपस्वी सिद्धि के समय भ्रमित हो जाता है, नाग उसको नष्ट कर देता है और इन युवकों को शाप देता है कि ये बिछुड़ जायेंगे। ये बिछुड़ कर फिर मिलते हैं और तब अपनी-अपनी कहानियाँ कहते हैं। यही संनिधान दण्डी के दशकुमार चरित्र में है। इसी खण्ड में वे प्रसिद्ध कहानियाँ भी आती हैं जो 'वैताल पच्चीसी' का विषय हैं, जो हिन्दी में भी रूपान्तरित हुई हैं।

तेरहवें खण्ड में दो ब्राह्मण युवकों के पराक्रम का वर्णन है। इन्होंने गुप्त रूप से एक राजकुमारी और उसकी सखी से विवाह किया है। चौदहवें खण्ड में नरवाहनदत्त एक और विद्याधरी से विवाह करता है। पन्द्रहवें में वह विद्याधरों का सम्राट बनता है। सोलहवें खण्ड में वत्स के स्वर्गारोहण का वृत्त है। वत्स अपने साले गोपालक को राज्य दे जाता है। गोपालक अपने छोटे भाई पालक को राज्य दे जाता है। पालक एक चांडाली के प्रेमपाश में फँस जाता है। उससे विवाह तभी हो सकता है जब उस चांडाल के घर ब्राह्मण भोजन करें। शिव के कहने से ब्राह्मण उस चांडाल के घर भोजन करते हैं।* वह चांडाल विद्याधर था, और ब्राह्मणों के भोजन करने पर ही वह शाप से मुक्त हो सकता था। सत्रहवें और अठारहवें खण्ड में वे कहानियाँ हैं जो नरवाहनदत्त अपने मामा गोपालक को काश्यप-आश्रम में सुनाता है। सत्रहवें का मुख्य विषय मुक्ताफलकेतु नामक विद्याधर और पद्मावती नाम की गन्धर्व कुमारी की प्रेम-कथा है। अठारहवें में उज्जयिनी के राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य या विक्रमशील सम्बन्धी कहानियाँ विशेष हैं।[1]

कथासरित्सागर की इस संक्षिप्ति से इस सागर के रत्नों का यथार्थ मूल्य

***. देखिये साम्य हेतु रैदास भक्त का जीवन परिचय।**

१—कथासरित्सागर की यह संक्षिप्ति ऐच० ऐच० विलसन के 'हिन्दू फिक्शन' नाम के निबन्ध के आधार पर दी गयी है। प्रस्तुत लेखक ने स्वयं टॉनी के कथासरित्सार के आधार पर उसमें आवश्यक संशोधन कर दिया है।

नहीं आंका जा सकता। यह लोक-कहानियों का संग्रह है इसमें कोई संदेह नहीं। इसमें भारतीय कहानी के सभी तन्तु-सूत्र हमें मिल जाते हैं। बहुत सी प्रचलित कहानियों की कथासरित्सागर से तुलना करने पर कभी कभी तो ऐसा विदित होता है कि वह लोककहानी जो अब हमारे संग्रह में आयी है, वह कथासरित्सागर के समय में भी प्रचलित होगी, और कथासरित्सागर-कार ने उसे अपने कथा-प्रबन्ध में स्थान देने के लिए कुछ हेरफेर किया है, और यह भी प्रकट होता है कि हेरफेर भी कोई विशेष अच्छा नहीं हुआ। 'यारु होइ तौ ऐसौ होइ' कहानी का जो उल्लेख हमने किया है वह एक उदाहरण है। 'यारु होइ तौ ऐसौ होइ' का कथानक बहुत पुराना है, अन्यत्र वही कथानक स्वतंत्र रूप से मिलता है, सागर वाला नहीं मिलता।

कथासरित्सागर की भाँति के अनेकों ग्रन्थ भारतीय साहित्य में मिलते हैं और इनमें से अधिकांश में धार्मिक उद्देश्य निहित है। कथासरित्सागर भी साम्प्रदायिक भावना से मुक्त नहीं है। शैव और शाक्त भावनाओं का इसमें प्राधान्य है। शिव और देवी की पूजा और बलि, इनके दिये वरदान तथा विद्याधरत्व प्राप्त करना ये सभी साम्प्रदायिक दृष्टि की पुष्टि करते हैं। ऐसी ही विलक्षण दिव्यतापूर्ण कहानियाँ जैनियों के साहित्य में मिलती हैं। कथासरित्सागर के विद्याधर-विद्याधरियाँ आदि शिव-परिकर के हैं, जिन परिकर के नहीं।

जातक

बौद्ध-साहित्य में 'जातक' कहानियों का संग्रह मिलता है। जातक कहानियाँ भगवान बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं। इन कहानियों में राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, श्रमिक, पशु-पक्षी आ जाते हैं। भगवान बुद्ध ने स्वयं ही ये कहानियाँ विविध अवसरों पर अपने अनुयायियों को सुनायी हैं। बहुधा ये कहानियाँ भी किसी पृच्छा के समाधान के रूप में दृष्टान्त की भाँति हैं, जिन्हें भगवान बुद्ध ने निजत्व के भाव से अभिमण्डित कर अनुयायियों को सुनाया है। इन सभी कहानियों में नीति का उपदेश प्रधान है। इनके अध्ययन से विदित होता है कि अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जो भगवान बुद्ध के समय में सर्वसाधारण में प्रचलित थीं।* उन्हें ही सुनाते हुए उपदेश की उनके द्वारा

* एनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड ऐथिक्स—७ वां खण्ड, पृ० ४९' में स्पष्ट लिखा गया है कि बौद्धों ने 'कभी-कभी तो शुद्ध अवदान बनाये भी हैं, किन्तु बहुधा उन्होंने कोई तन्त्राख्यान, परियों की कहानियाँ अथवा

पुष्टि करायी है और अन्त में जिस पात्र को कहानी में उपदेश का यथार्थ माध्यम बनाया गया है, उसी को भगवान बुद्ध ने पूर्वजन्म में अपना ही पूर्वावतार बना दिया है। इन जातकों में, कुछ विद्वानों की सम्मति है कि, रामायण से भी प्राचीन कहानियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ दशरथ-जातक की कहानी रामायण से पूर्व की वस्तु है।* इन कहानियों का वातावरण साधारण, स्वाभाविक और मानवीय है पर उनमें प्रायः आकाशीय, वायवी, अलौकिक और दिव्य भाव नहीं मिलता। पंचतन्त्राख्यान की जैसी शैली है पर न उसकी सी जटिलता है, न उलझन है। यथासम्भव सुबोध और सरल किन्तु प्रभावोत्पादक ढंग में कहानी कह दी गयी

रोचक चुटकुले ही लिये हैं, उन्होंने इन्हें धार्मिक प्रचार की दृष्टि से संशोधन-पूर्वक अपने अनुकूल बना डाला है। पुनर्जन्म और कर्म के सम्बन्ध में बोधिसत्व का सिद्धान्त एक उत्तम साधन के रूपमें इनके हाथ में था, जिससे ये किसी भी लोककहानी अथवा साहित्यिक कहानी को बौद्ध अवदान में रूपान्तरित कर सकते थे।"

बृहत् कथाकोश की भूमिका पृष्ठ १६ पर डा॰ आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्ये भी यही मत प्रकट करते हैं : "सम आव दी स्टोरीज दैट केम टू बी पुट इन्टू दी जातक फार्म आर आलरेडी फाउण्ड इन दी सुत्ताज ऐज सिम्पिल टेल्स, इफ दे आर स्ट्रिप्ड आव दी पर्सनालिटी आव बोधिसत्व एण्ड स्पेशल बुद्धिस्ट आउट लुक एण्ड टर्मिनालोजी, वी फाइण्ड दैट दियर कन्टेण्टस इन्क्लूड फेबिल्स, फ़ेयरी टेल्स, ऐनेकडोटस, रोमाण्टिक एण्ड ऐडवंचरस टेल्स, मौरल स्टोरीज एण्ड सेइंग्स एण्ड लीजेंड्स। दीज हैव बीन ड्रान फ्राम दी कामन स्टाक आव इण्डियन फोकलोर विच, टू, हैव बीन यूटिलाइज्ड बाई डिफरेण्ट रिलीजस स्कूल्स इन दियर ओन वे।"

* दशरथ-जातक के सम्बन्ध में तो श्री कामिल-बुल्के ने इस मत का एक प्रकार से निराकरण का दिया है। किन्तु गम्भीरता पूर्वक विचार करने से जातक कहानियाँ बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। डा॰ हिंज मोडे (Dr. Hinz Mode) ने मोहनजोदड़ो, चन्हुदड़ो आदि में प्राप्त मुद्राओं (सीलों) पर अंकित अभिप्रायों (मोटिफो) को जोड़कर एक कहानी खड़ी की है, और उसे जातकों में दिखाया है। 'व्याघ्र जातक' के तन्तुओं का उल्लेख कर उन्होंने बताया है कि "हमें तुरन्त यह विदित हो जाता है कि एक नहीं कई प्राचीन भारतीय मुद्राओं के चित्रांकनों का स्पष्टीकरण इस जातक कथा से हो जाता है। (इण्डियन फोकलोर : जनवरी-मार्च १९५९ पृष्ठ १३) जातक कथाओं के प्राचीन सूत्र पर इससे कुछ प्रकाश पड़ता है।

है। चुटकलों, कहानियों, दृष्टान्तों का श्रवण करने वाले व्यक्तियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

विनयपिटक से आरम्भ करें तो इस ग्रन्थ के खण्डकों में जिन नियमों और विधियों को प्रस्तुत किया गया है, उनके साथ उनसे पहले उनका भूमिका-स्वरूप जो वर्णन दिया गया है, वह कहानी के समकक्ष है। छुल्लवग्ग में कितने ही प्रशंसनीय घटनाचक्र हैं। इनमें बौद्धधर्म में मत-परिवर्तन द्वारा सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों के विवरण हैं, कुछ स्वयं भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। सारिपुत्त, मोग्गल्लन, महापजापति, उपालि, जीवक की कहानियाँ इसी में हैं। सुत्तपिटक के दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय में बुद्ध-जीवन सम्बन्धी कितनी स्फुट कहानियाँ हैं। 'पयासीसुत्त' एक संवादात्मक आख्यान माना जा सकता है, और कितनी ही गाथाएँ तथा अवदान हैं, जो किसी धार्मिक सिद्धान्त अथवा नीति को अभिव्यक्त करते हैं। छन्न और अस्सलायन आदि की कथाओं में तथ्य और सत्य का भी कुछ आधार मिलता है। अंगुलि-माल डाकू अपनी वृत्ति छोड़कर भिक्षु बना और अर्हत पद प्राप्त कर सका, महादेव ने जैसे ही अपने बाल सफेद होते देखे संघ में सम्मिलित हो गया। रथपाल ने संसार का त्याग किया और सांसारिक सुखों और आकांक्षाओं को संयमित रखा—ये सुन्दर कथाएँ भी इसमें हैं। कर्म-सिद्धान्त को सिद्ध करने वाली कहानियों का संग्रह विमानवत्थु और पेटवत्थु में मिलता है। दूसरे लोक में सुख अथवा दुःख का कारण इसी जन्म के सदसद कर्म होते हैं। थेर-गाथा और थेरीगाथा में शान्ति की आकांक्षा रखने वाले भिक्षु और भिक्षुणियों की आत्माओं की आध्यात्मिक स्वीकारोक्तियाँ हैं।

उपरोक्त साहित्य के अतिरिक्त बौद्ध-साहित्य में अवदान (अपदान) भी हैं। ये पावन-चरित्र पुरुषों और स्त्रियों की कहानियाँ हैं, इनमें भी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। अवदान में भी जातक की भाँति भूत और वर्त्तमान दोनों ही जन्म की कथाएँ रहती हैं, पर अवदान जातक से इस बात में भिन्न हैं कि जातक में तो केवल बुद्ध के जीवन की ही कहानियाँ रहती हैं, पर अवदानों में बहुधा किसी अर्हत की कथा रहती है। सन्तों और भिक्षुओं की कहानियाँ भी इसमें मिल जाती हैं। ये उत्तम पुरुष में कही गयी हैं। इनमें से बहुत सी कहानियों का आधार ऐतिहासिक है। इनमें सारिपुत्त, आनन्द, राहुल, खेमा, गोतमी की आत्मकथाएँ हैं। ये बौद्धसंघ के स्तम्भ माने जाते हैं। यही नहीं, बुद्धघोष तथा धर्मपाल जैसे भाष्यकारों ने भाष्यों में एका-नेक कहानियों का उल्लेख उदाहरण और दृष्टान्त के रूप में किया है।

जैन-साहित्य में तो बौद्ध-साहित्य से भी अधिक कहानियों का भण्डार

मिलता है। ये कहानियाँ कुछ तो धर्म के सिद्धान्त ग्रन्थों में आयी हैं, ये बहुधा तीर्थङ्करों तथा उनके श्रमण अनुयायियों तथा शलाका पुरुषों की जीवन-झांकियों के रूप में जहाँ तहाँ मिल जाती हैं। कहीं-कहीं इन ग्रन्थों में किसी कथा का संकेत मात्र मिलता है। आचारांग और कल्पसूत्र में महावीर के जीवन पर प्रकाश पड़ता है। नेमीनाथ और पार्श्वनाथ के संबंध में भी इनमें कुछ वृत्त मिल जाते हैं। 'नाया धम्म कहाओ' में अनेकों दृष्टान्तस्वरूप रूपक-कहानियाँ (पैरेबिल) भी हैं। एक उदाहरण द्वारा इन रूपक कहानियों की रूप-रेखा समझी जा सकती है : एक सरोवर है, यह कमलों से परिपूर्ण है। इसके मध्य में एक विशाल कमल है। चार दिशाओं से चार मनुष्य आते हैं, वे उस विशाल कमल को चुन लेना चाहते हैं। अपने प्रयत्न में वे सफल नहीं होते। एक भिक्षु सरोवर तट पर कुछ शब्दोच्चार करके ही उस विशाल कमल को प्राप्त कर लेता है। यह 'सूयगदम' की रूपक-कहानी है। इसका अर्थ है कि जैन साधु ही राजा का सान्निध्य सरलता से पा सकता है, अन्य नहीं। विशाल कमल राजा का प्रतीक है। उत्तराध्ययन में भी ऐसी ही कहानियाँ मिल जाती हैं। इन ग्रन्थों में कृष्ण, ब्रह्मदत्त, श्रेणिक आदि विख्यात कथाचक्रों के नायक महापुरुषों से सम्बन्धित अवदान भी हैं। सूयागदम में शिशुपाल, द्वीपायन, पाराशर आदि का भी उल्लेख है, 'उवासगदसाओ' में दस श्रावकों की कथाएँ हैं। अन्तगंत दशाओ में उन स्त्री-पुरुषों के विवरण हैं जिन्होंने तीर्थंकरों के अनुयायी बन कर संसार त्यागा और मुक्ति प्राप्त की। अणुत्तएव-वाइय दशाओ में तपस्या और उपवासों से स्वर्ग-प्राप्ति की कहानियाँ हैं। 'निरयावलियाओ' में श्रेणिय (श्रेणिक) के पुत्र 'कुणीय' (कुणीक) की कहानी विस्तार-पूर्वक दी गयी है, कथिवा और पुर्फिफया में क्रमशः महावीर और पार्श्व द्वारा धर्म में दीक्षित जिन व्यक्तियों ने विविध वर्गों को प्राप्त किया उनका वृत्त है। विवमगसुयम में पाप और पुण्य के फलों को दिखाने की चेष्टा की गयी है, इसके पहले भाग में पाप तथा कुकृत्यों के फल का निदर्शन करने वाली दस कहानियाँ हैं, दूसरे भाग में एक ही कहानी विस्तारपूर्वक दी गयी है, जिसमें पुण्य का फल दिखाया गया है। पैराणों में भी साधु पुरुषों और श्रमणों की कहानियाँ हैं। इनकी कहानियों का मूल उद्देश्य यह है कि इन महापुरुषों के शरीर को किसी ने जलाया, किसी ने टुकड़े-टुकड़े किया फिर भी ये दृढ़ रहे, कीड़े-मकोड़ों ने शरीर छलनी कर दिया, फिर भी इन्होंने उस कष्ट को अनुभव नहीं किया।

धर्म के दस सिद्धान्त-ग्रन्थों पर 'निज्जुत्तियाँ' हैं, कुछ स्वतंत्र भी हैं, जैसे पिंड, ओघ और आराधना निज्जुत्तियाँ (निर्युक्तियां)। ये निर्युक्तियाँ सिद्धान्त-ग्रन्थों पर लिखे भाष्य माने जा सकते हैं। सिद्धान्त-ग्रन्थों में जिन कथानकों का

नामोल्लेख हुआ है, उनका विस्तारपूर्वक विवरण इन नियुक्तियों में मिल जाता है। साथ ही इनमें अन्य कथानक भी आये हैं। और कुछ कथानकों का नामोल्लेख मात्र है। फलतः इनकी व्याख्या के लिए बाद में चूर्णियाँ, भाष्य और टीकाएँ लिखी गयीं। इनमें उन कथानकों को आवश्यक विस्तार से देकर उसके मर्म को स्पष्ट किया गया है।

इस प्राचीन साहित्य से बीज लेकर बाद में जिनसेन, गुणभद्र, हेमचन्द्र आदि ने संस्कृत में, शीलाचार्य, भद्रेश्वर आदि ने प्राकृत में, पुष्पदन्त ने अपभ्रंश में चामुंडराय ने कन्नड़ में बड़ी-बड़ी कहानियाँ खड़ी करदी हैं। इन के ये ग्रन्थ 'पुराण' कहे जा सकते हैं।

यहीं पउम-चरिअ[1] या 'पद्मचरित्र'[2] और वसुदेवहिंडि[3] का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है। पहले का सम्बन्ध रामचरित्र से है, दूसरे का कृष्ण से। रामचरित्र के जैन-साहित्य में दो रूप मिलते हैं। वे दो प्रकार की प्रचलित लोक-कहानियों के आधार पर बने हैं। वसुदेवहिंडि तो 'वृहत्कथा' के समकक्ष हैं। कृष्ण-चरित्र के सूत्र के आधार पर अनेकों कहानियाँ पिरोयी हुई हैं। इन कहानियों में विद्याधरों और उनके चमत्कारों का समावेश हो जाने से ये अत्यंत रोचक हो गयी हैं। जिनसेन का हरिवंशपुराण संस्कृत में तथा धवल का अपभ्रंश में वासुदेवहिंडि के समकक्ष हैं। एक प्रकार के वे ग्रन्थ हैं जिनमें जीवनधर, यशोधर, करकंडु, नागकुमार और श्रीपाल के चरित्रों का वर्णन है। साथ ही ऐसी कहानियाँ भी हैं जिन में गृहस्थों और साधारण पुरुषों की कहानियाँ दी गयी हैं— ये कथा, आख्यान और चरित्र संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में ही नहीं, हिन्दी में भी उपलब्ध हैं।

एक वर्ग ऐसे ग्रन्थों का है जिन में धार्मिक कहानियाँ रोमांटिक रूप में प्रस्तुत की गयी हैं, तरंगवती, समराइच्चकहा, उपमितिभव प्रपंच कथा ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इसी वर्ग में वे कल्पित कहानियाँ भी हैं जिनके द्वारा अन्य धर्मों के सिद्धान्तों और गाथाओं पर आक्रमण किया गया है। हरिभद्र का 'धूर्त्ताख्यान' हरिषेण का 'धर्म-परीक्षा' ऐसे ही हैं। धूर्त्ताख्यान में तो लोक-कथाओं को माध्यम बना कर ही उपहास उड़ाया गया है।

परिशिष्ट-पर्वन, प्रभावकचरित, प्रबन्ध चिन्तामणि आदि ग्रन्थों में अर्द्ध-ऐतिहासिक धर्मनुयायियों की कहानियाँ दी गयी हैं। राजा, महाराजा, प्रसिद्ध

१—लेखक विमल

२—लेखक रविसेन

३—लेखक संघदास

सन्त, लेखक, सेठ-साहूकार आदि इन कहानियों के प्रधान विषय बने हैं।

कथाकोशों का एक विशाल समूह जैन लेखकों ने रच डाला है। इन कोषों का अभिप्राय विविध अवसरों के योग्य सुन्दर-सुन्दर उपयुक्त कथाओं का संग्रह कर देना है। जिससे धर्म-प्रचारक को सिद्धान्त-पुष्टि और प्रभावोत्पादन के लिए अच्छी सामग्री मिल जाय। ऐसे ही संग्रह व्रत-कथाओं के भी हैं, ऐसे सोलह कोषों का परिचय डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट् ने 'वृहत कथा-कोश' की भूमिका में दिया है।[1]

जैन-साहित्य में विद्यमान इन विविध कथाओं में लोकवार्त्ता-तत्व किस मात्रा में विद्यमान है, इसे जानने के लिए 'पद्मावती चरित्र' को ले सकते हैं। यह राजवल्लभ की कृति है। राजवल्लभ ने इसे निश्चय लोक-क्षेत्र से लिया है। यह पूर्णतः एक लोक कथा है, और बहुत ही महत्वपूर्ण लोककथा है। लोक-कथा के विद्वानों ने इस कथा की बहुत चर्चा की है। हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका 'ब्रज भारती' में मैंने सबसे पहले इस पर कुछ विचार हिंदी में प्रस्तुत किये थे। ब्रज में यह कहानी प्रचलित है, और इसे 'यारु होइ तौ ऐसौ होइ' शीर्षक से ब्रजभारती (२००२। २-४) में पहले प्रकाशित किया था, फिर ब्रज साहित्य मण्डल के प्रकाशन 'ब्रज की लोक कहानियाँ' शीर्षक संग्रह में भी इसे सम्मिलित किया गया। 'ब्रज लोक-साहित्य के अध्ययन' में भी इस कहानी पर विचार किया गया है[2]। संस्कृत के कथा-सरित्सागर में इसका लिखित रूप हमें मिल जाता है। कथासरित्सागर के 'मदन मंचुका' शीर्षक छठे खण्ड के अट्ठाइसवें अध्याय में राजकुमार और सौदागर के पुत्र की कहानी इसी कहानी का एक लिपिबद्ध रूप है। हिन्दी के मध्ययुग में लोककथाओं की ओर कवियों का ध्यान गया था। अनेक लोक-कथाओं से प्रेम और अचरज के कथानक लेकर काव्य-ग्रन्थ लिखे गये।[3] इनमें विश्व में प्रचलित और मान्य कई महत्वपूर्ण कहानियों

१—जैन साहित्य का यह विवरण यहाँ डा० आ० ने० उपाध्ये की भूमिका के आधार पर ही दिया गया है।

२—बुन्देलखंड में इस कहानी का संग्रह श्री शिवसहाय चतुर्वेदी जी ने 'मित्रों की प्राप्ति' शीर्षक से 'बुन्देलखंड की ग्राम-कहानियाँ' नामक पुस्तक में किया है। इस संग्रह की प्रस्तावना में विद्वद्वर श्री कृष्णानंद गुप्त ने संक्षेप में कुछ विचार किया है। (पृ० २८)

३—इन 'लोक कथाओं के ग्रंथों का और उनके विषय का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित पुस्तकों से मिल सकता है : १—ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, चतुर्थ अध्याय, लोककहानियाँ। तथा इसी अध्याय का आगे (आ) खंड। २—हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य। ३—सूफी काव्य संग्रह। ४—कबि और काव्य ५—अपभ्रंश साहित्य। ६—"हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग" इस पुस्तक में भी कुछ उल्लेख है।

के रूप तो मिल गये, पर यह इतनी महत्वपूर्ण कहानी किसी कवि ने ग्रन्थ-रचना के लिए नहीं चुनी, इस पर किंचित आश्चर्य था । अनुसंधान-मार्तण्ड श्री नाहटा जी ने इधर 'पद्मावती चरित'[1] का परिचय देकर जैसे यह घोषणा करदी कि आश्चर्य की बात नहीं, संस्कृत में यह लोककथा भी है, जैन-साहित्य में विशेषतः । अतः आज इस लोक-कथा पर कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

पहले तो हम इस कथा के साहित्यिक रूपों की ही तुलना करेंगे—

कथासरित्सागरः		पद्मावती चरित	
१.	पुष्करावती के राजा गुहसेन के पुत्र और सौदागर ब्रह्मदत्त के पुत्र मित्र हो गये ।	१.	कलिंग के राजा वीरसेन के पुत्र चित्रसेन की मंत्री बुद्धिसार के पुत्र रत्नसार से मित्रता
२.	दोनों विवाह के निमित्त यात्रा करते हुए मार्ग में एक नदी किनारे ठहरे ।	२.	अ—चित्रसेन की सुन्दरता के कारण जनता परेशान, अतः चित्रसेन को राज्यनिष्कासन, मंत्री-पुत्र भी साथ । आ-रात को किन्नरियों की ध्वनि से आकर्षित होकर ऋषभदेव के मंदिर में जाकर एक पुतली को देखकर राजकुमार विमोहित । मूर्ति के रूपवाली राजकुमारी से विवाह करने की हठ । इ—एक ज्ञानी मुनि आये—उन्होंने बताया कि यह मूर्ति पद्मपुर के राजा पद्मरथ की पुत्री पद्मावती की है । ई—वह पुरुष द्वेषिणी है । पुरुष द्वेषिणी होने के कारण के लिए एक पूर्वजन्म में हंस-हंसिनी की कथा । वह हंसिनी थी, यह राजकुमार था हंस । पुरुष-द्वेष दूर करने का उपाय ।

२ देखिए—ना० प्र० प० अं० १ वर्ष ५६ सं० २०११

	पूर्वजन्म की घटना का चित्र दिखाया जाय, उससे हंस के सम्बन्ध में उसका भ्रम दूर होगा और वह पुरुष-द्वेष त्याग देगी। उ–बताये उपायों से पद्मावती की प्राप्ति। ऊ–विदा कराके तीनों का एक वृक्ष के नीचे पड़ाव।
३. वहाँ एक कहानी कहते-कहते कहानी अधूरी छोड़कर राजकुमार सो गया	३. राजकुमार और पद्मावती सो गये।
४. सौदागर-पुत्र जागता रहा	४. मंत्री-पुत्र जागता रहा
५. उसने दो क्रुद्ध आवाजें सुनीं कि कहानी अधूरी छोड़ने के दण्ड स्वरूप इसे—	५. वृक्ष पर यक्ष-यक्षिणी की बातें मंत्री-पुत्र ने सुनीं कि इसकी विमाता आगयी है वह इसे मारने के तीन उपाय करेगी।
क—हार दिखायी पड़ेगा जिसे यह पहन लेगा तो गला घुट जायगा और मर जायगा, और इससे बच जायगा तो—	१—नगर-प्रवेश से पूर्व एक दुष्ट घोड़ा भेजेगी
ख—एक आम का पेड़ मिलेगा, उसके आम खायेगा और मर जायगा। और इससे भी बचा तो—	२—यंत्र से नगर-प्रवेश पर द्वार गिरा कर मृत्यु
ग—विवाह के समय घर घुसते समय द्वार गिर पड़ेगा और मर जायगा। इससे बचा तो—	३—विष-मिश्रित भोजन (लड्डू) देकर मृत्यु तथा इन सबसे बच निकला तो—
घ—रात्रि में शयन-कक्ष में आने पर सौ बार छींकेगा, और यदि वहाँ उपस्थित कोई व्यक्ति इसके लिए इतनी ही बार 'ईश्वर रक्षा करें' नहीं कहेगा तो यह मर जायगा।	४—रात में सर्प डस लेगा।

ङ—जो व्यक्ति हमारी बातें सुनकर उसे रक्षार्थ ये भेद बता देगा, वह भी मर जायगा ।	५—जो व्यक्ति सुन लेगा और बातें प्रकट कर देगा, वह पत्थर हो जायगा ।
६. सौदागर-पुत्र ने चारों संकटों से रक्षा की । अन्तिम बार रक्षा करने लिए वह पलंग के नीचे लेट रहा । सौ बार	६. मंत्री-पुत्र ने चारों संकटों से रक्षा की । क—द्वार से एकदम पीछे हटा के ख—वैसे ही दूसरे लड्डू परोसकर ग- रात्रि में पलंग के पास पहरा देकर, सर्प को मारकर
७. 'ईश्वर रक्षा करें' कह चुकने पर जब वह चुपचाप वहाँ से खिसकने लगा, तभी राजकुमार ने उसे देख लिया ।	७. सर्प के विष मिश्रित रक्त की बूँद पद्मावती की जाँघ पर जा पड़ी । उसे हानिकर समझ वस्त्र के अंचल से पोंछने के समय चित्रसेन ने देख लिया ।
८. उसे राजकुमार ने बन्दी बना लिया और प्राणदण्ड के लिए आज्ञा दी	८. चित्रसेन ने आग्रह किया कि वह बताये कि उसकी स्त्री के ऊपर इस प्रकार हाथ क्यों रखा ?
९. तब मित्र ने समस्त रहस्य समझाया और सभी प्रसन्न होकर रहने लगे ।	९. विवश हो मंत्री ने रहस्य बताया और पत्थर का हो गया ।
	१०. चित्रसेन यक्षवाले वृक्ष के नीचे जाकर सोया और यक्ष-यक्षिणी की बातों से जाना कि विशुद्ध चरित्रवाली सती स्त्री अपने नवजात पुत्र को गोद में ले उस पाषाण-मूर्ति का स्पर्श करे तो वह स्वस्थ हो जायगा ।
	११. रानी पद्मावती के पुत्र हुआ । उसने स्पर्श करके मंत्री-पुत्र को पुनरुज्जीवित किया ।

बेन्फी[1] ने इस कहानी को हितोपदेश के स्वामिभक्त सेवक बीरवर के तुल्य माना है। यह बीरवर की कहानी वैतालपंचविंशति में भी मिलती है। बीरवर की पंचविंशति वाली कहानी में बीरवर एक स्त्री का रुदन सुनता है। यह स्त्री राजा की भाग्यलक्ष्मी है, जो राजा का परित्याग करने को प्रस्तुत है। उसे संतुष्ट कर राजा में ही अनुरक्त रखने के लिए, वह अपने पुत्र और अपना बलिदान कर देता है। इसे राजा छिपकर देखता है। वह स्वयं भी अपनी बलि चढ़ा देने को सन्नद्ध होता है तभी दुर्गा प्रकट होकर उसे रोक देती है और बीर-वर तथा उसके बच्चे को जीवित कर देती है।[2] (देखिये 'दि ओसिन आव स्टोरीज़' संपादक टानी तथा पेंज़र वाला संस्करण)।

अभी तक तो अनुसंधित्सुओं को इस कहानी के इतने ही लिखित रूप मिले हैं। मेरा अनुमान है कि हिन्दी में भी इस कहानी को लेकर प्रेमगाथा काव्य-रूप में लिखित साहित्य उपलब्ध होगा। क्योंकि इसके मौखिक रूप भारत-भर में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

इस कहानी का मौखिक रूप ग्रिम के द्वारा संग्रहीत जर्मन कहानियों में 'देर ट्रिपुइ जोहेन्नेस' में मिलता है। इसको अंग्रेजी लें 'फेथफुल जोहृन' नाम दिया गया है। यह पेन्टा मैरोन (penta merone) में 'द क्रो' नाम से है। बर्नार्ड स्किम्दित के ग्रिस्कस्चे मार्खे में तीसरी संख्या की कहानी इसी के

१—बेन्फी का समय है १८०६ से १८८१। इसका जन्म नोएरलैन हनोवर में हुआ था। यह जर्मन था और संस्कृत का विद्वान तथा तत्त्वविद था। इसकी प्रमुख रचनाएँ हैं: पँचतन्त्र (अनुवाद), यूनानी धातुओं का कोष, संस्कृत भाषा का व्याकरण तथा संस्कृत-अंग्रेजी कोष। बेन्फी लोकवार्ता-क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध हैं: इसने लोक-वार्त्ता तत्व (फोकलोरिस्टिक्स) के भारतीय संप्रदाय (इण्डिक स्कूल) का प्रवर्त्तन किया था। इसकी मान्यता थी कि लोक कहानियों का जन्म, (कुछ फेबिलों को छोड़कर) भारत में हुआ है, और वहीं से वे अन्य देशों में गयी हैं। इसने उनके विविध मार्गों का भी निर्देशन किया, जिनसे हो कर कि ये कहानियाँ गयीं। (दे० स्टेंडर्ड डिक्सनरी आव फोकलोर-बेन्फी पर निबन्ध)

२—यह कहानी ऐतिहासिक लोककथा के रूप में गुजरात में जगदेव पंवार के विषय में प्रचलित है। सिद्धराज जयसिंह के लिए जगदेव देवी पर अपने पुत्र-कलत्र की बलि चढ़ा देता है, और अपनी भी। ब्रज में प्रचलित लखटकिया की कहानी के किसी-किसी रूपान्तर में भी यह अभिप्राय मिलता है। विक्रमाजीत की कहानी में भी यह अभिप्राय आता है।

अनुरूप है। इस कहानी में तीन मोइरइ (Moirei) हैं, उनसे भावी संकटों की सूचना मिलती है। राजकुमार की बहिन. राजकुमार को बचपन में जलने से, तथा गिरने से बचाती है और विवाह के दिन सर्प से रक्षा करती है।[१] पेट्रोसो के 'पोर्तुगीज फोक टेल्स' में भी ऐसी कहानी है।

भारत में इसका संग्रह कुमारी फ्रेरे (Miss Frere) ने अपनी पुस्तक 'ओल्ड डैकन डेज़' में किया है। नटेश शास्त्री के संग्रह ग्रन्थ 'ड्रवीडियन नाइट्स' में भी इसका रूपान्तर है। लाल बिहारी दे के संग्रह 'फोकटेल्स आव बङ्गाल' में इसका शीर्षक 'फकीरचंद' है। उड़ीसा में भी यह प्रमुख कहानियों में है, इसमें सन्देह नहीं। कुंजबिहारीदास जी ने "स्टडी आव ओरिस्सन फोकलोर' में इसका संक्षिप्त वृत्त दिया है।[२]

इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि यह लोककहानी अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसके सम्बन्ध में लोकवार्ता तत्व के विद्वानों का कहना है कि इसमें मिलने वाला स्वामिभक्त सेवक विषयक अभिप्राय लगभग दो हजार वर्ष पूर्व भारत से यूरोप में गया होगा।[3] जिसका स्पष्ट अर्थ है कि इस कहानी के इस मूल अभिप्राय का जन्म भारत में हुआ होगा।

सर जी० काक्स महोदय ने 'माइथालाजी आव दि आर्यन नेशन्स' में इस कहानी पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि इस कहानी का मूल ढाँचा इतिहास पूर्व युग में उस समय निर्मित हुआ होगा जब आर्यलोग अपने मूल स्थान में रहते होंगे और यूरुप तथा भारत में फैले नहीं होंगे। इस दृष्टि से इस लोककहानी का जन्मकाल दूर अतीत में जाता है जब कि आधुनिक आर्य जातियों की सभ्यता का नाम भी नहीं था।

मैंने इस कहानी के ब्रज के रूपान्तर पर विचार करते समय लिखा था कि पहली दृष्टि में यह कहानी हमें तीन छोटी मौलिक कहानियों का मिश्रण प्रतीत होती है। एक तो साँप को मारने और रानी को पाने की, दूसरी दूती और मनिहार की, तीसरी तोते की भविष्यवाणी और बढ़ई के कुमार के पत्थर होने की।

किंतु भारत के अन्य जनपदों में तथा जर्मनी आदि में इस कहानी के इस

१—दे० स्टैण्डर्ड डिक्सनरी आव फोकलोर—निबंध: फेथफुल जोह्न पृ० ३६६

२—दे० स्टडी आव ओरिस्सन फोकलोर—पृष्ठ ११।

३—इसी प्रकार की कहानी ब्रज में तथा भारत में अन्यत्र लोक प्रचलित है, और बहुधा 'भैया दूज' के दिन कही जाती है।

पूर्णरूप को देखकर मैंने यह विचार त्याग दिया था। इस कहानी के समस्त उपलब्ध रूपों पर विचार करके स्टिथ टामसन ने इसका जो आदर्श रूप खड़ा किया है वह उन्होंने अपनी पुस्तक 'द फोकटेल्स' में दिया है। उन्होंने सबसे आरम्भ में ही लिखा है।

"समस्त लोक-कहानियों में सबसे अधिक रोचक एक है स्वामिभक्त जोह्न (५१६ वीं कोटि) जिसका सम्बन्ध एक नौकर की स्वामिभक्ति से है, यद्यपि इस कहानी के कुछ संस्करणों में कभी कभी नौकर के स्थान पर भाई, धर्म-भाई अथवा हितू मित्र का उल्लेख मिलता है।"

अब इस कहानी का आदर्श रूप यह होता है:—

१—एक राजकुमार और एक नौकर साथ साथ पलते हैं।

२—अपने पिता की अनुपस्थिति में कहानी नायक राजकुमार स्वामिभक्त नौकर के मना करने पर भी एक वर्जित कक्ष में प्रवेश करता है।

३—उस कक्ष में वह एक सुन्दरी का चित्र देखता है और उस पर विमोहित होकर उसे प्राप्त करने का संकल्प करता है।

४—अपने सहायकः (नौकर, भाई, मित्र आदि) की सहायता से वह उसे प्राप्त कर लेता है—या तो

१—सौदागरी जहाज में धोखे से लेजाकर
या २—स्त्री का वेष धारणकर उसके पास पहुँचकर
या ३—किसी भूमिगर्भ के मार्ग से उसके पास पहुँचकर
या ४—नौकर (सहायक) के दूतत्व से

५—घर लौटने के मार्ग में दम्पति तीन प्राण-संकटों से बचकर निकलते हैं। ये संकट या तो

१—वधू के पिता द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं
या २—नायक के पिता द्वारा
या ३—नायक की सौतेली माता द्वारा

६—तीन संकटों की कल्पना में बहुत भेद है—वैसे—

१—विषैला भोजन
२—विषैला वस्त्र
३—डाकुओं से मुठभेड़
४—डूबता मनुष्य
५—नदी पार करना
६—किसी द्वार के नीचे से जाने पर द्वार का गिरना

७—अंतिम संकट है दम्पति के शयनकक्ष में साँप का प्रवेश।

७—सहायक को इन संकटों की सूचना साधारणतः पक्षियों के वार्तालाप द्वारा मिलती है। वह इनसे अपने नायक को बचाता है।

८—अन्तिम साँप वाले संकट से रक्षा करते समय उसे नायक की सोती पत्नी का अंगस्पर्श करना पड़ता है। और पकड़ा जाता है।

९—वह अपनी सफाई देने में रहस्य का उद्घाटन करता है और पत्थर होजाता है।

१०—राजकुमार के अपने बच्चों के रक्त-स्पर्श से ही वह स्वामिभक्त पुनः अपना मानव शरीर प्राप्त करता है। (उड़ीसा की कहानी में नायक शिलारूप सहायक को बारह वर्ष तक सिर पर रखकर रुदन करता हुआ घूमता है। तब एक विशिष्ट पक्षी स्वर्ग से अमृत लाकर पाषाण-मित्र को जीवित कर देता है।)

११—वे मृत पुत्र भी फिर स्वामिभक्त के प्रयत्न से जीवित हो उठते हैं। इस आदर्शरूप से तुलना करने पर एक बात तो यह विदित होती है कि प्रेयसी को प्राप्त करने और प्रेयसी के निवास की कल्पनाएं विविध हैं और भिन्न भिन्न हैं।

१—ब्रज और बंगाली कहानी में वह स्त्री साँप की बन्दिनी है। सर्पकन्या भी हो सकती है। वह स्त्री राक्षस के बन्धन में भी हो सकती है।

वस्तुतः प्रेयसी को प्राप्त करने की कहानी एक स्वतन्त्र कहानी है और उसका विकास अपनी तरह स्वतंत्र रूप से हुआ है, ऐसा विदित होता है०। इस कहानी में निम्नलिखित अभिप्राय आते हैं।

०—इस अनुमान के लिए निम्नलिखित कारण दिये जा सकते हैं:— १. यह अंश कथासरित्सागर की कहानी में नहीं। इसकी लोकपरंपरा भी रही है जो बुन्देलखण्ड से प्राप्त हुई है। 'मित्रों की प्रीति' नाम की कहानी में इस कथांश का उल्लेख नहीं। बुन्देलखण्ड की कहानी 'कथासरित्सागर' की परंपरा में है। दे० बुन्देलखण्ड की ग्रामकहानियाँ। २—इस कथांश के वृत्त का आगे के संकटों वाले वृत्त से कोई अनिवार्य संबंध नहीं। ३—श्री स्टिथ टामसन द्वारा प्रस्तुत आदर्श रूप में इस वृत्त का उल्लेख केवल यही सिद्ध करता है कि वह रूप विशेष व्याप्त है। इसका अर्थ केवल यह है कि इसका प्रसार तभी हुआ होगा जब यह वृत्तांश उसमें मिल गया होगा। उसके मूल का संकेत उसमें नहीं।

अ[1]—किसी मनुष्येतर प्राणी के अधीन एक सुन्दरी : राक्षस, साँप आदि

आ[2]—उसका निवास-स्थान जल से आवृत्त : यथा—द्वीप, समुद्र-गर्भ, या तालाब या कूप गर्भ।

इ—उस सुन्दरी के किसी चित्र से नायक आकर्षित: यथा—एक जूती, एक लट, चित्र, मूर्ति, चौपड़ की गोट आदि।

ई[3]—नायक जल-मार्ग में होकर सुन्दरी के पास पहुँचने का साधन किसी सहायक से पाकर अकेला सुन्दरी के पास पहुँचता है: यथा—मणि (जिससे समुद्र का जल फटकर मार्ग देता है) या जहाज

उ—नायक सुन्दरी को या तो शय्या पर सोते हुए अथवा मृत पाता है और विधि से उसे जगाता है अथवा जीवित करता है।

ऊ—सुन्दरी उसे अपने पोषक प्राणी के मारने की विधि बताती है, जिससे वह उसे मारकर प्राप्त करता है। [4]कहीं कहीं नायक उसे पहले ही मारकर

१—यह अभिप्राय (ई० पूर्व) २०००-१७०० पूर्व की मिश्र की कहानी में मिलता है। उस कहानी में यह मनुष्येतर प्राणी सर्पेंट या नाग है। वह प्राणी नागदेश में रहने वाली दिव्यात्माओं (स्प्रिट्स) का राजा है। उसके पास कभी एक मर्त्य सुन्दरी भी थी।

२—उक्त नागराज दूर समुद्र में एक द्वीप में रहता था। उसी द्वीप में उसके साथ वह मर्त्य सुन्दरी थी।

३—नायक मनुष्य है जो जहाज टूट जाने पर बच कर बहता उस नाग के द्वीप पर जा पहुँचता है। इस मिश्र की २००० ई० पू० की कहानी के संबंध में स्टिथ टामसन ने यह मन्तव्य दिया है—'यह कहानी ऐसी उलझी हुई है कि यह प्रतीत होता है कि जिस मनुष्य ने यह कहानी आज रूपान्तरित की है वह प्राचीन कहानी की अभिप्राय व्यवस्था को ठीक ठीक समझ नहीं सका था। उस विशालकाय नाग के समक्ष, इस रूपान्तरकार ने, नायक को अत्यन्त भयत्रस्त बताया है जिसने नायक पर बहुत दया दिखायी तथा उस (मर्त्य) सुन्दरी का समावेश क्यों हुआ है, इसकी कोई न तो व्याख्या दी है, न इस सूत्र का समुचित विकास ही हुआ है।" देखिए 'द० फोकटेल्स पृ० २७३।

४—ये कथांश भी ३–४ हजार वर्ष ईस्वी पूर्व मिस्र में प्रचलित थे। बाटा तथा अनपू दो भाइयों की कहानी में ये मिल जाते हैं। इसमें बाटा की स्त्री को एक दूती ही फुसलाकर ले गयी है। बाटा की स्त्री के भेद बताने पर बाटा की मृत्यु हुई है। बाटा के प्राण-एक पेड़ के पुष्प में रखे हुए थे। उस पेड़ को काट डाला गया और बाटा की मृत्यु होगयी। (देखिये : ईजिप्शियन मिथ ऐण्ड लीजेंड—लेखक डोनाल्ड-ए-मेकेन्जी—पृ० ५२-५३

उसके पास पहुँचता है। इस कहानी में एक और उपकहानी जुड़ जाती है, जिसमें वह सुन्दरी (क) किसी दूती के बहकावे में आकर, (ख) अपने निवास से बाहर जाने का साधन अपने पति से प्राप्त कर (ग) दूती के साथ बाहर जाकर पर-पुरुष के हाथ में पड़ जाती है (घ) छः महीने की अवधि माँगती है (ङ) कोई व्यवस्था इस आशा से करती है कि उसका पति खिचकर आ सके, जैसे प्रतिदिन नई चूड़ी पहनना, सदावर्त खोलना, पति विषयक कहानी सुनने वाले को पुरस्कार देना आदि (च) नायक का सहायक पहुँचकर उस व्यवस्था से लाभ उठाकर उसका उद्धार करता है और नायक से मिलाता है।

इन सभी अभिप्रायों का समावेश मूल कहानी में प्रक्षेप माना जासकता है।

२—दूसरी बात यह विदित होती है कि 'तीन संकट' तो सब में हैं, उन संकटों का रूप प्रायः प्रत्येक कहानी में भिन्न है :

तीन संकटों के अभिप्राय का प्राचीनतम उल्लेख भी हमें मिश्र की ई० १६०० से २००० ई० पू० तक के काल में प्राप्त एक कहानी में मिलता है जिसे 'द ऐंचाटेड प्रिंस' का नाम दिया गया है। इस कहानी में राजकुमार के जन्म पर यह भविष्यवाणी की गयी है कि इसकी मृत्यु साँप, कच्छप अथवा कुत्ते के द्वारा होगी। साँप से रक्षा करने के लिए राजकुमार को एक शीशे के महल में रख दिया जाता है। बड़ा होने पर राजकुमार बाहर निकलता है। और एक शर्त को पूरा कर एक राजकुमारी से विवाह करता है। यह राजकुमारी सर्प से राजकुमार की रक्षा करती है। कच्छप से राजकुमार स्वयं बच निकलता है—कुत्ते वाली बात को बिना कहे ही यह कहानी समाप्त हो जाती है[1]। संकटों में तीन की गिनती ध्यान में रखने की बात है।

३—तीसरी बात यह भी विदित होती है कि प्रत्येक कहानी में दंपति के शयनकक्ष में सहायक के पहुँचने की बात आती है। मृत्यु का अन्तिम विधान शयन-कक्ष में किया गया है। यहाँ साँप का उल्लेख 'कथासरित्सागर' को छोड़, कहानी के अन्य सभी संस्करणों में आया है।[2]

१—देखिये स्टिथ थामसन की 'द फोकटेल्स' पृ० २७४ तथा ईजिप्शियन मिथ एंड लीजेंड पृ० २६४

२—मिस्र की उस कहानी में जिसे 'द ऐंचांटेड प्रिंस' नाम दिया गया है या जिसे 'द डूम्ड प्रिंस' नाम दिया गया है, यह अभिप्राय शयन-कक्ष में ही घटित हुआ है। इस कहानी में राजकुमार की पत्नी सर्प को कमरे में आते देखती है। उसे दूध और शहद से छकाती है, फिर मार डालती है। दे० वही पृ० २६६

४–चौथी बात यह कि प्रत्येक में संकट प्रायः भविष्यवाणी के द्वारा बताये गये हैं। भविष्यवाणी को कहनेवाले, भविष्यवक्ता मनुष्य, शिला, आकाशवाणी यक्ष, पक्षी, कोई भी हो सकते हैं।

५–पाँचवी बात यह भी विदित होती है कि कहानी का वह अंतिम भाग जिसमें सहायक समस्त रहस्य का उद्घाटन करके पत्थर हो जाता है, बाद में जोड़ा गया होगा। क्योंकि पत्थर होना और रक्त-स्पर्श या रज से पुनः जीवन प्राप्त होना एक अलग ही अभिप्राय है जिसका अलग इतिहास और विकास है।[1]

अतः मूल कहानी में तीन अभिप्राय ही मुख्य विदित होते हैं—

१—राजकुमार द्वारा वर्जित राजकुमारी की खोज और प्राप्ति—[2]

२—तीन संकटों की भविष्यवाणी और सहायक द्वारा उनसे रक्षा—तथा

३—अन्तिम सङ्कट शयन-कक्ष में; जहाँ सहायक का निपटारा या रहस्य का उद्घाटन। (बुन्देलखण्ड की कहानी में शयन-कक्ष में दो सङ्कट प्रस्तुत किये गये हैं। एक तो सामान्य ही है, दूसरा रानी की नाक से रात को सर्प निकलेगा, यह सङ्कट विशेष है। निश्चय ही यह एक दूसरी कहानी का अंश है, जो यहां जोड़ दिया गया है)। इन अभिप्रायों का मूल मर्म भी केवल एक है वर्जित प्रेम के उपभोग में घातक बाधाओं का उदय और निराकरण।

जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं इस लोक-कहानी पर 'माइथालोजिकल संप्रदाय' के विद्वान काक्स द्वारा विचार किया गया—वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस कहानी का निर्माण उस प्रागैतिहासिक युग में हुआ होगा, जब समस्त आर्य जातियों के पूर्वज अपने किसी मूलस्थान में साथ-साथ रहते होंगे।

१—कथासरित्सागर में पत्थर होने की घटना का उल्लेख नहीं, जिससे यह तो सिद्ध है कि एक ऐसी परम्परा भी थी जिसमें पत्थर होने का अभिप्राय समाविष्ट नहीं था। कथासारित्सागर में रहस्योद्घाटन के साथ एक शाप तो लगा हुआ है पर वह समय सापेक्ष्य है, यदि बचाने के उद्देश्य से कोई रहस्य प्रकट करेगा तो नष्ट हो जायगा। रक्षा हो जाने के बाद इस शाप का प्रभाव नहीं रहता। फलतः कहानी का संपूर्ण अभिप्राय इस युक्ति से प्रकट हो जाता है। कहानी यहीं समाप्त हो जानी चाहिये।

२—प्राप्ति के लिए जाने भर का अभिप्राय ही मूल प्रतीत होता है। कितनी ही कहानियों में विवाह के लिए जाते समय की घटनाओं का उल्लेख है। जैसे कथासारित्सागर और बुन्देलखण्ड की कहानी में। ढोला और मारू की लोककहानी में भी गौने के लिए जाते समय की बाधाओं का उल्लेख है। ब्रज की 'भैयादूज' विषयक कहानी में ये सङ्कट विवाह के लिए जाते समय ही आते हैं। आदि

ऊपर यह भी हम देख चुके हैं कि इस कहानी का संकट-विषयक मूल अभिप्राय ईस्वी पूर्व २००० वर्ष में मिस्र में प्रचलित था।

किन्तु बाद के विद्वानों में से राश्च (Rosch) तथा कार्ल क्रोह्न ने इस कहानी पर बहुत विस्तार से विचार किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि ये कहानी-तत्व भारत से आये। और पुर्तगाल तक फैले। ये दोनों विद्वान बेन्फी के यात्रा-विश्वासी संप्रदाय के हैं, जो यह मानते हैं कि कहानियाँ भारत से चल कर यूरोप में तथा अन्यत्र फैलीं।

विश्व की लोकवार्ताओं पर ध्यान देने से कुछ ऐसा आभास मिलता है कि स्टिथ टामसन द्वारा प्रस्तुत किया गया आदर्शरूप स्वीकार किया जाय तो यह समस्त वृत्त कुमारियों के पुष्पवती होने से कौमार्यभंग तक का प्रतीकात्मक उल्लेख है। पाषाण होना पौरुष की जड़ता है। जो पुत्रोत्पत्ति के उपरान्त जीवित हो उठता है। (आगे 'रक्त-लेपन' पर भी टिप्पणी देखिये)

यथार्थतः इसकी मूल उद्‌भावना कहाँ हुई यह विषय तो अभी और अनुसंधान चाहता है। किन्तु यहाँ इस सम्पूर्ण कहानी के विविध अभिप्रायों पर कुछ विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है—

१—नायक और सहायक—दो भाइयों वाला रूप—दो भाइयों वाले रूप का विशेष अध्ययन रांके (Ranke) महोदय ने किया है। दो भाइयों की इस कहानी में एक ड्रेगन को मार कर सुन्दरी को पाने की बात अधिकांशतः आती है। ऐसी समस्त कहानियाँ जिन में दो भाई हों और सुन्दरी को प्राप्त करने के लिए किसी कठिनाई को दूर करना पड़े, इसी कोटि में रखी जायंगी। राम-लक्ष्मण के साथ धनुष तोड़ कर सीता को प्राप्त करने का राम-कथा का अंश, इन्हीं दो भाइयों की कहानी का रूपान्तर है। सात मुख वाला सपक्ष अजगर 'धनु।' बन गया है। नल की कहानी में मोतिनी को प्राप्त करने के लिए धूमासुर या भौमासुर दाने का संहार नल को करना पड़ा है। अजगर का स्थान दाने ने ले लिया है। पदमावती चरित में यह बाधा तो भयानक है पर उसका स्वरूप बहुत कोमल हो गया है। वह सुन्दरी पुरुष-द्वेषिणी है, क्योंकि वह समझती थी कि वह उसे असहाय अवस्था में छोड़ गया था। चित्र से पूर्व-जन्म की घटना का स्मरण दिलाकर यह घृणा दूर करायी गयी, तब राजकुमार उसे पा सका। दो भाइयों वाली इस कहानी का बहुत अधिक प्रचार

मिलता है[1]। इस दो भाइयोंवाले अभिप्राय में भारतीय अश्विनों की वैदिक कहानी को भी रखा जा सकता है। अश्विन दो भाई हैं। ये अनेक साहस के कृत्य करते हैं।। इन्द्र और विष्णु का वैदिक वृत्त अहिवृत्र को मारने और उसके बंधन से सूर्य अथवा उषा को मुक्त करने का अभिप्राय भी, इस कहानी के मूल अभिप्राय से बहुत मिलता है। यह सहायक 'भैयादूज' की कहानी में 'बहिन' है। वही संकट से रक्षा करती है।

नायक वर्जन[2] का उलंघन करके प्रेम में फँस जाता है। वर्जन का एक

१—इस संबन्ध में श्री कृष्णानन्द गुप्त ने 'बुन्देलखण्ड की ग्राम कहानियाँ' नाम की पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि—'संत-बसंत कहानी बहुत रोचक है। और इस बात का एक उत्तम उदाहरण है कि किस प्रकार एक ही कहानी विभिन्न रूपों में प्रचलित हो जाती है। यह कहानी 'दि टू ब्रदर्स' (दो भाई) शीर्षक से 'इण्डियन एन्टीक्वेरी' के सन् १८८२-८८ के अंकों में दो विभिन्न रूपों में छप चुकी है। एक काश्मीरी, और दूसरा मध्य-प्रान्तीय पाठ 'संत-बसंत' के पाठ से बहुत कुछ मिलता है।...पर उल्लेखनीय बात यह है कि यह कहानी 'सीत-बसंत' नाम से बंगाल में भी प्रचलित है... और चार विभिन्न रूपों में वहाँ छपी मिलती है। इस कहानी पर राँके (Ranke) महोदय ने विस्तृत अध्ययन किया है। इस कहानी के ११०० उदाहरण तो उस समय तक यूरोप में मिल चुके थे जब कि स्टिथ टामसन ने अपनी 'दि फोकटेल' नाम की पुस्तक लिखी थी।

२—ऐसे वर्जन का घनिष्ठ सम्बन्ध फ्रेजर महोदय की राय में विश्वव्यापी उस मूढ़ग्राह से है जिसमें प्रथम पुष्पवती होते समय किशोरियों को पृथ्वी-स्पर्श अथवा सूर्य-दर्शन का वर्जन किया गया है। भारत में भी 'असूर्यपश्या' स्त्री को महत्व दिया गया है। यह पृथ्वी न छूने अथवा सूर्य के दर्शन न करने की प्रथा अत्यन्त प्रचलित है। अनेक जातियों में कुमारियों को अलग कमरे में बन्द कर दिया जाता है। इस प्रथा के विश्वव्यापी रूप का रोचक दर्शन फ्रेजर ने अपनी पुस्तक 'गोल्डेन बाउ' में कराया है—वहीं अन्त में उन्होंने लिखा है :

A superstition so widely diffused as this might be expected to leave traces in legends and folktales and it has done so. The old Greek story of Danae who was confined by her father in a subterranean Chamber or a brozen tower but impergnated by Zeus who reached her in the shape of a shower of Gold perhaps belongs to this class of Tales" (Golden Bough p. 602)

रेयंड डेलाय जेमशन का मत है कि इस वर्जन का मूल वर्जित फल या वृक्ष है। इसका एक रूप आदम-हव्वा के कथानक में मिलता है। इसमें भले-बुरे के ज्ञान के पैदा होने के साधन का वर्जन प्रतीत होता है। यही वर्जन रूपान्तरित होकर कक्ष-वर्जन, चित्र-मूर्ति वर्जन, दिशा-वर्जन बन गया है। (स्टैंडर्ड

रूप है किसी कक्ष का वर्जन। नायक वर्जित कमरे में जाता है और वहाँ सुन्दरी का चित्र देखकर विमोहित हो जाता है। 'वर्जित कक्ष' का अभिप्राय कितनी ही कहानियों में मिलता है। उसमें कहीं-कहीं दक्षिण दिशा के कक्ष का अथवा दक्षिण में जाने का वर्जन होता है। जो कहानियाँ हमें हिन्दी क्षेत्र में मिली हैं उनमें स्पष्ट वर्जन नहीं, अप्रत्यक्ष वर्जन है। मूर्ति पर मिट्टी थोप दी गयी है। अथवा पद्मावती चरित के रूप में मंदिर की मूर्तियों के साथ वह मूर्ति है। मिस्र ने बाटा की कहानी में बाटा ने अपनी पत्नी को घर से बाहर जाने से वर्जित किया है।

वर्जन के उल्लंघन से प्रेम में ग्रस्त होने की बात तो प्रस्तुत कहानियों में है ही। किन्तु वर्जन के उल्लंघन से किसी संकट में फँसने[1] अथवा किसी संकट से मुक्ति पाने की कहानियाँ भी कम नहीं हैं।

३—चित्र, मूर्ति अथवा वस्तुदर्शन से प्रेम—इस कहानी के समग्र रूप में इस अभिप्राय १ का कहीं-कहीं दो बार प्रयोग हुआ है। एक आरंभिक है, जिसका सम्बन्ध चित्रदर्शन अथवा मूर्तिदर्शन से है। किन्तु जैसे ब्रज की कहानी में है, सुन्दरी की जूती को देखकर एक दूसरा राजकुमार 'परपुरुष' मुग्ध हो जाता है, और दूती भेज कर सुन्दरी को बलात् प्राप्त करना चाहता है। नल-मोतिनी की कहानी में 'सार-पाँसे' (चौपड़) की गोट भी वैसा ही काम करती है। कहीं-कहीं सुनहले बाल नदी में बहते मिलते हैं, राजकुमार उस सुनहले बालों वाली सुन्दरी को प्राप्त करना चाहता है। मिस्र की बाटा वाली कहानी में बाटा की स्त्री के सुगंधित बाल बहकर मिस्र के किनारे पहुँचते हैं। उनसे मिस्र का राजा बाटा की स्त्री को प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध होजाता है। 'लखटकिया' की प्रसिद्ध कहानी में कभी एक पैर की जूती यही काम करती है, कभी हार या अन्य आभूषण। चित्रदर्शन (तथा मूर्तिदर्शन भी) तो साहित्य के क्षेत्र में भी एक उपयोगी विधान स्वीकार किया गया है :

४—प्रेयसी की प्राप्ति में किसी बाधा का विधान और उसका निराकरण। इस अभिप्राय के कई रूप इस कहानी में मिलते हैं :—

डिक्सनरी आव फोकलोर) फ्रेजर ने जो संभावनो प्रस्तुत की है वह अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। वर्जन के साथ उनका उल्लंघन भी वहाँ विद्यमान है। जियस भी सूर्य या उसकी किरणों का ही प्रतिरूप है।

१—वर्जन के उल्लंघन से संकट में फँसने की एक कहानी वह है जिसमें एक सुनार को कुएं से निकालने का वर्जन कई प्राणी करते हैं। ये प्राणी उसी कुएं में गिरे हैं और निकाले जाने पर सुनार को निकालने का वर्जन करते जाते हैं—

दे० ब्रज की लोक कहानियाँ पृ० १५, कहानी 'नारद को घमंड दूरि करयो'

(क)—कहीं तो सुन्दरी तालाब या कुएं में या नाग के बंधन में हैं। सर्प के अधीन सुन्दरी, उससे जलाशय का सम्बन्ध, और वहाँ नायक का पहुँचकर उस सुन्दरी से विवाह। इन अभिप्रायों का ही एक रूप शेषशायी भगवान विष्णु के चित्र में मिलता है। शेष का सम्बन्ध भी क्षीर समुद्र से है। लक्ष्मी सागर से निकली हैं। सागर भगवान विष्णु और लक्ष्मी दोनों साथ दिख यी पड़ते हैं। नाग और दाने की कुछ ऐसी कहानियों पर विचार के लिए देखिये 'द फोक टेल्स' पृ० ५० (लेखक स्टिथ टामसन) में निबन्ध—'द ग्रेटफुल डेड'। नाग को मारकर मणि प्राप्त की जाती है। उससे पानी में मार्ग मिलता जाता है और नायक सुन्दरी को प्राप्त कर लेता है।

मणि पाकर पाताल में जाने और सर्पलोक में जाने की बात कितनी ही कहानियों में मिलेगी। नल-मोतिनी की कहानी में नल वासुकि के यहाँ पहुँचता है। कृष्ण-कथा में कृष्ण अपनी दिव्यता के कारण नागों में पहुँच गये हैं।

(ख) कहीं सुन्दरी दूर द्वीप में (अ) किसी राक्षस या दाने के अधीन है वहाँ नायक पहुँच जाता है और बाद में राक्षस या दाने को मारता है (आ) किसी राजा की पुत्री है[1] जिसे बहका कर व्यापारी जहाज पर बिठाकर भगा ले जाता है।

(ग) कहीं सुन्दरी पुरुष-द्वेषिणी है—वह पुरुष से दूर रहना चाहती है-जैसे पद्मावती चरित में। इस चरित में मिलनेवाला बाधा विषयक यह अभिप्राय बुन्देलखण्ड की 'मित्र हो तो ऐसा हो' शीर्षक कहानी में भी सन्निवेशित है।[2] दोनों में यह पुरुष-घृणा पूर्व जन्म के पुरुष-विषयक किसी निर्मम व्यवहार के कारण है। 'चरित' में हंस हंसिनी है, तो दूसरी में चिरौटा-चिरैया हैं।

इसमें निराकरण की विधियाँ भिन्न हैं। चरित में पूर्व-जन्म के चित्र के सहारे उसे स्मरण दिलाकर भ्रम दूर कराया गया है। बुन्देलखण्डवाली कहानी में पुरुषद्वेष के तुल्य ही स्त्री-द्वेष रखनेवाले साधु का छद्म कराके पूर्वजन्म

---

१. पाश्चात्य धर्मगाथाओं में अएनीज अपने स्वामिभक्त मित्र एकवीज के साथ दूर समुद्र में तूफान के कारण एक द्वीप पर पहुँचता है, जहाँ डीडो नाम की सुन्दरी स्वयं ही राज्य कर रही हैं। अएनीज और इस सुन्दरी में प्रेम हो जाता है। अएनीज एक दिन जहाज द्वारा चुपके से उस द्वीप से चला जाता है। सुन्दरी वहीं वियोग में जल मरती है।

२ दे० पाषाण नगरी—श्री शिवसहाय चतुर्वेदी।

में चिरैया द्वारा किये गये दुर्व्यवहार को घृणा का कारण बताया गया हैं। जिससे वह सुन्दरी उसे अपना पति समझकर फिर आकृष्ट हो जाती है। और इस प्रकार बाधा का निराकरण हो जाता है।

बाधाओं के विधान और उनके निराकरण के अनेक रूप हमें कहानियों में मिलते हैं। सीता की प्राप्ति के लिए धनुष तोड़ने की शर्त भी बाधा के रूप में ही है।

५—प्रेयसी सोती मिलती है। जिसे युक्ति से नायक जगाता है—सुषुप्त सौंदर्य (स्लीपिंग ब्यूटी) से सम्बन्ध रखने वाली कहानियों की गिनती कठिन है।[1] यह निद्रा कभी कभी तो साधारण होती है। सोते से जगाने के लिए नायक या तो सिरहाने के तकिए को पैरों की ओर और पैरों के तकिए को सिरहाने की ओर रखता है या कभी शय्या को हल्का धक्का लगा देता है।

कभी यह निद्रा मृत्यु के समान होती है, राक्षस या नाग उसे अपने दिव्य साधन से मृतवत् करके चला जाता है और आकर फिर उसे जीवित कर लेता है। बहुधा ऐसा दो लकड़ियों से होता है जिन्हें सिरहाने और पायताने बदल देने से वह या तो मर जाती है या जीवित हो उठती है। नायक या तो बुद्धि से या छिप कर इस विधि को देख कर जान लेता है और लाभ उठाता है।

कभी सिर और धड़ अलग मिलते हैं जिन्हें जादू की छड़ी से छू कर जीवित कर लिया जाता है।

६—प्रेयसी को प्राप्त कर अथवा पुनः प्राप्त कर नायक, सहायक और सुन्दरी चलते हैं और एक वृक्ष के नीचे ठहरते हैं। जहाँ वे भविष्यवाणियाँ सुनते हैं—

प्रथम प्राप्ति के उपरान्त सुन्दरी का अपहरण होता है, और उसकी पुनः प्राप्ति का प्रयत्न होता है। यह स्वयं एक नई कहानी बन जाती है—नल और मोतिनी की कहानी में भी ऐसा ही होता है। बंगाल की कहानी 'फकीर-चन्द' में भी यह अभिप्राय विद्यमान है।

सुन्दरी का यह अपहरण बहुत व्यापक अभिप्राय है।

७—भविष्यवाणियां कहने वाले प्रायः दो प्राणी होते हैं—वे अलौकिक

१. देखिये "स्टेंडर्ड डिक्सनरी आव फोकलोर" निबन्ध—लिटिल ब्रायर रोज पृ० ६३३। लैटिन की धर्मगाथा में क्यूपिड को साइक दिव्य निद्रा में मग्न मिलती है। क्यूपिड उसकी वह मोह-निद्रा भग्न करता है और साइक से विवाह करता है।

यक्ष भी हो सकते हैं, पक्षी हो सकते हैं[1], कहीं कहीं एक ज्योतिषी ही यह कार्य सम्पन्न करता है, कहीं कहीं केवल आकाशवाणियाँ ही हो सकती हैं। मिस्र से मिलने वाली प्राचीन कहानी में ऐसी भविष्यवाणी का उल्लेख है।[2]

८—भविष्यवाणियों में तीन सामान्य संकटों का उल्लेख होता है। ये तीन संकट अलग अलग कहानी में अलग अलग रूप ग्रहण कर सकते हैं। इन संकटों का स्वरूप यह है–

क—जादू का हार जिससे गला घुट जायगा (कथासरित्सागर की कहानी में)

ख–जादू का आम्रवृक्ष। जिसका आम खाने वाला मर जायगा। (यह अभिप्राय वस्तुतः विष देने के अभिप्राय के ही समान है। केवल इसका रूप दिव्य है)

ग—दरवाजा टूट कर गिर पड़ेगा। (यह वृक्ष की शाखा गिरने के समान ही है[3]।)

१—सिरी जातक में दो मुर्गे लड़ पड़ते है, और लड़ते लड़ते बातें करते हुए ऐसी बातें कहते हैं जिनसे सुनने वाला उन्हें मार कर लाभ उठाता है। कथाकोष की रानी मदनावती तोता-तोती की बातें सुनकर अपने शरीर की दुर्गन्ध का कारण भी जान लेती है और दूर करने का उपाय भी। कथाकोष में ललितांग की कहानी में अंधा राजकुमार भारुण्ड पक्षियों से नेत्र-ज्योति पाने का उपाय जान लेता है। दक्षिण की कहानियों में दो साँप परस्पर बातें कर के सुनने वाले के मन में उन्हें मार कर लाभ प्राप्त करने की इच्छा पैदा कर देते हैं। पंचफूल रानी गीदड़ों की बातों से अपने पति को जीवित करने का उपाय जान लेती है। एक कहानी में उल्लू के मुख से लक्ष्मण अपने भविष्य का वृत्तान्त सुनते हैं।

२—इस मिश्र की कहानी में हथोर नाम की भाग्यलिपि लिखने वाली बेमाता जैसी देवियाँ भविष्य बतातीं है।

३—दरवाजे अथवा वृक्ष के गिरने का अभिप्राय भी बहुत प्रचलित अभिप्राय है। ढोला और मारू के कथानक में भी दरवाजे के गिरने से ढोला की मृत्यु का विधान है। जिससे करहा (ऊँट) उसे बचा ले जाता है यद्यपि उसकी पूँछ गिर जाती है। करहे के स्थान पर घोड़े की पूँछ गिरने का उल्लेख एक आयरिश रोचक कहानी में मिलता है। जिसमें एक किसान को शैतान क्रू शाप देता है कि जब तक तुम प्रकाश की तलवार लाकर नहीं दोगे तुम अपनी सुन्दरी प्रियतमा के साथ सुख नहीं पा सकोगे, अपनी प्रियतमा से बिना परामर्श किये वह किसान एक विशेष घोड़ा लेकर एक तीन परकोटे के किले पर आक्रमण करता है। जब पहले परकोटे को उसका घोड़ा अपने स्वामी के प्राणों की रक्षा करने के लिए लौटता हुआ फलाङ्गता था तभी किले के शैतान के फेंके अस्त्र से उसकी पूंछ कट कर गिर गयी। पर वह स्वामी को बचा कर ले भागा। देखिये–सनलोर आव आल एजेज, पृ० १११-११४।

दरवाजे के स्थान पर वृक्ष के गिरने की बात भी बहुधा मिलती है। कहीं कहीं दोनों का भी समावेश हैं। कहीं–जैसे भयाबूज की कहानी में–'सरकनी शिला' गिरने का भी विधान है।

ध—शयन कक्ष में सौ बार छींक (कथासरित्सागर में है)

ङ—एक दुष्ट घोड़ा (यह घोड़े का अभिप्राय भी काफी प्रचलित है। पर इस कहानी के साथ इधर नहीं मिलता)

च—विषमिश्रित भोजन (विषैले भोजन के अभिप्राय में कोई विशेषता नहीं, यह तो बहुत सामान्य है।)

छ—शयन कक्ष में सर्पदंश[1] (यह अभिप्राय इस कहानी में अंत में अवश्य ही मिलता है। केवल कथासरित्सागर में यह नहीं है)

ज—जलकर मरना (बहुत ही कम संस्करणों में इसका समावेश है)

झ—चट्टान पर गिरना (इसका भी बहुत कम प्रयोग किया गया है)

ञ—विवाह के दिन सर्पदंश (इसमें और ७ वें में कोई विशेष अंतर नहीं)

ट—विषैले अथवा अग्नेय वस्त्र (यह अभिप्राय भी बहुत प्राचीन है, और पौराणिक भी है। हरक्यूलीज की मृत्यु ऐसे ही विषैले वस्त्र से हुई थी।[2])

ठ—डाकुओं से मुठभेड़—(एक सामान्य अभिप्राय है)

ड—नदी में डूबना—(सूखी नदी में होकर जाते ही बीच में बाढ़ आ जायगी और डूब जायंगे। यह कई कहानियों में है)

१—सर्प किसी न किसी रूप में पुष्पवती होने की अवस्था और संस्कार से संबंध रखता है। यह दक्षिण-पूर्वी बोलिविया के चिरिगुआनों में मिलने वाली एक प्रथा से विदित होता है। वहाँ जब कोई कन्या सबसे पहले पुष्पवती होती है, तो तीसरे महीने घर की बड़ी बूढ़ी स्त्रियाँ डण्डे लेकर उस कोठरी में जाती हैं जिसमें वह पुष्पवती कन्या छत से लटकायी गयी रहती है। और जो चीज उन्हें वहाँ मिलती है उसी में डण्डे मार कर कहती है, 'हम उस सांप को मार रही हैं जिसने इस लड़की को घायल किया है'। (दे० गोल्डन बाउ पृ० ६०७)

२—हरक्यूलीज देइअनीरा से विवाह करके घर लौट रहा था। मार्ग में एक नदी पड़ी। सेण्ठर नेस्सस (Centaur Nessus) देइअनीरा को कन्धे पर बिठाकर जब पार उतारने गया तब बीच नदी में उसके साथ अभद्र व्यवहार किया। हरक्युलीज ने इस दुष्ट को मार डाला। मरते मरते उसने देइअनीरा से कहा कि मेरे शरीर का कुछ रक्त लेकर अपने पास रख लो। यदि कभी हरक्यूलीज किसी स्त्री को तुमसे अधिक प्रेम करने लगे तो इस रक्त में रँग कर उसे वस्त्र पहना देना। यह तुम्हारे प्रेम की रक्षा करेगा। देइअनीरा ने उसे अपने पास रख लिया। एक बार इयूरीटस से युद्ध करते हुए कई स्त्रियाँ बंदिनी हुईं। उन्हें हरक्यूलीज ने अपनी स्त्री के पास भेज दिया। उनमें से इयोले नाम की राजकुमारी विशेष सुन्दर थी। देइयनीरा को यह भ्रम पैदा कराया गया कि हरक्यूलीज उसे बहुत प्रेम करता है। देइअनीरा ने तब उस रक्त से एक वस्त्र रँग कर हरक्यूलीज के पास भेजा। पहनते ही हरक्यूलीज तड़प कर मर गया। इसी प्रकार जादूगरनी मीडिया ने जादू के वस्त्र से अपने प्रेमी जेसन की दुल्हन को जला दिया था।

ढ—वृक्ष की शाखा गिरना—(यह ३ के समान है)

ण—चित्र का सिंह या बाघ जीवित होकर खा जायगा। (यह विशिष्ट अभिप्राय कुछ कहानियों में मिलता है)। उड़ीसा में मिलने वाली एक 'सत्य-नारायण' विषयक कहानी में भी चित्र के बाघ के जीवित हो जाने का उल्लेख है। राजा पद्मलोचन के पुत्र की आयु सत्यनारायण ने बारह वर्ष की ही नियत करायी। जिस दिन बारहवाँ वर्ष पूर्ण हो रहा था, उस दिन वह अपनी पत्नी के आग्रह पर एक बाघ का चित्र बनाने बैठा। चित्र बन जाने पर चित्र का बाघ जीवित हो उठा और राजकुमार को उसने मार डाला। (दे० स्टडी आव ओरिस्सन फोकलोर)

६—सहायक भविष्यवाणी सुनता है। वह संकटों से रक्षा करता है।

१०—अंतिम शयन-कक्ष वाले संकट से रक्षा करते समय पकड़ा जाता है सन्देह में मृत्यु दण्ड की आज्ञा होती है। (बुन्देलखण्ड की कहानी में, मित्रों की प्रीति में एक और संकट प्रस्तुत किया गया है। वह है रानी की नाक से सर्प निकलने का। रानी की नाक से सर्प निकलने का अभिप्राय भी बहुत प्रचलित है, पर वह इस कहानी से भिन्न वर्ग की कहानियों में मिलता है।

११—वह सहायक रहस्य-उद्घाटन कर देता हैं—जिससे वह पत्थर का हो जाता है [1]।

१२—नायक के प्रथम पुत्र का स्पर्श, या उसके बलिदान का रक्त उसे पुनः जीवित कर देता है [2]।

१—पत्थर होने का अभिप्राय अत्यंत प्राचीन और अत्यंत प्रचलित है। अहिल्या के पत्थर होने की कहानी तो हम सभी जानते हैं। पाषाण नगरी की प्रसिद्ध बुन्देलखण्ड कीं कहानी सभी क्षेत्रों में मिलती है। वह भी शाप का ही परिणाम है। ऐसी कहानियाँ भी बहुत हैं जिनसे किसी कठिन कार्य को करने से संकल्प से गया हुआ व्यक्ति किसी शोर को सुनता है और पत्थर हो जाता है। पाश्चात्य जगत में भी इसके अनेक प्रयोग हुए हैं। एक अभिशप्त शहर से भागते हुए लोट की स्त्री नमक का स्तभ बन गयी थी, क्योंकि उसने पीछे फिर कर सोडोम और गोमोरा पर दृष्टि डाली थी। गोरगन मेड्यूसा का रूप इतना भयावना हो गया था कि जो उसे देखता था पत्थर हो जाता था। अरेबियन नाइट्स में एक पाषाण नगर का उल्लेख है। ऊपरी मिस्र में इशमोनी नाम का नगर ही पत्थर का हो गया है। (दे० स्टैण्डर्ड डिक्सनरी आव फोकलोर-निबन्ध (पैट्रीफिकेशन)

२—रक्तलेपन—अहिल्यावाली कथा में यह चरण की रज का स्पर्श है। पाषाण नगरी में कहानी को दुहराना ऐसा ही अभिप्राय है। रक्त के स्पर्श अथवा लेप से प्राण पाने के अभिप्राय में वह आदिम विश्वास विद्यमान हैं जिसमें यह माना जाता है कि रक्त में प्राण है। उसके स्पर्श से रक्त का प्राण

१२—मृतक पुत्र को सहायक जीवित कर देता है। १. उनके सिर धड़ से मिला कर, २. देवी की कृपा पाकर।

इस प्रकार इन अभिप्रायों पर विचार करने के उपरान्त यह विदित हो जाता है कि कहानी ही पुरानी नहीं, उसमें आने वाले विविध अभिप्राय भी पुराने हैं और वे अत्यन्त विशद क्षेत्र से संबंधित हैं। उनमें से कुछ का सम्बन्ध निश्चय ही पुष्पवती अवस्था से है। पुष्पवती अवस्था के संबन्ध में आदिम मानव में अत्यन्त ही आशंका के भाव विद्यमान मिलते हैं। इस प्रकार जैन कथा-साहित्य में लोकयार्त्ता के तत्व पूर्ण रूपेण विद्यमान हैं।

वस्तुतः जैनियों की इस कथा-परम्परा से ही हिन्दी का सीधा सम्बन्ध उसके आरम्भ-काल में था। हिन्दी में लिखित साहित्य में लोककथा और लोक-वार्ता सम्बन्धी जो ग्रन्थ खोज में मिले हैं, अब यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय दे देना उचित प्रतीत होता है। इससे वेदों से लेकर हिन्दी के समय तक के लोक-साहित्य के रूप का पूर्ण किन्तु संक्षिप्त विकास समझा जा सकेगा।

हिन्दी में लोकवार्त्ता-कहानी

इसके लिए हमें 'खोज' रिपोर्ट तथा इतिहासों से वह सामग्री एकत्र करनी होगी जो हिन्दी के कहानी-साहित्य से संबंधित है। इस साहित्य के उस भाग पर भी यहाँ विचार नहीं करेंगे जो बहुत उच्चकोटि का है, और अत्यन्त प्रसिद्ध है। यहां हम यह देखेंगे कि क्या इस खोज से हिन्दी में कोई ऐसी सामग्री मिलती है जिसमें लोक-वार्ता की सीधी परम्परा विद्यमान हो। और जब हम हस्तलिखित ग्रन्थों की शोध के पन्ने पलटते हैं तो हमें आश्चर्य में पड़ जाना पड़ता है। अनेकों पुस्तकें हैं जो लोकवार्ता को प्रकट करती हैं। यहाँ हम संक्षेप में सभी का सामान्य लेखा-जोखा दिये देते हैं। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से हम उन पुस्तकों को साधारणतः सात विभागों में बाँटे लेते हैं। एक लोक-कहानी का। इस वर्ग में वे पुस्तकें आयेंगी जो लोक-प्रचलित कहानियों को कहानियों के लिए ही ग्रहण करती हैं। दूसरा है धर्म-महात्म्यकथा का—इस वर्ग में ऐसी कहानियाँ आती हैं जो या तो (अ) किसी व्रत से घनिष्ठ सम्बन्ध

स्थानान्तरित हो जायगा। बोर्नियों के ओट डनोमो में जब लड़की स्त्रीत्व की अवस्था पर पहुँचती है तो उसे कोठरी से बाहर निकाला जाता है। जिसमें वह ७ साल तक, एक प्रकार से बन्द रही। और एक बड़ा भोज होता है। एक गुलाम को मारकर उसका रक्त उस लड़की के शरीर पर लेपा जाता है। देखिये—गोल्डेन बाउ, पृष्ठ ५९७: यह पुष्पवती होने के समय का कृत्य पाषाण पर रक्त लेपन के विश्वास से कुछ संबन्ध रखता है, ऐसा विदित होता है।

रखती हैं। जब तक यह कहानी न सुन ली जाय व्रत पूर्ण नहीं होता। जैसे गणेश चौथ की कथा या (आ) ऐसी कथाएँ जो किसी व्रत या तीर्थ के महात्म्य को प्रकट करती हैं। (इ) या ऐसी कथाएँ जो साधारणतः ऊपर के प्रकार में नहीं आती पर जिनका धार्मिक महत्व हो, जिनसे कोई पुण्य लाभ हो। तीसरे वर्ग में वे कथाएँ आयेंगी जो 'अवदान' अथवा (legends) कही जाती हैं। चौथे वर्ग में वीर-गाथाएँ अथवा बैलैड (ballads) हैं। पांचवे में साधु-कथा हैं (hegeological)। छठे में पौराणिक कथाएँ (Mythological) हैं। सातवाँ वर्ग उन पुस्तकों का होगा जिनमें विविध लौकिक संस्कारों का उल्लेख पाया जाय। एक आठवाँ वर्ग विविध का हो सकता है।

१ कहानी	२ धर्म महात्म्य	३ अवदान	४ वीरगाथा
१, मूल ढोला	१, गणेशजू की कथा	१, हरदौल चरित्र	१, खानखवास की कथा
२, सिंहासन बत्तीसी	२, गणेश जी की कथा चार युग की	२, हरदौलजी का ख्याल	२, पृ० रा० रासो
३, बैताल पच्चीसी	३, श्री सत्यनारायण कथा	३, पन्ना वीरमदे की बात	(पद्मावती समय)
४, कनक मंजरी	४, यमद्वितीया की कथा		३, कृष्णदत्त रासौ
५, राजा चित्रमुकुट की कथा	५, एकादशी महात्म्य		
६, माधवानल कामकंदला	६, अनन्तदेव की कथा		
७, कथा चारदरवेश	७, यशोधर चरित्र		
८, चित्रावली	८, व्रत कथाकोष		
९, माधव विनोद	९, लघु आदित्यवार की कथा		
१०, प्रेम-पयोनिधि	१०, पूर्णमासी और शुक्र की कथा		
११, हितोपदेश	११, शिव व्रत कथा		
१२, विक्रम विलास	१२, सूर्य महात्म्य		
१३, किस्सा	१३, नर्मद सुन्दरी		
१४, सैंटा कौ ढोला	१४, पंच कल्याणक व्रत		
१५, चंदन मलयागिर कथा	१५, आदित्यवार कथा		

१	२	३	४
१६, रसरत्न	१६, निश भोजन त्याग व्रत कथा		
१७, कथा संग्रह	१७, शील कथा		
१८, मनोहर कहानियाँ	१८, वारांगकुमार चरित्र		
१९, शुक बहत्तरी	१९, भक्त महात्म्य		
२०, मृगावती	२०, पद्मनाभि चरित्र		
२१, मकरध्वज की कथा	२१, रौहिनी व्रत कथा		
२२, शुकरम्भा संवाद	२२, अघविनास		
२३, रूपावती	२३, मोहमर्द की कथा		
२४, लक्ष्मण सेन पद्मावती	२४, संयुक्त-कौमुदी भाषा		
२५, लैला-मंजनू	२५, आकाश पंचमी की कथा		
२६, इन्द्रावती	२६, ध्यानकुमार चरित्र		
२७, राजारिसालू	२७, षट कर्मोपदेश		
२८, चंदायन	२८, धर्म परीक्षा		
२९, मैनासत	२९, रत्न ज्ञान		
	३०, श्रीपाल चरित्र		
	३१, पुण्याश्रवकथा		
	३२, रुक्मांगद की कथा		
	३३, रविव्रत कथा		
	३४, विष्णुकुमार की कथा		
	३५, रवि कथा		
	३६, वन्दीमोचन		
	३७, हरतालिका कथा		

५	६	७	८
संत कथा	पुराण कथा	संस्कार वर्णन	विविध
१ जन्मसाखी : कबीर की :	१ धर्मसंपद की कथा	१ ठाकुर जी की घोड़ी	१ ब्रजभान की कथा
२ नामदेव की	२ जैमुन की कथा	२ रामकलेवा	२ विसइ कथा
३ राजा पीपा की जन्मसाखा	३ हरिश्चन्द्र की कथा	३ षट रहस्य	३ अन्तरिया की कथा
	४ नासकेत	४ वना	
४ रैदास की परिचई	५ चण्डी चरित्र		
५ सेऊ सम्मन की परिचई	६ नृसिंह चरित्र		
६ रांका वांका	७ बहुला कथा		
७ नवल्लद नामा	८ सुदामा जी की बारहखड़ी		
८ धना परचई			
	९ श्रवणाख्यान		
	१० नृगोपाख्यान		
	११ शिवसागर		

१२ वीर विलास :द्रोणपर्व:
१३ उषा चरित्र
१४ प्रद्युम्न चरित्र
१५ सुन्दरी चरित्र
१६ आदि पुराण की
बालबोध भाषा बचनिका
१७ महापद्म पुराण
१८ प्रहलाद पुराण
१९ राम पुराण
२० बहुला व्याघ्र संवाद
२१ सुख सागर कथा
२२ सुधन्वा कथा
२३ सीता चरित्र
२४ हनुमान चरित्र
२५ पाण्डव यशेन्दु चन्द्रिका
२६ महादेव विवाह
२७ उर्वशी
२८ पुरन्दर माया
२९ दसम पर्व
३० हरिचंद संत
३१ जानकी विजय

यह सूची पूर्ण भी नहीं और ऐतिहासिक क्रम से भी नहीं। किन्तु इससे हिन्दी-साहित्य में लोक-वार्त्ता विषयक रचनाओं का सामान्य परिचय अवश्य मिल जाता है। लोक-वार्त्ता साहित्य में किस वर्ग की विशेष लोक-प्रियता रही है, यह भी विदित हो जाता है। लोक-वार्त्ता साहित्य के वैविध्य का भी ज्ञान हो जाता है। सिंहासन बत्तीसी, वैताल पच्चीसी, माधवानल-कामकंदला, कथा चारदरवेश, हितोपदेश, माधव-विनोद, शुकवहत्तरी, विक्रम-विलास प्रसिद्ध कहानियों से सम्बन्ध रखने वाली कृतियाँ हैं। माधव-विनोद में मालती-माधव की कहानी है। मूल ढोला तथा सेंटा का ढोला, 'ढोला मारू' की कहानी से सम्बन्धित है। मूल ढोला प्रसिद्ध ढोला की तर्ज में नहीं है। इसके लेखक नवलसिंह ने ढोला की शैली से मिलती जुलती शैली के साहित्यिक छन्द को अपनाया है। उसने लिखा है:—

"............मुलुकों सुमिरि हिये धरि ध्यान।
कहौं मूल ढोला रुचिर हित ढोला रुचियान ।।
ढोला गावैं जोग छन्द रोला तजवीजौ ।
ढोला ही सो झपट लटक गावत में कीजौ ।।
चौथी तुक कौ अन्त अर्थ दुहराके गावौ ।
तापैं अछ्छर चारि अर्थ के मिलवत आवौ ।।
रे पै स्वर विश्राम ठहर कर राषत जाई।
ढोला कैसौ षीन प्रगट जह रीति जगाई ।।
षंमाइच षंजरी ताल तबला बजवानों ।
निज रुचि को चातुर्ज करब औरहु को जानौ ।

रोला की सहायता से ढोला का दृश्य उपस्थित करने की लालसा कवि में है। ढोले को उसने साहित्यिक रूप देने का उद्योग किया है । इससे ढोले की व्यापक प्रियता भी विदित होती है। इन ढोलों में ढोला मारू ही की कहानी है। वर्त्तमान समय में इस लोकगीत में ढोला के पिता नल की औखा (कष्ट) का जो वर्णन बढ़ गया है, उनका उल्लेख इनमें नहीं। मूल ढोला से विदित होता है कि ढोला बढ़ाकर भी गाया जाता था। विक्रम-विलास, किस्सा, कथा-संग्रह, मनोहर कहानियाँ आदि कहानियों के संग्रह हैं । किसी किसी में तो १०० कहानियाँ तक हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक है।

शेष कुछ ग्रन्थों के परिचय अत्यन्त संक्षेप में यहां देना समीचीन होगा। इन परिचयों से इन रचनाओं के लोकतात्विक रूप का परिज्ञान हो सकेगा। **कनकमंजरी**[1] की कहानी (रचना-काल सं० १६२३ से १७७७ के बीच) की संक्षिप्त यह हैं।

रतनपुर में घनघोर शाह थे। कनकमंजरी स्त्री थी। शाह समुद्र यात्रा को गया तो एक तोता-मैना उसको बहलाते थे। उसका हार स्नान करते समय एक कौआ ले गया। इस हार को देखकर एक राजकुमार उस पर आसक्त हो गया[2]। उसने अमूप दूती ढूंढ़ने को भेजी। वह भिखारिणी बनी, दुःखिनी

१—लेखक—काशीराम, राजकुमार लक्ष्मीचन्द के लिए बनायी गयी।

२—हार को देखकर हार पहनने वाली पर आसक्त होने की घटना कुछ अद्भुत है। अन्यत्र एक कहानी में चील तो हार को सर्प समझकर ले गयी है। किंतु उस हार से मोहित होने की बात नहीं हुई। ललटकिया की कहानी में पैर की जूती देखकर मोहित होने की बात मिलती है। बालों को देखकर या उनकी सुगंध से तो कई कहानियों के नायक मोहित हुए हैं। इस सम्बन्ध में मिस्र की एक पुरानी कहानी का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

से भीख न लेना उसने ठहराया। कनकमंजरी से मिली, पति-प्रवास का हाल पूछ लिया, दूसरे दिन पान-मिठाई बाँटी, कनक-मंजरी से कहा कि ये चिन्ताहर की पूजक एक तपस्विनी का प्रसाद है। और वहाँ जो चिंताहर की पूजा करता है, उसका उसके प्रिय से मिलन हो जाता है। कनकमंजरी चिंताहर की पूजा के लिए चली। मैना ने रोका, किंतु उसने एक न सुनी। दूसरे दिन एक दूती तपस्विनी बनकर उसे पूजा को ले जाने लगी। उसी समय तोते ने महावर डाल दिया और कनकमंजरी को रजस्वला बताकर पाँच दिन ठहराया। पाँच दिन के बाद उसने कहा:—

पीपा गये न द्वारिका, बदरी गए न कबीर।
भजन भावना से मिले, तुलसी से रघुवीर॥

और घर में ही पूजा करायी। तोते ने एक दृष्टान्त देकर कुसंगति और जल्दबाजी का परिणाम बताया। दूसरे दिन अनूप आयी तो कनकमंजरी ने कहा 'चिंताहर घट माही'। वह गयी और एक नाव बनवा लायी। सारिका ने एक दृष्टान्त देकर उसे चढ़ने से रोका। राजकुमार ने सिंहलपुर को फौज ले जाने की डौंडी पिटवायी। अनूप ने उसे पति के पास जाने को तैयार किया। सारिका ने छींक दिया। साहूकार आया। हार दिखाकर राजकुमार ने कनक को कलंकित बतलाना चाहा। तोता हार को लेकर उड़ आया। दूती के नाक कान काटे, प्रेमी मिल गये।

कनकमंजरी कहानी में लोकवार्त्ता के अत्यन्त प्रचलित कई तत्व मिलते हैं। कौए द्वारा हार उड़ा ले जाना, हार को देख कर एक राजकुमार का मोहित होना—दूती का नियुक्त किया जाना, मैना द्वारा उसको बार-बार दूती के चक्र से बचाये जाना, तोते का हार लेकर उड़ जाना जिससे राजकुमार उसके द्वारा कनक मंजरी को लांछित न कर सके। ये सब घटनाएँ इसी रूप में अथवा रूपान्तरित होकर शतशः कहानियों में मिलती हैं।

राजा चित्रमुकुट की कथा तो प्रायः इसी रूप में ब्रज में प्रचलित है, और अन्यत्र भी मिलती है। खोज में मिली पुस्तक की कथा का संक्षिप्त रूप यह है:—

राजा चित्रमुकुट के १०,००० रानियाँ थीं, ९०० पुत्र थे। राजा शिकार खेलते रास्ता भूले। छाँह में बैठे, इतने में एक व्याध ने एक हंस को फंदे में फँसाया। राजा ने बलात् उसे छुड़ा दिया। वह हंस राजा के साथ ही महल में आया। रानी मिलने आयीं। एक रानी ने पूछा—"मैं तुम्हें कैसी लगती हूँ? राजा ने कहा, 'मैं तुम्हारा गुलाम हूँ।' इस पर हंस हँस पड़ा। राजा ने हँसने का कारण पूछा तो उसने कहा कि तुम ऐसी ही रानी के चेरे हो गये। इसी बात

पर मैं हँसा। ऐसी के हाथ का तो पानी न पिये। हंस ने राजा से चन्द्रभान की बेटी चन्द्रकिरन का वर्णन किया। राजा ९०० पुत्रों सहित योगी बन कर उसकी खोज में निकला। समुद्र किनारे पहुँचे। अकेला राजा हँस पर चढ़ कर समुद्र पार अनूपनगर में पहुँचा। हंस के द्वारा चन्द्रकिरन से भेंट की। विवाह हुआ। रानी के गर्भ रहा। हँस पर चढ़कर आ रहे थे कि एक टापू में लड़का हो गया। राजा सूतिकागृह की सामग्री लेने गये। सोंठ, घृत, अग्नि लेकर लौट रहे थे कि हंस के पंखों पर अग्नि और घी गिर गया, वह जल गया। उसी दिन उस नगर का राजा मर गया। मंत्रियों ने इसी राजा को गद्दी दी। वहाँ चन्द्रकिरन टापू पर पत्तों के सहारे जीने लगी। एक व्यापारी जहाज पर आया। चन्द्रकिरन को अपने घर ले गया। रानी व्यभिचार को राजी न हुई। उसने उसे वेश्या के हाथ बेच दिया। लड़के को व्यापारी ने रख लिया। बालक बड़ा हुआ। वेश्या इसे धनिक जान उसे उसकी माँ के पास ले गयी। माँ का दूध उतर आया। लड़के को उसने सब कथा सुना दी। लड़का व्यापारी को पकड़ राजा के पास ले गया। सब कथा सुनकर राजा ने अपने बेटे को छाती से लगाया। चन्द्रकिरन ने हंस का हाल पूछा। उसकी हड्डियाँ निकालीं, जल छिड़का और कहा यदि मैं निर्दोष हूं तो जी उठ। वह जी उठा। चन्द्रमुकुट उसी मृत राजा के पुत्र को गद्दी देकर वहाँ से चला। इस पार आकर राजा अपने ९०० बेटों से मिला।

उसमान की **चित्रावली** भी प्रसिद्ध है। उसे श्रीगणेशप्रसाद द्विवेदी ने 'हिंदी के कवि और काव्य' भाग ३ में सम्मिलित कर लिया है। यह सूफी कवियों की 'प्रेमगाथाओं' की कोटि की है। यद्यपि उसमान ने यह दावा किया है कि—

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ औ सुनत सुहाई ॥
कहों बनायें वैस मोहि सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा ॥

किन्तु इस चित्रावली की कहानी के प्रमुख-तत्व इधर-उधर लोकवार्ताओं में बिखरे मिलते हैं। उन्हीं से लेकर यह चित्रावली उसमान ने 'उपाई' है।

सूफी प्रेम-आख्यान-काव्य के समकक्ष ही मृगेन्द्र कवि की प्रेम-पयोनिधि है। इसका संक्षिप्त वृत्त यहां दिया जाता है :—

जगत प्रभाकर नाम का एक राजकुमार था। इसने एक तोते से राजा सहपाल की कन्या का रूप वृत्तान्त सुना। वह उस पर मोहित हो गया। उसके दरबार में एक शशिकला नाम की स्त्री थी। उसी की सहायता से राजकुमार सफल मनोरथ हुआ। फिर सहपाल की कन्या का दुखित होना, मन्त्री-पुत्र का उसको धोखा देना, किसी योगी की सहायता से दुःख छूटना, और फिर किसी पिशाच

और यक्ष के द्वारा क्लेश पाना आदि दुखद घटनाएँ हैं। फिर उसी तोते से मिलना और उसकी सहायता से अपनी प्रिया को प्राप्त करना। मंत्री-पुत्र को वध करना और राज्याभिषिक्त हो सुख से राज्य करना।

इस कहानी में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। सूफी प्रेम-आख्यान की परम्परा की क्षीण-काय आवृत्ति मात्र है।

चन्दन और मलयागिरि रानी की कहानी अम्बा, आमिली, सरवर और नीर की लोक-कहानी के समकक्ष है। सरवर और नीर ज्यों के त्यों इसमें हैं। यह भी प्रसिद्ध प्रचलित कहानी है। सं० १६७० से सं० १७७६ तक के विविध लेखकों द्वारा लिखित इस कथा के आठ ग्रन्थों का उल्लेख तो नाहटा जी ने ही किया है।

चन्दन राजा और मलयागिरि रानी का सौन्दर्य वर्णन, कुलदेवता का राजा चन्दन को भविष्य कष्ट से आगाह करना। राजा चन्दन का और रानी का अपने दोनों पुत्र सहित कनकपुर पहुँचना, रानी का जंगल में लकड़ी चुनने जाना और एक सौदागर से भेंट होना, सौदागर का आसक्त होना और अपने नौकरों द्वारा रानी को मँगाना, सौदागर और रानी की बातचीत, सौदागर का जहाज चला देना, राजा चन्दन, मलयागिरि, सरवर और नीर को पृथक-पृथक कर देना, लड़कों का पालन-पोषण होना और अन्य राजा के यहाँ नौकर होना, सौदागर का उस स्थान पर पहुँचना, दोनों भाइयों का आपस में अपनी विपत्ति वर्णन करना। अन्त में सबका मिल जाना।

'**रसरत्न**' (रचना-काल १६१६ ई०) यथार्थ में लोकवार्त्ता अथवा कहानी पुस्तक नहीं। यह रसों का वर्णन करने के लिए लिखी गयी है। रसों का वर्णन करते हुए, 'कथा विषय वह महात्म्य' वर्णन करते हुए सूरसेन और रम्भा की प्रेम कहानी लिखी गयी है। यह कहानी भी लोक-कहानियों के आधार पर है, इसमें सन्देह नहीं। यह इसकी संक्षिप्ति देखने से ही विदित हो जाता है।

'कथा विषय वह माहात्म्य वर्णन', वैरागढ़ के राजा सोमेश्वर का पुत्रार्थ काशी जाना और शिव-भक्ति करना—पुत्र-उत्पत्ति, पंडितों का भविष्य-कथन, चम्पावती नगरी और वहाँ के राजा का वर्णन, पुत्रार्थ देवी की उपासना-विजयपाल के यहाँ कन्या-जन्म, कन्या का बालपन, यौवन, वयसन्धि वर्णन, सूरसेन और रम्भा में स्वप्न-द्वारा प्रेम उत्पन्न—आकाश वाणी, वैद्य उपचार-सखी का उन्माद, मदना सखी का सम्वाद, रम्भा का पुनः स्वप्न देखना, मदना सखी का कुमार को खोजने का प्रयत्न। सूरसेन का विरह। 'चित्रकार का वैरागढ़

पहुँचना तथा नगर वर्णन, कुंअर से मिलाप करना, रम्भा का चित्र दर्शन, चित्रकार का पयान ।'

मृगावती का उल्लेख जायसी, उसमान आदि ने प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ के रूप में किया है । यह भी सूफी ढंग की प्रेम कहानी मानी जा सकती है ।

इस प्रकार हमें अबतक की शोध में प्राप्त लोक कहानियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है । ये कहानियाँ कहानियों की दृष्टि से ही लिखी-पढ़ी गयीं, इसमें कोई संदेह नहीं ।

दूसरे प्रकार का लोकवार्ता साहित्य जो ग्रन्थ-रूप में खोज में मिला है 'धर्म महात्म्य-कथा' है । ये ग्रन्थ कई विभागों में रखे जा सकते हैं—इनमें पहले तो ऐसे ग्रन्थ हैं जो धार्मिक-व्रत के अनुष्ठान के प्रधान अंग हैं । उदाहरण के लिए 'गणेश जी की कथा' । गणेश-चतुर्थी को गणेशजी की प्रसन्नतार्थ व्रत रखा जाता है । इस व्रत का फल बिना कथा सुने नहीं होता । व्रत-कथा तथा चंद्रमा के उदय पर जल चढ़ाना ये इस गणेश-चतुर्थी के धार्मिक अनुष्ठान के प्रधान अंग हैं । ऐसी कथाएं दो संप्रदायों से सम्बन्ध रखने वाली मिली हैं । एक हिंदुओं की, दूसरी जैनों की । हिंदुओं की कथाएँ कम मिली हैं । वे ये हैं—

१—श्री गणेश जू की कथा
२—श्री सत्यनारायण की कथा
३—यमद्वितीया की कथा
४—पूर्णमासी और शुक्र की वार्ता
५—शिव व्रत कथा
६—एकादशी महात्म्य
७—हरतालिका कथा

शेष निम्न ग्रन्थ जैनियों के व्रतों से सम्बन्धित हैं ।

१—अनन्त देव की कथा
२—लघु आदित्यवार कथा
३—पंच कल्याणक व्रत
४—आदित्यवार कथा
५—निशिभोजन त्याग व्रत-कथा
६—शील कथा
७—श्रुत पंचमी कथा
८—रोहिनी व्रत की कथा
९—आकाश पंचमी की कथा

१०—रविव्रत कथा

११—रवि कथा

इनमें एक वर्ग ऐसे ग्रन्थों का है जो 'माहात्म्य' से सम्बन्ध रखते हैं, अथवा किसी व्रत का महत्व और आवश्यकता बताते हैं, उसके अनुष्ठान के अङ्ग नहीं विदित होते। इनमें ये ग्रन्थ आ सकते हैं : १ सूर्य महात्म्य, २ व्रत-कथा-कोष। इनमें से व्रत-कथा कोष जैन-ग्रन्थ हैं। कुछ वे ग्रन्थ हैं जो धर्म के प्रचार की दृष्टि से उपयोगी हैं। इसमें किसी विशेष धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है। ऐसे ग्रन्थ बहुधा जैन-धर्म की महत्ता के द्योतक हैं। संयुक्त कौमुदी भाषा, वारांग-कुमार चरित, नर्मद सुन्दरी, पद्मनाभि चरित्र में जैन धर्म का महत्व प्रतिपादित किया गया है। 'मोहमरद की कथा' जैसे ग्रन्थ में धर्म के मर्म की सूक्ष्म परीक्षा की कहानी दी गयी हैं। 'चण्डी-चरित्र' भी धार्मिक महत्व की पुस्तक है। यह दुर्गापाठ का अनुवाद है।

एक बहुत बड़ी संख्या उन ग्रन्थों की है जो धार्मिक-अनुष्ठान अथवा उसके माहात्म्य से तो संबन्धित नहीं, पर जो धार्मिक दृष्टि से लिखे गये हैं। वे धर्म-ग्रन्थों में गिने जा सकते हैं और उनका स्वभाव पुराणों से मिलता जुलता है। उनका विषय अँग्रेजी शब्द माइथालाजी से अभिव्यक्त किया जा सकता है। ये ग्रन्थ या तो किसी पुराण के अथवा उसके किसी अंश के अनुवाद हैं, अथवा पुराणों से लिये गये किसी विषय पर स्वतन्त्रता पूर्वक लिखे गये हैं। इन सबके विषय उनके नामों से विदित हैं। इनमें से आदिपुराण जैनियों का पुराण है। महापद्मपुराण भी उन्हीं का है। धर्मसंपद की कथा में युधिष्ठिर संवाद महाभारत से लिया हुआ है। जैमुन कथा में जैमिनी अश्वमेघ का विषय है। हरिश्चन्द की कथा कहीं कहीं आदित्यवार की कथा का अङ्ग मानी गयी है। नासकेत कठोपनिषद के नचिकेता का हिन्दी में आवर्त्तन है। चण्डी-चरित्र प्रसिद्ध दुर्गापाठ का अनुवाद है। नृसिंह चरित्र में नृसिंह अवतार का, बहुला-कथा में 'भविष्योत्तर पुराणान्तर्गत बहुला व्याघ्र सम्वादे' से लेकर बहुला कथा का, सुदामाजी की बारहखड़ी में सुदामाचरित्र का, श्रवणाख्यान में श्रवण-कुमार के चरित्र का, नृगोपाख्यान में राजा नृग के चरित्र का, शिवसागर में नारद-चरित्र, देवी-देव-चरित्र, जालन्धर कथा, तुलसी चरित्र, सावित्री चरित्र आदि का, वीर-विलास मैं महाभारत के द्रोण प्रद्युम्न के चरित्र का, सुन्दरी-चरित्र में राजा सुरथ और समाधि वैश्य के संवाद द्वारा देवी की उपासना के फल तथा देवी-चरित्र का वर्णन है। 'आदि पुराण' 'रचना-काल (१८६७ ई०) में निम्न विषय है :

गंधिल नामक देश का राजा अतिबल—उसका पुत्र महाबल—पुत्र को

राज्य देकर स्वयं दीक्षा ले लेना। महाबल का प्रताप—स्वयंबुद्धि उसका मंत्री उसे विविध कथा सुनाकर धर्म की ओर ले जाता है। मंत्री का सुमेरु पर जाना, आदित्यगति और अरिंजय नामक दो साधुओं का आगमन—मंत्री का अपने स्वामी का अदृष्ट पूछना—साधुओं के भव्य होने की, इस भव से दसवें भव में होने की भविष्यवाणी—राजा जम्बू द्वीप का प्रथम जिन हुआ—सिंहपुर नगर के श्रीसेन राजा की सुन्दरी नाम्नी स्त्री से जयवर्मा और श्रीवर्मा नाम के दो पुत्रों की उत्पत्ति—श्रीवर्मा को राज्य-प्राप्ति—जयवर्मा का बन जाकर मुनि होना—विद्याधर के वैभव की इच्छा करना—उसी समय सर्प द्वारा डसा जाना—उसका महाबल होकर उन्हीं भोगों का भोगना—उसका ललितादेव होकर विषय भोग करते हुए पुनः योग की ओर दृष्टिपात करना—ललितांगग की कान्ति का मन्द हो जाना—शोक—स्वर्गीय सज्जनों द्वारा शोक-विनाश—मित्र द्वारा उसका सोलहवें स्वर्ग में पहुँचना। उत्कल पेट नगर के राजा वज्रबाहु की रानी वसुन्धरा से इसका जन्म होना—स्वयंप्रभा देवांगना का भी इसी समय जन्म लेना—राजा को स्वप्न—अपनी पत्नी तथा उसके पति भव का वृत्तान्त जानना—उसकी पुत्री वज्रजंघ का विवाह—उसकी बहिन अनुधरी का चक्रवर्ती के पुत्र सहित अमिततेज से विवाह—वज्रजंघ का विरक्त हो जाना—कुटुम्बियों का शोक—इत्यादि—

यह महा ग्रन्थ जैनियों का आदि पुराण है। इसके मूल लेखक सेनाचार्य हैं।

'महापद्मपुराण' (रचना-काल १७६६ ई०) में जैनियों की दृष्टि से राम-चरित्र का वर्णन है। इसका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है :—

मंगलाचरण आदि—वर्द्धमान स्वामी का वर्णन–द्वितीय अधिकार—लोक-स्थिति—सूर्य तथा चन्द्र वंश की उत्पत्ति—आदिनाथ का वर्णन—सगरपुत्रों की कथा, नरक स्वर्ग का वर्णन—रावणादि की पूर्व जीवन-कथा।

तीसरा महाधिकार—राम बनवास

चौथा महाधिकार—राम-रावण युद्ध

पाँचवाँ महाधिकार—लवकुश का वृत्तान्त

छठवाँ महाधिकार—राम का निर्वाणगमन

राम-चरित की जैनियों में मान्यता है, इसे सभी जानते हैं।

हिन्दी* की एक अत्यन्त पुरातन रामायण स्वयंभू की रामायण है। यह

---

* हिन्दी से यहाँ अभिप्रायः प्राचीन हिन्दी अथवा उत्तर कालीन अपभ्रंश से है।

'स्वयंभू रामायण' अनेकों स्थानों पर जैनियों के यहाँ मिलती है। यह यथार्थ में उनके पुराण का प्रधान विषय है। प्रह्लाद-चरित्र में हिरण्यकश्यप तथा प्रह्लाद-चरित्र है। रामपुराण रामचरित ही है। बहुला व्याघ्रसंवाद और बहुला-कथा का एक ही विषय है। भविष्योत्तर पुराण से लिया गया है। सुखसागर-शुकसागर है। सुधन्वा कथा में अर्जुन और उसके पुत्र सुधन्वा के युद्ध का वर्णन है। सीता-चरित्र, हनुमान-चरित्र विख्यात हैं--पाँडव यशेन्दुचन्द्रिका में महाभारत की संपूर्ण कथाएँ हैं। इसी प्रकार महादेव विवाह, उर्वशी तथा पुरन्दर माया आदि पुराणों से लिये गये विषयों पर कथाएँ हैं।

यहाँ तक हमने ग्रन्थ-रूप में मिलने वाले कथा-कहानी साहित्य की उन शाखाओं पर विचार किया है, जिनके ग्रन्थ अधिक मात्रा में मिलते हैं। किन्तु इस प्रकार खोज में मिलने वाले ग्रन्थों में 'सन्त-कथा' सम्बन्धी भी कई ग्रन्थ हैं। इनमें किसी महात्मा के चरित्र का वर्णन होता हैं। कबीर, नामदेव, पीपा, रैदास, नानक, धना, सेऊ-सम्मन आदि के चरित्रों का इन ग्रन्थों में वर्णन है। किन्तु ये जीवन-चरित्र नहीं कहे जा सकते। इनमें जीवन के ऐतिहासिक वृत्त की अपेक्षा, उनके सम्बन्ध में प्रचलित लोक-प्रवादों का विशेष समावेश होता है। सन्तों के चमत्कारों का अद्‌भुत वर्णन इनमें होता है। ऐसे वर्णन लोक-वार्त्ता का अंग माने जाते हैं। क्योंकि इनके निर्माण में लोक-तत्व और लोक-रूढ़ियों को ही काम में लाया जाता है। इसका संकेत संतों के वर्णन में भी ऊपर दिया गया है। उदाहरणार्थ सेऊ-सम्मन चोरी करने जाते हैं, प्रातः पता न लग जाय, इसलिए एक का सिर काट लाते हैं। यह घटना ईसापूर्व २-३ हजार वर्ष पूर्व की मिस्र की कहानी में ज्यों की त्यों मिलती हैं। सिंहल में गुरुनानक का बारहवर्षीय पुत्र को माता-पिता के हाथों से कत्ल कराना और रँधवाना तथा पुनरुर्जीवित करना, मोरध्वज के पुराण प्रसिद्ध कथा-रूप से साम्य रखता है। सन्त बन्दी बनाये जाते हैं, पर ताले-कूँचे खुल जाते हैं, और सन्त मुक्त हो जाते हैं। यह अभिप्राय देश-विदेशों में लोक-प्रचलित है। देखिये जैनरल आव अमेरिकन फोकलोर : स्लैविक फोकलोर : ए सिम्पोजियम पृष्ठ २०७। भक्त प्रह्लाद के पौराणिक आख्यान की तरह ये सन्त कहीं नदी में फेंके जाते हैं, कहीं हाथी से कुचलवाये जाते हैं, कहीं आग में जलाये जाते हैं, हर स्थान पर आश्चर्यजनक चमत्कार घटित होते हैं, फलतः सन्तों की जीवनियों का निर्माण लोक-मानस के पूर्णतः अनुकूल हैं। इसी प्रकार तीन ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें किसी वीर पुरुष के वीर-चरित्र का बर्णन किया गया है। ऐसे चरित्र जब लोक-पद्धति में विशेष लोक-वैलक्षण्य युक्त लिखे जाते हैं तो अवदान या लीजेण्ड कहलाते हैं। इनमें ऐतिहासिकता कम लोक-तात्विकता अधिक रहती है।

'हरदौल' बुन्देलखण्ड का प्रसिद्ध वर्चस्वी महापुरुष हुआ है। घर-घर उसकी पूजा होती है। 'पन्ना वीरमदे की बात' में पन्ना और विक्रमदेव का वर्णन है। इनसे भिन्न वे रासौ हैं जिनमें लोक-वार्त्ता ने भी कुछ साहित्यिक धरातल प्राप्त कर लिया है, और वीर पुरुषों का चरित्र-वर्णन रस-परिपाक की दृष्टि से किया गया है। इनमें गेयत्व भी हो सकता है। ऐसी रचनाएँ वीरगाथाएँ कहलाती हैं। **'खान खवास की कथा'** ऐसी ही रचना है।

शेरशाह और उसकी बेगम का वर्णन—शेरशाह का अपनी बेगम को पादने पर निकाल देना—बेगम गर्भवती—एक खिदमतगार के यहाँ रही—वहाँ खाँ खवास का जन्म—साधू से आशीर्वाद मिलना—शेरशाह को खाँ खवास को उहदेदार बनाना—बयाना की रानी की कथा जो कर नहीं देती थी—युद्ध में बादशाही सेना का हारना—अन्त में सेना सहित खाँ खवास का जाना-भीषण युद्ध—रानी को घेर लेना—सेना का भागना—रानी का खाँ खवास को अपनी ओर मिला लेना—शेरशाह की मृत्यु—सलेमशाह को गद्दी—खाँ खवास को उसके विरुद्ध रहने की प्रतिज्ञा।

खवास की दानवीरता का वर्णन—सलेमशाह के बुलाये हुए मंत्री पर बेगम का आसक्त हो जाना—मंत्री से अपनी इच्छा प्रकट करना—मंत्री का निषेध करना—बेगम की बादशाह से मंत्री के दुराचरण की शिकायत—मरवाने की आज्ञा—मंत्री का खाँ खवास की शरण जाना—सलेमशाह की बयाने पर चढ़ाई—बादशाही सेना विचलित—बादशाह की हार—खाँ खबास को सादर सेना में बुलाना—खाँ खवास को घेर लेना—बादशाह का उससे सिर माँगना—उसका दे देना—बादशाही सेना की खुशी—बयाने वालों का दुख, खाँ खवास की स्त्री और पुत्र का मरना—सलेम को धिक्कारना।

कृष्णदत्त रासा (रचना-काल १८४४ ई०) भी इसी कोटि की रचना है, उसका विषय-परिचय इस प्रकार है: महमूदअली खाँ को नवाब ने शरवार देश इजारे में दिया—पांटे गोड़ा के महमूद अली से मिल गये और रामदत्त पांडे भिनगा पर चढ़ा ले गये।

कृष्णदत्तसिंह के चचा उमरावसिंह का वर्णन—और दूसरे चाचाओं का वर्णन—पृथ्वीसिंह के पुत्र क्षेत्रपाल और हरभक्त सिंह का वर्णन तथा उमराव-सिंह के पुत्र युवराजसिंह का वर्णन—क्षेत्रपालसिंह के पुत्र अर्जुनसिंह हुए—म्लेक्षों ने हमला किया—सेना का वर्णन—युद्ध—महमूदअली के साले का मारा जाना—सेना का भागना—पुनः युद्ध की तय्यारी-सात दिन का युद्ध—बाग का युद्ध—नवाब का पुनः सेना भेजना—नाजिम के भाई के युद्ध का वर्णन—गर्गवंशियों की सहायता से युद्ध करना—भिनगा नरेश का भागना—गोंडा नरेश ने भिनगा राज को मेल करने के लिए पत्र लिखा—उस समय गोंडा में अमानसिंह

राजा थे—मेल होने पर फौजी सरदारों के साथ पहाड़ में शिकार खेलने चले गये फिर बदअमली होने से नवाब ने नाजिम को कैद कर दिया और कृष्णदत्त-सिंह को राजा बनाया।

जिन अन्य रासों को इस वर्ग में गिनाया गया है, उनका परिचय साहित्य के इतिहासों में मिल जाता है। 'कृष्णदत्त रासा' के सम्बन्ध में यह आपत्ति की जा सकती है कि इसका विषय प्रायः ऐतिहासिक है, इसे लोक वार्त्ता साहित्य के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं करना चाहिये।

कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनमें विविध संस्कारों से सम्बन्धित लोकाचारों का वर्णन भी है। 'ठाकुरजी की घोड़ी' में विवाह के अवसर पर घोड़ी चढ़ने के अवसर पर होनेवाले आचारों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ 'रामब्याह' में राम-भरत-लक्ष्मण शत्रुघ्न आदि का कलेवा करने जाना—वहाँ लक्ष्मी, निधि सिद्धि सलहजों से हास-विलास के प्रश्नोत्तर। 'यह राम के विवाह के प्रसंग से जोड़ दिया गया है।' 'षट रहस्य' में भी रामविवाह का आश्रय लेकर छः वैवाहिक आचारों का वर्णन है। इसका संक्षिप्त विषय-परिचय यह है : राम से देवियों के पैर लगने के लिए सखियों का कहना, बत्ती मिलना, लहकौरि खिलाना, कलेवा करना, ज्यौनार, सखियों और राम का संवाद, हास-विलास।

'बना' में 'वरना' दिये हुए हैं। वरना भी विवाह के लिए तय्यार हुए 'वर' को कहते हैं। उससे सम्बन्धित गीत भी 'बना' या 'बन्ना' या 'बरना' कहलाते हैं। उसी पर रचनाएँ इस पुस्तक में हैं।

कुछ ऐसी पुस्तकें भी हैं जैसे ब्रजमान की कथा, बिसह कथा, अन्तरिया की कथा जिनका उल्लेख ऊपर के वर्गों में नहीं हुआ। इनमें से अन्तरिया की कथा बुखार को दूर करने के तांत्रिक उपचार से सम्बन्ध रखने वाली कथा है।

यह लोक-वार्त्ता सम्बन्धी ग्रन्थों का साधारण विवरण है। अब इनमें से कुछ विशेष ग्रन्थों का भी विषय-सम्बन्धी संक्षिप्त परिचय यहाँ दे देना इसलिए आवश्यक है कि उससे कुछ उन बातों का पता चल सकेगा जो आज के लोक-प्रचलित मौखिक वार्त्ता में भी जहाँ तहाँ मिलती हैं साथ ही जो लोक-तात्विक सम्भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

कहानियों में 'माधवानल कामकंदला' (रचना-काल ९९१ हिजरी) की कथा अत्यन्त प्रचलित है। इसकी जो प्रति मिली है वह १५८३ ई० की लिखी है। आलम कवि की लिखी हुई है। माधव ब्राह्मण और कामकंदला वैश्या के प्रेम की गाथा है। वह वीर विक्रमादित्य की अनेकों कहानियों में से एक है। कहीं कहीं लोक में प्रचलित कहानियों में केवल विक्रमाजीत का तो नाम रह

गया है, माधव तथा कामकंदला का नाम लुप्त हो गया है। इसका संक्षिप्त वृत्त इस प्रकार है :—

पुहपावती नगरी का एक गोपीचन्द राजा था। उसके दरबार में एक गुणवान ब्राह्मण माधवानल था। एक दिन वह स्नान कर तिलक लगाकर वीणा से कुछ गान करने लगा। नगर की सब स्त्रियाँ विमोहित हो गयीं। एक स्त्री विशेष मोहित हुई। एक दिन वह अपने पति को भोजन करा रही थी। इतने में माधव गान करता हुआ उस गली में से आ निकला। स्त्री ने भोजन थाली की जगह धरती में परोस दिया। पति के कारण पूछने पर उसने कहा कि मैं माधव के गान से मोहित हो गयी हूँ। पति ने नगर के सब आदमियों को एकत्रित करके राजा से पुकार की कि या तो माधव को निकाल दो या हम नगर छोड़ देंगे। राजा ने माधव को निकाल दिया। दस दिन पीछे माधव कामावती नगरी में पहुँचा जहाँ कामकंदला नामक वेश्या रहती थी। राजा के दरबार में वह शृङ्गार करके पहुँची। माधव भी चला। माधव को द्वारपालों ने रोका, वह वहीं बैठ गया। दरबार में बारह मृदंग बज रहे थे। एक मृदंगी का एक अँगूठा न था। माधव ने इस मृदंगची के द्वारा तालभंग होने की बात द्वारपाल के द्वारा राजा से कहलायी। परीक्षा करने पर राजा ने जाना कि उसके मोम का अँगूठा है। माधव को बुलाकर राजा ने उसका सम्मान किया। वेश्या की कला से प्रसन्न हो माधव ने जो कुछ राजा से पाया था सब वेश्या को दे दिया। राजा ने क्रुद्ध होकर उसे नगर से निकल जाने की आज्ञा दे दी। वेश्या मोहित हो गयी थी। वह उसे अपने घर लायी। दूसरे दिन भी वेश्या ने उसे छिपाकर रखा। तीसरे दिन माधव बिदा हुआ। दोनों को दुःख हुआ। वह विक्रमादित्य की उज्जैन नगरी में गया। राजा के शिवमन्दिर में एक दोहा लिख आया। राजा उस ब्राह्मण की खोज करने लगा। ज्ञानमती स्त्री ने उसे मन्दिर में पाया और राजा के पास ले गयी। राजा ने उसका सम्मान किया और समझाया कि वेश्या की प्रीति स्थिर नहीं रहती, वह धन की प्रीति है। पर माधव न माना। विक्रम ने राजा कामसेन पर चढ़ाई की। कामावती के पास डेरा डालकर राजा वेश्या की परीक्षार्थ गया और कहा कि माधव तेरे वियोग में मर गया। उसने भी प्राण त्याग दिये। जब माधव ने वेश्या के प्राण-त्याग की बात सुनी तो उसने भी प्राण त्याग दिये। राजा भी इन दोनों प्रेमियों की मृत्यु कराके जीवित नहीं रहना चाहता था। वह भी चिता बनाकर जल मरने को तैयार हुआ। राजा के अधीन कुछ बैताल थे। वे आये। पाताल से अमृत लाये और माधव को जिला दिया। विक्रमादित्य वैद्य बन अमृत लेकर गये और वेश्या को

माधव

जिला दिया और उसे अपना परिचय भी दिया। विक्रम ने श्रीपति क्षत्री को राजा कामसेन से वेश्या माँगने के लिए भेजा। कामसेन ने कहा कि युद्ध करके ले लो। चार पहर लड़ाई हुई। कामसेन हारा, सन्धि हुई और कामकन्दला विक्रमादित्य को दे दी। माधव को कामकन्दला देकर और राजा अपने नगर में आया। राजा ने उसे अपना मन्त्री बनाया, जागीर दी। माधव सुखी रहने लगा।

चित्रावली

चित्रावली (रचनाकाल सं० १६१३) की कहानी में कितने ही चमत्कारपूर्ण अंश हैं। इस कहानी का आधार निश्चय ही लोकवार्ता है। यह जायसी के पद्मावत तथा आलम की कामकंदला की भाँति ही प्रेमगाथा है। 'चित्रदर्शन' से प्रेम उदय हुआ है। और उसके लिए अनेकों कष्ट उठाने पड़े हैं। इसका संक्षिप्त कथा-परिचय यह है:—

नैपाल का राजा धरनीधर पँवार कुल का क्षत्रिय था। राजा के सन्तान न थी, तप के लिए वह जंगल जाने लगा। मंत्रियों ने घर पर ही शिवाराधना की सलाह दी। शिव-पार्वती ने आकर परीक्षार्थ उससे सिर माँगा। राजा सिर देने को तैयार हुआ। शिव-पार्वती ने एक पुत्र होने का वरदान दिया, जो योग साधेगा और किसी स्त्री से प्रेम भी करेगा। पुत्र हुआ, उसका नाम सुजान रखा गया। वह गुणनिधान था। एक बार शिकार खेलते में रास्ता भूल गया। हार कर एक पर्वत की मढ़ी में जा सोया। वह एक देव का स्थान था। उसने इसकी रक्षा की। इसी समय देव का एक मित्र आया और उसने रूपनगर में चित्रावली की बर्षगांठ का वर्णन किया। उससे भी चलने के लिए कहा। वे कुमार को भी साथ ले उड़े और उसे चित्रावली की चित्रसारी में सुलाकर स्वयं उत्सव देखने लगे। राजकुमार की आँखें खुलीं, चित्रावली का एक चित्र वहाँ देखा। राजकुमार ने अपना भी एक चित्र बनाकर उसके पास रख दिया और सो गया। सबेरे देव उठाकर उसे ले आये। जब वह जगा तो चित्रावली के प्रेम में विह्वल हो गया। सेवक लोग ढूंढ़कर उसे राज में ले गये पर वह विरह में बेसुध रहा। सुबुद्धि ब्राह्मण ने युक्ति से सारा हाल जाना। ये दोनों उसी मढ़ी पर जाकर रहे। अनशन जारी कर दिया। चित्रावली भी चित्र देखकर मोहित हो गयी। उसने अपने नपुंसक भृत्यों को उसे ढूंढ़ने भेजा। एक यहाँ भी आ पहुँचा। एक चुगल ने कुमारी या हीरा से चुगली कर दी। उसने उस चित्र को धो डाला। कुमारी ने उस कुटीचर को उसका सिर मुड़वाकर निकलवा दिया। वह कुमार से मिला। उसके साथ कुमार रूपनगर पहुँचा, शिवमन्दिर में दोनों का साक्षात हो गया। इसी अवसर पर कुटीचर ने उसे अपना शत्रु मान कर

उसे अन्धा एक कर पर्वत की गुफा में डाल दिया । वहाँ एक अजगर उसे निगल गया किंतु उसकी विरहाग्नि से व्याकुल हो उसे फिर उगल दिया । बन में घूमते हुए एक हाथी ने उसे पकड़ा । उस हाथी को एक सिंह ले उड़ा । हाथी ने भी इसे छोड़ दिया । समुद तट पर एक बनमानस मिला जो इसके रूप पर मोहित हो गया । जड़ी बूटी लगाकर नेत्र ठीक कर दिये । फिर घूमता हुआ सागरगढ़ में जा पहुँचा । वहाँ के राजा सागर की फुलवारी में यह विश्राम कर रहा था कि कौला आ गयी । वह भी मोहित हो गयी । जोगी जिमाने के बहाने उसे बुलाया । भोजन में हार डाल कर उसे चोर साबित कर दिया और बन्दी बना दिया । एक राजा कौलावती की रूप-प्रशंसा सुन कर उसे लेने को चढ़ आया । सुजान ने उसे हरा दिया । और कौला से चित्रा-मिलन की प्रतिज्ञा करा व्याह कर लिया । इधर चित्रा ने फिर वही पहलेवाला योगी कुमार की खोज में भेजा । सुजान कौला को लेकर गिरनार यात्रा को गया था । वह फिर उसे रूपनगर ले आया । उसे सीमा पर बिठाकर कुमारी से कहने गया । इसी अवसर पर कथक ने, जो सागर का निवासी था, राजा को सोहिल राजा के युद्ध का गान सुनाया । सुनकर राजा को कन्या-विवाह की चिन्ता हुई । राजा ने चार चितेरे राजपुत्रों के चित्र लाने को भेजे । रानी ने चित्रा को उदास देखकर उदासी का कारण पूछा । उसने तो बहाना किया किंतु एक चेरी ने दूत भेजने का हाल सुना दिया । इसी समय वह दूत आरहा था । रानी ने उसे बीच ही में पकड़ लिया । इधर विलंब होने से राजकुमार चित्रा का नाम लेकर पागल-सा हो दौड़ने लगा । राजा ने हाल सुना । राजा ने गुप्त रूप से उसे मारने के लिए एक हाथी छोड़ दिया । कुमार ने उसे मार डाला । तब राजा उसे मारने को चढ़े । इसी अवसर पर एक चितेरा सागर से कुँवर का चित्र लेकर पहुँचा । सोहिल के मरने का समाचार कहकर चित्र दिखाया । चित्र इसी कुमार का था । राजा ने उससे अपनी चित्रा व्याह दी ।

कौला ने एक हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा । कुमार ने अपने पिता और कौला का स्मरण कर बिदा मांगी और सागर आकर कौला को भी बिदा कराया । जगन्नाथपुरी होते हुए अपने देश को गये । माता अंधी हो गयी थी । पुत्र के आगमन से उसके नेत्र खुल उठे । राजा ने पुत्र गद्दी पर बिठाकर भजन करना आरम्भ कर दिया । कुमार राज्य भोग करने लगा ।

इस कहानी के विश्लेषण से इसके कथा-विधान में निम्न तत्वों की संयोजना मिलती है :

१—दैवी तत्व : अ—शिव-पार्वती का आना, सिर की भेंट मांगना, वरदान देना ।

आ—देवी की मढ़ी; सुजान को उड़ाकर रूपनगर में ले जाना, ले आना।

२—अद्‌भुत-विलक्षण-तत्व—अ—सुजान को अजगर लीलता है, विरह की अग्नि से व्याकुल हो उगल देता है।

आ—पुनः उसे हाथी पकड़ता है, हाथी को सिंह ले उड़ता है। हाथी पर्वत पर छोड़-देता हैं। बनमानुस उसे बनौषधि से सूझता कर देता है।

इ—पागल सुजान का हाथी को मारना।

ई—अंधी माता का पुत्र आगमन से दृष्टि पाना।

३—चित्र-दर्शन द्वारा प्रेम—सुजान तथा चित्रावली में।

४—प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रेम—अ—बनमानस का,

आ—कौला का।

५ मिलन और विवाह में विविध बाधाएं—अ—कुटीचर द्वारा।

आ—मा द्वारा।

ई—पिता द्वारा, जो सुजान पर युद्ध करने चढ़े।

६—चित्र द्वारा विवाह का मार्ग खुलना—युद्ध के लिए आरूढ़ राजा चित्र पाकर सुजान से चित्रा का विवाह करने को सन्नद्ध।

७—मुख्य विवाह से पूर्व एक और विवाह, कौला से।

८—नायक का अन्धा किया जाना, तथा पुनः एक प्रेमी के माध्यम से औषधोपचार से पुनः दृष्टि पाना—

अ—कुटीचर द्वारा अन्धा किया गया।

आ—बनमानस ने प्रेम में पड़कर औषधोपचार से अच्छा किया।

'राजाचन्द की बात' नामक एक ग्रन्थ मिला है। उसमें एक छोटी सी कहानी भर है। यह ब्रजभारती के अङ्क सं० ४-५-६ वर्ष ४ सं० २००३ में पृ० १२-२० पर प्रकाशित हो चुकी है। अगरचन्द नाहटाजी ने ब्रजभारती के अंक सं० १०-११-१२, वर्ष ४ सं० २००३ में एक लेख द्वारा यह बताया है कि चन्द की बात जैनसाहित्य में बहुत प्रचलित है। इस कथानक पर कितने ही ग्रन्थ लिखे गये।

इस कहानी में—

(१) चन्द का शिकार में मार्ग भूलना और एक बुढ़िया के पास पहुँचना

ऐसा तत्व है जो एकानेक कहानियों में मिलता है। बुढ़िया 'बहमाता' है जो जूड़ी बांधती है।

(२) चंद की 'मां' कामरू-मंत्र जानती है। पीपर उड़ता है, उन्हें गिरनेरी पहुँचाता है और लाता हैं। पीपल का वृक्ष बातें भी करता है। मन्त्र से उड़ने की शक्ति के कितने दृष्टान्त मिलते हैं। यहाँ मन्त्र से वृक्ष को उड़ाया गया है। यह उड़न खटोले, या उड़नी खड़ाउओं, या काठ के घोड़े के समकक्ष है।

(३) वास्तविक वर काना है, सुन्दरी कन्या परिमलाच्छ के लिए विवाह के अवसर पर सुन्दर वर दिया जाय। वास्तविक वर के स्थान पर भाँवरों के अवसर के लिए चन्द को वर बनाया गया।

(४) सासु-बहू घर जाकर राजा चन्द पर जब बिवाह के चिह्न देखती हैं तो भयभीत होती हैं। बहू राजा को तोता बनाकर पिंजड़े में रख लेती है। लीला तागा बांध देती है।

(५) तोता उड़ जाता है, और परिमलाच्छ के पास पहुँचता है।

(६) परिमला वियोग में पागल, पवन-दूत बनाती है। सूआ बनकर आये चन्द से भी संदेश कहती है।

(७) परिमला ने लीला तागा तोड़ा। दोनों मिले।

(८) सासु-बहू दोनों चील बनकर उड़ गयीं। परिमला बाज बन कर उन्हें दबा लायी। राजा चन्द ने एक तीर से दोनों को मार दिया।

पहली दृष्टि में यह कहानी मात्र कहानी प्रतीत होती है। कोई आध्यात्मिक रूपक नहीं लगती। किन्तु कुछ संकेत कहानी में ऐसे हैं जो उसे स्पष्ट ही रूपक सिद्ध करते हैं। फिर भी कहानी का लोक-कहानी की दृष्टि से भी कम मूल्य नहीं है। कई ऐसे तत्व इसमें विद्यमान हैं जो लोक-वार्ता की महत्वपूर्ण सम्पत्ति हैं।

जैन साहित्य में ही इसका महत्व हो, ऐसा नहीं। यह लोक-कहानी पंजाब और बंगाल तक में किंचित भिन्न भूमिका से मिलती है।

पंजाब के रावलपिंडी जिले के हज़रों से जनवरी १८८१ में स्विन्नर्टन ने से प्राप्त किया। वहाँ यह 'राजा नेकबख्त' की कहानी के नाम से मिली है। इस कहानी में यों तो और भी कुछ कथाँश मिले हुए हैं, पर अधिकांश यही कहानी घेरे हुए है। इसमें (१) वही है जो राजा चन्द की बात में है। पर राजा बुढ़िया के पास भूल-भटक कर नहीं पहुँचा। घोड़े पर सवार होकर घूमने निकला है, तभी नदी किनारे उसे वह बुढ़िया बैमाता मिली है। राजा नेकबख्त उसे भाग्य और कर्म के झगड़ों का फैसला करते देखता है।

कथांश (२) भी वही है। नेकबख्त की कहानी में भी पीपल का ही पेड़

है । हाँ, यहाँ पीपल का पेड़ बातें नहीं करता । मन्त्र से ही पेड़ उड़ता है । राजा की माँ तथा पत्नी लाल डोरे पर मंत्र पढ़कर पीपल की शाखा से बाँधती हैं, तभी वह उड़ने लगता है ।

(३) यहाँ पंजाब की कहानी में वास्तविक वर कुरूप था । काना नहीं । चंद की भाँति ही यहाँ नेकबख्त को वर बनाया गया । दुलहिन का नाम परिमलाच्छ न होकर 'अजीज़' था ।

(४) चंद में भी सास-बहू हैं । यहाँ भी सास-बहू हैं । चंद की बात में ये दोनों चंद के शरीर पर विवाह के चिह्न देखकर पहचानती हैं । नेकवख्त कहानी में उन चिह्नों के अतिरिक्त एक और विधि से नेकवख्त का भेद जान लिया है । दोनों स्त्रियों ने जाने से पूर्व राजा के चारों ओर अभिमंत्रित सरसों बखेर दी थी, जो तुरंत ही उग आयीं । सरसों के पौधों के अस्त-व्यस्त होने से भी उन्होंने राजा के जाने-आने का हाल जान लिया था । ये उसे तोता नहीं मोर बनाती हैं । और बाग में छोड़ देती हैं । जैसे तोता परिमलाच्छ के पास पहुँचता है । उसी तरह मोर भी अजीज के पास पहुँचता है । पर इस मोर को सौदागर चुराकर ले जाते हैं । उन्हीं से वह अजीज को मिलता है ।

६ठा कथांश या अभिप्राय दोनों में समान है ।

७वाँ भी दोनों में है, पर 'नेकवख्त' में नयी पत्नी चील बनकर उड़ी है, बाज बनकर नहीं । राजा ने पहली दो चीलों को ही मारा है, नवविवाहिता को नहीं मारा । नेकबख्त ने तीनों को मार डाला है ।

पूर्व में बंगाल से यही कहानी मिली है । वहाँ यह सत्यपीर के भक्त की कहानी बन गयी है । यह वाजिदअली की लिखी हुई है, इसका मूल ढाँचा 'चंद की वात' से मिलता है, बीच में सत्यपीर की दया और चमत्कार दिखाने के लिए कुछ कथांश जोड़े गये हैं । यह कहानी चंदन नगर के व्यापारी के पुत्रों की है । यहाँ 'चंद' के स्थान पर 'सुन्दर' है । सास-बहू की जगह मदन और कामदेव नाम के 'सुन्दर' के दो बड़े भाइयों की पत्नियाँ सुमति तथा कुमति हैं । ये दोनों जादूगरिनियाँ हैं । दोनों बड़े भाई व्यापारार्थ बाहर चले जाते हैं । दोनों भाभियाँ सुन्दर को बेहोश कर पेड़ के द्वारा उड़कर कयनूर (आसाम) में पहुँचती है । चंद की बात से इस कहानी में अंतर इस प्रकार है—

१—सुन्दर को अपने मार्ग की बाधा समझकर पहले वे यों ही मंत्र से मार डालती हैं, और जंगल में फिकवा देती हैं । सत्यपीर उसे जीवित कर देता है ।

२—सुन्दर को दुबारा वे दोनों मार डालती हैं, और शरीर के कई

टुकड़े करके जंगल में एक-एक टुकड़े को अलग अलग दफना देती हैं। सत्यपीर उसे फिर जीवित कर देता है।

३—यहाँ तक सुन्दर को भाभियों के कहीं जाने का कुछ भी पता नहीं। वह सत्यपीर के कहने से एक घने पेड़ पर चढ़कर छिपकर बैठ जाता है। अब उसी पेड़ पर वे दोनों आती हैं और उसी से उड़कर कत्यूर जाती है।

४—सुन्दर किसी के बदले में दुलहा नहीं बनता। यहाँ स्वयंवर है। सत्यपीर के चुपचाप कहने से कत्यूर के राजा की पुत्री सुन्दर को ही जय-माला पहनाती है। सुन्दर रात में उसके आँचल पर अपना वृत्त लिखकर फिर उसी पेड़ पर चढ़ भाभियों के बिना जाने भाभियों के साथ चन्दननगर आ जाता है।

५—इस बार वे उसे जादू से शुक बना लेती हैं।

६—इस शुक को बहेलिये पकड़ ले जाते हैं। बहेलिये से उस शुक को व्यापार से लौटते हुए सुन्दर के दोनों भाई खरीद लाते हैं -

७—कत्यूर के राजा की पुत्री आँचल से हाल जानकर चंदननगर आ जाती है।

८—दोनों भाई उस तोते को उस राजकुमारी को दे देते हैं। इस प्रकार इस कहानी में भी सुन्दर पक्षी के रूप में राजकुमारी के पास पहुँचा है।

९—राजकुमारी ने तागा तोड़कर सुन्दर को जादू से मुक्त किया। भाइयों को सच्चा हाल विदित हुआ। उन्होंने अपनी पत्नियों को गहरे गड्ढे में दबा दिया ×

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह लोक-कहानी अत्यन्त लोक-प्रिय रही है। इसे दो क्षेत्रो में तो धार्मिक अभिप्राय से ग्रहण किया गया। एक जैनियों में, दूसरे सत्यपीर के अनुयायियों में।

'राजा चंद की बात' के संबंध में श्री अगरचंद नाहटा जी ने लिखा था कि हमारी यह लोकवार्ता इतनी लोकप्रिय है कि भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक उनकी बड़ी भारी प्रसिद्धि एवं प्रभाव है।......."चंद राजा की बात" भी वैसी ही एक बात है। इसका प्रचार गुजरात, राजपूताना, कच्छ, काठियाबाड़ में तो ज्ञात ही था, पर ब्रजभारती के गताङ्क (वर्ष ४ अंक ४-५-६) में 'राजा चंद की बात' शीर्षक के द्वारा यह जानकर बड़ा आश्चर्य एवं आनन्द हुआ कि इसकी प्रसिद्धि ब्रजमंडल में भी व्याप्त है।" पर ऊपर हमने जो दो और उल्लेख दिये हैं, उनसे यह कथा पंजाब तथा बंगाल में भी अत्यन्त प्रचलित

× देखिए 'फोकलिटरेचर आफ बंगाल' लेखक श्री दिनेशचन्द्र सेन (१९२० का संस्करण) पृ० १०३-११३.

मिलती है। अतः इसमें अब कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह लोककथा समस्त उत्तरी भारत में किसी समय अत्यंय लोकप्रिय थी । उसी लोक-क्षेत्र से इसे साहित्यकारों ने लिया था। नाहटा जी ने उक्त लेख में 'राजा चंद की बात' विषयक कई ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

नाहटा जी के प्रमाण से चंद की कहानी संबंधी प्राप्तग्रंथों में सबसे पहला ग्रन्थ सं० १६८६ कार्तिक शुक्ल ५ को बुरहानपुर के शेखूपुरे में लिखा गया था ! इससे यह स्पष्ट है सत्रहवीं शती में यह कथा इतनी लोकप्रिय थी कि इसे धर्म प्रचारकों ने अपने उपयोग में लाना आवश्यक समझा। इसी दृष्टि से जैन-साहित्य में इसे ऐसा महत्वपूर्ण स्थान मिला। इस पर कितनी ही कृतियाँ लिखी गयीं।

इस कहानी को धार्मिक उपयोग के योग्य समझा गया, यह इस बात से ही सिद्ध है कि केवल जैनियों ने ही नहीं बंगाल के सत्यपीर उपासकों ने भी इसे अपनाया। और इसके माध्यम से लोक में सत्यपीर की शक्ति में आस्था उत्पन्न करने की चेष्टा थी।

धर्म और महात्म्य सम्बन्धी कुछ पुस्तकों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यहाँ कुछ अन्य का विवरण दिया जाता है—

आदित्यवार की कथा की संक्षिप्ति यह है—

काशी में मतिसागर नामक श्रेष्ठी के होने का वर्णन तथा अपनी स्त्री सहित उनकी श्रद्धा जैन-धर्म में होना—आठ पुत्र होना।

एक मुनि का आगमन—सेठानी का उनसे आदित्य व्रत के विषय में पूछना—मुनि का आसाढ़ में रविवार के दिन सत्य संयम-युक्त व्रत करने का विधान—नव वर्ष तक पालन करने का आदेश—आदेश के ठीक पालन न हो सकने के कारण हानियाँ।

पुत्रों के विछोह से सेठानी का विकल होना। एक मुनि से उनके आने के विषय में पूछना—मुनि का सेठानी का ध्यान व्रत की ओर आकर्षित करना—व्रत करना—पुत्रों को उन्नत अवस्था में प्राप्त करना---

इन व्रत कथाओं में प्रायः सभी में 'तिथि' अथवा 'वार' को व्रत रखने का महात्म्य वर्णन है। विवाह, पुत्र-प्राप्ति, धन-प्राप्ति जैसे फल व्रत रखने से मिलते दिखाये गये हैं। व्रत में विघ्न डालने वाले को कष्टों का सामना करना पड़ा है। व्रत रखने वाले के संकट दूर होते दीखते हैं। 'श्रुत पंचमी' की कथा[1] में सेठ धनपति की कथा है। मुख्य उद्देश्य है श्रुत पंचमी के व्रत से खोये हुए पुत्र का मिलना। सुरेन्द्रकीर्ति विरचित 'रविव्रत कथा' में उस मस्तसागर सेठ की कहानी है, जिसने अपनी स्त्री के रविव्रत लेने की निन्दा की, फलतः सब धन

१—लेखक ब्रह्मरायमल, रचना काल संवत् १६३३।

नष्ट हो गया। पुनः लड़कों द्वारा व्रत साधन करके पूर्व समृद्धि मिली। आकाश पंचमी[१] का व्रत रखने से एक स्त्री लिङ्गभेद कर पुरुष रूप में जन्म ग्रहण करती है। निशिभोजन त्याग व्रतकथा[२] में अत्यन्त प्रचलित लोक-कहानी के एक तत्व का उपयोग है। पत्नी के निशिभोजन त्याग पर शैव पति रुष्ट होता है। वह सर्प लाकर पत्नी के गले में डालता है। वहाँ वह हार हो जाता है,वह पति के गले में सर्प बनकर उसे डस लेता है। पत्नी फिर उसे जिला लेती है। 'धर्म परीक्षा'[३]—में जैन और ब्राह्मण धर्म का विवाद है, जिसमें ब्राह्मणों को परास्त हुआ दिखाया गया है। 'पुण्याश्रव कथा[४]' तो पुण्यकथाओं का छोटा कोश है। रुक्मागंद की कथा[५] में एकादशी व्रत का महात्म्य बताया गया है। बहू से लड़ाई हो जाने के कारण बुढ़िया को एकादशी का उपवास करना पड़ा था, इसी उपवास के प्रताप से उसके स्पर्श से उस मोहिनी का रुका हुआ रथ चल पड़ा था, जिस मोहिनी को इन्द्र ने छल करके रुक्मागंद के राज्य में एकादशी व्रत बंद करने भेजा था। 'बन्दी मोचन कथा' अ-जैन है। काशी की बन्दी देवी की पूजा से पुत्र-प्राप्ति का इसमें उल्लेख है। सुदर्शन लिखित 'एकादशी महात्म्य'[६] में प्रत्येक मास की एकादशी व्रत का फल बताने के लिए एक कथा दी हुई है। उदाहरणार्थ कुछ अंश की संक्षिप्ति यहाँ दी जाती है:—

अगहन शुक्ला एकादशी की उत्पत्ति, कृष्ण अर्जुन संवाद, देवासुर संग्राम विष्णु का गुफा में छिपना, स्त्री का गुफा से निकल कर राक्षस को मारना, वह एकादशी थी।

माघ कृष्णा एकादशी के व्रत का नियम उसका इतिहास, एक ब्राह्मणी की नारायण द्वारा परीक्षा, भिक्षा माँगने पर मिट्टी डालना,उसका स्वर्ग होना, वहाँ केवल मिट्टी का घर मिलना, नारायण का खाली मकान देने का कारण बताना, मुनि-नारियों का उसे व्रतदान का फल प्रदान करना, उसके घर में सब कुछ हो जाना।

एकादशी व्रत का नियम, इतिहास—पतित और अभिशप्त गंधर्व और पुष्पवती अप्सरा का पिशाच-पिशाची होना, एकादशी के अज्ञात व्रत से उनका उद्धार।

१—लेखक खुसाल कवि, रचना काल संवत् १७८५।

२—लेखक भारमल्ल।

३—लेखक मनमोहनदास, रचना संवत् १७०५।

४—लेखक—रामचन्द्र, रचना संवत् १७६२।

५—लेखक सूर्यदास कवि।

६—रचना सम्वत् १७७०।

फागुन शुक्ल पक्ष की एकादशी का नियम—सुरथ का एकादशी के प्रभाव से शत्रुओं का नाश।

चैत्र कृष्ण एकादशी—एक ऋषि की तपस्या देख कर और इन्द्रासन जाने के भय से इंद्र का विघ्न डालना। मुनि का स्त्री के साथ ५७ वर्ष निवास, ज्ञात होने पर स्त्री को मुनि द्वारा अभिशाप, एकादशी व्रत से दोनों का कलमष दूर होना।

चैत्र शुक्ल एकादशी—नागपुर के ललित नामक पुरुष का अपनी पत्नी ललिता के एकादशी व्रत करने का फल पति को देने से ललित का शाप मोचन।

बैसाख कृष्ण एकादशी—लखनपुर के राजा हरिसेन के एक चमार द्वार एकादशी का फल प्राप्त करने पर एक गदहा बने हुए ब्राह्मण का उद्धार।

बैसाख शुक्ल एकादशी—सेठ के पापी बेटे का एकादशी व्रत से उद्धार।

ज्येष्ठ कृष्ण एकादशी—एक अप्सरा का विमान बेंगन के धूंए से नीचे गिरा, एक एकादशी को भूखी दासी के फल से ऊपर चढ़ा।

ज्येष्ठ शुक्ल एकादशी गन्धर्व जिद हुआ, एकादशी व्रत का माहात्म्य सुनने से राजकुमार हुआ, एकादशी से उसका उद्धार।

आसाढ़ कृष्ण एकादशी—एक कोढ़ी ब्राह्मण का उद्धार।

आसाढ़ शुक्ल एकादशी—बलि की कथा, इस प्रकार सभी एकादशियों का वर्णन।

फिर सब का फल।

"**गणेश चतुर्थी**' की कथा की भी कई पुस्तकें मिली हैं। **सत्यनारायण** की कथा भी मिली है।

इन व्रतों और उनके महात्म्य की कथाओं के साथ ही अन्य धार्मिक आख्यायिकाओं का भी कुछ परिचय देना आवश्यक है। जिनमें धर्माचरण करने वाले महापुरुषों के अद्भुत पराक्रमों का उल्लेख है, जो पौराणिक कोटि के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

"**प्रद्युम्नचरित्र**' में कृष्ण-रुक्मिणी विवाह के उपरांत प्रद्युम्न-जन्म और दैत्य द्वारा प्रद्युम्न के चुरा लिये जाने तथा उसके पश्चात प्रद्युम्न के विविध चमत्कारों के प्रदर्शन का वर्णन है। **मोहमर्द राजा**[1] **की कथा** जगन्नाथ की लिखी हुई है। इसमें नारदजी द्वारा राजा मोहमर्द की परीक्षा का वर्णन

१ रचना सं० १७७६।

है। राजा, स्त्री तथा पुत्रबधू किसी को भी पुत्र के मरने का शोक नहीं हुआ, यह दिखाया गया है।

सुन्दरदास लिखित '**हनूमान चरित्र**'[१] हनुमान जी की अद्‌भुत कथा लिखी गयी है। मुख्य भाग महेन्द्र विद्याधर की पुत्री अंजनाकुमारी और राजकुमार पवनंजय के संयोग और हनुमान के उत्पन्न होने से सम्बन्ध रखता है। बाद में शूर्पणखा की पुत्री अनंगपुष्पा और सुग्रीव की पुत्री पद्‌मरागी से हनुमान का विवाह कराया गया है। रावण युद्ध में राम की सहायता का भी उल्लेख है। हनूमान जी का यह वृत्त रामायण आदि के ज्ञात वृत्त से बहुत भिन्न है। जैन दृष्टि ने जिस रूप में इन कहानियों को अपनाया, उसी का एक रूप इसमें भी मिलता है। इसी प्रकार 'बलि-बामन' की हिन्दू-पुराण प्रसिद्ध कथा का एक जैन संस्करण हमें विनोदीलाल कृत **विष्णुकुमार की कथा**[२] में मिलता है। इसमें बलि उज्जयिनी के राजा के चार मन्त्रियों में से एक प्रमुख मन्त्री हो गया है। इसकी संक्षिप्ति यह है:—

उज्जयिनी के राजा सिवाराम के चार मंत्रियों द्वारा एक जैन मुनि की अविनय होना, मुनि ने उन सब को कील दिया, राजा का उनको प्राणदण्ड की आज्ञा देना, मुनि का उन्हें क्षमा करना, राजा का देश निकाला देना, मंत्रियों का हस्तनागपुर के राजा पदुम के यहाँ पहुँचना। एक शत्रु को वश में लाकर सात दिन का राज्य पाना, वहाँ पर उन्हीं मुनि की श्रद्धा न करना। विष्णुकुमार की सहायता से कष्ट से मुक्त होना। विष्णुकुमार का बामन रूप धर कर बलि मंत्री (चारों में श्रेष्ठ) को छलना, उन चारों का श्रावक व्रत धारण करना। '**वारांगकुमार चरित्र**'[३] जैन पुराण है। जैनियों में वारांग-कुमार का चरित्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। सातवीं (ईसवी) में जटासिंहनन्दी नाम के कवि ने संस्कृत में भी 'वारांग चरित्र' लिखा था। इस प्रसिद्ध चरित्र की उक्त हिन्दी ग्रन्थ के आधार पर संक्षिप्त रूपरेखा यह है—

कांतपुरनगर के राजा धर्मसेन की रानी गुनदेवी के गर्भ से वारांगकुमार का जन्म–वाणिकों ने राजा धर्मसेन से आकर कहा कि समृद्धिपुरी के राजा धृतिसेन की पुत्री 'गुनमनोज्ञा' कन्या आपके पुत्र के योग्य है—मंत्रियों से परामर्श, अन्त में सभी प्रस्तावित कन्याओं से विवाह का निश्चय, सब राजाओं का अपनी-अपनी कन्या लाकर वारांग से वहीं विवाह।

जिन गणधरों के आगमन की सूचना बनमाली द्वारा—राजा का वहाँ

---

१ रचना सं० १६१६।

२ प्रतिलिपि सं० १६५५ सन् १८६८।

३ लेखक कंजहग, रचना संवत् १८१४।

जाना, जैन धर्म का उपदेश, पुत्र सहित राजा का श्रावक व्रत लेना, नगर में आना।

वारांग कुमार को राज्य देना, राजकुमार का दुष्ट मंत्री के सिखाये हुए घोड़ों के द्वारा एक सघन बन में पहुँचना, एक तालाब के पास पहुँचना, मगर ने पैर पकड़ा, जिन की कृपा से बचना, भीलों का मार्ग-दर्शन, एक बनजारे से मिलना, राजकुमार को उसे 'सागर वृद्धि' राजा के पास ले जाना, उसकी रक्षा भीलों आदि से, उस सेठ की कन्या से विवाह, ललितपुर निवास।

उधर राजा धर्मसेन का विलाप, सुखेन को राज्य दे देना।

मथुरापुर के राजा ने ललितपुर के नरेश से हाथी माँगे, मना कर दी, मथुरेश की चढ़ाई, वारांगकुमार की सहायता से मथुरेश की पराजय।

ललितपुर के राजा का अपनी पुत्री सुनन्दा का उससे व्याह करना, दूसरी लड़की मनोरमा का भी प्रस्ताव अस्वीकृत—

राजा धर्मसेन पर शत्रुओं का आक्रमण—राजा का अपनी ससुराल समाचार भेजना—जहाँ वारांगकुमार था, राजा का वारांग को पहचान लेना, मनोरमा का विवाह भी होना। ससुर-जमाई का कांतपुर आना, राजकुमार का गद्दी पर बिठाया जाना, पिता के शत्रुओं का पराजित करना, अनर्तपुर पर चढ़ाई करना, हार मान कर वारांग से अपनी पुत्री विवाह देना, वारांग का जैन धर्म स्वीकार करना, वारांग के पुत्र का जन्म और उसका विवाह।

वारांग का विरक्त होना, सब का मुनि की दीक्षा लेना।

जिस प्रकार इस 'वारांगकुमार चरित' में मंत्री के द्वारा सिखाये हुए घोड़े वारांगकुमार को बन में संकट में डालने के लिए ले जाते हैं, उसी प्रकार एक दूसरे चरित्र में भी ऐसे सिखाये घोड़े का उल्लेख हुआ है। उसमें भी राजा को वह सिखाया हुआ घोड़ा बन में ले जाता है। यह चरित्र **'पद्मनाभि-चरित्र'** है। यह भी प्रसिद्ध जैन कथानक है। **'संयुक्त कौमुदी भाषा'**[1] तो नाम से ही स्पष्ट 'संयुक्त कौमुदी' का अनुवाद है। कार्तिक शुक्ल-पक्ष की पूर्णिमा को कौमुदी महोत्सव की महिमा को लेकर मथुरा के राजा उदितोदय और अर्हद्दास की आठ भार्याओं की कहानियाँ हैं। यह भी प्राचीन कथा है। संयुक्त कौमुदी मूल कब लिखी गयी होगी इसका तो पता नहीं चलता, पर 'अर्हद्दास कथानक' हमें जैन कथाकोशों में मिल जाता है[2]। इन कोशों के कथानकों का मूल बहुत प्राचीन है। इसमें संदेह नहीं। परमाल का **'श्रीपाल चरित्र'**[3]

---

१ लेखक जोधराज गोदी। रचना : सं० १७२४।

२ देखिये हरिषेणाचार्य रचित वृहत् कथा-कोश में ६३ वाँ कथानक।

३ रचनाकाल : सं० १६५१।

लोक-वार्त्ता की दृष्टि से इसलिए महत्त्व पूर्ण है कि इसमें हमें कई घटनाएं ऐसी मिलती हैं जो मौखिक लोक महागीत 'ढोला' के अन्तर्गत 'नल' के सम्बन्ध में प्रचलित हैं, तथा अन्य ग्रंथों में भी जिनका उपयोग हुआ है। 'श्रीपाल चरित्र' की संक्षिप्ति यह है।

रानी को स्वप्न—राजा के यशस्वी पुत्र होने का कथन—गर्भ की दशा—श्रीपाल का जन्म, राजा बना, चक्रवर्ती हो गया। राजा को कुष्ट-वीरदमन को राज्य देकर बन को चले जाना, सात सौ कोढ़ी साथियों का भी जाना।

उज्जैन नरेश पहुपाल की पुत्री मैना, छोटी मैना का जैन चैत्यालय जाना, बड़ी का गुरू से विद्याध्ययन, जैन मुनि से मैना की शिक्षा, बड़ी का कौशाम्बी के राजा से विवाह, छोटी मैना का राजा से कर्म के विषय में विवाद, राजा द्वारा उसका निष्कासन।

राजा को जंगल में कुष्टी राजा से मिलना, मित्रता, कुष्टी ने उसकी पुत्री माँगी, विवाह हो जाना। मैना का जन्म-पर्यन्त सेवा करने का कथन, जिन की प्रार्थना करके मैंना ने कुष्ट अच्छा किया।

जिनेन्द्र के कथनानुसार श्रीपाल की माँ का उसके पास आना, आने का समय निर्दिष्ट करके श्रीपाल का कहीं जाना, विद्याधर से मिलाप, विद्याधर को मंत्र-सिद्ध करने में श्रीपाल की सहायता, विद्याधर ने जल-तारिणी और शत्रु-निवारिणी विद्याएं दीं।

श्रीपाल का निर्जन बन में पहुँचना, एक वणिक के जहाज का अटकना, बलि के लिए श्रीपाल का पकड़ा जाना, श्रीपाल के छूते ही जहाज चल दिया। सेठ उसे साथ ले चला, धन दिया, बेटा पाना, चोर मिलना, श्रीपाल का उन्हें बाँध लेना।

हंस-द्वीप—कनककेतु राजा की स्त्री कंचन के चित्र-विचित्र दो पुत्र और रैन-मंजूषा नाम की तीसरी पुत्री का वर्णन, विवाह के लिए सहस्र-कूटन चैत्यालय के फाटक को हाथ से खोलने की शर्त, श्रीपाल का वह कृत्य करना, विवाह—सेठ का रैन मंजूषा के लिए श्रीपाल को समुद्र में गिरा देना, रैन मंजूषा की प्रार्थना, चार देवियों का प्रकट होकर सेठ को दण्ड देना, श्रीपाल तैरता हुआ कुंकुम द्वीप में पहुँचा, वहाँ के राजा की पुत्री से विवाह, जिसकी शर्त थी कि जो समुद्र में तैर कर आवे, विवाह करे। सेठ का उसी नगर में पहुँचना, सेठ का भाँड़ों का तमाशा करा उसे भाँड़ सिद्ध कर मरवाने की आज्ञा दिलवाना, गुण-माला का राजा से युद्ध समाचार कहलाना और श्रीपाल की मुक्ति, श्रीपाल का सेठ को क्षमा कर देना, सेठ का हृदय फटकर मर जाना।

मुनिराज की भविष्यवाणी के अनुसार श्रीपाल का विवाह कुण्डलपुर के

राजा मकरकेतु की पुत्री चित्ररेखा से होना, बाद में कंचनपुर के राजा वज्रसेन की पुत्रियों से विवाह, कुंकुमपट के राजा की सोरह सौ पुत्रियों से व्याह, सब को ले कुंकुमद्वीप लौटन , अपनी प्रथम स्त्री मैनासुन्दरी को दिये हुए बचनों को पूर्ण करने के लिए उज्जैन नगरी पहुँचना, प्रातः सब स्त्रियों को बुलाना, मैना को पटरानी बनाना।

मैनासुन्दरी के कथनानुसार उसके पिता को कंवल ओढ़ कुल्हाड़ी लेकर बुलाना—उसका भयभीत होकर आना, कर्म का महत्व समझना, जैन धर्म स्वीकार करना।

मैना के पिता ने श्रीपाल को अपनी राजधानी में बुलाया, श्रीपाल का श्वसुर से आज्ञा लेकर अपनी जन्मभूमि में जाना, मार्ग में चम्पावती के राजा वीरपाल से युद्ध, मल्लयुद्ध में श्रीपाल की विजय, वीरदमन का जैन धर्म मानना—

मैनासुन्दरी के धन्यपाल नामक पुत्र—-१२१०८ पुत्र होने का कथन, राजा का दीक्षित होकर बन को जाना, पुत्र को राज्य देना, मुनिराज से भेंट, उनसे उपदेश, तप, मुक्ति।

इस कथा में छोटी पुत्री मैनासुन्दरी का कर्म के संबंध में पिता से विवाद हो जाने पर निकाले जाने की घटना तो लोकवार्त्ता की साधारण घटना है, जो ब्रज की कहानी में भी मिलती है। ब्रज की कहानी में राजा ने छोटी लड़की को इसलिए निकाल दिया था कि वह कहती थी कि मैं भाग्य का दिया खाती हूँ। एक कहानी में राजा ने अपनी ऐसी भाग्यवादिनी पुत्री का ऐसे राजकुमार से विवाह कर दिया था, जिसके पेट में साँप प्रवेश कर गया था, और जिसके कारण राजकुमार मरणासन्न हो रहा। यह अभिप्राय भी अन्तर्राष्ट्रीय है। शेक्सपीयर के नाटकों में भी मिलता है। मैनासुन्दरी ने इस कहानी में 'जिन' की कृपा से राजकुमार श्रीपाल का कुष्ट दूर कर दिया है। कोढ़ी, अथवा लुंज या अंगहीन से विवाह होने का वृत्त देश-विदेश में एकानेक कहानियों में मिलता है। ब्रज की कहानी में 'राजा विकरमाजीत पर दुख भंजनहार' अंगहीन है, उसके हाथ-पैर काट दिये गये हैं, राजकुमारी उसी को वरती है। इसी प्रकार अटके जहाज का श्रीपाल के छू देने से चल पड़ने का उल्लेख भी इसी कहानी की विशेषता नहीं। एकानेक कहानियों में यह घटना भी मिलती है। सहस्रकूटन चैत्यालय फाटक को हाथ से खोलना और ढोला में भौमासुर दाने के महलों की शिला सरकाना एक सी बातें हैं। ढोला में 'मोतिनी' के लालच में सेठ मामाओं ने नल को समुद्र में गिरा दिया है, यहाँ रैन मंजूषा के लिए श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया गया है।

'धन्यकुमार चरित्र'* भी ऐसी ही लोकवार्ता सम्बन्धी सामग्री रखता है। दीवारों के बदले में गाड़ी ईंधन खरीदना, ईंधन के बदले में मेष, मेष के बदले में चार अधजले पाये खरीदना। फिर उन जले पायों में चार लाल निकलना, लोकवार्ता की साधारण वस्तु है, जिसका उपयोग जैन कहानीकार ने अपने नायक के चरित्र को रोचक बनाने के लिए किया है। धन्य-कुमार के पहुँचने से बाग का हरा हो जाना भी लोक-परम्परा में है जिससे अपेक्षित व्यक्ति के आने की सूचना मिलती है।

प्रियमेलक तीर्थ[1] श्री अगरचन्द नाहटा जी ने जैन ग्रन्थों में लोक-साहित्य विषयक बहुत सी सामग्री इधर प्रकाशित की है।[2] यह ग्रन्थ भी उनके प्रयत्न से प्रकाश में आया है। इसकी संक्षिप्ति उन्हीं के शब्दों में यहाँ दी जा रही।

सिंहलद्वीप के नरेश्वर सिंहल की रानी सिंहली का पुत्र सिंहलसिंह कुमार शूरवीर, गुणवान और पुण्यात्मा था। वह माता-पिता का आज्ञाकारी, सुन्दर तथा शुभ लक्षण युक्त था। एक बार बसंत ऋतु के आने पर पौरजन क्रीड़ा के हेतु उपवन में गये, कुमार भी सपरिकर वहाँ उपस्थित था। एक जंगली हाथी उन्मत्त होकर उधर आया और नगर सेठ धन की पुत्री को, जो खेल रही थी, अपने शुण्डा-दण्ड में ग्रहण कर भागने लगा। कुमारी भयभीत होकर उच्च स्वरसे आक्रन्द करने लगी—मुझे बचाओ! बचाओ! यह दुष्ट हाथी मुझे मार डालेगा। हाय! माता, पिता, कुलदेवता, स्वजन सब कहाँ गये, कोई चाँदनी रात्रि का जन्मा सत्पुरुष हो तो मुझे बचाओ। राजकुमार सिंहलसिंह ने दूर से विलापपूर्ण आक्रन्द सुना और परोपकार बुद्धि से तुरन्त दौड़ा हुआ आया।

---

*लेखक खुसाल कवि।

१ नाहटाजी ने बताया है कि सिंहल-सुत-प्रिय-मेलक—चौपई 'कविवर समयसुन्दर' ने सं० १६७२ में लिखी थी—

"संवत सोल बहूत्तरी समइ रे, मेडता नगर मझारि।"

यही कहानी पूर्ववर्ती मलयचंद्र के 'सिंहलसी चरित्र' में है। इसका रचना संवत् १५१९ है।

इसी विषय पर एक रचना सं० १७४६ में 'सिंहल कुमार चापई' के नाम से लिखी गयी, इस कथा की अनेकों प्रतियाँ मिलती हैं, कई सचित्र भी हैं।

२ इस सम्बन्ध में एक निबन्ध में स्वयं विद्वद्वर नाहटाजी ने यह सूचना दी है कि प्राचीन राजस्थानी व गुजराती भाषा की लोक कथात्मक रचनाओं का कुछ परिचय मैं नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५७ अंक १ में प्रकाशित अपने लेख में और विक्रम सम्बन्धी लोक-कथाओं पर रचे गये जैन-ग्रन्थों का 'विक्रम-स्मृति ग्रन्थ' में दे चुका हूँ।

उसने बुद्धि और युक्ति के प्रयोग से कुमारी को उन्मत्त गजेन्द्र की सूँड़ से छुड़ा कर कीर्ति-यश उत्पन्न किया।[1]

सेठ ने कुमारी की प्राण-रक्षा हो जाने से बधाई बाँटनी शुरू की। राजा भी देखने के लिए उपस्थित हुआ, सेठ ने कुमार के प्रति कुमारी का स्नेहानुराग ज्ञात कर धनवती को राजा के सम्मुख उपस्थित किया और सर्व सम्मति से कुमार के साथ पाणिग्रहण करा दिया। सिंहलसिंह अपनी प्रिया धनवती के साथ सुखपूर्वक काल निर्गमन करने लगा।

राजकुमार जिस गली जाता उसके सौन्दर्य से मुग्ध हो नगर वनिताएँ गृह-कार्य छोड़कर पीछे पीछे घूमने लगतीं। पंचों ने मिल कर सिंहल नरेश्वर से प्रार्थना की कि आप कुमार को निवारण करो अथवा हमें बिदा दिलाओ।[2] राजा ने कुमार का नगर वीथिकाओं में क्रीड़ा करना बंद कर महाजनों को तो संतुष्ट कर दिया पर राजकुमार के हृदय में यह अपमान-शल्य निरन्तर चुभने लगा। कुमार ने भाग्य-परीक्षा के निमित्त स्वदेश-त्याग का निश्चय किया। अपनी प्रिया धनवती के साथ अर्द्धरात्रि में महलों से निकल कर समुद्र-तट पहुँचा उसने तत्काल प्रवहणारूढ़ होकर पर-द्वीप के निमित्त प्रयाण कर दिया।

सिंहलकुमार का प्रवहण समुद्र की उत्ताल तरंगों के बीच तूफान के प्रखर झोंकों द्वारा झकझोर गया। भग्न प्रवहण के यात्रीगणों को समुद्र ने उदरस्थ कर लिया।[3] पूर्व पुण्य के प्रभाव से धनवती ने पाटिया पकड़ लिया और जैसे-तैसे कष्टपूर्वक समुद्र का तट प्राप्त किया। वह अपने हृदय में विकल्पों को लिए हुए उद्वेगपूर्वक बस्ती की ओर बढ़ी। नगर के निकट एक दण्ड, कलश और ध्वज युक्त प्रासाद को देख कर किसी धर्मिष्ठ महिला से नगर-तीर्थ का नाम पूछा। उसने कहा—यह कुसुमपुर नगर है और यह विश्वविश्रुत प्रियमेलक तीर्थ है, यहाँ का चमत्कार प्रत्यक्ष है। यहाँ जो मौन तपपूर्वक शरण लेकर बैठती है, उसके विछुड़े प्रियजन का मिलाप निश्चयपूर्वक होता है। धनवती भी निराहार मौनव्रत ग्रहण कर वहाँ पतिमिलन का संकल्प लेकर बैठ गयी।

इधर सिंहलकुमार भी संयोगवश हाथ लगे हुए लम्बे काष्ठ खंड के सहारे किनारे जा पहुँचा। आगे चलकर वह रत्नपुर नगर में पहुँचा जहाँ के राजा

---

१. यह हाथी या सिंह के आकस्मिक आक्रमण का अभिप्राय और उससे एक कुमारी की रक्षा का अभिप्राय अत्यन्त प्राचीन अभिप्राय है। प्रसिद्ध नाटककार भवभूति ने इसका उपयोग मालतीमाधव में किया है।

२. यह अभिप्राय पुराणों में शिवजी के सम्बन्ध में भी आया है। अनेकों लोककथाओं में इसका समावेश है। माधवानल कामकंदला, चतुर्भुज दास की मधुमालती तथा अन्य अनेकों लोककथाओं में है।

३. नौका डूबने, नायक नायिका के अलग अलग बह जाने की घटना प्रेमगाथाओं में तो सामान्य रूप से मिलती ही है।

रत्नप्रभा की रानी रत्नसुन्दरी की पुत्री रत्नवती अत्यन्त सुन्दरी और तरुणावस्था प्राप्त थी। राजकुमारी को साँप ने काट खाया जिसे निर्विष करने के लिए गारुड़ी मंत्र, मणि, औषधोपचार आदि नाना उपाय किये गये पर उसकी मूर्च्छा दूर नहीं हुई। अन्ततोगत्वा राजा ने ढिंढोरा पिटवाया। कुमार सिंहलसिंह ने उपकार-बुद्धि से अपनी मुद्रिका को पानी में फिरा कर राजकुमारी पर छिड़का और उसे पिलाया जिससे वह तुरंत सचेत हो उठ बैठी।[४] राजा ने उपकारी और आकृति से कुलीन ज्ञात कर कुमार के साथ राजकुमारी रत्नवती का पाणिग्रहण करा दिया। रात्रि के समय रंगमहल में कोमल शय्या को त्याग कर धरती पर सोने पर रत्नवती ने इसका कारण पूछा। कुमार यद्यपि अपनी प्रिया के वियोग में ऐसा कर रहा था पर उसे भेद देना उचित न समझ कहा कि—प्रिये। माता-पिता से बिछुड़ने के कारण मैंने भूमिशयन व ब्रह्मचर्य का नियम ले रखा है। राजकुमारी ने यह सुन उसके माता-पिता की भक्ति की प्रशंसा की। राजा को ज्ञात होने पर उसने कुमार का कुल वंश ज्ञात कर पुत्री व जमाता के बिदाई की तैयारी की। एक जहाज में वस्त्र, मणि रत्नादि प्रचुर सामग्री देकर दोनों को विदा किया व साथ में पहुँचाने के लिए रुद्र पुरोहित को भी भेजा। जहाज सिंहलद्वीप की ओर चला।

रत्नवती के सौन्दर्य से मुग्ध होकर रुद्र पुरोहित ने सिंहलकुमार को अथाह समुद्र में गिरा दिया और उसके समक्ष मिथ्या विलाप करने लगा। राजकुमारी ने यह कुकृत्य उसी दुष्ट पुरोहित का जान लिया।[५] उसके आगे प्रार्थना करने पर रत्नवती ने कहा कि मैं तो तुम्हारे वश में ही हूँ। अभी पति का वारिया हो जाने दो, कह कर पिण्ड छुड़ाया। आगे चलने पर समुद्र की लहरों में पड़कर प्रवहण भग्न हो गया। कुमारी ने तख्ते के सहारे तैर कर समुद्रतट प्राप्त किया और प्रियमेलक तीर्थ पहुँची। प्रियमेलक तीर्थ का भेद ज्ञात कर जहाँ आगे धनवती बैठी थी, रत्नवती ने भी जा कर मौन पूर्वक आसन जमा दिया। पापी पुरोहित भी जीवित बच निकला और उसने कुसुमपुर आकर राजा का मन्त्री-पद प्राप्त किया।

सिंहलकुमार को समुद्र में गिरते हुए किसीने पूर्व पुण्य के प्रभाव से, ग्रहण

४, सर्प काटने और नायक द्वारा विष उतारे जाने की लोककथा जाहर पीर के गीत में है, औरों में भी मिलती है।

५, समुद्र में नायक को गिराने और नायिका की ओर आकृष्ट होने की कथा ब्रज के ढोला में तथा अन्यत्र भी मिलती है।

कर लिया और उसे तापस आश्रम में पहुँचा दिया। शुभ लक्षण वाले कुमार को देखकर हर्षित हुए तापस ने अपनी रूपवती पुत्री के साथ पाणिग्रहण करा दिया। करमोचन के समय कुमार को एक ऐसी अद्भुत कंथा दी जो प्रतिदिन खंखेरने पर सौ रुपये देती थी, इसके साथ एक आकाश-गामिनी खटोली[६] भी दी जिस पर बैठकर जहाँ इच्छा हो जा सके। कुमार अपनी नव परिणीता पत्नी के साथ खटोली पर आरूढ़ हो गया, खटोली ने उसे कुसुमपुर के निकट ला उतारा। रूपवती को धूप और गरमी के मारे जोर की प्यास लग आयी थी। अतः कुमार जल लाने के लिए अकेला गया। ज्योंही वह जलकूप के निकट पहुँच कर पानी निकालने लगा कि एक भुजंग ने मनुष्य की भाषा में अपने को कुँए में से निकाल देने की प्रार्थना की। कुमार ने उसे लम्बा कपड़ा डालकर बाहर निकाला। साँप ने निकलते ही उस पर आक्रमण कर काट खाया जिससे कुमार कुब्जा और कुरूप हो गया।[७] कुमार के उपालम्भ देने पर साँप ने कहा—बुरा मत मानो, इसका गुण आगे अनुभव करोगे। तुम्हारे ऊपर संकट पड़ने पर मैं तुम्हें सहायता दूँगा। कुमार सविस्मय जल लेकर अपनी प्रिया के पास आया और उसे जल पीकर प्यास बुझाने को कहा। रूपवती ने कुब्जे के रूप में पति को न पहिचान कर पीठ फेर ली और तुरंत वहाँ से प्यासी ही चल दी। उसने इधर-उधर घूम कर सारा बन छान डाला, अन्त में पति के न मिलने पर निराश होकर वहीं जा पहुँची, जहाँ प्रिय-मेलक तीर्थ की शरण लेकर दो तरुणियाँ बैठी थीं। रूपवती भी उनके पास जाकर मौन तपस्या करने लगी।

सिंहलकुमार कंथा और खाट कहीं छोड़ कर नगरी की शोभा देखता हुआ घूमने लगा, उसने अपनी तीनों प्रियाओं को भी तपस्यारत देख लिया। कुछ दिन बाद यह बात सर्वत्र प्रचलित हो गयी कि तीन महिलाएँ न मालूम क्यों मौन तपश्चर्या में लगी हुई हैं। जिन्होंने सौन्दर्य्यवती होते हुए भी तप द्वारा देह को कृश बना लिया है। यह वृतान्त सुनकर राजा के मन में उन्हें बुलवाने की उत्सुकता जगी। नरेश्वर ने नगर में ढिंढोरा पिटाया कि जो इन तरुण तपस्विनियों को बोला देगा उन्हें मैं अपनी पुत्री दूँगा। घूमते हुए वामन रूपी सिंहलकुमार ने पटह स्पर्श किया। राजा के पास ले जाये जाने पर वामन ने दूसरे दिन प्रातःकाल युवतियों को बोलाने को कहा। दूसरे दिन राजा, मंत्री, महाजन आदि सब लोग प्रियमेलक तीर्थ के पास आकर जम गये। वामन ने कोरे पन्ने निकाल कर बांचने का उपक्रम करते हुए कहा कि ये अदृश्याक्षर

६, **अक्षय थैली तथा उड़नखटोला तो प्रसिद्ध लोक-अभिप्राय हैं ही।**

७, **यह पुराणों में भी है, नल की लोककथा में भी है।**

हैं। राजा आदि आश्चर्य पूर्वक सावधानी से सुनने लगे। वामन ने कहा—सिंहलकुमार अपनी प्रिया के साथ प्रवहणारूढ़ होकर समुद्र यात्रा करने चला। मार्ग में तूफान के चक्कर में प्रवहण भग्न होगया। इतनी कथा आज कही, आगे की बात कल कहूँगा। धनवती ने कहा—आगे क्या हुआ? वामन ने कहा—राजन्! देखिये यह बोल गयी।

दूसरे दिन फिर सबकी उपस्थिति में वामन ने कोरे पन्नों को बांचते हुए कहा—"काष्ठ का शहतीर पकड़ कर कुमार रत्नपुर नगर पहुँचा, वहाँ उसने राजकुमारी रत्नवती से व्याह किया फिर वहाँ से बिदा होकर आते समय मार्ग में पापी पुरोहित ने कुमार को समुद्र में गिरा दिया। उसने पोथी बाँधते हुए कहा–आज का सम्बन्ध इतना ही है, आगे का सुनना हो तो कल आना। रत्नवती ने उत्सुकता वश कहा—"हाथ जोड़ती हूँ, पण्डित! आगे का वृतान्त कहो।" इस प्रकार दूसरी भी सब लोगों के समक्ष बोल गयी।

दूसरे दिन प्रातःकाल फिर लाखों की उपस्थिति में वामन ने पुस्तक बांचनी प्रारम्भ की। उसने कहा–कुमार को जल में गिरते हुए किसी ने ग्रहण कर लिया, फिर उससे तापस ने अपनी कन्या रूपवती का विवाह कर दिया। वे दोनों दम्पति खटोलड़ी में बैठकर यहाँ आये, कुमार जल लेने के निमित्त कुँए पर गया जिस पर वहाँ साँप ने आक्रमण किया। इस प्रकार यह तीनों बातें हुई। वामन के चुप रहने पर रूपवती से चुप नहीं रहा गया, उसने भी आगे का वृतान्त पूछा। वामन ने कहा—अब तीनों बोल चुकीं। मुझे कुसुमवती कन्या देकर अपना वचन निर्वाह करो। राजा ने वचन के अनुसार घर आकर चौंरी मांडकर विवाह की तैयारी की। वामन और राजकुमारी के सम्बन्ध से खिन्न होकर औरतों के गीत गान में अनुद्यत रहने पर, आगे का वृतान्त जानने की उत्सुकता से तीनों कुमार-पत्नियाँ विवाह-मण्डप में जाकर गीत गाने लगीं। करमोचन के समय उल्लासरहित साले ने कहा—साँप लो। कुमार ने कुए के साँप को याद किया, उसने आते ही कुमार को डस लिया, जिससे वह मूर्छित हो गया। अब वे सब कन्याएं मरने को उद्यत हो कहने लगीं—हम भी इसके साथ ही मरेंगी, हमें इन्हें की शरण है। इतने में देव ने प्रकट होकर कुमार को अपने असली रूप में प्रगट कर दिया, सब लोग इस नाटकीय पटपरिवर्तन को देखकर परम आनन्दित हुए। कुसुमवती को अपार हर्ष था, अपने पति को पहचान कर चारों पत्नियाँ विकसित कमल की भाँति प्रफुल्लित हो गयीं। अब कुसुमवती का व्याह बड़े धूम-धाम से हुआ और कुमार सिंहलसिंह अपनी चारों पत्नियों के साथ आनन्द पूर्वक काल निर्गमन करने लगा। कुमार ने देव से पूछा—तुम कौन हो? मेरा उपकार कैसे किया? देव ने कहा—मैं नागकुमार देव हूँ, मैंने

ही तुम्हें समुद्र में डूबने से बचाकर आश्रम में छोड़ा, तुम्हें कुब्जे के रूप में परिवर्त्तन करने वाला भी मैं हूँ। तुम्हारे पूर्व पुण्य तथा प्रबल स्नेह के कारण मैं तुम्हारा सान्निध्यकारी बना। कुमार के पूछने पर देव ने पूर्व भव का वृत्तान्त बतलाना प्रारंभ किया।

धनपुर नगर में धनंजय नामक सेठ और धनवती नामक सुशीला पत्नी थी। एक बार मासक्षमण तप करने वाले त्यागी बैरागी निर्ग्रन्थ मुनिराज के पधारने पर धनदेव ने उन्हें सत्कार पूर्वक बहोराया, पुण्य प्रभाव से वह मर कर महर्द्धिक नागकुमार देव हुआ। धनदत्त भी भाव पूर्वक मुनिराज को सेलड़ी (ईख) का रस दान करते हुए तीन वार भाव खंडित हो जाने से मर कर तुम सिंहलसिंह हुए। तीन वार परिणाम गिरने से तुम समुद्र में गिरे, फिर बहराते रहने से स्त्रियों की प्राप्ति हुई। तुम्हें कुरूप वामन करने का मेरा यह उद्देश्य था कि अधम पुरोहित तुम्हें पहिचान कर मारने का प्रयत्न न करे। कुमार को अपना पूर्व भव सुनकर जाति स्मरण ज्ञान हो आया, जिससे अपना पूर्व भव वृतान्त सिंहलसिंह को स्वयं ज्ञात हो गया। राजा ने पुरोहित पर कुपित हो उसे मारने की आज्ञा दी, कृपालु कुमार ने उसे छुड़ा दिया।

अब कुमार के हृदय में माता-पिता के दर्शनों की उत्कण्ठा जागृत हुई, उसने स्वसुर से विदा मांगी, उड़न खटोली पर आरूढ़ हो चारों पत्नियों को चारों ओर तथा मध्य में स्वयं विराजमान हो आकाश मार्ग से सत्वर अपने देश लौटा। माता-पिता के चरणों में उपस्थित हो सब का वियोग दूर किया। चारों बहुओं ने सासू के चरणों में प्रणाम कर आशीर्वाद पाया। राजा ने कुमार को अपने सिंहासन पर अभिषिक्त कर स्वयं योग-मार्ग ग्रहण किया।

राजा सिंहलसुत (सिंह) श्रावक व्रत को पालन करता हुआ न्याय पूर्वक राज्य करने लगा। उसने उत्साह पूर्वक धर्मकार्य करने में अपना जीवन सफल किया। जिनालय निर्माण, जीर्णोद्धार, शास्त्र लेखन, साधु, साध्वी, श्रावक-श्राविका की भक्ति, औषधालय निर्माण, दानशाला तथा साधारण द्रव्य इत्यादि दसों क्षेत्रों में प्रचुर द्रव्य व्यय किया। दिनों-दिन अधिकाधिक धर्म ध्यान करते हुए धर्म का चिरकाल पालन कर आयुष्य पूर्ण होने पर समाधि-पूर्वक मरकर सौधर्म देवलोक में उत्पन्न हुआ। यहाँ च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में मोक्ष पद प्राप्त करेंगे।

इसके कथा-तत्व

१—पति से बिछुड़कर पत्नियाँ एक तीर्थ पर एकत्र होती हैं।

२— वे वहाँ व्रत (मौन) अनुष्ठान करती हैं।

३—पति प्राप्त करती हैं।

४ वसंत क्रीड़ा हेतु उपवन में नगर निवासी, राजकुमार(भवभूति के मालती माधव से तथा अन्य लोक-कथाओं से साम्य)

५—जंगली हाथी छूटता है (भवभूति के मालती माधव से साम्य)

६ —(अ) वह एक सेठ कन्या धनवती लड़की को उठाकर भागता है। (आ) वह चिल्लाती है।

(इ) राजकुमार उसे बचाता है।

७—इस उपलक्ष्य में सेठ कन्या राजकुमार को दी गयी।

८—राजकुमार के सौन्दर्य से नगर वनिताएँ गृहकार्य छोड़तीं (मधु मालती—माधवानल कामकंदला)

९—इससे नगर व्यग्र – राजा ने राजकुमार को अवरोधा (मधु मालती)

१० – राजकुमार धनवंती के साथ परद्वीप के लिए

११—प्रभंजन से नाव डूबी पटिया पकड़ कर धनवंती बची और कुसुमपुर पहुँची। (पद्मावती तथा नल कथा आदि)

१२—कुसुमपुर में प्रियमेलक तीर्थ, जहाँ मौन तप से खोया पति मिलता है।

१३—राजकुमार काष्ठ खण्ड के सहारे रतनपुर पहुँचा – (पद्मावत)

१४—रतनपुर की राजकुमारी को सर्प-विष से राजकुमार ने अंगूठी के जल से मुक्त किया। (राजानल, जाहरपीर)

१५—राजकुमार का रत्नवती से विवाह

१६—राजकुमार का भूमिशयन

१७—राकुमार तथा रत्नवती का घर के लिए जहाज में प्रस्थान।

१८—रुद्र पुरोहित राजकुमारी पर आसक्त, राजकुमार को समुद्र में फेंका (नल-ढोला तथा अन्य कथाएँ)

१९—रत्नवती का जहाज डूबा, वह भी बचकर प्रिय मेलक तीर्थ पहुँची और तपस्या में लगी।

२० राजकुमार सिंहल को समुद्र में से निकाल तापसाश्रम पहुँचाया।

२१—तापसाश्रम में रूपवती से विवाह—तपस्वी ने एक कंथा दिया १०० रुपये देने वाला, एक उड़न खटौली दी।

२२—उड़न खटोली ने दोनों को कुसुमपुर में उतारा।

२३— रूपवती पियासी—राजकुमार पानी लेने गया।

२४—कुएं में सर्प ने मानवी भाषा में निकालने को कहा—निकालने पर सर्प ने सिंहलकुमार को डस लिया जिससे वह कुबड़ा और कुरूप होगया— (नल और कर्कोटक)

२५—सर्प ने कहा समय पर में सहायता करूँगा।

२६—रूपवती अपने पति को न पहचान कर घूम फिर कर प्रियमेलक तीर्थ में पहली दोनों के पास पहुँच तपस्या करने लगी।

२७—तीनों की मौन तपस्या की बात राजा के कानों में पड़ी—जिसने घोषणा की कि जो इन्हें बुलवा देगा—उसे अपनी कन्या प्रदान करूँगा।

२८—सिंहलकुमार ने बीड़ा उठाया।

२९—दूसरे दिन सभी तीनों के पास एकत्र। सिंहल के कोरे पन्नों को पढ़कर पहली रानी की अपने से बिछुड़ने की कथा सुनायी—आगे की कल कहने पर वह बोल उठी, आगे (नल-ढोला)

३०—रत्नवती की कथा दूसरे दिन बिछुड़ने के समय तक की—तब रत्नवती बोल उठी।

३१—तीसरे दिन रूपवती की कथा कही—तब रूपवती बोल उठी, 'आगे क्या हुआ ?'

३२—कुबड़े सिंहल ने कुसुमपुर के राजा से कहा कि अब अपना प्रण निवाहो—कुसुमवती से विवाह कीजिये।

३३—कुसुमवती की तय्यारी पर साले ने कहा—साँपलो—तभी सिंहल को सांप का स्मरण हुआ—उसने आकर उसे डस लिया वह मूर्छित हुआ—पहली तीनों उसके साथ सती होने को प्रस्तुत।

३४—तभी एक देव प्रकट हुआ उसने राजकुमार को पूर्ववत् जीवित कर दिया और बताया कि मैंने ही तुम्हें समुद्र से बचाया, मैंने ही सर्प बन कर डसा—रक्षार्थ। मैं नागकुमार देव हूँ।

३५—कुमार ने पूछा तो देव ने उसका पूर्व भव बताया।

पूर्व भव की कथा

३६—धनदेव ने निर्ग्रन्थ मुनिराज को बहोराया।

३७—पुण्य प्रभाव से मुनिराज नागदेव हुआ।

३८—धनदेव सिंहलसिंह हुआ—

(१) तीन वार ईख का रसदान करने में भाव खंडित होने से समुद्र में गिरा

(२) बहोराने के कारण स्त्रियों की प्राप्ति हुई

३९—सिंहलकुमार विराहोपरान्त चारों पत्नियों सहित घर लौटा—

यह कथा समयसुन्दर के प्रियमेलक तीर्थ—प्रबन्धे सिंहलसुत चौपई से है।

शोध में प्राप्त इन ग्रन्थों के विवरण से हमें यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि अधिकांश कहानी साहित्य जैन है। इनमें प्राचीन जैन-परंपरा के समस्त

लक्षण हमें मिल जाते हैं। यों सामायतः ये जैन-कथाएँ भले ही दो वर्गों में बाँटली जायँ। १—पौराणिक कोटि की, २—लोक-कथा कोटि की। ऊपर वारांग कुमार या श्रीपाल चरित्र का उल्लेख हुआ है। ये पौराणिक कोटि की मानी जा सकती हैं। किन्तु इनमें भी लोक-तत्वों की प्रबलता स्पष्ट लक्षित होती है। अतः दूसरी कोटि से इन्हें यदि भिन्न कहा जा सकता है तो धार्मिक अभिप्राय के भेद से ही कहा जा सकता है। किन्तु यह विभेद भी समीचीन नहीं।

क्योंकि सभी जैन-कहानियाँ 'धर्मोपदेशता' का अंग मानी जानी चाहिये। जैन धर्मोपदेश के लिए प्रधान माध्यम कहानी को रखा गया।[1] इन कहानियों में 'मनुष्य' के वर्तमान जीवन की यात्राओं का ही वर्णन नहीं रहता, मनुष्य की 'आत्मा' की जीवन-कथा का भी वर्णन मिलता है।[2] आत्माओं को शरीर से विलग कैसे-कैसे जीवन-यापन करना पड़ा, इसका भी विवरण इन कहानियों में रहता है। 'कर्म' के सिद्धान्त में जैसी आस्था और उसकी जैसी व्याख्या जैन कहानियों में मिलती है वैसी उतनी दूसरे स्थान पर नहीं मिल सकती। कहानी प्रायः अपने स्वाभाविक रूप को अक्षुण्ण रखती है, यही कारण है कि जैन कहानियों में बौद्ध जातकों की अपेक्षा लोक-वार्त्ता का शुद्ध रूप मिलता है। अपने धार्मिक उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए जैन-कथाकार साधारण कहानी की स्वाभाविक समाप्ति पर एक 'केवलिन' को अथवा सम्यग्दृष्टा को उपस्थित कर देता है, वह कहानी में आये दुःख सुख की व्याख्या उनके पिछले जन्म के किसी कर्म के सहारे कर देता है। ऊपर 'प्रियमेलक तीर्थ' की कहानी में तीन सामान्य लोक कथाओं को जोड़कर नागकुमार देव के द्वारा पूर्वभव का वृत्तान्त अन्त में बताया गया है। राजाचंद की बात का जो जैन-रूप दिया गया है उसमें पूर्वभव का उल्लेख नहीं दिया गया। इससे यह न समझना चाहिये कि इस बात का उपयोग उस शैली में नहीं किया जाय। पंजाब में जडियाला गुरु के भंडार में एक लिखित ग्रन्थ मिला है। उसमें अन्त में पूर्व-जन्म का वृत्तान्त जोड़ा गया है। यह ग्रन्थ सत्रहवीं शती का लिखा हुआ होगा, ऐसा श्री भँवरलाल नाहटा जी का अनुमान है। (दे० 'मरु भारती' अक्तूबर १९५८)। इसी विधान के कारण जैन कहानियों का जातकों से मौलिक अन्तर हो जाता है। यद्यपि रूपरेखा में ये कहानियाँ भी

१—दे० हर्टल का निबन्धः आन दी लिटरेचर आव दी श्वेताम्बराज आव गुजरात।

२—ए० एन० उपाध्ये, बृहत्कथाकोष की भूमिका।

बौद्ध कहानियों के समान हैं। वह मौलिक अन्तर यह हो जाता है कि जैन कहानियाँ वर्तमान को प्रमुखता देती हैं, भूतकाल को वर्तमान के दुःख-सुख की व्याख्या करने और कारण-निर्देश के लिए ही लाया जाता है। बौद्ध जातकों में वर्तमान गौण है, भूतकाल अर्थात् पूर्वजन्म की कहानी प्रमुख होती है। जैन कहानियों के इसी स्वभाव के कारण उनमें कहानी के अन्दर कहानी मिलती है, जिससे कहानी जटिल हो जाती है। हिन्दी में इतनी अधिक जैन कहानियाँ लिखी गयी हैं किन्तु वे सभी अभी तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं।[1]ये जैन कहानियाँ

१—श्री अगरचंद नाहटा जी ने अत्यन्त परिश्रम पूर्वक जैन लोक-कथाओं की कुछ सूचियां प्रकाशित की हैं—इनमें उन्होंने तरंगवती, मलयवती, मगध-सेना, बंधुमती, सुलोचना का उल्लेख किया है। ये वे कथाएँ हैं जिनके नाममात्र बच रहे हैं, ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं। ये प्राचीन कथा-ग्रंथ हैं। प्राप्त ग्रंथों में उन्होंने धूर्त्ताख्यान, पंचतंत्र, प्रबंध चिंतामणि, चतुराशीति कथा संग्रह, भोज प्रबंध, सदयवच्छ चरित्र का उल्लेख किया है।

इनके अतिरिक्त उन्होंने २१ अन्य लोकभाषा में लिखी गयी लोक-कथाओं की सूची दी है। इनमें से गोरा बादल चौपाई, (सं० १६४५ से १७०७ के बीच ३ ग्रंथ), चंदन मलयागिरि चौपाई (सं० १६७० से सं० १७७६ के बीच ८ ग्रंथ), ढोलामारू चौपाई (सं० १६१७ का ग्रन्थ), पंचाख्यान (सं० १६२२ से सं० १७२२ के बीच ३ ग्रंथ), प्रियमेलक (सिंहलसुत) चौपाई (सं० १६७२ तथा १७४८ के दो ग्रंथ), माधवानल कामकंदला (सं० १६१६ तथा १६८९ के पूर्व दो ग्रंथ) शुक बहोत्तरी (सं० १६३८ और १६४८ के बीच २ ग्रंथ), सदयवत्स सावलिंगा चौपाई (सं० १६६७ से १७८२ के बीच ३ ग्रंथ) वे हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। किन्तु १—अंबड चरित्र (सं० १५९९ से १८८० के बीच ४ ग्रंथ), २—कर्पूर मंजरी (सं० १६०५ से सं० १६६२ के बीच २ ग्रंथ) ३—नंदबत्तीसी चौपई (सं० .५४८ से १७८३ के बीच ५ ग्रन्थ), ४—पंदरहवीं विद्या (कला) रास (सं० १७९८ का एक ग्रन्थ), ५ भोजचरित्र रास (सं० १६२५ से १७२९ के बीच ४ ग्रंथ), ६—विद्याविलास रास (सं० १४८५ से सं० १८४० के बीच १० ग्रन्थ), ७—विनोद चौतीसी कथा (सं० १६४१ का एक ग्रन्थ), ८—विल्हण पंचासिका (सं० १६२६ के पूर्व से सम्वत् १६३९ में २ ग्रन्थ), ९—शशिकला चौपई (सम्वत् १६२६ के पूर्व १ ग्रन्थ), १०—शृङ्गारमञ्जरी चौपई (सम्वत् १६१४ एक ग्रन्थ), ११—स्त्री चरित्र रास (सम्वत् १६२३ से १७१० के बीच २ ग्रन्थ), १२—सगाल शाह रास(सम्वत् १६६७ का एक ग्रन्थ), १३—सुक साहेली कथा रास (सम्वत् १८५० के लगभग १ ग्रन्थ)—इस प्रकार तेरह नये कथा विषयों का उल्लेख नाहटाजी ने किया। कान्हड़ कठियारा चौपाई, चन्द राजा रास, लीला वती सुमति विलास रास, वीरमणि उदयभाण रास को सम्भावित लोककथा माना है। इनमें से चन्द राजा की लोक कथा पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। विक्रमादित्य के कथा-चक्र से संबंधित जैन विद्वानों के लगभग ६० ग्रन्थों का उल्लेख यही लेखक अन्यत्र कर चुके हैं।

लोक-भाषा में सं० १४८५ से सं० १८८० के बीच लगातार लिखी गयी हैं। नाहटा जी की सूची से शताब्दी-क्रम से जैन लोक-कहानियों का यह रूप ठहरता है—

१५ वीं शताब्दी	१
१६ वीं ,,	७
१७ वीं ,,	३०
१८ वीं ,,	२६
१९ वीं ,,	३

किन्तु आगे का वह साहित्य जो प्रकाश में आया, और जिसने साहित्यकारों का विशेष ध्यान आकर्षित किया सूफियों का प्रेमगाथा साहित्य था। प्रेमगाथा-काव्य की एक लम्बी परंपरा हिंदी में मिलती है। इस परंपरा के सब से अधिक चमकते सितारे मलिक मुहम्मद जायसी हैं। पद्मावत के काव्य के कारण जिनका यश बढ़ा है। इस परंपरा में हमें लोक-कहानियों का उपयोग हुआ मिलता है। इन कहानियों की साधारण रूपरेखा यह रहती है—

'अ' राजकुमार है। उसे स्वप्न, चित्र, चर्चा (गुण अथवा दर्शन) आदि से एक राजकुमारी से प्रेम हो जाता है। इस प्रेम को दूत, तोता या अन्य कोई और पुष्ट करता है। राजकुमार राजकुमारी के विरह में जलता हुआ उसकी खोज में चलता है। तोता या अन्य दूत उसकी सहायता करता है। अनेकों कठिनाइयाँ झेलता हुआ वह प्रेयसी के स्थान पर पहुँचता है, विविध चमत्कारों और पराक्रमों के प्रदर्शन के उपरान्त वह प्रेयसी को प्राप्त कर लेता है। उनके मिलन में फिर बाधाएँ आती हैं, अन्त में वे फिर मिलते हैं।

इन गाथाओं में इतिहास का जो पुट मिला है, वह सब लोक-वार्त्ता का सहायक ही है। और अपनी ऐतिहासिकता खो बैठा है। उदाहरण के लिए 'जायसी' के पद्मावत की कथा को लिया जा सकता है। सूफियों की प्रेमगाथाएँ ही नहीं सूर का कृष्ण-चरित्र और तुलसी का रामचरित्र भी धर्म के माध्यम बने, पर वे लोकवार्त्ता से परिपूर्ण हो गये हैं। कृष्ण और राम के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों और उनके आदर्श पर भारतीय विद्वानों में जो चर्चा चलती रही है उससे यह भले ही न कहा जा सके कि राम और कृष्ण मात्र काल्पनिक व्यक्तित्व हैं, ये कभी हुए ही नहीं थे, पर इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि इनकी कथाओं में सामयिक आवश्यकताओं तथा लोकवार्त्ताओं के प्रभाव से अनेकों परिवर्तन हुए हैं, और अब उनके कृत्यों में जो आद्भुत्य है वह सब लोकवार्त्ता की देन है। कहानियों के क्षेत्र में जैनों के साथ हिन्दुओं और

सूफियों की रचनाएँ मिलती हैं। किन्तु राम और कृष्ण की धर्मगाथाओं के आजाने पर अन्य कोई भी कहानियाँ अथवा गाथाएँ ठहर नहीं सकती थीं। फलतः हिन्दी में इन्हीं दो चरित्रों पर साहित्य-क्षेत्र में विशेष ध्यान दिया गया। यों कुछ अन्य प्रकार की कथाओं को कहने के भी प्रयत्न किये गये, जैसे जोधराज ने 'हम्मीर रासो' लिखा। यह पूर्वजों के गौरव-वृद्धि के लिए लिखा गया किन्तु इसमें भी ऐतिहासिकता की प्रामाणिकता की अपेक्षा लोकवार्त्ता का समावेश विशेष हो गया है। हम्मीर और अलाउद्दीन के जन्म की कहानी ही अलौकिक है, फिर महिमा के निकाले जाने की कल्पना लोक-वार्ता से मिली है। इसी प्रकार और भी कितनी ही बातें हैं। भारतेन्दु-काल से साहित्यकारों का ध्यान दूसरी ओर रहा, पर लोक-साहित्यकार फिर भी लोकवार्त्ता की रचना में और पुरानी परम्परा के पोषण में प्रवृत्त रहा। ऊपर उन्नीसवीं शताब्दी तक के लोक-कथा साहित्य की अविच्छिन्न धारा को प्रवाहित हम देख चुके हैं। उन्नीसवीं के बाद भी यह परम्परा समाप्त नहीं हुई यह आगे दी गयी सूची से भी विदित होता है। इनके अतिरिक्त लोक-कवि ने स्वाँग लिखे; इनके विषय थे गोपीचंद भरथरी, आल्हा के मार्मिक स्थल, मोरध्वज, लैला-मजनू, हरिश्चन्द्र आदि। यह ध्यान देने की बात है कि साहित्यकार ने जिन कथाओं को लिया, लोक-रचयिता ने उनसे प्रायः हाथ भी नहीं लगाया।

नये युग के आरम्भिक स्तंभ भारतेन्दु जी में लोकवार्त्ता का भी पूरा उपयोग है। हरिश्चन्द्र की कथा को भी लोकवार्त्ता का रूप मानना ठीक होगा। धर्मगाथा होते हुए भी उसमें लोक-गाथा की मात्रा विशेष है। 'अँधेर-नगरी बेबूझ राजा' तो केवल लोक-वार्त्ता ही हैं।[1]

यह एक सूक्ष्म दिग्दर्शन है, जिससे हिंदी में ग्रहीत लोकवार्त्ता तथा लिखित लोक-कहानी की सामान्य रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। यहाँ तक के इस विवेचन से हिन्दी में ग्रहीत लोक-कथा साहित्य की उस परम्परा का भी कुछ उद्घाटन हो जाता है जो साहित्य के विविध युगों में से होती हुई सुदूर अतीत के लोकमानस से सम्बद्ध मिलती है।

१, ईलियट महोदय ने 'रेसेज आव नार्थ वेस्टर्न प्राविन्स आव इण्डिया' में बताया है कि 'अन्धेर नगरी बेबूझ राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा' यह कहावत हरभूमि (झूसी) के हरबोंग राजा के सम्बन्ध में प्रचलित है। मछन्दर नाथ और गोरखनाथ ने ऐसा प्रपंच खड़ा किया कि हरबोंग राजा स्वयं फाँसी पर चढ़कर मगर या। अन्य अद्भुत बातें भी इस राजा के राज्य और न्याय की दी गयी हैं। दे० उक्त पुस्तक का पृष्ठ २६१।

—२—

हिन्दी के इस कथा-साहित्य पर अब हम काल-क्रमानुसार दृष्टि डाल सकते हैं, इस समस्त साहित्य को कालक्रम से यों प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१००० ढोला मारूरा दूहा[1]

१२१२ बीसल देव रासो नाल्ह

१३७० चन्दायन : मुल्ला दाऊद

१४११ प्रद्युम्न चरित : अग्रवाल[2]

१४५३ हरिचंद पुराण : जाखू मणिहार[3]

१४९२ महाभारत भाषा : विष्णुदास

..................................४

१५०० सदयवत्स सावलिंगा : केशव

१५१६ लखमसेन पद्मावती : दामो (७)[5]

१५४७ नंद बत्तीसी चौपई : लावण्य समय

१५५० मैनासत } साधन
१५५५ चंदायन }

१. ढोला मारूरा दूहा को १००० से आरम्भ हुआ माना जा सकता है, उसको अन्तिम रूप तो संभवत: सत्रहवीं शताब्दी में ही मिला है।

२. रचना काल सं० १४११ का स्पष्ट उल्लेख जयपुर के श्रीकस्तूरचंद कासलीवाला की प्रति में है । किन्तु एक उज्जैन की प्रति में यह लिखा भी मिलता है :

संवत पंच सइ हुई गया । ग्यारहोतराभि अरु तह भया ।।
भादववदि पंचमि तिथि सारु, स्वाति नक्षत्र सनिच्चर बारु ।

(दे० व्रजभारती वर्ष १४ अंक १, पृष्ठ २१, नाहटाजी का भाषण)

३. चवदेहसें त्रिपनी विचार ।
चैत्रमास दिन आदित वार ।
मनमांहीं समर्यौ आदीत ।
दिन दसराहैं किया कवीत ।

(दे० व्रजभारती, वर्ष १४ अंक १, पृष्ठ २१ वही)

४. प्रेमवन जीव निरंजन : रज्जन कवि । 'प्रेमगाथा काव्य की परंपरा' नामक लेख में साहित्य संदेश नवम्बर १९५७ में श्रीसतीशचंद जोशी ने इसका उल्लेख किया है, और रचना काल १५२०–१५८१ विक्रमी के बीच माना है। आगे इन्होंने यह भी लिखा है कि 'हम ऊपर कवि रज्जन का उल्लेख कर चुके हैं, जिसका समय १४९२ से १५८१ तक माना जाता है, शेख कुतबन भी हिंदी काव्य रचना में अपना नाम 'रज्जन' रखते थे । तो क्या सम्भव है कि ये दोनों ही कवि एक ही व्यक्ति थे ?

५. सम्वत पनरइ सोलोत्तरा मझारि, ज्येष्ठ वदी नवमी बुधवार ।

१५५७ वसुदेव कुमार चउपई :[६]
१५५८ सत्यवती की कथा : ईश्वरदास
१५५९ अंगद पैंज : ईश्वरदास
१५६० (१) मृगावती : कुतबन
(२) नंदबत्तीसी : सिंहकुल
१५७८ (१) पद्मावत : जायसी
(२) चित्ररेखा : जायसी
१५८४ माधवानल कामकंदला चउपई : गणपति
१५८७ (१) डंगवै कथा : भीम[७]
(२) हरिचरित्र भागवत दशमस्कंद : लालचदास तथा असनंद[८]
१५९९ अंवड़ चरित्र : विनय समुद्र
१६०० (से पूर्व) माधवानल कामकंदला } १५९३-१६८७ प्रेमबाईसी
१६०२ मधुमालती : मलिक मंझन
१६०५ कपूरमंजरी : पतिसार
१६१३ प्रेमविलास प्रेमलता कथा : जटमल
१६१६ माधवानल कामकंदला चउपई : कुशल लाभ[९]
१६१६ हनूमान चरित्र :सुन्दरदास
१६१७ ढोलामारू चौपाई : कुशललाभ

---

६. वरलास नयरि वरि हरिस
सय पनर सतावन बरिस
कुल चरण सुपंडित सीस
बहइ हरष कुल निस दीस ।
(दे० भारतीय साहित्य, अक्तूबर १९५६, पृष्ठ २०४)
७. सम्वत पंद्रा से सत्तासी भयेऊ
दुरमुख नाम संवतु चलि गयेऊ
सावन सुकुल सत्तिमी आई ।
भीम कथा डंगवै बनाई । (सा० सं०, मार्च १९५९)
८. साहित्य-संदेश, दिसंबर १९५८, पृ० २६८
९. "संवत् सोल सोलोत्तरइ, जैसलमेर मझारि
फागुण सुदि तेरस दिवसि, विरची आदितवार ।"
पाठ भेद में 'सोल सतोत्तरई' है ।

१६२१	श्रेणिक रास :	?[१]
१६२२	पंचाख्यान :	रत्नचन्द्र सूरि
१६२५	(लगभग) रूपमंजरी :	नन्ददास
१६२५	(के लगभग) भोजचरित्र :	मालदेव
१६२६	(से पूर्व) अंबड़चरित्र :	भाव
१६३०	उषा की कथा :	परशुराम
१६३०	श्रीपाल रास :	ब्रह्मराय[२]
१६३३	(१) भविसदत्त कहा :	ब्रह्मराय
	(२) सुरति पंचमी कथा :	ब्रह्मराय
१६३६	सिंहासन बत्तीसी :	हीर (कलश)[३]
१६३७	बेलिक्रिस्न रुक्मिणीरी :	पृथ्वीराज
१६३९	अवड़चरित्र :	मंगल
१६४०	माधवानल कामकंदला :	आलम
१६४५	(१) नामदेव की कथा :	अनन्तदास
	(२) राजा पीपा की कथा	,,
	(३) गोराबादल चौपाई :	हेमरतन
	(४) रस-विलास : कवि गुपाल[४]	
१६४७	छिताई वार्त्ता :	नारायणदास
१६४८	पंचाख्यान :	बच्छराज

---

१. इसमें पुष्पिका है 'वर पट्ठनयर संवत सोल एक बीसइ भाद्रपद सुदि सुभ बार प्रारंभ दीसई १७०५ लिषि चैत्र सुदि ३ भौमे धर्मशील ने लिखा रामपुरा मध्ये ।" यह धर्मशील संभवतः लिपिकार ही है ।

२. "हो मूल संग मुनि प्रगटो जाणि, कीरति अनंत सील की धानि ।
ता सुतणो सिष्य जाणिज्यौ हो ब्रह्मराय ।
मल विढ करि चित भाव भेद आणै । नहीं होतहि दीठो
श्रीपालचरित रास ॥९२॥
हो सोलह सै तीसै सुभ बरस हो मास असाढ़ भण्यो करि हरष :
तिथि तेरसि सित सप्तमी हो अनुराधा नष्यत्र सुभसार,
बरण योग दीसै भला हो शोभन योग सनीसर वार रास ।
(दे० भारतीय साहित्य, अक्तूबर १९५६, पृ० २०३)

३. 'संवत सोलह सइ छत्रीस', कही हीर सुणी यथाः
(दे० भारतीय साहित्य, अक्तूबर ५६, पृ० २०४)

४. देखिये ब्रजभारती सं० २००९, आषाढ़-भाद्र—नाहटा जी का लेख । यह 'रस-विलास' बेलि श्री कृष्ण रुक्मिणी का ब्रजभाषानुवाद है ।

१६५१	(१) श्रीपाल चरित्र	:	परमाल[५]
	(२) भोजचरित्र रास		
१६५४	भोजचरित्र	:	हेमाणंद
१६५५	हरिवंश पुराण	:	शालिवाहन
१६५७	रूपावती	:	?[६]
१६५९	सांब प्रद्युम्न चतुष्पदिका	:	समयसुन्दर
१६६२	कर्पूरमंजरी	:	कनकसुन्दर
१६६८(?)	मृगावती	:	समयसुन्दर[७]
१६७०	चित्रावली	:	उसमान
१६७०	(के लगभग) चंदन मलयागिरि चौपाई	:	भद्रसेन
१६७२	धनाशाल भद्र चौपई	:	भवियण या भविक जे[८]
१६७२	प्रियमेलक चौपाई	:	समयसुन्दर
१६७५	(१) रसरतन	:	पुहकर
	(२) कनकावती	:	जानकवि
१६७६	ज्ञानदीपक	:	शेख नबी[९]
१६७८	कामलता	:	जान कवि

५. किसी किसी ने इसका रचनाकाल १६५७ माना है।

६. सन हजार निवोतरै रवील आखिर मास।
संवत् सोलह सतपनै हम कीनो बुधि परगास
[ना० प्र० प० वर्ष ६०, अंक ३-४]

७. हमने अजमेर में मुनि कान्तिसागर जी के द्वारा जो प्रति देखी थी उसमें एक पुष्पिका यों थी : 'श्री संवत् १६०४ वर्षे शाके १६६८ प्रव० मिती पोष बदी १३ भृगुवासरे, पं० तिलकविजय गणिनि लिपी कृतः श्री पीपलाजनयरे "सोलसइ अठसठरास्यै बरषेः हुई चउपई घणे हरषे बे:
(दे० भारतीय साहित्य, अक्तूबर १९५६, पृष्ठ २०४-५)

८. सोलै सय बहत्तरि बरस्यै आसौज बदि छठि दिवस्यै जी।
(दे० भारतीय साहित्य, अक्तूबर १९५६, पृ० २०४)

इसी संवत की समयसुन्दर की भी 'धनाशाल भद्र चौपई' मिलती है। हो सकता है यह उन्हीं की प्रति हो। भवियण या भाविक जे का उल्लेख कुछ संदिग्ध प्रतीत होता है।

९. एक हजार सन रहे छबीसा, राज सुलही गनहु बरीसा,
संमत सोरह सै छिहँतरा, उक्ति गरंत कीन्ह अनुसारा।
अलवेमऊ बोसपुर थाना, जाउनपुर सरकार सुजाना।
तँहवा सेष नबी कवि कही, सब्ब अमर गुन पिंगल मही।
[१७ वाँ दोहा]

१६८२ नल दमयन्ती : नरपति व्यास[२]

१६८४ गोविन्द चरित्र : इच्छाराम

१६८६ गोरा बादल चौपाई : जटमल

१६८८ नाशकेतु गरुड़ पुराण : भगौतीदास

१६८९ (से पूर्व) माधवानल कामकदला : अज्ञात

१६९१ (१) मधुकर मालती : जानकवि

(२) रतनावति : जानकवि

१६९३ छीता : जान कवि

१७०० (१) भक्त महात्म्य : गंगासुत

(२) रुक्मिणी मंगल : मिहिरचंद,

१७०४ चन्दन मलयागिरि चौपाई : क्षेमहर्ष तथा
जिन हर्ष

१७०७ गोराबादल चौपाई

१७११ चन्दन मलयागिरि चौपाई : सुमतिहंस

१७१३ सीता चरित्र : रामचन्द (अथवा राहचन्द)

१७१४ (१) नन्दबत्तीसी चौपाई : जिनहर्ष (नन्द वहुतर विरोचन महतानी वार्त्ता)

(२) नल दमन : सूरदास

१७१७ (१) पद्मिनी चरित्र ढाल भाषा बंध : श्री लब्धोदय[३]

(२) माधवानल नाटक : केस (या केसि)

१७१८ (१) चन्द चउपई : [४]

(२) नल चरित्र : मुकुंदसिंह

१७२२ (१) प्रद्युम्न चरित : देवेन्द्र कीर्ति

२. किसी-किसी के अनुसार इसका काल १६८३ है।

३. पुष्पिका है :
'भागचन्द कुल मांण विनयवंत गुणवंत सोया जो सेह रौरे। वरवाता गुण आण। बसु आग्रह करि संवत सतर सतोत्तरइ रै, चैत्र पुनिम शनिवार नवरस सहित सरस बंध नवो रच्यो रे निज बुद्धि अनुसार।

४. यह बंध चउपई राजा चन्द विषयक प्रतीत होती है। किन्तु निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता? क्योंकि चंद विषयक अलग अलग प्रकार की कथाएं मिलती हैं। लेखक का नाम नही मिला। संवत का उल्लेख है : 'संवत सतरै बरस अठारें ए ग्रन्थ रच्यो अणुबासारै वे।'
(दे० भारतीय साहित्य, अक्तूबर १९५६, पृ० १०५)

(२) पंचाख्यान

१७२३ मृगावती कथा : मेघराज प्रधान[५]

१७२४ सम्यक्त कौमुदी भाषा : जोधराज गोदी

१७२४ विक्रम चौबोली चौपाई : (?)[६]

१७२६ पुहुपावती : दुखहरन

१७२९ भोजचरित्र रास : कुशलधीर

१७३१ नन्दबत्तीसी : नित्य सौभाग्य

१७`२ चन्दनमलयागिरि चौपाई : अजितचन्द्र

१७३७ माधवानल कथा : दामोदर (५)

१७३८ त्रिषष्टि लक्षण महापुराण–? [१]

१७३९ बैताल पचीसी : गंगेश मिश्र (३६)

१७४० (१) चन्द्रकंवररी बात : हंस (४७)

(२) रविव्रत की कथा : सुरेन्द्र कीरति (४८)

१७४२ रोहिनी की कथा : हेमराज (४९)

१७४६ भक्तामर चरित्र : विनोदीलाल (५०)

१७४७ चन्दनमलयागिरि चौपाई : यशोवर्द्धन

१७४८ प्रियमेलक चौपाई : मानसराम

१७५० (से पूर्व) कनकमंजरी : काशीराम

१७५४ (पूर्व) पंचाख्यान भाषा : श्रावक निर्मलदास[२]

१७६७ लीलावती रास : उदयरत्न (०१)

५. सत्रहसै तेइस को जेठो महीना जानि ।
किस्न पछि की त्रयोदसी भाषा करी बखानु ॥१॥ (दे० हिन्दी अनुशीलन वर्ष १०, अङ्क ३, पृ० ५६, पं० उदयशङ्कर शास्त्री का निबंध। किसी-किसी ने इसे १६०६ की रचना माना है। किन्तु तिथि के उक्त स्पष्ट उल्लेख से भ्रम को स्थान नहीं रहता ।

६. पुष्पिका है— 'सतर चौबीसे किसन दसमी आदि आषाढ़ सही ।
लि० १७७४ आसोज सित ८ लोभे शांतिसागर लिषते सुमेल नगरी ।

१—इसकी पुष्पिका में उल्लेख है कि ' संवत १७३८ वर्षे द्वितीय आश्विन सुक्लाष्टम्यां श्रीमदंबावती महानगर वासत्य सुश्रावक पुण्य प्रभावक श्री जिनाज्ञा प्रतिपालक साह श्री मथुरादासानुग्रहेर्णेषा भाषा समर्थिता वाच्यमानाश्चिरंनंदतु ।

२. दे० साहित्य-संदेश—दिसंबर १९५६, पृ० २५३. श्री अगरचन्द नाहटा का निबंध ।

१७६८ भवानी चरित्र : मुनीराम श्रीवास्तव
१७७० एकादशी महात्म्य : सुदर्शन
१७७१ चन्दनमलयागिरि चौपाई : चतुर
१७७६ चन्दनमलयागिरि (चौपाई) : केशर
१७८० हरिवंश : खुस्यालचंद
१७८२ बैताल पचीसी : नौरतनलाल
१७८३ (१) भद्रवाहु चरित्र : सिंघही किसनसिंह
(२) रामपुराण : खुशालकवि[1]
(३) धन्यकुमार चरित
(४) नन्दबत्तीसी चौपाई
१७८५ आकाशपंचमी की कथा : खुशाल कवि
१७८७ व्रतकथा कोष : चन्दखुस्याल
१७९२ पुण्याश्रवकथा : रामचन्द्र
१७९३ (१) हंसजवाहिर : कासिमशाह
(२) नलचंद्रिका : हरदास[2]
१७९८ (१) कथा काम रूप : सभाचंद सौंधी[3]
(२) नल-चरित्र : मुकुन्दसिंह
(३) पंदरहवीं विद्या (कला) रास : वीरचन्द्र
१८०० नेमिनाथ पुराण : भट्टारक जिनेन्द्र भूषण
१८०१ (१) इन्द्रावती : नूर मुहम्मद
(२) कामरूप चरित्र : आचार्य हरिसेवक[4]
१८०३ नैषध : गुमान मिश्र
१८०९ [१] बैतालपच्चीसी : शंभूनाथ त्रिपाठी
[२] विरहवारीश : बोधा

१— किसी-किसी ने इसका रचनाकाल १७८५ बताया है।
२—संवत सत्रासै वर्ष, बीते नब्बे तीन।
कार्तिक सुदि तिथि पूर्णिमा रवि दिन पूरण कीन॥
× × ×
जम्बू द्वीप शुभ देश में, साँव देश शुभ वासु
दमयन्ती नलराय की कथा करी हरदास।
(साहित्य-संदेश, नवम्बर १९५८)
३— दे० सम्मेलन पत्रिका, भाग ४४, संख्या—१, श्री महेन्द्र का निबन्ध।
४—पुष्पिका है : "इति श्री कामरूप चरित्रे कथा संपूरण समापता सावन बदी संवत् १८०१ बिक्रमी जानिए", (हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८, अंक १-२)

१८१३ [१] चारुदत्त चरित्र : भारमल्ल
[२] सप्तव्यसन चरित्र : भारमल्ल
शीलकथा

१८१४ [१] वारांगकुमार चरित्र : कंज दृग
[२] नलोपाख्यान : मुरलीधर
[३] समुच्यय कथा : संघी परसराम

१८१५ सुदामा चरित्र : जेठमल[४]

१८१८ षटकर्मोपदेश रत्नमाला : लालचंद्र पांडे

१८२२ महापद्मपुराण : दौलतराम

१८२४ आदिपुराण बालाबोधमाया बचनिका : दौलतराम

१८२५ उषा चरित्र : परशुराम

१८२६ हरिवंशपुराण भाषा बचनिका : दौलतराम

१८३१ उषा चरित्र[५]

१८३२ आदिपुराण : भट्टारक जिनेन्द्रभूषण

१८३५ बहुला व्याघ्र संवाद : मानसिंह

१८३७ मधुमालती : चतुर्भुज

१८३६ उषा चरित्र : जनकुंज

१८४७ यूसुफ जुलेखा : शेखनिसार (जामी की पुस्तक
जुलेखा का फारसी से अनुवाद ।)

१८५३ कामरूप चन्द्रकला की कहानी : प्रेमचन्द

१८५३ (से पूर्व) नल दमयंती चरित्र : सेवाराम

१८६२ गणेश चौथ की कथा : मोतीलाल

१८७० तेरह दीप पूजन कथा : लालजीत

१८८० (१) प्रह्लाद चरित्र : देवीसिंह
(२) अंबड़ चरित्र : रूपचन्द्र

१८८३ उषा चरित : मुरलीदास[१]

४—दे० साहित्य सन्देश, फर्वरी, १९५७, पृ० ३३०, श्री अगरचन्द नाहटा का निबन्ध ।

५—१८३१ कार्तिक सुदी दूज । एक अन्य स्त्रोत से विदित होता है कि उषा चरित के लेखक 'जनकुंज' हैं, किन्तु 'जनकुंज' ने तो १८३६ में उषा चरित लिखा था । १८३१ के उषा चरित का लेखक कोई और ही है ।

१. किसी विद्वान ने इसका रचना काल १८८८ माना है ।

१८८५ हम्मीर रासो : जोधराज
१८८६ (१) रुक्मांगद की कथा : सूरदास
(एकादशी महात्म्य)
(२) उषाहरण : जीवनलाल (नागर)
१८८७ यशोधर चरित : औसेरीलाल
१८९० (१) एकादशी महात्म्य : हीरामनि
(२) उत्तमाचरित : अक्षर अनन्य
(३) विक्रमविलास : भोलानाथ
१८९३ गणेशपुराण भाषा : मीतीलाल
१८९४ उषा की कथा : रामदास[2]
१९०० जानकी विजय : सूर्यकुमार
१९०१ एकदशी व्रत महात्म्य : सूर्यदास
१९०५ (से पूर्व) रमणशाह छबीली भटियारी :
१९०५ (१) अंर्तारया की कथा : मेड़इलाल
(२) कामरूप कथा : हरिसेवक[3]
१९०६ रुक्मिणी मंगल : रामलाल
१९०७ (१) रुक्मिणी परिणय : रघुराज
(२) एकादशी व्रत की कथा : माधवराम
(३) रुक्मिणी पुराण : महाराज रघुराजसिंह
१९१० गणेश कथा : मीतीलाल
१९११ (से पूर्व) नल दमयन्ती की कथा :
१९१२ प्रेमपयोनिधि : मृगेन्द्र
१९८८ देवी चरित सरोज : माधवसिंह
१९२७ शिवपुराण : महानन्द वाजपेयी।
१९२८ ,, (उत्तरार्द्ध) :
१९३१ विक्रमबत्तीसी : कृष्णदास
१९३१ शुकबहत्तरी :
१९३८ मनोहर कहानियों का संग्रह :

२. किसी ने इसे १८८४ में रचित माना है।

३. यह वस्तुतः वही कवि और कृति है जिसे ऊपर सं० १८०१ में लिखा जा चुका है। १९०५ लिपिकाल हो सकता है, उसी के आधार पर इसे एक भिन्न लेखक मान लिया गया प्रतीत होता है।

१६३८ विक्रमादित्त चौबोली[1] ?

१६४० गणेश कथा : मोतीलाल

१६५५ विष्णुकुमार की कथा : विनोदी लाल

१६६२ नूरजहाँ : ख्वाजाअहमद

१६७२ भाषा प्रेमरस : शेखरहीम

१६७४ प्रेमदर्पण : कवि नसीर

इस कथा-साहित्य को शताब्दी क्रम से देखा जाय तो यह गणना बैठती है—

	कुल कथा	धर्मकथा जैन—हिन्दू	प्रेम कथा	वीर कथा	अन्य कथा
१० वीं शती	१	×	१	×	×
११ वीं शती	×	×	×	×	×
१२ वीं शती	×	×	×	×	×
१३ वीं शती	१	×	१	×	×
१४ वीं शती	१	×	१	×	×
१५ वीं शती	४	१—२	१	×	×
१६ वीं शती	१६	४—३	६	×	×
१७ वीं शती	५२	१३—६	२४	२	७
१८ वीं शती	४७	१६—३	११	१	१३
१९ वीं शती	३६	१३—७	१४	२	३
२० वीं शती	२३	१—८	१०	×	४
योग	१८४	५१—२६	७१	५	२७

कथा-साहित्य की इस दीर्घ परंपरा की जो सूची ऊपर दी गयी है, उस पर अनायास ही दृष्टि डालने से विदित होता है कि सबसे अधिक कथा-लेखन का प्रेम १७ वीं, १८ वीं तथा १६ वीं शताब्दियों में मिलता है।[2] इनमें से

१—इसके लेखक का नाम नहीं मिल सका। संवत १६३८॥ वर्ष जेठ सुदी १५ तिथि दी हुई है।

२—यह गणना ऊपर दी गयी सूची के आधार पर ही की गयी है। यह सूची भी पूर्ण नहीं कही जा सकती। क्योंकि आज भी शोध में नये-नये ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं। कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनका नाम तो सामने आया है, पर विशेष परिचय नहीं मिल सका। वे भी इसमें सम्मिलित नहीं हैं। किन्तु कथा-कृतित्व का सामान्य अनुमान तो लगता भी है। कुछ नाम असमंजस के कारण भी छूट गये होंगे।

शुद्ध प्रेम-कथाओं का निर्माण १७ वीं में सबसे अधिक हुआ अठारहवीं में कुछ धर्म कथाओं का निर्माण इन-प्रेम कथाओं से भी प्रायः अधिक हुआ। धर्म-कथाओं के ताने-बाने में प्रेम-कथा और विलक्षण घटना-चक्र का विधान रहा। पर ये सब कथा-तत्व और घटना-चक्र लोक-क्षेत्र से ही लिये गये।

ऐसा क्यों हुआ ? इसके लिए श्री एम० आर० मजूमदार द्वारा संपादित माधवानल कामकंदला प्रबन्ध के 'प्रिफेस' से यह अवतरण देना समीचीन होगा।

"प्राकृतकाव्य 'वासुदेवहिंडी' के लेखक ने आग्रह किया है कि धर्मगाथाओं को लिखने के लिए रोमांटिक (अथवा प्रेम) कहानियों का उपयोग किया जाना चाहिये ? दूसरे शब्दों में, सर्वोत्तम परिणाम उपलब्ध करने के लिए धर्मकथाओं को अच्छी प्रेमकथाओं से समुचित रूपेण हलका बनाकर प्रस्तुत करना चाहिये। कुबलयमाला के लेखक उद्योतन सूरि ने यह विधान किया है कि कहानी नवविवाहिता वधू के समान होनी चाहिये, आभूषणों से सुशोभित, शुभ, कल गति से चलने वाली, भावाभिभूत, कोमल कंठी, सतत प्रसन्न रखने वाली।"*

ऊपर जिन दो ग्रन्थों का उल्लेख उक्त अवतरण में हुआ है, वे दोनों ही जैन-धर्म से सम्बन्धित हैं। ऊपर जो कथा-साहित्य की परम्परा दी गयी है, उसमें 'धर्मकथाओं' के लिए दिये गये इन नियमों का पालन भली प्रकार किया गया है। अतः धर्मकथाओं में भी बहुधा लोक-प्रेमकथाएँ मिली हुई हैं, और उनमें अन्य लोक-प्रचलित विलक्षण अभिप्राय भी मुक्त भाव से सम्मिलित किये गये हैं।

इसके साथ ही दूसरी बात यह दृष्टिगोचर होती है कि ऊपर दिये समस्त कथा-ग्रन्थों को हमने हिन्दी का साहित्य माना है। इनमें से कितनों ही की

* The author of the Prakrit poem Vasudevahindi, insisted that romantic stories should be utitised for writing dharmakathas ; or to say in other words, dharmakathas should be properly diluted with good love-stories in order to achieve the best result. Udyotana Suri, the author of Kuvalaymala, laid down that a story should be like a newly wedded wife, decked with ornaments,auspicious, moving with graceful steps, sentimental, soft in speech, and ever pleasing to the minds of men. (Preface : Madhawanal Kamkandala Prabandha 1942. Oriental Institute, Baroda)

भाषा पर विद्वानों का मत हमसे भिन्न है। यह मतभेद प्रायः उन ग्रन्थों के सम्बन्ध में है जिनमें कई भाषा प्रवृत्तियों की झलक मिलती है। उदाहरणार्थ गणपति की 'माधवानल कामकंदला' की भाषा के कुछ उद्धरण यहाँ दिये जाते हैं—

"हाव भाव हसती करइ, सम्मुख धरइ कटाक्ष।
ब्राह्मण विधि जाणइ नहीं, स्वामी सूरिज साक्ष ।।२४
सूका तरुग्रर पल्लव्या, फूल्यां फल्यां बहु वृद्धि।
आनंद बन-मांहि अधिक. रोपि रोपि रिद्धि।४।१६
निज नवग्रह पूजा करी, शांति कर्म सुविचार।
मही-मागण सँतोषीया, आपी आपी सार।४।८६
भगति करइ माधव खरी, करी न करसि कोइ।
मात तात नित पूजिइ, वेहरासरमां दोइ।४।८८
महूरत एक माधव विना, मही पपि रहिउँ न जाइ।
सुख संपत्ति सेववा, जाणि एक जि काय।४।६१
विण-तरुग्रर जिम बेलडी, कण्ठ-बिना जिम माल
पुरुष-बिहूणी पद्मिनी, किणि परि ठेलिसि काल ?६।१५।।

इस भाषा को किसी ने पश्चिमी राजस्थानी और किसी ने पश्चात्कालीन अपभ्रंश या पुरानी गुजराती माना है।

और कुशललाभ की इस भाषा को क्या नाम दिया जायगा ?—

सिप्रा वहइ नदी चंग।
महाकाल प्रासाद उत्तंग।
चउसठि जोगिणि-पीठि सुठामि।
तिहां देवी हरसिद्धि नामि।३७४

यह बात भी विदित होती है कि कुछ 'कथा-रूप' बहुत अधिक लोकप्रिय हुए। जिन्हें यों समझा जा सकता है—

१—ढोला मारू, १०००, १६१७— २
२—प्रद्युम्नचरित्र १४११, १६५९ (?), १७२२— ३
३—नंदबत्तीसी १५४८, १५६०, १७१४, १७३१, १७८३ — ५
४—मृगावती १५६०, १६६८ (?)— २
५—माधवानल कामकंदला, १५८४, १६००, १६१६, १६४०, १६८९, १७१७, १७३७, १८०६— ८
६—अंवड़ चरित्र १५६९, १६२६, १६३९— ३
७—मधुमालती १६०२, १६६१ (?), १८३७— ३
८—भोजचरित्र १६२५, १६५१, १६५४, १७२९— ४

९—उषा की कथा १६३०, १८२५, १८३९, १८८३, १८८४, १८८६— ६

१०—सिंहासन बत्तीसी १६३६, १६३१,— २

११—पंचाख्यान— १६२२, १६४८, १७२२— ३

१२—श्रीपाल चरित्र १६५१, १६५७— २

१३—चन्दनमलयागिरि १६७०, १७०४, १७११, १७३२, १७४७, १७७१, १७७६— ७

१४—कामलता १६७८, ओरछा, पंजाब ३

१५—नलदयमन्ती १५८२, १७१४, १७१८, १८५३, १९११— ५

१६—बैताल पच्चीसी १७३९, १७८२, १८०९, १८९०— ४

सब से अधिक लोकप्रिय 'माधवानल कामकंदला' है। यह विक्रम-कथा-चक्र की कहानी है। हिन्दी में इसका आरम्भ सोलहवीं शताब्दी से ही मिलता है।

चन्दन मलयागिरि की कहानी का लोकप्रियता की दृष्टि से दूसरा स्थान है। इसका हिन्दी में आरम्भ सत्रहवीं शताब्दी में हुआ। माधवानल से लगभग ८६ वर्ष उपरान्त।

उषा-चरित्र लोकप्रियता की दृष्टि से तीसरे स्थान पर प्रतीत होती है। इसका भी आरंभ सत्रहवीं शताब्दी से हिन्दी में हुआ। चन्दन मलयागिरि से लगभग ४० वर्ष पूर्व।

जैन-धर्म की नन्दबत्तीसी और नलदमयन्ती की समान लोक-प्रियता विदित होती है।[१]

१—'लोक कथा संबंधी जैन-साहित्य' के जिस निबन्ध का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, उसके अनुसार जैनधर्मानुयायियों में लोक-प्रियता का अनुमान लगाया जाय तो यह होगा—

प्रथम स्थान	विद्याविलास रास	१० ग्रन्थ
द्वितीय	चंदनमलयागिरि चौपाई	८ ग्रन्थ
तृतीय	नंदबत्तीसी चौपाई	५ ग्रन्थ
चतुर्थ	१—प्रबंध चरित्र २—भोज चरित्र रास ३—चंद राजा रास	४ ग्रन्थ (प्रत्येक)
पंचम	१—गोरा बादल चौपाई २—पंचाख्यान ३—सदयवत्ससावलिंगा	३ ग्रन्थ (प्रत्येक) आदि।

सदयवत्स सावलिंगा पर श्री नाहटा जी ने राजस्थान-भारती अप्रेल १९५० में जो लेख लिखा है, उसमें इस ग्रन्थ की अब तक मिली प्रथम प्रति सं० १४६६ की भीम कवि की गुजराती सदयवत्स चउपई या प्रबन्ध मानी

कुछ कथा-ग्रन्थ पूरक कृतित्व के द्वारा भी अपनी लोकप्रियता प्रकट करते रहे हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार माधवानल कामकंदला, ढोला मारू-कथा, नन्दबत्तीसी, लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा के पूरक कृतित्व कुशललाम, जगीजारण, तथा किसी बंगाली कवि के द्वारा प्रस्तुत हुए और बहुत लोक-प्रिय हुए। 'लोरकहा' या 'चन्दायन' मुल्लादाऊद के नाम से पहले पहल मिलती है दौलत काजी तथा अलाओल ने बँगला में पूरक कृतित्व सहित इसे प्रस्तुत किया। लोर का मैनासत सम्बन्धी वृत्त 'साधन' के मैनासत में मिलता है। यही साधन नामांकित कथा चतुर्भुज की मधुमालती में साक्षी कथा के रूप में आयी है, दौलत काजी में साधन के अंश है। दाऊद की रचना में साधन के एक पूरक कृतित्व के रूप में ही मैनासत का प्रसंग आया है। फिर चतुर्भुजदास की मधुमालती में माधव का पूरक कृतित्व है। नारायनदास की छिताईवार्ता में रत्नरंग ने पूरक कृतित्व किया। रत्नरंग के बाद देवचन्द ने पूरक कृतित्व किया। 'अनिरुद्ध उषाहरण कथा' लालदास लालच ने लिखी, रामदास ने उस पर पूरक कृतित्व किया, और यह रामदास के नाम से ही प्रसिद्ध हुई। इसी पर पहारसिंह प्रधान का पूरक कृतित्व मिलता है।[२] किन्तु इनके अतिरिक्त भी और पूरक कृतित्व मिलते है। चतुर्भुजदास की मधुमालती पर माधव के अतिरिक्त कवि गोयम ने भी पूरक कृतित्व किया। मृगावती पर भी इसी प्रकार की रचनाएँ हुई है। मेघराज प्रधान की मृगावती कुछ इसी प्रकार के पूरक कृतित्व में आ सकती है। 'राजा चन्द की बात' पर जो जैन ग्रन्थ श्री भँवरलाल नाहटा को पंजाब में मिला है उसे भी पूरक कृतित्व मानना होगा। इसी प्रकार कामरूप कामलता कथा का हरिसेवक का ओरछा का ग्रन्थ तथा सभाचन्द सौंधी का पंजाबी ग्रन्थ एक पर दूसरे का पूरक कृतित्व माना जा सकता है। जान की कामलता में मी उसी पूरककृतित्व का रूप दिखायी पड़ता है। यह भी कहा जा सकता है कि ये सभी वृत्त लोक-कथा के रूप में प्रचलित थे, और वहीं से मूल लेखक और उन रचयिताओं ने लिये जिन्हें पूरक कृतित्वकार माना गया

है। इसकी लोकप्रियता के संबंध में उन्होंने यह टिप्पणी दी है—"सदयवत्स कथा का सर्वाधिक प्रचार राजस्थान में रहा प्रतीत होता है। केवल हमारे संग्रह में ही इस कथा की (राजस्थानी भाषा की) १२ प्रतियें उपलब्ध हैं। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में १२, सरस्वती भंडार, उदयपुर में ५, कुंवर मोतीचन्दजी के संग्रह में ३, बृहद ज्ञान भंडार में ३ प्राप्त हैं"

२—देखिये 'हिन्दुस्तानी', जनवरी-मार्च १९५९, —डा० माताप्रसाद गुप्त का लेख।

है ।[१] जो भी हो, ये लोक-कथाएं भी साहित्यकारों को अत्यन्त प्रिय रहीं, और कई प्रकार से इनका प्रसार-प्रचार बढ़ा । सावलिंगा सदयवत्स विषयक कथा साहित्य भी प्रचुर है । इस विवेचन से कुछ उन कथाओं के नाम तो उभर ही आते हैं जो विशेष लोक-प्रिय रही हैं ।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि कितनी ही ऐसी कहानियाँ मिली हैं जिनका रचना-काल ज्ञात नहीं, और इसी कारण वे ऊपर की सूची में सम्मिलित नहीं की गयीं । कुछ ऐसी रचनाएं ये हैं—

सुर सुन्दरी कथा
उदय सुन्दरी कथा
अंजना सुन्दरी कथा
शनिश्चर कथा
माहिरा नरसी
कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह लेखक 'पद्म भगत'
वैदक लीला—ध्रुवदास
रिसाल कुंवर की बात—'नरवदो' रचित
पना की वार्ता : वीरमदेपना—ब्राह्मण बल्देव ने अजयनगर मध्ये लिखी
पंचतंत्र भाषा
कालिकाचार्य कथा
करकंडे महारथ चरित्र
मयण रेहा चौपाई
गोरा बादल : सती चरित
विक्रमादीत चरित पच दंड साधन

इस सूची में रिसाल कुंवर की बात, पंचतंत्र, गोराबादल, विक्रमादीत चरित को छोड़ शेष धर्मकथाएं हैं । मयणरेहा चौपाई के सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता ।

कुछ ऐसी कृतियाँ भी मिली हैं जिनमें कथा का रूप तो है, पर उसे लोक-

१—पूरक कृतित्व के सम्बन्ध में सामान्य प्रथा यह रही है कि मूल कृतिकार की रचना और उसकी अपनी पुष्पिका ज्यों की त्यों रहने दी जाती है, पूरक कृतिकार उसमें अपनी पुष्पिका और जोड़ता चला जाता है । अतः पारिभाषिक इस दृष्टि से 'राजा चन्द की बात' और कामलता के विविध कृतित्व एक दूसरे के पूरक नहीं माने जा सकते, न मेघराज प्रधान का ही पूरक कृतित्व कहा जायगा ।

कथा नहीं माना जा सकता । जैसे १७११–१२ की एक रचना हैं 'पंचान राजा की कथा'—इसमें लेखक ने बताया है कि "जातें हों चाहत कह्यो नायक भेद अनूप"—इसकी शैली वाद-विवाद की है—

यथा—"**बाद भये द्वै सखिन में, सुनहु प्रगट चितलाय ।**
उत्तर प्रति उत्तर दये निश्चै भेद बताय,
एक विवेकिनि जानियौ, इक अविवेकिनि नाम । आदि ।

इसका रचना काल यों दिया गया है : "सत्तरासै अरु ग्रासिये (आसिये) सुदि दसमी ससिवारु ।

इसी प्रकार 'राजा पंचक कथा'- यह कथा अन्योपदेश रूपक प्रणाली में लिखी गयी है ।

"धर्म पाल अरु सिद्ध सुभट
धन संचय पुनि भूप
भयो नृपति नारी कवच
अधम पाप कौ रूप
पाँचौ राजा भये
समये निज निज पाय
जस अपजस नृप प्रकृति सौं
रह्यौ धरनि में छाय

इसी प्रकार का एक ग्रन्थ **प्रवीणसागर** भी हैं । यह ग्रन्थ सं० १८३८ में रचा गया है । यह ग्रन्थ यों तो कथा-रूप के साथ है किन्तु कथा तो आश्रय मात्र है । ग्रन्थ तो विविध विषयों का ज्ञान कराने के लिए प्रस्तुत किया गया है । अतः कथा भी कल्पना से गूँथी गयी है, और लोक-कथा के तत्वों से रहित है । केवल रचयिताओं के सम्बन्ध में पूर्वभव में शिव के गण होने का जो उल्लेख है, उसी में कुछ लोक-तत्व से अनुकूलता है । इसी प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखा गया काव्य **'त्रिभुवन दीपक प्रबंध'** भी इसमें सम्मिलित नहीं किया जा सकता । यह कथा युक्त तो है, पर रूपक-कथा है । इसके रचयिता कवि श्री जयशेखरसूरि जी ने प्रकृति, मन और आध्यात्मिक तत्वों को अपनी कहानी का पात्र बनाया है । ऐसे आध्यात्मिक रूपक-प्रबन्ध के लिए समस्त कथा कवि को कल्पना से ही गठित करनी पड़ती है । (दे० हिन्दुस्तानी, जनवरी-मार्च, १९५९, श्री हरिशंकर शर्मा, 'हरीश' का निबन्ध पृ० ६८) । नूर मुहम्मद की **'अनुरागे बाँसुरी'** भी इसी प्रकार का एक रूपक

काव्य है, किन्तु नूर मुहम्मद ने इस रूपक काव्य में भी कथा-तत्व की रोचकता और कुछ विलक्षणता भी संयोजित रखी है।

ऊपर एक स्थान पर कहा जा चुका है कि इस कथा-परम्परा के कितने ही काव्यों का सम्बन्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्वों, घटनाओं और स्थलों से है। जैसे जायसी का पद्मावत चित्तौड़ के राणाओं और अलाउद्दीन से सम्बन्धित है। छिताई वार्ता देवगिरि के राजा रामदेव यादव तथा अलाउद्दीन से सम्बन्धित है। लखमसेन पद्मावती के पात्रों में भी ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की झलक पायी गयी है। माधवानल कामकंदला से सम्बन्धित नगरों और स्थानों तक का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुसंधान किया जा चुका है। इसी प्रकार अन्य प्रेम-कथाओं तथा सामान्य कथाओं में ऐतिहासिक तत्व ढूंढ़े जा सकते हैं, किन्तु कथाकार के लिए वस्तुतः ये सब नाम ही रहे हैं, और उसकी लोक-कथा में वे अपनी ऐतिहासिकता को अत्यन्त गौण कर बैठे हैं। ये तो कथाएँ ही हैं, किन्तु कुछ ऐतिहासिक दृष्टि वाले काव्य भी लोक-तत्व और लोक-कथा तत्वों से आक्रान्त हो गये हैं।

हम्मीर रासो इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। जोधराज का हम्मीर रासो रासो परम्परा के लोक-तत्व से ओत-प्रोत है। उदाहरणार्थ—

मीरमहिमा के निष्कासन के कारण का वृत्त—रूप-विचित्रा के अद्भुत कथानक की सृष्टि। यह कथानक रूढ़ि पृथ्वीराज रासौ में 'हुसेन कथा' में भी मिलती है। चतुर्भुज की मधुमालती में भी हैं इसका स्रोत लोक-मानस है। इसका इतिहाससे कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

शिवजी पर चढ़ाया हुआ हम्मीर का शीश अलाउद्दीन को आदेश देता है। अलाउद्दीन तदनुसार रामेश्वरम् में जाकर प्राण त्यागता है।

चन्द्रकला नृत्य का विधान जिसमें महिमा के भाई गमरू के वाण से चन्द्रकला नर्तकी घायल होकर गिर पड़ी, उत्तर में महिमा ने वाण छोड़ा जिससे अलाउद्दीन के मुकुट गिर गये।

हम्मीर और अलाउद्दीन देवों और पीरों को याद करते हैं और ये आकर सहायता करते हैं।

इसी प्रकार 'गोराबादल' की कथा में भी ऐसे लोक-कथा के अंश सम्मिलित किये गये हैं। उदाहरणार्थ जटमल कृत 'गोर-बादल की कथा' में योगी की कृपा से मृग-चर्म पर बैठकर सिंहल द्वीप पहुँचना।

अलौकिक तत्वों से कथानकों को युक्त करने की प्रवृत्ति इस काल में इतनी प्रबल थी कि बड़े महात्माओं के चरित्रों में भी इनका समावेश कर दिया गया था। वि० सं० १३१४ में प्रभाचंद्र सूरि ने 'प्रभावक चरित्र' में सिद्धसेन दिवा-

कर के सम्बन्ध में लिखा है कि वे एक बार चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक अद्भुत स्तम्भ देखा। उन्होंने स्तम्भ की परीक्षा करके कुछ ऐसी अद्भुत औषध बनायी कि उसके प्रयोग से उस स्तम्भ में छेद हो गया। उसमें पुस्तकों का एक विशाल संग्रह था। एक पुस्तक में से उन्होंने **सुवर्ण सिद्धि का प्रयोग** सीखा, और **सरसों से घोड़े** बनाने की विद्या जानी। वहाँ की शासन-देवी को भय हुआ कि आगे की बातों का ज्ञान हो गया तो उनका दुरुपयोग हो सकता है अतः उसने वह पुस्तक चुराली और जैसलमेर के भण्डार में गुप्त स्थान में पहुँचा दी। सिद्धसेन जी ने उन सीखी विद्याओं का उपयोग कर्मार के राजा देवपाल की सहायता के लिए किया, जिससे उस राजा ने इन्हें 'दिवाकर' की पदवी से विभूषित किया।

पुरातन प्रबंध में 'चित्रकूटोत्पत्ति प्रबंध' चित्तौड़ के बसने से सम्बन्ध रखता है। उसमें दाने द्वारा मनुष्य को कड़ाह में पकाने की योजना के सफल हो जाने पर मनुष्य द्वारा दाना ही कड़ाह में डाल दिया गया, जो मूँगामोती में परिणत हो गया, इस अत्यन्त प्रचलित लोक-कहानी का एक रूप मिलता है। यह इस प्रकार है :—

> शिवपुर के राजा चित्रांगद की सभा में एक योगी प्रतिदिन छः महिने तक आता रहा। राजा ने कारण पूछा—
>
> योगी ने कहा—मुझे एक सिद्धि में आपकी सहायता अपेक्षित है। आप देवी-अष्टमी के दिन तलवार लेकर कूटाद्रि पर आइये। राजा यथावसर कूटाद्रि पर गया। रानी को पता चल गया, उसने पीछे से मंत्री को भी भेजा। वहाँ अग्नि-कुण्ड था। जब योगी स्नान करने गया, तब मंत्री ने राजा से कहा कि यह आपको इस कुण्ड की परिक्रमा करने के लिए कहेगा। आप कहियेगा कि पहले आप परिक्रमा देकर बता दीजिये। राजा ने ऐसा ही किया, जब योगी बताने के लिए अग्निकुण्ड की परिक्रमा देने लगा तो राजा और मंत्री ने उसे आग में धकेल दिया। उसमें गिरते ही वह स्वर्ण-पुरुष हो गया। उसे राजा घर ले आया। इससे उन्हें धन की कमी न रही। तभी उन्होंने चित्रकूट या चित्तौड़ का किला बनाने का निश्चय किया.......आदि।

इन संस्कृत ग्रन्थों के उदाहरणों से हमने यह प्रकट करने का प्रयत्न किया है कि ये लोक-कथा-तत्व किस प्रकार प्रामाणिक वृत्तों में भी ऐतिहासिक आस्था के साथ नियोजित हो जाते थे। ये वृत्त चाहे राजा से सम्बन्धित हों, या किसी योगी या महात्मा से। महात्माओं सम्बंधी अलौकिक-तत्वों की परम्परा अपनी

पूर्ण प्रबलता से आगे भक्ति-धारा के भक्तों में भी विद्यमान मिलती है।

इन कथाओं में मिलने वाले कुछ सामान्य तत्त्वों की ओर श्री ऐम० आर० मजूमदार ने ध्यान आकर्षित कराया है। उन्होंने लिखा है कि--

"इनमें सबमें एक सामान्य तत्व यह था कि इनमें चमत्कारिकता की प्रधानता थी : जादू-टोना, जंत्र-मंत्र, मनुष्य शरीर का परिवर्तन, मृतक का पुनरुज्जीवन, एक शरीर से दूसरे शरीर में (परकाय) प्रवेश आदि बातें खुलकर काम में लायी जाती थीं। ऊल-जलूल जीवन के कृत्यों का भी कम उपयोग नहीं था। कुछ का तो बूर्जुआ वातावरण था, जिसमें यात्राओं और व्यापारिक उद्योगों का वर्णन रहता था। चोरी-जारी, पर-स्त्री-आकर्षण और उन्हें भगाने की घटनाओं को भी छोड़ा नहीं गया था।

इनमें एक निर्बन्ध समाज का चित्रण है। इनमें जिन बातों का जिक्र हैं वे हैं सह-शिक्षा तथा स्त्री की स्वतन्त्रता, उनकी शिक्षा तथा ललित कला-दक्षता, हठी स्त्री का चरित्र, अत्यन्त संस्कृत तथा निष्ठावान वेश्या; सामान्य शिक्षा का प्रसार, अत्यन्त उग्र तथा स्वोद्भूत प्रेम, अथवा विश्वासघात, ये प्रमुख अभिप्राय हैं; साधारणतः आकस्मिक रूप से अथवा जानबूझकर वियुक्त प्रेमियों की दुर्दशा का सूत्र कहानी में आवेगमय रोचकता बनाये रहता है। प्रहेलिका के उपयोग का बहुत शौक है। नायिका का विरह युक्त बारहमासा तो अवश्य ही मिलता है।"[1]

इन लोक-कथाओं में मजूमदार द्वारा बताये गये तत्वों का तो समावेश मिलता ही है, इनमें से एक बात विशेष ध्यान आकर्षित करती है। प्रायः प्रत्येक प्रेम-कथा में 'बारहमासे' का प्रयोग अवश्य हुआ है। यों तो इन कथाओं में और भी कई प्रकार के कलात्मक-रूपों का उपयोग जहाँ-तहां मिलता है, किंतु 'बारहमासा' तो जैसे इन कथाओं का एक अनिवार्य अङ्ग ही हो। स्वाभाविक प्रेम-कथाओं में इसे छोड़ा नहीं गया। उधर 'संदेशरासक' जैसा प्रमुख काव्य मिलता है, जो केवल बारहमासा ही है। फिर 'मैनासत' में भी कथा-भाग अत्यन्त अल्प है, जैसे वह बारहमासे की भूमिका और उपसंहार ही हो। यह दशा 'वीसलदेव रास' की है इसी प्रकार बारहमासे के केन्द्रविन्दु से प्रेम-कथाएँ लिपट कर विकसित होती मिलती हैं। और यह निर्विवाद है कि 'बारहमासा' मूल में लोक-गीत है। वहीं से कवियों ने लेकर उस पर प्रेम-गाथाएँ खड़ी की हैं।

यह भी स्पष्ट है कि 'बारहमासे' का वियोग सहन करनेवाली नायिका

१. देखिये माधवानल-कामकंदला प्रबंध--प्रिफेस, पृ० ६।

'सतवंती' ही होगी। इन कथाओं में सत विषयक एक अन्तर्धारा निश्चय ही व्याप्त है। सामान्य लोक-कथाओं में इस सत से जीवन की नींव को दृढ़ किया गया है; उधर कुछ धार्मिक पौराणिक गाथाओं में 'सत' को 'शक्ति' के रूप में दिखाया गया है। सत एक ऐसा प्रबल अस्त्र है, जिसका वार विफल नहीं होता और उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता। ईश्वरदास की 'सत्यवती' कथा इसका एक उदाहरण है। जहाँ तक यह सत मैना के सत की भाँति दृढ़ प्रेम की कसौटी रहा है, वहाँ तक तो उसे सामान्य चारित्रिक तत्व माना जा सकता है, उससे कवियों को भाव-सौन्दर्य और भाव की उज्ज्वलता की अनुभूति का अवसर मिला है, पर जब यह 'सत' एक अलौकिक सत्ता की भाँति दिव्य शक्ति का रूप ग्रहण करता है, तो लोकमानस की भूमि पर ही हमें पहुँचा कर यह अपना अभीष्ट सिद्ध करता है।

ऊपर दी गयी सूची के सम्बन्ध में कुछ अन्य् बातें भी ध्यान देने योग्य हैं।

वीसलदेव रास को हम 'वीरकथा' नहीं मान सकते। वह एक प्रकार से प्रेम-कथा ही।

डंगवैकथा यों तो पौराणिक कथा है, और एक शाप और उसकी मुक्ति से सम्बन्धित है, किन्तु कथा के समस्त तन्तु प्रेमकथा विषयक हैं। घोड़ी नायिका है जो रात में अपने मूल अप्सरा रूप में आ जाती है, और दिन में घोड़ी बन जाती है। राजा दंग को उससे प्रेम होगया है,और वह उसी के साथ रहता है। उसी के लिए अन्त में युद्ध भी होता है। अतः इसे प्रेमकथा ही मानना समीचीन प्रतीत होता है। मृगावती में इसी कथा का लोक-रूप मिलता है। इसमें नायिका हारिणी बनती है।

समयसुन्दर के नाम से एक मृगावती मिलती है। यह कुतबन की मृगावतीं नहीं। यह मृगावती उदयन की मा है। इसका संबंध उदयन कथा से है।

रूपमंजरी नंददास जी ने धार्मिक और साम्प्रदायिक दार्शनिक और भक्ति-विषयक तत्वों को हृदयंगम कराने के लिए लिखी है, किन्तु है प्रेमकथा ही। इसे लोक-तत्व युक्त प्रेमकथा नहीं माना जा सकता है।

बेलिकृष्ण रुक्मिणी भक्ति भाव से युक्त होते हुए भी प्रधानतः प्रेमकथा ही मानी जानी चाहिये। इसी प्रकार उषा कथा या उषाहरण पौराणिक होते हुए भी प्रेमकथा ही मानी जायगी। यों तो इसका तांत्रिक मूल्य भी है। उषा-कथा सुनना जूरी उतारने के लिए एक टोटका भी है।

चन्दन मलयागिरि की कथा 'अंबा-आमिली' के लोक-कथा-चक्र की है। इसे वस्तुतः तो प्रेमकथा नहीं कहा जा सकता। यह वैचित्र्य युक्त है।

हमने उक्त सूची में कितने ही रासो नामक काव्य सम्मिलित नहीं किये। जैसे पारीछत रायसौ, आदि। बात यह है कि ये रासौ ऐतिहासिक ही हैं, वास्तविक कहानी तत्व इनमें नहीं, इस दृष्टि से ये पृथ्वीराज रासौ, हम्मीर रासो, वीसलदेव रासौ से भिन्न हैं।

गोराबादल की भूमिका विषयक कथा तो प्रेमकथा है किन्तु प्रमुखता 'गोराबादल' की होने के कारण यह वीरकथा मानी जानी चाहिये। 'जानकी विजय' यों तो धार्मिक वृत्त ही हैं, किन्तु जानकी जी की देवी रूपी वीरता का वर्णन होने से इसे वीर-कथा में रखना ही समीचीन प्रतीत होता है। यह 'शाक्त' परंपरा की कृति प्रतीत होती है। 'रुक्मिणी मङ्गल' भी यों तो वैवाहिक गीत सा विदित होता है, और धार्मिक महत्व भी इसका विदित है, भक्ति-तत्व भी हैं। किन्तु मूलतः प्रेमकथा ही है, बेलि की कोटि में ही मानी जानी चाहिये।

जानकवि ने लगभग २१ प्रेमकथाऐं १६७५ से १७२० के बीच लिखीं। हमने उक्त सूची में केवल कुछ प्रमुख कथाएँ ही सम्मिलित की हैं।

इसी प्रकार संत कवियों की परिचिइयाँ भी कितनी ही हैं। सूची में जिनका उल्लेख हुआ है, उनके अतिरिक्त निम्नलिखित और प्राय हो चुकी हैं: त्रिलोचन की परिचई, धना जी की परिचई, रैदास की परिचई, रांका-बांका की परिचई, सेऊ सम्मद की परिचई, इनके लेखक हैं १७ वीं शताब्दी के अनंतदास। हरिदास निरंजनी की परिचई तथा सेवादास की परिचई (१८ वीं शदी) तथा वैष्णवों की वार्ता आदि।

अन्य कथाओं में ये ग्रन्थ भी और सम्मिलित किये जायँगे—

१६०७	ढोला मारवणी चौपाई : हरराज	
	दसमस्कंध भागवत भाषा : नरहरदास बारहट	
	रामचरित्र कथा	,,
	अहिल्या पूर्व प्रसङ्ग	,,
	नरसिंह अवतार कथा	,,
	अवतार चरित्र	,,
	रामायण	विश्वनाथसिंह
१८१५	हरिदौल चरित्र	बिहारीलाल
	मकरध्वज	मेघराज प्रधान
१६७७	राणारासा	दयालदास भाट

१८२८	ब्रजविलास	ब्रजवासी दास
१६८८	जैमिनि पुराण	रतिभान
१८१२	विक्रम बत्तीसी	अखैराज
१८११	कृष्ण चन्द्रिका	"
	विक्रम विलास	नेवजीलाल दीक्षित
१६२८	जैमिनि कथा	कृष्णदास
	मैनसत के ऊत्तर	गंगाराम
१६६३	सुदर्शन चरित्र	नंद
१६७०	यशोधर चरित्र	नंद
१५१२	ओखाहर	परमानंद

-३-

हिन्दी के कथा-साहित्य की कथानक रूढ़ियाँ

प्रद्युम्न चरित्र

१—सत्यमामा से नारद रुष्ट | १—नारद सत्यमामा के कक्ष में गये तो वह शृङ्गार में मग्न

सीता चरित में भी सीता से नारद रुष्ट | २—नारद को दर्पण में देखकर नाक भौं सिकौड़ीं

२—सत्यमाया को सौतिया डाह से जलाने का नारद जी का संकल्प।

३—नारद का कुंडनपुर में जाकर रुक्मिणी को देख कृष्ण से उसके विवाह की भविष्यवाणी।

चित्र का अभिप्राय बहुत प्रचलित | ४—रुक्मिणी का चित्र भेज कर नारद ने कृष्ण को मोहित किया।

५—रुक्मिणी के भाई ने शिशुपाल को रुक्मिणी की लग्न भेजी। वह आया। नारद ने उसे नगर में प्रवेश करने से रोका।

तु० सीताहरण, संयोगिताहरण, सुभद्रा-हरण | ६—कृष्ण हलधर सहित कुंडनपुर गये और रुक्मिणी की बुआ की सहायता से प्रमोद-वन में पूजा को गयी रुक्मिणी का हरण।

७—शिशुपाल-कृष्ण में युद्ध। नागफाँस में।

८—रुक्मिणी तथा सत्यभामा में शर्त जिसके पहले पुत्र दूसरी उसके चरणों में केश रखेगी ।

९—दोनों के पुत्र जन्म ।

तु० प्रथम पुत्र की चोरी सीता के भाई भामंडल की चोरी

१०—रुक्मिणी-पुत्र को एक दैत्य चुरा ले गया । यह दैत्य पूर्व जन्म का राजा हेमराय था जिसकी स्त्री को पूर्व जन्म में रुक्मिणी-पुत्र नमु राजा के रूप में हर ले गया था ।

११—एक पत्थर के नीचे उसे दबा दिया ।

१२—मेघकूट नरेश काल संवर अपनी रानी कनकमाला सहित ऊपर विमान द्वारा जा रहे थे, विमान वहाँ स्वयं रुक गया ।

नल-कथा, कबीर-कथा, भामंडल-कथा सीता-चरित में

१३—विमान नीचे उतरा, पत्थर के नीचे से बालक को निकाल कर घर ले गये । उसे अपना पुत्र घोषित किया—नाम रखा प्रद्युम्न

१४—कृष्ण-रुक्मिणी के पुत्र-शोक को देखकर नारद जी पुंडरीकपुर में जिनेन्द्र की शरण में पहुँचे प्रद्युम्न का वर्तमान वृत्त और पूर्ववृत्त जानना, उसे कृष्ण-रुक्मिणी को बताना ।

तु० कौरव-पाण्डव का द्वेष, नल-मामाका द्वेष, जाहर तथा अरजन-सरजन द्वेष, आदि

१५—प्रद्युम्न से संबर की दूसरी रानी के पुत्रों को द्वेष ।

१६—द्वेषी भाई प्रद्युम्न को विजयार्घ शिखर पर मारने ले गये पर वहाँ उसे अमूल्य मणि जटित आभूषण मिले ।

१७—कालगुफा में ले गये, वहाँ से जीवित

१८—नाग-गुफा में ले गये वहाँ नाग को पराजित कर नाग-शय्या ले लौटा ।

१९—देव-रक्षित वावड़ी में ले गये । देव ने आधीनता स्वीकार की और मकर की ध्वजा दी ।

प्रह्लादादि भक्तों की कथा

२०—जलते अग्निकुण्ड में से जीवित निकला ।

२१—मेषाचार पर्वत से जीवित लौटा, कुंडल भेंट में लाया ।

२२—अन्य अनेक संकटों से पार निकला ।

२३—विपुलन में सर्वाङ्ग सुन्दरी तपस्या करते मिली, उससे देवाज्ञा से विवाह ।

२४—सपत्नीक घर लौटा ।

२५—······का मोहित होना ।

२६—प्रद्युम्न का उससे दोनों विद्याओं को ले लेना ।

२७—राजा संवर तथा प्रद्युम्न-युद्ध, नारद द्वारा निपटारा, द्वारका लौटना ।

२८—दुर्योधन की पुत्री......

२९—भील का रूप धारण कर ले आना ।

३०—माया-रचित घोड़े से भानुकुमार को हरा देना

ढोला के ऊँट ने मारू का बाग उजाड़ा, हनुमान ने रावण का बाग उजाड़ा ।

३१—सत्यभामा का बाग—उसमें घोड़ों को चराना

१२—ब्राह्मण रूप रख कर सत्यभामा के यहाँ भोजन करते-करते उसे थका देना ।

शकट चौथ कथा

३३—वमन से उसका घर भर देना ।

३४—मायावी रुक्मिणी के केश देकर माया द्वारा सम्पूर्ण स्त्रियों की नाक कटवाना ।

३५—सत्यभामा की शिकायत पर हलधर ने रुक्मिणी पर सेवकों की सेना भेजी, जिसे प्रद्युम्न ने विद्याबल से बाँध दिया । एक को खुला छोड़ा ।

३६—बल्देव स्वयं आये : प्रद्युम्न ने उन्हें सिंह बना दिया हलधर गिर गये, लज्जित हो लौट गये ।

३७—रुक्मिणी ने ब्राह्मण के रूप में पुत्र को पहचाना, उसकी बहू के समाचार भी जाने

३८—पिता कृष्ण से मिलने माता को लेकर सभा में पहुँचा और ललकारा कि मैं कृष्ण की प्राणवल्लभा का हरण करके जाता हूँ, कृष्ण अपनी शक्ति से जीत सकें तो लें ।

लव-कुश-राम-लक्ष्मण, अर्जुन और उसका पुत्र

३९—प्रद्युम्न तथा कृष्ण की सेना में युद्ध—कृष्ण सेना की पराजय ।

४०—प्रद्युम्न कृष्ण के मल्ल युद्ध की तैयारी । नारद का निपटारा करना, प्रद्युम्न का परिचय देना ।

४१—रुक्मिणी ने क्रुद्ध होकर सत्यभामा के केश मुड़वाकर, उससे पैर मलवाये। सत्यभामा का मनोमालिन्य।

४२—कैटभ ने कृष्ण को हार दिया। वे जिस रानी को उसे पहना देंगे उसी के गर्भ से वह स्वयं जन्म लेकर अपने पूर्व भ्राता प्रद्युम्न का साथ देगा।

४३—कृष्ण ने हार सत्यभामा को पहनाया, पर सत्यभामा के उस गर्भ को प्रद्युम्न ने जामवन्ती के उदर में स्थानान्तरित कर दिया।

४४—सत्यभामा के दूसरा गर्भ।

४५—दोनों के पुत्र जन्म।

४६—रुक्मिणी ने अपने भाई रूपवान की दोनों कुमारियों का विवाह दोनों कुमारों से कर देने का परामर्श।

४७—रूपवान ने कहा, डोमों को लड़कियाँ दे दूँगा, तुम्हें नहीं।

४८—प्रद्युम्न ने दोनों कुमारों को डोमों का रूप देकर कुंडनपुर भेजा।

४९—रूपवान की कुमारियों को लेकर द्वारका भ्रमाया तब दोनों कुमारों से विवाह हुआ।

५०—कृष्णादि के मृत्यु के समाचार पर प्रद्युम्न ने तपस्या की और निर्वाण प्राप्त किया।

हनुमान चरित्र

१—विद्याधर महेन्द्र ने अपनी पुत्री अंजना का संबंध राजा प्रह्लाद के पुत्र पवनंजय कुमार से किया।

२—पवनंजयकुमार अदृश्य होकर विवाह से ३ दिन पूर्व प्रहस्त के साथ अपनी ससुराल में अंजना को देखने गये। तु० नल-दमयन्ती

३—पति में अश्रद्धा के कारण अंजना का एकान्त वास।

४—रावण की सहायता के लिए कुबेर से युद्ध

करने जाने पर मानसरोवर पर वियोगी चक्र-
वाक को देखकर पवनंजय विमान से उसी
समय अंजना के पास पहुँचा। चलते समय
निशानी देते जाना।

तु० नल-जन्म, जाहर-पीर,

५—गर्भ प्रकट होने पर श्वसुर-सास तथा माता-
पिता द्वारा अंजना का परित्याग, निशानी को
भी न मानना।

नल-जन्म,

६—पुत्र हनूमान होने पर राजा प्रतिसूर्य (जो
अंजना के मामा थे) उसे ले गये।

७—मार्ग में बालक हनुमान विमान से गिरा, पर
चोट नहीं लगी।

८—पवनंजय युद्ध से लौटे तो अंजना को ढूँढ़ने
निकले और अंजना जहाँ मिली वहीं कुछ
समय रहे।

९—हनूमान के दो विवाह : शूपर्णखा की पुत्री
अनंगपुष्पा से तथा सुग्रीव-सुता पद्मरानी से।

१०—रावण की युद्ध में सहायता।

११—राम की सहायता करना।

१२—अंत में योग-साधना से परमात्मपद।

सुरति पंचमी

[र: १६३३ :सं०:
लि० १८४६ :सं०:]

१—कमलश्री ने मुनि को आहार दिया, जिसमें
मुनि ने पुत्र होने का वर दिया। पुत्र हुआ
भव्यसुदत्त।

अंजना का निष्कासन

२—कमलश्री को उसके पति धनपति ने निकाल
दिया। माता-पिता को संदेह मंत्री के सम-
झाने पर कमलश्री को आश्रय देना।

३—धनपति का दूसरा विवाह—पुत्र बन्धुदत्त

४—भव्यसुदत्त तथा बन्धुदत्त जहाज से व्यापार
को।

५—मार्ग में भव्यसुदत्त को जहाज से छोड़ दिया,
वह भटकता हुआ जिन मन्दिर में पहुँचा।

६—वहाँ रूपमाला से विवाह और राज्य-प्राप्ति।

७—संयोग से फिर बन्धुदत्त के लौटते जहाज भव्येसुदत्त को मिले। उसमें सपत्नीक वह घर को चले।

श्रीपाल चरित्र,

८—मार्ग में बन्धुदत्त ने पुनः धोखा देकर भव्येसुदत्त को छोड़कर जहाज चला दिया।

९—भव्येसुदत्त भटकते हुए चला। यक्ष की सहायता से सेज्यनाग, मुदरी और पंचवरन माणिक लेकर लौटा।

१०—राजा के यहाँ स्त्री के लिए बन्धुदत्त से न्याय चाहना। बन्धुदत्त को दण्ड।

११—बन्धुदत्त मेदिनीपुर के राजा को भव्येसुदत्त की स्त्री छीनने के विचार से चढ़ा लाया।

१२—भव्येसुदत्त ने राजा को हराया। राजा ने अपनी पुत्री उसे दी।

१३—तीर्थयात्रा दोनों पत्नियों के साथ।

राजा पीपा की कथा

[र-१६४५ :सं०: ले० अनन्तदास]

१—गागरौन पाटन का खीची राजा पीपा देवी का उपासक। देवी ने प्रसन्न होकर कहा कि मुक्ति चाहो तो रामानन्द के शिष्य बनो।

३—रामानन्द ने परीक्षा के लिए कहा कि अंधकूप में गिरो। ये गिरने को तैयार हुए तो रामानन्द ने शिष्य बनाया।

४—द्वारिकापुरी जाने लगे तो सब रानियाँ साथ चलने को हुईं, पर केवल सीता साथ रही।

५—दोनों ईश्वराराधन में लगे, उनकी कई बार परीक्षा हुई, जिनमें पार उतरे।

श्रीपाल चरित्र

[ले० परमाल आगरा र० :१६४६: सं० :]

१—रानी कुन्दप्रभा ने स्वप्न देखा।

२—राजा अरिमर्दन ने फल बताया कि यशस्वी सुत श्रीपाल होगा।

३—श्रीपाल पिता की मृत्यु पर चक्रवर्ती राजा हुए।

४—श्रीपाल को कुष्ट रोग होना। अपना राज्य छोड़कर अन्यत्र जाना।

५—उज्जैन के राजा पहुपाल की छोटी पुत्री मैना-सुन्दरी के कर्म पर विश्वास के कारण उसके पिता का चिढ़कर कुष्टरोग रोग्रस्त श्रीपाल से विवाह कर देना।

स-यवती-कथा,

६—श्रीपाल तथा मैनासुन्दरी का जिन राज की पूजा करके कुष्ट रोग दूर करना।

७—श्रीपाल का भ्रमण : एक स्थान पर एक विद्या-धर को मंत्र-सिद्ध करने में सहायता देना।

८—विद्याधर ने बदले में जलतारिणी और शत्रु-निवारिणी विद्याएं दीं।

९—कौशाम्बी के धवल सेठ का जहाज अटका तो बलि के लिए श्रीपाल को वन में से पकड़ ले जाना।

१०—श्रीपाल के स्पर्श से ही जहाज चल पड़ा।

११—सेठ ने श्रीपाल को पुत्रवत् मान साथ लिया।

१२—श्रीपाल ने चोरों से सेठ की रक्षा की और अन्त में चोरों को भी मुक्त कर दिया। चोरों ने रत्नों के सात जहाज श्रीपाल को दिये।

सुरांतपंचमी कथा

१३—हंसद्वीप में सहस्त्रकूटन चैत्यालय के फाटक को हाथ से खोल देने के कारण भविष्यवाणी के अनुसार वहाँ के राजा की पुत्री रैनमंजूषा से विवाह।

१४—रैनमंजूषा के साथ श्रीपाल सेठ के जहाज पर आगे चला।

१५—रैनमंजूषा पर सेठ मुग्ध।

१६—सेठ ने श्रीपाल को समुद्र में गिरा दिया।

१७—बलात्कार करने के लिए प्रस्तुत सेठ से चार देवियों का प्रकट होकर रैनमंजूषा की रक्षा करना।

१८—धवल सेठ को दंड से रैनमंजूषा ने बचा दिया।

१९—श्रीपाल समुद्र में तैर कर कुंकुमपुर पहुँचा ।

२०—वहाँ के राजा की लड़की गुणमाला से विवाह क्योंकि भविष्यवक्ता मुनि ने बताया कि जो तैर कर आयेगा उससे विवाह होगा ।

२१—धवल सेठ का जहाज उसी द्वीप में पहुँचा । सेठ ने श्रीपाल को पुत्र बताकर उसे प्राण दण्ड की आज्ञा दिलायी ।

२२—श्रीपाल के बताने पर जहाज पर रैनमंजूषा से मिल समस्त समाचार जान गुणमाला ने अपने पिता को बताया ।

२३—श्रीपाल की मुक्ति, सेठ को प्राणदंड ।

२४—श्रीपाल ने सेठ को प्राणदंड से बचाया । पर हृदय के फट जाने से सेठ की मृत्यु ।

२५—श्रीपाल का विवाह—कुंदनपुर के राजा मकरकेतु की पुत्री चित्ररेखा के साथ ।

२६—कंचनपुर के राजा वज्रसेन की ९०० पुत्रियों से विवाह ।

२७—कुंकुंमद्वीप के राजा यशसेन की १६०० पुत्रियों से विवाह—यह विवाह आठ पहेलियों को हल करके हुआ ।

२८—अन्य बहुत से विवाह । समस्त रानियों को लेकर कुंकुम द्वीप में ।

२९—मैनासुन्दरी से मिलने का निश्चित समय आते ही श्रीपाल अकेला रात्रि के अन्तिम पहर में घर पहुँचा ।

३०—मैनासुन्दरी अपने वचन के अनुसार अवधि के उस अन्तिम दिन तपस्विनी होने को प्रस्तुत ।

३१—श्रीपाल के पहुँचने पर प्रव्रज्या स्थगित, समस्त रानियाँ बुला ली गयीं ।

३२—मैनासुन्दरी के कहने से धर्म की दृष्टि से मैनासुन्दरी के पिता को कम्बल ओढ़ कुल्हाड़ी लेकर बुलाया ।

३३—भय से मैनासुन्दरी के माता-पिता का यथादेश आना ।

३४—मैनासुन्दरी तथा श्रीपाल का उनके चरणों में गिर कर कर्म का महत्व सिद्ध दिखाना। पिता का लज्जित होना।

३५—श्रीपाल का युद्ध में राजाओं को दमन करते हुए अपने राज्य में लौटना।

३६—अपने नगर चम्पावती को घेरना। वीरदमन से (जो शासक था) युद्ध। वीरदमन हारा।

३७—श्रीपाल राजा, बारह सहस्त्र एक सौ आठ पुत्रों का जन्म।

३८—राजा का अन्त में दीक्षित होकर बन में जाना।

भक्त महात्म्य

[ले०—**गंगासुत कड़ा निवासी**
र० १७०० : सं० :]

१—अजामिल की कथा—

अ—अजामिल धर्मभ्रष्ट और वेश्यारत

आ—ग्राम निवासियों ने हास्य में अजामिल को भक्त बता उनके यहाँ अतिथि संतों को भेजा।

इ—संतों ने कहा-अपने पुत्र का नाम नारायण रखना।

ई—मृत्यु समय 'नारायण' पुकारने से मुक्ति।

२—मोरध्वज—अ—यमदूतों का देखना कि मोरध्वज के नगर की रक्षा सुदर्शन करता है, अतः लौटना।

आ—धर्म को भक्त का रूप दिखाने ईश्वर मोरध्वज की परीक्षा के लिये गये।

इ—धर्म को सिंह बनाया।

ई—सिंह के लिए प्रसन्नतापूर्वक पुत्र की बलि मोरध्वज ने दी।

ईश्वर तथा धर्म का वर देना।

उ—भक्तों के वेश में सात चोरों ने रानी को मारकर धन लिया।

ऊ—बन में राजा मिला। चोरों को क्षमा कर साथ लाया।

ए—चोरों के चरणामृत से रानी जीवित।

ऐ—राजा का नरक जाना, वहाँ माता-पिता को रोते देख उनकी मुक्ति के लिए प्रयत्न।

ओ—संतों के साथ चित्रगुप्त के पास जाकर उन्हें नरक से छुड़ाना।

३—राजा की कथा

१—स्वपच को गौदान

२—उससे छीन कर ब्राह्मण को

४—ब्राह्मण के यहाँ से गौ माँगकर फिर राजा की गायों में।

४—राजा ने फिर उस गौ का दान किया।

५—अभिशाप से राजा गिरगिट हुआ।

६—कृष्ण द्वारा उद्धार

४—कृष्णदत्त विप्र की स्त्री की कथा

१—कृष्णदत्त विप्र की स्त्री पतिव्रता

२—पति के परदेश जाने पर स्त्री ने गुरुदीक्षा नारद से ली।

३—पति लौटा, पत्नी पर क्रुद्ध, पत्नी के समझाने पर नारद से दीक्षा लेने का विचार।

४—नारद ने सूर्य-स्नान का आदेश दिया।

५—ब्राह्मण के बहकाने पर कृष्णदत्त विप्र बिना स्नान लौटा और दीक्षा का समय टाला।

६—कृष्णदत्त विप्र दम्पत्ति की मृत्यु।

७—कृष्णदत्त विप्र का राजा के हाथी के रूप में जन्म। उसकी स्त्री का राज कन्या-रूप में जन्म।

८—हाथी तथा कन्या में प्रेम

९—कन्या के स्वयम्बर की घोषणा पर हाथी

का भोजन छोड़ना। कन्या द्वारा परितोष देने पर खाना।

१०—स्वयम्वर में कन्या ने हाथी को वरमाला दी।

११—राजा क्रुद्ध। नारद ने आकर हाथी को दीक्षा दी, तो वह कुमार रूप में परिणत।

१२ कुमार तथा कन्या का विवाह

५—**नहुष की कथा**

१—नहुष का इन्द्रप्रद के लिए अश्वमेध

२—नहुष के अहंकार को देख नारायण ने उसे दीक्षा लेने के लिए कहा। नहुष को अस्वीकार।

३—गौतम-शाप से सहस्र भग होने पर इन्द्र छिप गये।

४—इन्द्रासन पर नहुष

५—इन्द्राणी से मिलने सप्तऋषियों की पालकी पर।

६—सप्तऋषियों के शाप से सर्प होना।

७—शाप का उद्धार युद्धिष्ठिर द्वारा होगा।

८—युधिष्ठिर के भाइयों का अजगर 'सर्प' वाले तालाब पर पानी के लिए जाना, चार प्रश्नों का उत्तर न देने पर अजगर ने उन्हें निगला।

९—अन्त में युधिष्ठिर ने प्रश्नों के उत्तर दिये।

१०—नहुष का अजगर योनि से उद्धार और

११—युधिष्ठिर के भाइयों का पुनरुज्जीवन

१२—काशीराज ने रानी के कहने से भक्ति छोड़ी।

१३—इससे राजा के पुरखे पुनः नरक में

१४—नारद द्वारा राजा को प्रबोध कि स्त्री का फंदा बुरा—

१५—उदाहरण—इन्द्र, चन्द्र, शृंगी की कथा

१७—उदाहरण—स्त्री भक्त तेली की दुर्दशा

१८—उदाहरण—एक दरिद्र ब्राह्मण—
सर्प सेवा से प्रतिदिन धन प्राप्त करता। स्त्री ने भेद जान कर पुत्र को भेज, सर्प को मार समस्त धन एक साथ पा लेने का आदेश। सर्प द्वारा विनाश

१९—नारदोपदेश से राजा ने दीक्षा ली, पुरखों का नरक से उद्धार।

२०—नारद का भगवान के दर्शन हेतु स्वर्ग जाना।

२१—स्वर्ग के कपाट बन्द।

२२—प्रार्थना पर कपाट खुले और भगवान मिले।

२३—कपाट बन्द क्योंकि नारद ने उत्तमा भक्ति सब पर प्रकट कर दी, अब नरक की क्या आवश्यकता।

२४—नारद ने यमराज को सत्सङ्ग की महिमा समझायी कि विश्वामित्र के लाख वर्ष के तप के आधे फल से पृथ्वी न साध सकी।

२५—वशिष्ठ के सत्संग के फल से पृथ्वी टिक गयी।

सीता चरित्र

[ले०—रायचन्द्र रच० १७१३ वि०]

१—सीता ने स्वप्न देखा

२—राम ने स्वप्न में अशुभ की सम्भावना बतायी।

३—सीता को लेकर रावण सम्बन्धी अपवाद नगर में।

४—सेनापति द्वारा सीता का वन में निर्वासन

५—वन में सीता का विलाप

६—वज्रसंघ मिला, सीता को बहिन मान कर रखा

७—दो पुत्र होना

८—विवाह की अवस्था होने पर लवण-कुश के लिए वज्रसंघ ने पृथ्वीधर से कन्याएँ माँगी

९—पृथ्वीधर द्वारा निषेध करने पर युद्ध की तैयारी

१०—लवण-कुश ने पहले ही जाकर पृथ्वीधर को परास्त किया

११—नारद ने वन में लवरण-कुश को राम-कथा सुनायी

अ—जनक महात्म्यसैन की स्त्री विदेहा से जुड़वाँ पुत्र तथा पुत्री ।

आ—पूर्वभव के वैर से पुत्र को देव उड़ा ले गया ।

इ—फिर दया से छोड़ दिया : रथपुर के चन्द्र-गति विद्याधर द्वारा पालन ।

ई—नारद जनक के गये तो सीता डर से घर में घुस गयीं ।

उ—नारद ने अपमान समझ चन्द्रगति विद्याधर के पालित पुत्र भामंडल को सीता का चित्र दिखाकर उसे सीता पर मोहित किया ।

ऊ—चन्द्रगति विद्याधर ने जनक से भामंडल के लिए सीता माँगी ।

ए—जनक ने अस्वीकार किया क्योंकि राम से विवाह निश्चय

ऐ—चन्द्रगति विद्याधर ने कहा कि राम धनुष तोड़ेंगे तभी विवाह हो सकेगा ।

ओ—राम ने धनुष तोड़ा—सीता से विवाह

औ—भामंडल को विदित हुआ कि सीता तो उसकी भगिनी है । राम-सीता दोनों से उसका प्रेम ।

क—चन्द्रगति भामंडल को राज्य दे मुनि हुए ।

ख—दशरथ ने कैकेई को दिये वचन के अनु-सार राम को वनवास दिया । भरत को नहीं ।

ग—राम-लक्ष्मण-सीता वन में ।

घ—भरत राम को वन से लौटाने आये पर विफल ।

ङ—मार्ग में राजा वज्रकरण को सिंहोरा से अभय किया ।

च—लक्ष्मण के कई विवाह

छ—१—एक कृपण ब्राह्मण के यहाँ राम-लक्ष्मण ठहरे।

२—ब्राह्मणी ने राम-लक्ष्मण से प्रेम सहित व्यवहार किया।

३—ब्राह्मणी पर ब्राह्मण कुपित।

४—लक्ष्मण ने ब्राह्मण की टांग पकड़ के घुमा दिया।

५—राम ने बचाया।

ज—एक देव ने राम का असम्मान किया।

झ—बाद में अपने स्वामी से राम का परिचय जान उसी देव ने राम की सेवा की।

ट—उनके लिए भवन बनवाया, जहाँ वही कृपण ब्राह्मण आकर राम कृपा से मुनि बना।

ठ—१—वीनापुर के विजयसिंह की पुत्री वनमाला का वन में लक्ष्मण से विवाह होने की भविष्यवाणी

२—लक्ष्मण को पति रूप में पाने की प्रतीक्षा में पहले से ही वनमाला का बनवास।

३—लक्ष्मण आये तो विवाह हुआ।

ड—राजा अनन्तवीर्य ने भरत पर चढ़ाई करने के लिए विजयसिंह से सहायता माँगी।

ढ—राम-लक्ष्मण उलटे विजयसिंह की सेना सहित अनन्तवीर्य पर चढ़ दौड़े।

ण—उसे पराजित कर उसकी कन्या का विवाह भरत से कर लौटे

त—पद्मावती का लक्ष्मण से विवाह।

थ—राम ने सुना कि ४६६ जैन मुनि कोल्हू में पैले गये जिससे वह नगर ऊजड़ हैं।

द—खरदूषण की स्त्री चन्द्रनखा लक्ष्मण पर मोहित।

ध—चन्द्रनखा को अपमानित करना
न—खरदूषण से राम-लक्ष्मण का युद्ध और परास्त होना।
प—सीताहरण रावण द्वारा
फ—रावण का मन्दोदरी द्वारा सीता से प्रस्ताव, सीता द्वारा धिक्कार।
ब—राम की सुग्रीव से भेंट—राम ने साहस-विद्याधर से सुग्रीव की स्त्री दिलायी।
भ—सुग्रीव ने सीतानुसंधान के लिए दूत भेजे।
म—विद्याधर से समाचार कि रावण ने सीता को हरा है।

य—सभी विद्याधर भयभीत। राम से कहा कि सीता का ध्यान त्यागिये।
र—राम ने कहा हम अकेले ही उसे मारेंगे—मार्ग बताइए।
ल—विद्याधरों ने कोटिशिला दिखायी कि जो इसे उठा लेगा वही रावण को मार सकेगा।
व—लक्ष्मण ने उसे उठा लिया।
श—विद्याधरों द्वारा राम की सहायता, हनूमान सीता का सन्देश लाये।
ष—लंका पर चढ़ायी।
स—लक्ष्मण ने रावण को मारा
ह—सीता-प्राप्ति। राम-सीता-लक्ष्मण का लंका में रहना
क्ष—नारद कौशल्या की ओर से राम के समाचार लेने लंका आये।
त्र—नारद से माँ के समाचार सुनकर अयोध्या जाना।
ज्ञ—राम के हाथी के एक दिन बिगड़ने पर उसके पूर्वजन्म की कथाओं में मुनियों ने उसका भरत से सम्बन्ध बताया।
अ—भरत का वैराग्य
अउ—सीता-चरित्र पर लोक-अपवाद सुन सीता को बनवास।
१२—सीता के दोनों बालकों का यह सुन राम पर

चढ़ाई करना, राम की सेना से युद्ध।

१३—दोनों की पारस्परिक पहिचान।

१४—सिद्धार्थ के कहने से सीता को अयोध्या बुलाना।

१५—सीता के सतीत्व कीं परीक्षा के लिए अग्निकुंड

१६—देव प्रभाव से अग्निकुंड तालाब बन गया जो उमड़ कर बह चला।

१७—उस पानी में डूबने का भय देख लोगों ने सीता से प्रार्थना की तो पानी सीता की विनय से रुका।

१८—सीता जल से निकल विरक्त हो आर्यिका बन गयी।

[रविषेण के रघुपुराण से राइचन्द ने यह रचना की।]

रविव्रत कथा

[ले०—सुरेन्द्र कीरत र०१७४० : सं० : लि० १९२५ : सं० :]

१—काशी सेठ मतिसागर की पत्नी गुणसुन्दरी ने चैत्यालय में जाकर मुनि से रविव्रत लिया।

२—सेठ ने रविव्रत की बुराई की।

३—सेठ और उनके पुत्र की व्यापार में अत्यंत हानि

४—एक मुनि के कहने से पुनः रविव्रत लेना।

५—सेठ मतिसागर के पुत्र गुणधर ने नागेन्द्र सेवा से धनधान्य पाया।

६—ईर्ष्यालुओं ने उसे चोर बना राजा से शिकायत की।

७—राजा का भ्रम दूर, राजा ने अपनी पुत्री प्रीतिमती का उससे विवाह किया।

८—पुत्र राजा से विदा ले घर लौटा, माता-पिता से मिला।

९—व्रत के प्रताप से समस्त वैभव लौटा।

रोहिनी की कथा

[ले० हेमराज र० १७४२ : सं०: लि० १९५१ : सं० :]

१—बिना ऋतु के फूल फूले श्रेणिक राजा वनमाली ने देखे।

२—मुनि से कारण पूछते हुए रोहिनी व्रत जानने की जिज्ञासा

३—अशोक तथा उसकी पत्नी की कथा—

अ–रोहिणी का पुत्र चौखंडे से फेंका गया।

आ–भक्ति के प्रभाव से वह जीवित रहा।

इ—कुम्भ मुनि के आने पर अशोक ने अपनी रानी के हर समय प्रसन्न रहने का कारण पूछा।

उ—मुनि ने पूर्वभव के पुण्य की कथा बतायी।

४—श्रेणिक राजा ने रोहिणी व्रत गुरु से ग्रहण किया।

भक्तामर-चरित्र

[ले०—विनोदिनीलाल र० १७४६ : सं० : लि० १८८३ : सं० :]

१—उज्जैनी के राजा सिन्धुसुजान की रानी रत्नावली निपुत्री।

२—वन में भ्रमण में एक बालक पड़ा मिला।

३—राजा ने उस बालक को अपना बालक बना लिया, नाम "सिन्धु"।

४—उसका विवाह। रानी से पुत्र—नाम सिंधुल

सिंधुल → शुभचन्द्र, भरत

५—सिंधु ने मुनि व्रत धारण किया मुंज राजा

६—तेली द्वारा भूमि में ठोकी कुदाल किसी योद्धा से न उखड़ी तो सिंधुल ने उखाड़ी।

७—सिंधुल ने उसे गाड़कर फिर ललकारा—कोई उखाड़ो।

८—कोई न उखाड़ सका, केवल राजकुमारों ने उखाड़ा

९—मुंज का राजकुमार से द्वेष, उन्हें मारने की चेष्टा

१०—मंत्री के परामर्श से राजकुमार राज्य से निकल विरक्त, विविध मंत्रों के संबंध की कथाएँ।

भवानी चरित्र भाषा

[ले०—गुनीराम श्रीवास्तव र० १७६८ : सं० :]

१—जैमुनि महामुनि की सेवा में देवी-चरित सुनाना

२—महामुनि ने चरित सुनाया।

३—मुख्य राजा राजपाट त्याग वन में ऋषि से मिले। उन्होंने माया भेद बताया—

४—महिषासुर वध

५—चंड मुंड वध

६—रक्तवीर्य वध

७—निशुंभ वध

८—शुंभ वध

९—ऋषि द्वारा देवी महात्म्य कथन और राजा को वरदान।

एकादशी महात्म्य

[ले०—सुदर्शन र० १७७० : सं० : लि० १९२२ : सं० :]

१—अर्जुन-कृष्ण संवाद

२—सुर राक्षसी का देवों पर अत्याचार

३—देवता विष्णु की शरण

४—देवासुर संग्राम। देव-पराजय।

५—विष्णु गुफा में छिपे।

६—गुफा से एक स्त्री निकली, उसने राक्षसों को मारा।

[यह स्त्री अगहन शुक्ल एकादशी थी।]

कृष्ण एकादशी

७—हैहय देश के राजा ने अपने पिता नरक में देखे।

८—अगहन कृष्ण एकादशी का व्रत करने से उनका उद्धार हुआ, स्वर्ग गये।

पौष एकादशी :शुक्ल:

९—पंचावती के राजा महाजीत ने अपना पुत्र लम्बु ज्वारी होने के कारण निकाल दिया।

१०—माघ की एकादशी को भूखा रहा—इससे एकादशी का फल मिला।

११—पिता का राज्य मिला।

पौष एकादशी :कृष्ण:

१२—चन्द्रावतीपुर का सुकेतु राजा पुत्रहीन।

१३—शोक में वन को प्रस्थान।

१४—ऋषि ने एकादशी का व्रत कराया।

१५—पुत्र जन्म।

माघ कृष्ण

१६—एक ब्रह्माणी ने नारायण को भिक्षा में मिट्टी डाली।

१७—मृत्यु पर स्वर्ग में उसे मिट्टी का खाली घर मिला।

	१८—एकादशी का महात्म्य बताने पर सब कुछ प्राप्त ।
माघ शुक्ल	१९—एक गंधर्व इन्द्र की पुष्पावती अप्सरा पर मोहित ।
	२०—इन्द्र शाप से दोनों पिशाच ।
	२१—एकादशी के अज्ञात व्रत से उनका उद्धार ।
फाल्गुन कृष्ण	२२—एकादशी के व्रत से विजय प्राप्त
चैत्र कृष्ण	२३—मेधावी ऋषि की तपस्या
	२४—इन्द्र ने तपस्या भंग के लिए मंजुदोषा अप्सरा को भेजा ।
	२५—कामदेव सहायक ।
	२६—अप्सरा ने मुनि को ५७ वर्ष तपस्या से विरत रखा ।
	२७—यह जानकर मुनि ने अप्सरा को शाप दिया ।
	२८—एकादशी व्रत से दोनों के कल्मष दूर ।
चैत्र शुक्ल	२९—नागपुर की ललिता ने एकादशी व्रत किया ।
	३०—उसके फल से पति की पिशाच योनि से मुक्ति ।
वैशाख कृष्ण	३१—एक चमार के एकादशी फल से गदहा बने ब्राह्मण का उद्धार ।
वैशाख शुक्ल	३२—एक देश-निष्कासित जुआरी का एकादशी व्रत से उद्धार ।
ज्येष्ठ कृष्ण	३३—बगन के धुएं से अप्सरा का विमान नीचे गिरा ।
	३४—दासी ने एकादशी का फल देकर विमान आकाश में चढ़ाया ।
ज्येष्ठ शुक्ल	३५—इन्द्र के शाप से एक गन्धर्व जिन्द ।
	३६—एकादशी व्रत के फल से हुए एक राजा के पुत्र पर वह चढ़ बैठा ।
	३७—एकादशी का फल देने पर गंधर्व का उद्धार ।
	३८—कुबेर शापित कुष्टी का रोग दूर होना ।
	३९—हरिश्व का मृत पुत्र एकादशी व्रत से जीवित ।
	४०—एकादशी व्रत से वर्षा होना ।

४१—एकादशी व्रत से नाश होने वाला नगर स्थिर रहा ।

४२— अ—राजा के व्रत से इन्द्र को भय ।

आ—मोहिनी भेष रख राजा को घर लौटाया ।

इ—मार्ग में उंटनी ने चेताया, पर ध्यान नहीं ।

ई—मोहिनी ने घर पहुँच एकादशी का फल या पुत्र माँगा ।

उ—पुत्र देने को प्रस्तुत तब ईश्वर प्रकट ।

जैदेव को कथा

अ—ब्राह्मण ने तपस्या से वरदान में सन्तान माँगी शर्त पहली कन्या हुई तो ईश्वर को भेंट ।

आ—पहली कन्या ईश्वर को भेंट की तथापि ईश्वर ने स्वप्न में कहा कि जैदेव को यह कन्या दी ।

आ—जैदेव ने उसे ग्रहण किया ।

इ—चोरों ने जयदेव का अंगभंग किया ।

ई—राजा ने उसे दान-कार्य पर नियुक्त किया ।

उ—चोर आये, जयदेव ने उन्हें धन और अभय दिया ।

ऊ—चोर गये तो दूत से कहलाया कि जैदैव तो हमारा साथी चोर है, ऐसा कहते ही वे पृथ्वी में समाये ।

ए—जयदेव की रानी प्रभावती के सत की जांच के लिए उसे खबर दी गयो कि जयदेव को सर्प ने डसा—प्रभा ने बता दिया कि यह झूठ है ।

ऐ—पति मृत्यु का झूठा संवाद सुनकर भी प्रभा ने प्राण त्याग दिये ।

ओ—जयदेव ने उसे जिला दिया ।
औ— चोरों ने धर्मार्थ जयदेव को मारना चाहा, जयदेव ने शीश झुका दिया पर उन्होंने मारा नहीं ।

ढोला मारू

[नाग जी नागवन्ती कथा में अकाल के कारण पुत्री का पिता नायक के नगर में आया है ।]

१—अकाल के कारण पिंगल नल के देश में :

२—पिंगल की पुत्री मारवणी का नल के पुत्र ढोला या साल्हकुमार से अत्यन्त छोटी वय में विवाह

३—पिंगल मारवणी को लेकर अपने देश पूगल में लौट गया ।

४—बड़े होने पर ढोला का मालवणी से विवाह

५—मारवणी के बड़े होने पर पिंगल ने ढोला के पास संदेशवाहक भेजे, वे मालवणी द्वारा मार्ग में ही मरवा डाले गये ।

[स्वप्न-दर्शन का उपयोग यहाँ उद्दीपन के रूप में हुआ है ।]

६—मारवणी ने स्वप्न में ढोला को देखा—विरह संतप्त ।

७—नरवर से आये सौदागरों से ढोला के दूसरे विवाह का वृत्त पिंगल को विदित ।

८—ढाढ़ियों को ढोला के पास संदेश लेकर भेजा ।

९—ढाढ़ियों ने अपने गायन से मालवणी के पहरेदारों को प्रसन्न किया और ढोला के पास संदेश पहुँचाया ।

[यह अभिप्राय लोक-वार्ता में नायक को रोकने के लिए काम में लाया जाता है । पृथ्वी राज रासो में भी है]

१०—ढोला मारवणी को लाने के लिए जाने को उद्यत, मालवणी ने ग्रीष्म और वर्षा भर युक्ति से रोका ।

११—शरद में आधीरात को मालवणी को सोता

छोड़, तेज ऊँट पर ढोला पूगल के लिए चल पड़ा।

[प्रेमाख्यान का तोता यहाँ भी विद्यमान है। पर उसका उपयोग भिन्न रूप में हुआ है]

१२- -मालवणी ने तोते को ढोला के पीछे भेजा कि वह उसे लौटा लाये।

१३—तोते को ढोला एक तालाब किनारे दातुन करते मिला। तोते ने कहा कि मालवणी भर गयी।

१४—ढोला चाल समझ गया—तोते से कहा—तू जाकर उसकी सविधि क्रिया कर देना।

१५—ढोला आगे बढ़ा—मार्ग में ऊमर-सूमरा का चारण मिला। उसने ढोला को बताया कि मारवणी बुढ़िया होगयी।

(ऊमर-सूमरा मारवणी से विवाह करना चाहता था। उसने इसी संदेश के साथ अपना चारण भेजा था। यह चारण वहाँ से हताश लौट रहा था। तभी उसने ईर्ष्यावश यह झूठा समाचार दिया।

१६—आगे बीसू नाम के चारण ने ठीक हाल बताया। ढोला आश्वस्त हो पूगल पहुँचा।

[नायक और नायिका के मिलन में साँप की बाधा प्रसिद्ध बाधा है]

१७—मारवणी बिदा कराके लौटा। मार्ग में विश्राम स्थल पर पीवणे साँप से मारवणी की मृत्यु।

[योगी-योगिन लोक-कथा के शिव-पार्वती हैं]

१८—ढोला साथ में जल मरने को प्रस्तुत। तभी योगी-योगिनी आयीं। योगिन के कहने से योगी ने अभिमंत्रित जल से मारवणी को जिला दिया।

१९—आगे मार्ग में प्रतिद्वन्द्वी ऊमर-सूमरा ने ढोला को घेरा। छल से अपनी सेना में ले जाने लगा।

२०—ऊमर की सेना में मारवणी के पीहर की

गायिका डूमणी ने गान द्वारा मारवणी को षडयंत्र बता दिया।

२१—मारवणी ने ऊँट को छड़ी मार दी। वह बिगड़ खड़ा हुआ। ढोला उसे सँभालने आया तो मारवणी ने उसे षडयन्त्र वताया।

२२—ऊँट पर सवार हो ढोला-मारवणी एक दम भाग निकले और नरवर पहुँच गये।

यशोधर चरित्र

१—राजापुर के राजा यशोधर से एक योगी ने देवी पर स्त्री-पुरुष के जोड़े को बलि देने का आदेश दिया।

२—बलि के लिए बन में आते हुए क्षुल्लक भाई-बहिन पकड़ कर लाये गये।

३—राजा को उन पर दया आयी और क्षुल्लक बनने का कारण पूछा। इस कथा में निम्न अभिप्राय विशेष उल्लेखनीय

४— राजा का एक रानी अमृतवती में विशेष अनुरक्ति, उस रानी का एक कुबड़े बौने से गुप्त प्रेम।

५—राजा ने उसे देखा और विरक्त हो गया।

६—राजा की माता ने राजा को रोकने के लिए आटे के मुर्गे की वलि दी।

७—रानी ने पति और सासु को लड्डुओं में विष खिलाकर मार डाला।

८—माता तथा पुत्र दोनो ने मोर, श्वान, स्याही, उरग; मीन, कुक्कुट के जन्म लिए। [अन्त में एक रानी के दोनों बहिन और भाई के रूप में उत्पन्न—और दोनों का क्षुल्लक के पास जाकर क्षुल्लक बनना। यशोधर का भी क्षुल्लक होम]

निशिभोजन त्याग

इसमें उल्लेखनीय अभिप्राय ये हैं :

१—पति शैव—पत्नी जैन। पति को निशिभोजन त्याग का परामर्श

२—पति रुष्ट हो जंगल से सांप पकड़ लाया और पत्नी के गले में डाला, वह सांप हार बन गया।

३—वही पति के गले में पड़ते ही सांप बना और

[सम्यक्त कौमुदी भाषा में सोमा की कथा में सांप सोमा के लिए माला बन जाता है, कनकलता को

सांप डस लेता है। सोमा द्वारा कनकलता जीवित।

पति को डस लिया।

४—पति को जीवित किया

ध्यानकुमार चरित

(मुख्य अभिप्राय ये हैं :)

१—सेठ-पत्नी ने शुभ स्वप्न देखा, स्वप्न का अर्थ सुन्दर पुत्र का जन्म

२—सेठ धनपाल के सात पुत्र, आठवाँ पुत्र ध्यान-कुमार होने पर दान दिया, जिससे सातों पुत्र रुष्ट।

३—आठवें पुत्र का नाल गाढ़ने के लिए गढ़ा खोदते समय धन निकला।

४—सात भाइयों के प्रपंच से ध्यानकुमार को दस दीनारें देना।

५—दस दीनारों के बदले में खरीदी एक गाड़ी ईंधन—ईंधन के बदले मेष, मेष के बदले चार अधजले पाये।

६—पायों में चार लाल और एक पत्र।

७—भाइयों के षडयन्त्र से ध्यानकुमार वापी में डाला गया जहाँ से महामन्त्र के जाप से बाहर निकला।

८—ध्यानकुमार का परदेश गमन।

९—एक किसान का हल चलाया तो ताम्रपात्र के साथ जमीन का धन मिला, जो किसान को दिया।

१०—एक सूखी बाटिका ध्यानकुमार के पहुँचने से हरी होगयी।

११—बाग के स्वामीं ने अपनी कन्या का विवाह ध्यानकुमार से कर दिया।

पद्मनाभि चरित्र

वारांगकुमार चरित्र में

१—एक अविवेकी राज के भेजे कुटिल अश्व पर चढ़ने से एक वन में पहुँचा।

शान्तनु-मत्स्यगंधा की कहानी।

२—वन में पल्लीपति की कन्या पर मोहित हो इस शर्त पर कि इसी का पुत्र राजा बनेगा, कन्या से विवाह।

परीक्षित और ऋषि की कहानी

३—एक जैनी मुनि के गले में सर्प डाल देना।

मृगावती

ले०

[समय सुन्दर]

१—सगर्भा मृगावती का रक्त में स्नान करने का दोहद।

२—राजा ने तालाब लाक्षारस से भरवाया, रानी ने रक्त जान स्नान किया।

३—गरुड़ उसे मांसपिंड समझ उड़ा ले गया।

४—एक घोर बन में छोड़ गया। एक ऋषि की शरण में पुत्र उदयन का जन्म।

५—मृगावती ने राजा के नाम से अंकित आभूषण उदयन को पहनाया। यह आभूषण उदयन ने एक भील को एक पशु को बचाने के मूल्य रूप दिया।

६—भील राजधानी में उस आभूषण के कारण पकड़ा गया और राजा के समक्ष ले जाया गया।

७—राजा उसके साथ आश्रम में पहुँचा और उदयन तथा मृगावती को ले आया।

८—एक चतुर चितेरा आया, उसने मृगावती का चित्र बनाया और अपनी विद्या से मृगावती की जाँघ पर तिल बनाया।

९—राजा ने संदेह में चितेरे को अपमानित किया।

१०—चितेरे ने मृगावती का चित्र बनाकर उज्जैन के चंडप्रद्योत को दिखाकर उसे मृगावती पर मोहित किया।

११—चंडप्रद्योत ने मृगावती माँगी, न देने पर कौशाम्बी को घेर लिया। युद्ध हुआ।

१२—मृगावती चंडप्रद्योत के हाथ नहीं चढ़ी। उसने जैन मुनि से दीक्षा लेली।

—: ० :—

— ४ —

प्रेमगाथा का विश्लेषण

प्रेमगाथाएँ :

हिन्दी साहित्य में प्रेमगाथाओं की एक दृढ़ परम्परा है। अभी कुछ समय पूर्व तक कितनी ही प्रेमगाथाओं के नाम ही ज्ञात थे, कुछ के नाम तक अज्ञात थे। अब ऐसी कितनी ही प्रेमगाथाओं का उद्घाटन हुआ है, अतः आज पहले से अधिक प्रेमगाथाओं के अध्ययन का सुयोग प्राप्त है।

प्रेमगाथाओं का मुख्य आधार कोई न कोई प्रेम-कथा होती है। इस प्रेम-कथा को कवि दोहा-चौपाई जैसे छंदों में प्रबन्ध-काव्य की किसी परम्परा के अनुसार प्रस्तुत करता है, इस कथा में लोक-तत्व की प्रधानता होती है। इतिहास को भी लोक-वार्ता के माध्यम से लिया जाता है। यद्यपि अधिकांश प्रेम-गाथाओं में धार्मिक अभिप्राय रहता है, किन्तु यह इस परम्परा का कोई अनिवार्य लक्षण नहीं।

प्रेमगाथाओं की मूल कथा-वस्तु :

प्रेमगाथाओं की मूल कथा-वस्तु बहुत संक्षेप में यह है :—

१—नायक किसी दूत या अन्य माध्यम से नायिका की प्रशंसा सुनता है या दर्शन करता है और दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो जाते हैं।

२—नायक घर त्याग कर नायिका को प्राप्त करने के लिए चल पड़ता है।

३—मार्ग में कितने ही विघ्न पड़ते हैं उन्हें पार करता है।

४—उसकी परीक्षा भी होती है।

५-कोई न कोई दैवी या अमानवीय शक्ति उसकी सहायता करती है, अन्त में वह नायिका को प्राप्त कर लेता है और घर लौटता है।

६—लौटते समय भी विघ्न पड़ते हैं, जिनसे उबरता है।

७—अन्त में मिलन होता है।

८—दुखान्त।

इस प्रकार मूल तन्तु मुख्यतः ७ हैं। ये तन्तु किसी-न-किसी रूप में प्रायः सभी प्रेमगाथाओं में मिलते हैं। एक आठवाँ तन्तु दुखान्त का भी हो सकता है जिसमें पुनः किसी कारण से नायक-नायिका में व्यवधान हो जाता है। और एक की या दोनों की मृत्यु हो जाती है।

प्रथम तन्तु में तीन अभिप्राय हैं :

१—नायक और नायिका

२—माध्यम

३—श्रवण अथवा दर्शन से प्रेम

पहले अभिप्राय की निम्न स्थितियाँ हो सकती हैं :

१—नायक को पहले प्रेम हुआ—नायिका दूर है : (पद्मावत में रत्नसेन में, नल-दमयन्ती के नल में)

२—नायिका को पहले प्रेम हुआ—नायक दूर है— (जुलेखा ने यूसुफ को स्वप्न में देखा और प्रेम करने लगी। उषा ने अनिरुद्ध को स्वप्न में देख प्रेम किया)

३—नायिका को पहले प्रेम हुआ—नायक पास है (चतुर्भुज की मधुमालती को।)

४—नायक को पहले प्रेम हुआ—नायिका पास है : (राजा चन्द की बात तथा शशिमाला कथा में)

५—नायक-नायिका दोनों में एक साथ प्रेम।— (प्रेमविलास प्रेमलता में)

दूसरे अभिप्राय के ये रूप हो सकते हैं :

१—'श्रवण' का माध्यम-पक्षी :(पद्मावत में हीरामन तोता, नल-दमयन्ती में हंस)

मनुष्य : (ढोला-मारवाणी में ढाढ़ियों
द्वारा)
स्त्री : —दूती
आकाश भाषित—
यक्ष
प्रेत या
पदार्थ

२—दर्शन का माध्यम — चित्र
स्वप्न—(उषा, गोगाजी तथा
सांरियल)
प्रत्यक्ष–(राजा चन्द की बात
दुष्यन्त–शकुन्तला)

तीसरे अभिप्राय में स्वयं प्रेम आता है। प्रेम के रूप और प्रकार अनन्त हैं। फिर भी वह अद्वैत है।

पहिले अभिप्राय की प्रथम स्थिति में नायक को पहले प्रेम होता है। नायक नायिका दूर हैं।

इसमें सबसे प्रमुख जायसी का पद्मावत है। रत्नसेन तोते से रूप-गुण-चरित्र श्रवण करके पद्मावती के प्रेम से दग्ध हो उठता है। यह अभिप्राय नया नहीं है। तोते का जो कार्य है वही हंस का नल-दमयन्ती में है। नूर मुहम्मद की इन्द्रावती (सं० १८०१) में कुँवर कालिंजर राय को स्वप्न में एक दर्पण में इन्द्रावती के दर्शन होते हैं। जिससे वह उसके प्रेम में डूब जाता है। इन्द्रावती समुद्र पार आजमपुर की रहने वाली है। उस्मान की चित्रावली में सुजान को देव चित्रावली के शयन कक्ष में पहुँचा देते हैं, जहाँ वह चित्रावली का चित्र देखकर उसके प्रेम का शिकार हो जाता है। इन्द्रावती में ही मधुकर-मालती की कथा में गुण-श्रवण से मधुकर को प्रेम होता है। मालती बहुत दूर है।

नायिका को पहले जहाँ पुरुष से प्रेम हुआ है—शेख निसार (जन्म सं० १७९०) की यूसुफ जुलेखा में जुलेखा को यूसुफ से प्रेम होता है। वह स्वप्न में यूसुफ को देखकर उसे प्रेम करने लगी है। यूसुफ बहुत दूर देश का निवासी है। रुक्मिणी को, पृथ्वीराज रासो की पद्मावती को, पृथ्वीराज रासो की संयोगिता को गुण श्रवण से प्रेम होता है। उषा-अनिरुद्ध में उषा को स्वप्न द्वारा प्रेम होता है।

नायिकाओं को पहले, नायक पास हैं : सीता को, आल्हा में कितनी ही

नायिकाओं को, ढोला में मोतिनी को। चतुर्भुजदास की मधुमालती में मालती को। शशिमाला कथा में मालती को।

नायक को पहले—नायिका के पास—दुष्यंत को, यारु होइ तौ ऐसौ होइ में राजकुँवर को, 'शशिमाला कथा' में दिनमणि को

नायक-नायिका को साथ-साथ—माधवानल कामकंदला

माध्यम में श्रवण का माध्यम भी महत्वपूर्ण है।

पक्षी के माध्यम से श्रवण द्वारा प्रेम होने का उदाहरण

इन्द्रावती में मधुकर है। दो तोतों की बातचीत में मालती का वर्णन सुनकर यह प्रेमपाश में बँध जाता है।

रत्नसेन भी शुक से सुनकर पद्मावती से प्रेम करने लगता है

नल हँस से सुनकर दमयंती के लिए लालायित होता हैं।

चित्र मुकुट कथा में भी हंस है।

मनुष्य के माध्यम का भी अभाव नहीं :

राघवचेतन के वर्णन से अलाउद्दीन में पद्मावती के प्रति प्रेम

स्त्री ने दूती के रूप में तो लोकवार्ता में तथा अन्यथा भी बहुत भाग लिया है, आकाशभाषित का भी उपयोग किया गया है :

इस आकाशभाषित का मूल दैवी भी हो सकता है, यक्ष और प्रेत से सम्बन्धित भी हो सकता है।

पदार्थ का माध्यम सबसे रोचक है :

लोकवार्ता में किसी के सुनहले बाल दोनों में बहते देखकर कितने ही नायक प्रेम के वशीभूत हुए हैं। इसी प्रकार नायिका की एक जूती को पाकर जूती वाली से प्रेम का भी उल्लेख मिलेगा। हार के माध्यम से भी प्रेम हुआ है।

दर्शन के तीन रूप संभव हैं :

१–चित्र अथवा मूर्ति द्वारा[1]: "यारु होइ तौ ऐसौ होइ" में चित्र से प्रेमोदय होता है। इन्द्रावती में चित्र और स्वप्न का मिश्रित आधार बनाया गया है। स्वप्न में दर्पण में नायिका का दर्शन। दर्पण में छवि चित्र के ही समकक्ष होगी। केशवदास ने राम-सीता विवाह में भी चित्र का उपयोग किया है।

२–स्वप्न का माध्यम भी बहुत प्रयोग में आया है :

इन्द्रावती में स्वप्न है, यूसुफ जुलेखा में जुलेखा ने

१—चित्र अथवा मूर्ति को एक ही श्रेणी का माध्यम मानना होगा।

स्वप्न में यूसुफ को देखा, ऊषा-अनिरुद्ध में भी स्वप्न का माध्यम है। प्रेमलता प्रेमविलास में भी।

३–प्रत्यक्ष दर्शन तो बहुत सामान्य माध्यम है—

राम सीता, शकुन्तला-दुष्यन्त, पुरुरवा-उर्वशी, शशिमाला-दिनमणि, मालती-दिनमणि, मधु-मालती, मधुमालती-मनोहर आदि इसके उदाहरण हैं।

किन्तु प्रत्यक्ष दर्शन के प्रकार कितने ही हैं, एक तो अत्यन्त सामान्य संयोगः राम भी बाटिका में पहुँचे सीता भी, दोनों से एक दूसरे का साक्षात्कार हुआ।

दूसरा—नायिका किसी सङ्कट में हैं नायक उसे उबारता है—तभी एक दूसरे का प्रत्यक्षीकरण होता है—पुरुरवा ने उर्वशी का ऐसे ही प्रत्यक्षीकरण किया; हाथी ने नायिका को उठा लिया, नायक ने बचाया; अथवा किसी राक्षस के हाथों से बचाया।

हर दशा नें संयोग या दैवयोग ही प्रत्यक्षीकरण का कारण होता है, और यह दैवयोग कितने ही प्रकार का हो सकता है।

अ—'सामान्य व्यवसाय–व्यापार'–सीता बाटिका में गयीं 'गौरी पूजन' के लिए, राम आये बाटिका में पुष्प चयन के लिए, दैवयोग से मिल गये।

आ—संकट के माध्यम से—१, शेर या हाथी बिगड़ गया। भयभीत नायिका दौड़ी, नायक वहाँ था, उसने रक्षा की और दोनों मिले।

२—किसी 'दानव ने किसी सुन्दरी को पकड़ लिया।' उसकी चीख पुकार से नायक वहाँ पहुँचा और रक्षा की, दोनों का साक्षात्कार हुआ।

३—विशेष व्यवसाय-व्यापार से–नायक को कोई साहस का कार्य सौंपा गया, उसे संपन्न करने में वह ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ नायिका से भेंट हो गयी।

ई—दैवी सहयोग से—

नायक या नायिका को कोई देव, दानव, यक्ष, प्रेत, वृक्ष, मन्त्र या अन्य शक्ति उड़ाकर ऐसी जगह पहुँचाती है जिससे कि यह साक्षात्कार सिद्ध होता है।

इसके उपरांत के जितने तत्व हैं उनमें प्रेमगाथाकार तरह-तरह के दैवी, अमानवी, विघ्नों के रूप खड़ा करता है, और तरह-तरह के विलक्षण सहयोगी, दैवयोग तथा युक्तियों के प्रकारों का समावेश करके बाधाओं का निवारण कराता है। ये बाधाएँ नायिका को प्राप्त करने के लिए जाने के समय भी पड़ सकती हैं, और नायिका को लेकर लौटते समय भी पड़ सकती हैं। इनका एक विश्लेषण कुछ आगे चलकर दिया जा रहा है।

प्रेमगाथाओं में लोक कथा : उदाहरणार्थ पद्मावती

जायसी ने पद्मावती की कथा का संक्षिप्त परिचय यों दिया है—

कथा अरंभ बैन कवि कहा।
सिंहल दीप पदमिनी रानी।
रतनसेन चितउर गढ़ आनी।
अलउदीन देहली सुलतानू।
राघौ चेतन कीन्ह बखानू।
सुना साहि गढ़ छेंका आई।
हिन्दू तुरुकन्ह भई लराई।
आदि अंत जस गाथा अहै।
लिखि भाखा चौपाई कहै।[1]

इन पंक्तियों में जायसी ने यह स्पष्ट बताया है कि आदि से अन्त तक जैसी गाथा है उसे ही 'भाखा' में वे लिख रहे हैं। यह गाथा सिंहल की पद्मिनी रानी से लेकर 'हिन्दू तुरकन भई लड़ाई' तक पूरी होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जायसी ने जो वृत्त ग्रहण किया है वह आदि से अन्त तक एक ही गाथा है। वह गाथा लोक-गाथा है, इसमें संदेह नहीं। यह एक ऐसी लोक-कथा है जिसमें ऐतिहासिक स्थानों और पुरुषों के नाम प्रविष्ट कर दिये गये हैं। सामान्यतः यह कहानी किसी देश के एक राजा की कहानी है। अतः रत्नसेन, पद्मावती, चंपावती, गंधर्वसेन, राघव चेतन आदि को ही अनैतिहासिक अथवा लोक-कथा से लिये गये मानना उचित नहीं।

शुक्लजी ने लिखा है :"पद्मावत की संपूर्ण आख्यायिका को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। रत्नसेन की सिंहल द्वीप-यात्रा से लेकर पद्मिनी को लेकर चित्तौर लौटने तक हम कथा का पूर्वार्द्ध मान सकते हैं और राघव के निकाले जाने से लेकर पद्मिनी के सती होने तक उत्तरार्द्ध।···पूर्वार्द्ध तो बिलकुल कल्पित कहानी है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है।" (जायसी ग्रन्थावली—पृ० २४–२५)

पूर्वार्द्ध के सम्बन्ध में उन्होंने आगे लिखा है, "उत्तर भारत में, विशेषतः अवध में, पद्मिनी रानी और हीरामन सूए की कहानी अब तक प्रायः उसी रूप में कही जाती है जिस रूप में जायसी ने उसका वर्णन किया है।" [जायसी ग्रन्थावली, पृ० ३०] शुक्ल जी पद्मावत के उत्तरार्द्ध का ऐतिहासिक आधार

१. आचार्य शुक्लजी : जायसी ग्रंथावली, दोहा २४, पृ० १०।

मानते हैं और जायसी के ऐतिहासिक ज्ञान की भी प्रशंसा करते हैं किन्तु अन्त में वे यही अनुमान करते हैं कि --

"जायसी ने **प्रचलित कहानी** को ही लेकर सूक्ष्म ब्यौरों की मनोहर कल्पना करके, उसे काव्य का सुन्दर रूप दिया है ।" [वही, पृ० ३०] वस्तुतः यह अनुमान ही यथार्थ है, क्योंकि यह समस्त कहानी आरंभ से अन्त तक लोक-कहानी की भाँति प्रचलित हो गयी थी। शुक्ल जी ने ऐतिहासिक आधार के लिए टाड से उद्धरण दिया है। उससे तो पूर्वार्द्ध भी ऐतिहासिक प्रतीत होगा। "भीमसी का विवाह सिंहल के चौहान राजा हम्मीर शंक की कन्या पद्मिनी से हुआ था जो रूप गुण में जगत में अद्वितीय थी।" [वही, पृ० २५]

पूर्वार्द्ध का समस्त वृत्त तो इतना ही है कि रतनसेन का सिंहल की पद्मिनी अथवा पद्मावती से विवाह हुआ। यह टाड में लिखा ही है। टाड ने चारणों से लिया था। इससे भी यह सिद्ध है कि यह समस्त वृत्त टाड के समय तक तो लोक-कथा हो ही चुका था, अकबर के समय में भी यह लोक-कथा के रूप में था। 'आईने अकबरी' में भी इसी प्रकार का वृत्त दिया गया है। पृथ्वीराज रासो में इसी कथा-रूप का एक वृत्त है।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि—

१—पद्मावत की संपूर्ण कथा लोक-कहानी है।

२—उसका ऐतिहासिक वृत्त से संबंध लोक-क्षेत्र में ही हो गया था, जिससे कहानी में ऐतिहासिक नाम आ गये और लोक-कहानी के अभिप्रायों की ऐतिहासिक व्याख्या लोक-मानस में प्रस्तुत करदी गयी, जिसका काव्य-रूप जायसी ने खड़ा किया।

जो स्थिति 'पद्मावत' की है, वही प्रायः सभी ऐसी प्रेमगाथाओं की है जो ऐतिहासिक कही जा सकती हैं। दे० पीछे पृ० २१४ तथा २४२।

किन्तु किसी भी वृत्त के लोक-रूप की परीक्षा इतनी ही कथा से नहीं हो सकती। किसी भी लोक-कथा का स्वरूप अभिप्रायों अथवा कथानक-रूढ़ियों के द्वारा ही सिद्ध होता है। पद्मावत की कथानक रूढ़ियाँ ये हैं—

१—सिंहल द्वीप की पद्मिनी

२—संदेशवाहक शुक

३—यह शुक बहेलिये द्वारा पकड़ा जाकर चित्तौड़ के ब्राह्मण के हाथ बेचा जाता है।

४—राजा तोते को खरीदता है

५—राजा की रानी इस भय से कि तोता राजा से पद्मिनी का रूप कहेगा तो वह उसके मोह में पड़ जायगा, तोते को मार

डालना चाहती है, पर तोता बच जाता है।

६—एक राजा जो शुक से पद्मिनी का रूप सुनकर उसके प्रेम में मग्न हो जाता है।

७—राजा अपनी पहली रानी और राज-पाट को त्याग कर शुक के पीछे पीछे चलता है।

८—राजा नाव में बैठकर सात समुद्र पार करता है।

९—सिंहल में अगम्य गढ़ में पद्मिनी का निवास।

१०—एक शिव जी के मन्दिर में राजा का तपस्या करना, जहाँ बसंत के दिन पद्मिनी का आना।

११—पद्मिनी को देखकर राजा बेसुध, पद्मावती उस बेहोश राजा की छाती पर कुछ लिख कर चली गयी।

१२—होश आने पर राजा का दुःख

१३—पार्वती द्वारा राजा के प्रेम की परीक्षा।

१४—महादेव जी द्वारा कृपा करके सिद्धि देना और गढ़ का मार्ग बताना।

१५—राजा ने गढ़ पर चढ़ाई की। एक अगाध कुंड में रात में प्रवेश किया, वहाँ वज्र किवाड़ लगे मिले जिन्हें राजा ने खोला।

१६—राजा महलों में गया और पकड़ा गया, उसे सूली देने का आदेश।

१७—शिव-पार्वती ने भाट बन कर पद्मिनी के पिता को समझाया कि यह तो राजा है, पर उसने न माना।

१८—युद्ध की घोषणा, जोगियों की ओर से हनूमान, विष्णु, तथा शिव को देखा तो राजा ने आधीनता मानी।

१९—पद्मावती रत्नसेन को मिली।

२०—नागमती ने पक्षी के हाथ रत्नसेन के पास सिंहल संदेश भेजा।

२१—राजा पद्मावती और बहुत सा धन ले सिंहल से बिदा हुआ।

२२—समुद्र ने याचक बन कर धन माँगा पर राजा ने न दिया।

२३—समुद्र में तूफान से जहाज भटक कर लङ्का में पहुँचे जहाँ विभीषण का राक्षस उन्हें एक वात्याचक्रालोड़ित समुद्र में ले गया।

२४—तभी एक राजपक्षी उस राक्षस को लेकर उड़ गया।

२५—रत्नसेन-पद्म का जहाज टूक टूक हो गया, दोनों लकड़ी के टुकड़ों को पकड़ कर अलग अलग बह गये।

२६—पद्मावती बह कर वहाँ पहुँची जहाँ लक्ष्मी थी। लक्ष्मी ने उसे बचाया।

२७—लक्ष्मी ने समुद्र से कहा कि रत्न को लाये ।

२८—समुद्र एकान्त द्वीप में विलपते रत्नसेन के पास पहुँचा ब्राह्मण बनकर—और उन्हें डंडे के सहारे माया से पद्मावती के द्वीप पर ले आया ।

२९—लक्ष्मी ने पद्मावती का रूप धर रत्नसेन की परीक्षा ली, तब पद्मावती से मिलाया ।

३०—समुद्र ने पाँच चीजें भेंट देकर दोनों को बिदा किया । पाँच चीजें :

१—अमृत, २—हंस, ३—सोनहापक्षी, ४—शार्दूल, ५—पारस पत्थर ।

३१—लक्ष्मी के दिये बाड़े में से रत्न लेकर लाव-लश्कर जगन्नाथ में खरीदा, चित्तौड़ को चले ।

३२—नागमती को अदृश्य शक्ति ने पति के आने की सूचना दी ।

३३—एक महापंडित राघवचेतन ने आकर काव्य सुनाकर राजा का वश में कर लिया ।

३४—उसने यक्षिणी-सिद्धि से प्रतिपदा को दूज का चन्द्रमा दिखा दिया राज पंडितों का इस प्रकार अपमान ।

३५—अपमानित पंडितों ने ऐसे जादूगर को राज-सभा में रखने के खतरे राजा को सुझाये, राजा ने राघवचेतन को देश-निकाला दिया ।

३६—राघवचेतन ने जाते-जाते पद्मिनी का रूप देखा और पद्मिनी का दिया कंगन लिया ।

३७—पद्मिनी के रूप से वह मूर्छित होगया ।

३८—राघव ने दिल्ली के अलाउद्दीन को पद्मिनी का सौंदर्य बताया तथा रत्नसेन के पास पाँच अमोल रत्नों के होने की बात भी कही ।

३९—अलाउद्दीन ने राघव के हाथ पत्र भेजा कि पद्मिनी को दिल्ली भेजो, राजा ने मना किया । अलाउद्दीन ने गढ़ घेर लिया ।

४०—दोनों में घमासान युद्ध होने लगा । किन्तु राजा ने फिर भी 'राज-पँवर' पर नृत्य-अखाड़ा जोड़ा ।

४१—कन्नौज के मलिक जहाँगीर ने अलाउद्दीन के कहने से नीचे से एक बाण छोड़ एक नर्तकी को मार डाला ।

४२—अलाउद्दीन ने संदेश भेजा कि राणा पाँचों नग दे दे, पद्मिनी नहीं लेंगे । राजा ने नग भेजे, संधि हुई ।

४३—अलाउद्दीन चित्तौड़ देखने गया । राजा से शतरंज खेलते हुए

झरोखे में आयी हुई पद्मिनी को शीशे में देखा, और मूर्छित हो गया।

४४—गढ़ से लौटते हुए शाह ने विदा के लिए साथ आये हुए राजा को प्रेम दिखाते हुए बंदी बना लिया।

४५—इस वियोग में कुंभलनेर के राजा देवपाल ने दूती को पद्मावती को फुसला लाने के लिए भेजा।

४६—दूती ने पद्मावती को फुसलाना चाहा, पर वह असफल रही और उसे बुरी तरह पीट कर निकाल दिया गया।

४७—शाह ने भी पातुर दूती को जोगिन बना कर भेजा कि वह उसे ले आये।

४८—जोगिन के कहने से पद्मावती जोगिन बनने को तैयार हुई, पर सखियों ने रोक लिया।

४९—तब पद्मावती के साथ गोरा-बादल ने रत्नसेन को छुड़ाने का वचन दिया।

५०—बादल की नव परिणीता वधू ने रोका, पर रुका नहीं।

५१—सौलहसै चंडोल सजाये गये, पद्मिनी की पालकी में लुहार बैठा और डोलों में राजपूत। ये दिल्ली चले।

५२—शाह से कहा कि पद्मिनी आपके यहाँ आयी है, पर वह रत्नसेन से मिलकर तब आयेगी। रत्नसेन से मिलने की आज्ञा दीजिये।

५३—इस विधि से रत्नसेन को छुड़ा लिया गया, और चित्तौड़ को भगा दिया गया।

५४—बादल सेना के साथ चित्तौड़ लौटा। गोरा ने शाह की सेना को रोका, युद्ध किया और मारा गया।

५५—राजा चित्तौड़ पहुँचा। प्रसन्नता छा गयी। पद्मावती ने देवपाल की दूती की बात बतायी।

५६—राजा देवपाल पर चढ़ाई करके गया, उसे मार डाला।

५७—देवपाल की सेल का घाव राजा के लग गया था, जिससे वह भी मर गया।

४८—नागमती और पद्मावती सती होगयी।

अभिप्रायों की इस सूची के देखने मात्र से यह प्रतीत हो जाता है कि प्रत्येक अभिप्राय काफी विस्तृत क्षेत्र में लोक-कथाओं में उपयोग में आता रहा है। कोई भी मात्र ऐतिहासिक नहीं।

कुछ विशेष अभिप्रायों पर विचार—

द्वीप — इस अभिप्राय का रूप यह है कि एक द्वीप है। एक द्वीप से का तात्पर्य है वह स्थान जो चारों ओर से घिरा हुआ है। द्वीप जल से घिरा हुआ होता है, किन्तु यदि कोई अन्य स्थान हो जो चारों ओर से कठिनाइयों से घिरा हुआ हो तो वह इस द्वीप के समकक्ष ही होगा।

द्वीप का उल्लेख 'The Four Skillful Brothers' नामक कहानी (Type 653) में है जिसमें तारिका द्रष्टा (Star Gazer) देख लेता है कि वह सुन्दरी दूर समुद्र में एक पहाड़ पर एक अहिदैत्य (dragon) के आधीन है। [देखिये : स्टिथ थामसन : द फोकटेल—पृ० ८१] राजा नल के प्रसिद्ध भारतीय लोकोपाख्यान में मोतिनी भी द्वीप में रहती है। सीता को रावण हर के द्वीप में ले गया है।

द्वीप की स्थिति : सात समुद्र पार— सात समुद्र पार का अभिप्राय लोक वार्ताओं में बहुत प्रचलित है।

सात की संख्या लोकवार्ता को अत्यन्त प्रिय है। यथा—

१—प्लिनी ने बताया है कि कुछ जातियों के मनुष्य मकड़ी के जाले के तार में सात या नौ गाठें बाँधकर जाँघ और पेट के जोड़ के स्थान के रोग को दूर कर देते थे। प्रत्येक जोड़ बाँधते समय किसी विधवा का नाम लेना आवश्यक था।

२—ओडोनोवन ने तुर्कमानों में एक प्रथा का उल्लेख किया है। एक ऊँट के बाल में सात गाठें बाँधकर बुखार से पीड़ित व्यक्ति को पहनायी जाती थीं। प्रतिदिन एक गाँठ खोली जाती थी। अन्तिम गाँठ खुलने पर बुखार दूर हो जाता था। (Golden Bough. p. 242)

३—क्रीट द्वीप के माइनोज को प्रति आठवें वर्ष एथेन्स निवासी ७ युवक और ७ युवतियाँ भेंट में भेजा करते थे। [गो० बा० पृ० २८०]

४—मलाया अन्तरीप में चावल की फसल काटने से पूर्व चावल की आत्मा को घर लाने का संस्कार होता है। इसमें खेत में खड़ी चावलों की फसल में से एक गुच्छे को चावल की आत्मा की माँ मान लिया जाता है। एक बूढ़ी स्त्री उस गुच्छे में से सात बालें चावल की चुन लेती है। ये सातों बालें नवोत्पन्न बच्चे की भाँति चावल की आत्मा की तरह घर ले जायी जाती हैं और अन्य विशेष संस्कार सम्पन्न होते हैं। (गो० बा० पृ० ४१७)

५—वेलजियम अर्डेन्नेंस (Belgian Ardenence) में ग्राण्ड हल्लयू

(Grand Halleaux) के दिन घर घर से ईंधन बटोर कर ऊँचे स्थानों पर होली जलायीं जाती हैं। यह माना जाता है कि गाँव की सुरक्षा की दृष्टि से सात होलियाँ जलती दीखनी चाहिये (वही, पृ० ६१०)

६—यूनानी गाथाओं में सात भाइयों का उल्लेख है जिन्होंने थीबीज (Thebes) पर आक्रमण किया था। थीबीज के सात दरवाजे थे जिनकी रक्षा सात थीवन वीर कर रहे थे। सातों भाइयों ने एक दरवाजे को आक्रमण के लिए चुना था, पर विफल हुए थे। [स्टैंडर्ड डिक्शनरी ओफ फोकलोर, आदि पृ० ९९९।]

७—जापानी धर्मगाथा में भाग्य के सात देवताओं का उल्लेख है। (शिचि भुकुजिन) [स्टैण्डर्ड डिक्शनरी आव फोकलोर पृ० ९९९।]

८—अनेकों जातियों में सातवाँ लड़का या सातवीं लड़की अथवा सातवें लड़के का सातवाँ लड़का अत्यन्त भाग्यशाली माना जाता है। (स्टैण्डर्ड डिक्शनरी ओफ फोकलोर पृ० ९९९।]

९—भारत में सप्तर्षि प्रसिद्ध हैं।

१०—सप्त सैंधव—सात नदियों का उल्लेख वेदों में है। अवस्ता में हैं, वर्जिल के काव्य में हैं, महाभारत में है। पुराणों में है।

११—सात समुद्रों का उल्लेख भी इसी प्रकार मिलता है।

१२—सप्त द्वीप नव खण्ड भी प्रसिद्ध है।

१२—सप्त वध्रि नाम के एक वैदिक ऋषि का उल्लेख है। जिसके सम्बन्ध में यह कहानी है कि उसके सात भाई थे जो उसे रात को एक टोकरी में बन्द कर देते थे। प्रातः उसे खोल देते थे, जिससे वह रात में अपनी पत्नी से न मिल सके।

सिंहल द्वीप का नाम : सिंहल द्वीप के अभिप्राय का उपयोग सन् १०६५ ई० अथवा सं० १००८ वि० में रचित मुनि कनकामर की अपभ्रंश कृति 'करकंडु चरित्र'[1] में भी हुआ है :

करकंडु दक्षिण के राज्य पर चढ़ाई करने के लिए गये थे तो वे 'सिंहल द्वीप' भी गये, वहाँ की राजकुमारी रतिवेगा से विवाह किया। १२७५ के जिनदत्त चरित्र में सिंहल द्वीप का उल्लेख है। अतः प्रेमकथाओं में 'सिंहल द्वीप' जायसी से बहुत पहले से ही सुन्दरी स्त्रियों के देश के रूप में उपयोग में आने लगा था।

१. दे० प्रो० हीरालाल जैन द्वारा संपादित, करंजा जैन ग्रन्थमाला, १९३४ ई०

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल के मत का सारांश यह है :—

१—यदि सिंहल नाम ठीक मानें तो वह राजपूताने या गुजरात का कोई स्थान् होगा।

२—वहाँ न चौहान हैं।

३—वहाँ के लोग काले हैं, पद्मिनियाँ वहाँ कहाँ।

४—वहाँ पद्मिनी की कल्पना गोरखपंथी साधुओं की कल्पना है। उनकी दृष्टि में सिंहल द्वीप एक सिद्धपीठ है। यहाँ साक्षात शिव परीक्षा लेकर सिद्धि देते हैं। वहाँ सुवर्ण और रत्नों की अतुल राशि सामने आती है तथा पद्मिनियाँ अनेक प्रकार से लुभाती हैं। गुरु मत्स्येन्द्र नाथ सिंहल में पद्मिनियों के जाल में फँस गये, जहाँ से उनके शिष्य गोरख ने उनका उद्धार किया।[1]

५—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सिंहल को योगियों का त्रियादेश माना है क्योंकि मत्स्येन्द्र त्रियादेश में ही स्त्रियों के चक्र में फँस गये थे। उन्होंने लिखा है :—

"मत्स्येन्द्रनाथ जिस कदली देश या स्त्री देश में नये आचार में जा फँसे थे, वह कहाँ है? मीन चेतन और गोरक्ष विजय में उसका नाम कदली देश बताया गया है, और योगि सम्प्रदायाविष्कृति में त्रिया देश अर्थात् सिंहल द्वीप कहा गया है।" सिंहल देश ग्रन्थकार की व्याख्या है। तब विविध मतों का उल्लेख करके वे लिखते हैं कि इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि यह हिमालय के पाददेश में अवस्थित है। कमायूँ गढ़वाल के अन्दर पड़ने वाला प्रदेश हैं। अन्त में वे इसे कामरूप मानते हैं। [नाथ सम्प्रदाय पृ० ५५-५६]

सिंहल और लङ्का के सम्बन्ध से कुछ ऐसा विदित है कि ये उड़ियान के दो भागों में से एक है—उड्डियान में सम्भलपुर और लंकापुर दो स्थान हैं—सम्भलपुर सिंहल हो सकता है। यह जालन्धर पीठ के पास है : [नाथ सम्प्रदाय पृ० ७८।]

गंधर्वसेन सिंहल में गंधर्वसेन नाम के राजा की कल्पना भी लोक-वार्ता के कारण मानी जायगी : गंधर्वसेन तो गंधर्वों में ही हो सकता है, सिंहल में गन्धर्व कहाँ?

सप्तद्वीप :—सप्त द्वीपों में जायसी ने ये नाम गिनाये हैं।

१—सिंहल, २—दियादीप, ३—सरनदीप, ४—जंबूदीप

१. जायसी ग्रन्थमाला पृ० २६

५—लंका दीप, ६—गभस्थल दीप, ७—महु स्थल ।[1]

१—जायसी ने सप्तद्वीपों का उल्लेख इस प्रकार किया है—
"सात दीप बरनै सब लोगू, एकौ दीप न ओहि सरि जोगू ।
दियादीप नहि तस उँजियारा, सरन दीप सरि होइ न पारा ।
जंबूदीप कहौं तस नाहीं । लंकदीप सरि पूज न छाहीं ।
दीप गभस्थल आरन परा, दीप महुस्थल मानुस-हरा ।
सब संसार परथमें आए सातौं दीप,
एक दीप नहिं उत्तिम सिंघल दीप समीप ।।१।।
[जायसी ग्रंथावली, सिंघल द्वीप वर्णन खंड पृ० ११]

किंचित आश्चर्य यह है कि इस सप्तद्वीप वर्णन पर आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल जी की पैनी दृष्टि पड़ने से कैसे रह गयी कि उन्हें भूमिका में यह लिखना पड़ गया—

"सप्त द्वीपों के तो उन्होंने कहीं नाम नहीं लिए हैं···" [वही, भूमिका पृ० २१४] जबकि उपरोक्त अंश पर पृ० ११ की पाद-टिप्पणी में उन्होंने वह उल्लेख किया जिसका कि आगे संकेत किया जा रहा है।

अब इन द्वीपों के संबंध में डा० वासुदेव शरण ने जो टिप्पणी "पदमावत (मूल और संजीवनी व्याख्या)" में पृ० २५-२६ पर दी है, उन्हें भी उद्धृत करना समीचीन होगा—

"(५-७)यहाँ जायसी ने मध्यकालीन भूगोल की कहानियों में कल्पित सात द्वीपों का वर्णन किया है। अरब और चीनी भूगोल और कहानी साहित्य में इन नामों की जोड़-तोड़ और कल्पना के कई रूप हो गए।

दिया दीप=दीउ नामक द्वीप, जो काठियावाड़ी समुद्रतट के पास है।

सरां दीप=सरन दीप, स्वर्णद्वीप जो सुमात्रा का मध्यकालीन नाम था।

लंक दीप=संभवतः वही था, जिसे याकूबी (लगभग ८७५ ई०) ने लंग बालूस कहा है और जो द्वीपान्तर में कहीं था। स्पष्ट ही जायसी का लंकद्वीप सिंहल से भिन्न था। कुश द्वीप का उल्लेख पुराणों में और दारा प्रथम के लेखों में है इसकी पहचान अबिसीनिया से की जाती है। श्री शिरेफ ने इन सातों नामों को पद्मावती के शरीर पर भी घटाया है।

जैसे दिया दीप=स्त्री के चमकीले नेत्र, सरन दीप=श्रवण या कान, जम्बु द्वीप=भौंराली जामुन जैसे काले केश; लंक द्वीप=कटि प्रदेश, कुश स्थल, पाठान्तर कुम्भस्थल=स्तन, महुस्थल=मधुस्थल, गुह्यभाग। इन नामों का निश्चित भौगोलिक अर्थ जायसी के मन में था, ऐसी संभावना नहीं। उन्हें ये नाम लोक-कथाओं से प्राप्त हुए होंगे।" डाक्टर साहब का अन्तिम वाक्य ही यथार्थ है। क्योंकि दिया-दीप, सरां दीप, लंक दीप आदि का भोगोलिक अनुसंधान तो विद्वानों का अपना है। जिस रूप में सप्त द्वीपों का उल्लेख लोक-वार्त्ता या साहित्य में हुआ है उससे यह संभावना नहीं कि काठियावाड़, सुमात्रा, लंग बालूस, अबीसिनिया जैसे स्थानों को उसमें सम्मिलित किया गया होगा। लोक-प्रचलित किसी वार्ता से ही जायसी ने ये नाम लिये होंगे। वस्तुतः अभी उस वार्ता का अनुसंधान अपेक्षित है।

आचार्य शुक्ल जी ने द्वीपों के विषय में यह टिप्पणी दी है।

'अरब वाले लङ्का को सरनदीप कहते थे। भूगोल का ठीक ज्ञान न होने के कारण कवि ने सरनदीप, लङ्का और सिंहल को भिन्न-भिन्न द्वीप माना है।[1] इस दृष्टि से सरन, लङ्का और सिंहल एक द्वीप ही के विविध नाम हुए'। दियादीप, जम्बूदीप, गभस्थल तथा महुस्थल ये नाम भी लोक से लिये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि मान्य द्वीप तो हैं १—जम्बू, २—प्लक्ष या गोमेदक, ३—शाल्मलि, ४—कुश, ५—क्रौंच, ६—शाक, ७—पुष्कर। इनमें से जम्बू के अतिरिक्त कोई नाम जायसी से नहीं मिलता। महाभारत में तो चार ही द्वीपों का उल्लेख है। १—भद्रश्व, २—केतुमाल, ३—जम्बू द्वीप, ४—उत्तर कुरु। विष्णु पुराण ने भारत में ९ द्वीप बतलाये हैं :

१—इन्द्रद्वीप, २—कसेरुमत, ३—ताम्रवर्ण, ४—गभस्तिमत। ५—नाग द्वीप ६—सौम्य, ७—गाँधर्व, ८—वारुण, ९—कुमारक।

इनके चौथे द्वीप गभस्तिमत में जायसी के गभस्थल का बीज दिखायी पड़ता है। दियादीप और महुस्थल का मूल क्या है? कहाँ है?

पद्मिनी—'पद्मिनी' शब्द यों तो कामशास्त्र के नायिका प्रकरण से सम्बन्ध रखता है और वहीं से लिया भी गया होगा, किन्तु आज यह शब्द लोकवार्ता से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। पद्मिनी ही नहीं सिंहल की पद्मिनी। समस्त नायिकाओं में पद्मिनी श्रेष्ठतम है। वह पद्मगंधा, पद्मयोनि तथा पद्म काया होती है। इस प्रकार से 'पद्मिनी' शब्द एक स्त्री में पूर्ण सर्वोत्तम गुणों का द्योतक है। पद्मिनी शब्द इस क्षेत्र से चलकर लोकक्षेत्र में पहुँच कर अत्यन्त सुन्दरी का पर्यायवाची बन गया। इस रूप में यह पद्मिनी अनेकों कहानियों की नायिका बनी। पद्मिनी और पद्मावती प्रायः पर्यायवाची हो गयी हैं।

एक पद्मिनी का उल्लेख कल्किपुराण में मिलता है। यह पद्मावती सिंहल-देश के राजा वृहद्रथ की पुत्री है। भगवान शिव ने उसे वरदान दिया है कि नारायण उसका पाणिग्रहण करेंगे। अन्य पुरुष यदि उसे काम-भाव से देखेंगे तो नारी हो जायेंगे। कल्कि को अपने सर्वज्ञ सुए से यह कथा ज्ञात हुई। उन्होंने उसे पद्मावती के पास भेजा। सन्देश मिलने पर कल्कि ने सिंहल के लिए प्रस्थान किया। वहाँ पहुँच कर वे कदम्ब के नीचे मणि वेदिका पर सो गये। तभी पद्मावती उनसे मिलने आयी, अन्त में दोनों का विवाह हो गया।

पद्मावती नाम की कई नायिकाएँ कथासरित्सागर में आती हैं। उदयन की पत्नी पद्मावती तो ऐतिहासिक भी मानी जा सकती है।

पद्मावती पृथ्वीराज रासो में भी है। और वह समुद्रशिखिर के राजा

१—जायसी ग्रन्थावली, पृ० ११ की पाद टिप्पणी

विनयपाल की पौत्री है जो पृथ्वीराज चौहान से प्रेम करने लगी है। और तोते को भेजकर पृथ्वीराज को बुलवाकर विवाह करती है।

श्री नाहटा जी ने नागरी प्रचारणी पत्रिका वर्ष ५६, अंक १,२०११ में राजस्थान में प्रचलित कई पद्मिनियों और पद्मावतियों की कहानियों का उल्लेख किया है।

मुँहणौत नैणसी में ४ पद्मावतियों का उल्लेख है।

पद्मावति की ज्योति

प्रथम सो जोति गगन निरमई। पुनि सो पिता माथे मनि भई।
पुनि वह जोति मातु घट आई। तेहि ओदर आदर कहू भाई।

पद्मावती के रूप की ज्योति पदार्थ विषयक स्थापना आदिम मूल-भाव से सम्बन्धित है। आदिम मानस निराकार को मूर्त बनाकर ही ग्रहण करता है। इस एक कथन में लोक-मानस के कई तत्व एक साथ समाविष्ट हैं :—

१—मूर्त ग्रहण—पद्मावती के मूल अस्तित्व की ज्योति रूप में स्थापना "Whatever is capable of effecting mind, feeling or will has thereby established its undoubted reality" (पृष्ठ 20 B. Ph.)

२—पदार्थ की भाँति आदान प्रदान : ज्योति गगन में बनायी गयी फिर पिता के माथे, तब उदर में :

'Just as the imaginery is acknowledged as existing in reality so concepts are likely to be substantialized.' (पृ० 22. B. Ph.)

३—अंश या सार समस्त के समान :—

"Hence there is coalesence of the symbols and what it signifies as there is coalescence of two objects compared so that one may stand for the other—पृ० 21, Before Philosophy)

गगन निरमई—तथा 'दिया जो मनि सिब लोक महँ'—मणि ज्योतिवत्। मणि यहाँ उपमान नहीं, पद्मावती के सार-रूप को कवि ने मणि ही माना है।

इस प्रकार इन कुछ बातों के इस तात्विक विवेचन से यह संकेत मिलता है कि प्रेमगाथा में समस्त काव्य की मूर्तानुभूति का आधार मूल लोक-मानस ही है। पद्मावत का तथा अन्य प्रेमगाथाओं का तात्विक विवेचन पूर्ण विस्तार के साथ करने का इस प्रबन्ध में अवकाश नहीं। केवल उदाहरण रूप लोकतत्व का निर्देश यहाँ कर दिया गया है।

रूप-सम्मोहन— प्रेमकथाएँ रूप-सम्मोहन के मोहन से विशेषतः आक्रान्त मिलते हैं। यह एक विशेष अभिप्राय के रूप में आता है। कहीं-कहीं तो इसे निष्कासन का एक आधार भी बनाया जाता है। रूप-सम्मोहन से नारी समाज में अत्यधिक विकलता का चित्रण प्रेमकथाकारों ने किया है। कुछ उदाहरण इस परिपाटी को दिखाने के लिए अपभ्रंश से देना समीचीन होगा—

णाय कुमार चरिउ में नागकुमार को साक्षात् कामदेव बताया गया है और कहा है:— 'पेक्खइ जहि जहि जे जगु तहि तहि जि सुलक्खण भरियउ
वण्णइ काइं कइ जो वम्महु सई अवयरियउ'

जंबुसाम चरिउ में जंबू स्वामी को इतना सुन्दर बताया गया है कि नगर वधुएँ उन्हें देखकर उन पर आसक्त हो जाती थीं।

सुदर्शनचरित्र में सुदर्शन को ऐसा आकर्षक बताया गया है कि उसे देखकर सुन्दरियाँ अपनी सुधि खो बैठती थीं, उलटे आभूषण पहनने लगती थीं, दर्पण में अपने प्रतिबिंब को तिलक लगाने लगती थीं।

करकंडु को देखकर नगर वन्धुओं की जो दशा हुई उसे **करकंडु चरित्र** में विस्तार से कवि ने बताया है—कि

'कोई स्त्री स्नेहलुब्ध हो चल पड़ती है, अपने शरीर से गिरते हुए वस्त्र को सँभालने की भी किसी को सुधि नहीं, कोई ओठों पर ही काजल लगाने लगी, और आँखों में लाक्षारस सारने लगी। कोई निर्ग्रन्थों की तरह आचरण करने लगी, किसी ने बच्चे को उलटा ही उठा लिया, किसी ने नूपुरों को हाथ में पहन लिया•••कोई बिल्ली के बच्चे को अपना पुत्र समझ लिये हुए है, कोई मानिनी कामातुर हो करकंडु की ओर चल पड़ी है। —आदि।

अपभ्रंश में ही नहीं संस्कृत पुराणों में भी ऐसे सौन्दर्य का वर्णन है, जो स्त्रियों को विकल कर देता है। प्रद्युम्न को कामावतार माना गया है। अनिरुद्ध को भी। उन्हें देखकर स्त्रियों के स्खलन के वर्णन संस्कृत में मिलते हैं।

इसी परंपरा में माधवानल कामकंदला में, मधुमालती में, तथा अन्य हिंदी कथा-काव्यों में नायकों के सौन्दर्य का आक्रान्तक वर्णन है। नागरिकाएं सौन्दर्य-मुग्ध पागल सी हो नायक के पीछे चल पड़ती हैं। अत्यधिक कामातुरता से गर्भस्खलन तक का उल्लेख किसी-किसी काव्य में मिलता है।

इस समस्त काव्य-परंपरा के मूल में यह भाव विद्यमान है कि नायक कामावतार है, या कामदेव की शक्तियों की उसे सिद्धि है। यह मूलभाव लोकमानस' के टोने (मैजिक) के भाव से घनिष्ठ रूपेण संबद्ध है।

इस प्रकार इन कुछ बातों के इस तात्विक विवेचन से यह संकेत मिलता है कि प्रेमगाथा में समस्त काव्य की मूर्तानुभूति का आधार मूल लोक-मानस ही है। जितना गंभीर तात्विक विवेचन किया जायगा, उतना ही यह लोक-मानस उद्घाटित होगा।

—: o :—

—५—

प्रेमगाथा का स्वरूप

यहाँ पर हिन्दी की लगभग २३ प्रेमगाथाओं के स्वरूप का विश्लेषण दिया जा रहा है। आरम्भिक तालिका १ में प्रेमगाथाओं के नाम और उनकी संख्या दी गयी है। आगे के विश्लेषण की तालिका में ग्रन्थ का नाम न देकर यह संख्या ही दी गयी है। दूसरी तालिका में प्रेमगाथा के स्वरूप के तत्त्व प्रस्तुत किये गये हैं, उनके साथ भी संख्या दी गयी है, यही संख्या तीसरी तालिका में तद्विषयक तत्वका निर्देश करती है :—

तालिका—१

संख्या	गाथा नाम	लेखक	रचना
१	मृगावती	शेख कुतवन	१५६० वि०
२	पद्मावती	जायसी	१५७८ वि०
३	मधु मालती	मलिक मंझन	१६०२ वि०
४	चित्रावली	उसमान	१५७० वि०
५	कनकावती	जान कवि	१६७५ वि०
६	कामलता	,,	१६७८ वि०
७	मधुकर मालती	,,	१६९१ वि०
८	रतनावती	,,	१६९१ वि०
९	छीता	,,	१६९३ वि०

१०	हंस जवाहर	कासिम शाह	१७९३ वि०
११	इन्द्रावति	नूर मुहम्मद	१८०१ वि०
१२	अनुराग बाँसुरी	,,	१८२१ वि०
१३	यूसुफ जुलेखा	शेख निसार	१८४७ वि०
१४	नूरजहाँ	ख्वाजा अहमद	१९६२ वि०
१५	भाषा प्रेमरस	शेख रहीम	१९७२ वि०
१६	ढोला मारू दूहा	...	...
१७	रस रतन	नारायण	१६७५ वि०
१८	छिताई वार्ता	नारायण	१६४७ वि०
१९	विरह वारीश	बोधा	१८०९ वि०
२०	माधवानल कामकंदला	गणपति	१५८४ वि०
२१	माधवानल कथा	दामोदर	१७३७ वि०
२२	प्रेम विलास प्रेमलता कथा	जटमल	१६१३ वि०
२३	राजा चित्रमुकुट रानी चन्द्र किरन की कथा		

प्रेमगाथा का स्वरूप : तालिका—३

१	२	३	४	५
आश्रय	**अवलम्ब**	**आश्रय**	**अवलम्ब**	**सामान्य संयोग**
१ चन्द्रगिरि के राजा गरण पति देव का पुत्र राज कुमार	कंचननगर के राजा रूप मुरारी की पुत्री मृगावती	रुक्मिनी	राजकुमार	
२ रत्नसेन	पद्मावती	नागमती	रत्नसेन	शिव-मंदिर में पद्मावती दर्शन
३ कनेसरनगर के राजा सूरजभान का पुत्र मनोहर	महारस नगर की राजकुमारी मधु मालती	...	...	...
(आ) ताराचन्द	प्रेमा	...	...	...
४ सुजान	चित्रावली	चित्रावली कौलावती	सुजान	शिव-मंदिर में साक्षात्कार

१	२	३	४	५
५ परमरूप	कनकावती			
६ रसाल	कामलता	कामलता	रसाल	
७ मधुकर	मालती			
८ मोहन	रतनावती			
९ राजाराम	छीता			
१० हंस	जवाहर			
११ राजकुंवर	इन्द्रावती			
१२ अंतःकरण	सर्वमंगला	सर्वमंगला	अंतःकरण	
१३ जुलेखा	यूसुफ			
१४ खुरशेदशाह	नूरजहाँ			
१५ प्रेमा	चन्द्रकला			पाठशाला में प्रेमा-चन्द्रकला का मिलना प्रेम
१६ ढोला	मारवणी	मालवणी	ढोला	
१७ सोम	रंभा			
१८ सरसी	छिताई			
१९ माधव	१ लीलावती	लीलावती	माधव	१ दुर्गा मंदिर में वीणा से आकर्षित हो लीलावती तथा माधव मुग्ध
	२ कामकंदला	कामकंदला	माधव	२ कामसेन की राजसभा में कामकंदला के नृत्य-समय ।
२० माधव	कामकंदला			
२१ माधव	कामकंदला	पुष्पावती की रानी रुद्र महादेवी मोहित । अमरावती के मंत्री मनवासी	माधव	

१	२	३	४	५
		की स्त्री का माधव को देख गर्भपात, अन्य स्त्रियों का भी यही हाल।		
२२ प्रेमविलास	प्रेमलता	प्रेमलता	प्रेमविलास	गुरु-शाला में
२३ चित्रमुकुट	चन्द्रकिरन			पढ़ते समय

	६	७	८	९	१०
	संकट से संयोग	विशेष व्यापार से	दैवी संयोग	अन्य	स्वप्न
१–	राक्षस से रुक्मिनी की रक्षा				
२–					
३–			अप्सराओं ने मनोहर को मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचाया		
४–					
५–					परमरूप ने स्वप्न में कनकावती देखी
६–					रसाल ने स्वप्न देखकर
७					

	६	७	८	९	१०
८					
९					
१०–					हंस ने स्वप्न में सुन्दरी देखी
११–					राजकुंवर ने स्वप्न में सुन्दरी देखी
१२–					सर्वमङ्गला ने स्वप्न देखा
१३–					जुलेखा ने यूसुफ को स्वप्न में देखा
१४–					खुरशेदशाह ने स्वप्न में सुन्दरी देखी
१५–					
१६–					
१७–					रंभा ने सोम का स्वप्न कामदेव माध्यम से; सोम ने रंभा को स्वप्न में देखा
१८–				विवाह द्वारा	
१९–					माधव को लीलावती स्वप्न में दिखायी पड़ी कंदला मिल जाने के उपरांत
२०–					
२१–				कामसेन के यहां कामकंदला की भ्रमर	

६	७	८	९	१०
			उड़ाने की कला पर माधव रीझा, वहाँ से देश निकाला ।	
२२-			पुरोहित के यहाँ पठन पाठन से प्रत्यक्ष दर्शन	

११	१२	१३	१४	१५
संयोगात् चित्र	प्रयत्नात	पशु-पक्षी द्वारा	मनुष्य द्वारा	आकाशभाषित
१–				
२–		शुकःहीरामन		
३–				
४–एक देव द्वारा सुजान चित्रावली की चित्रसारी में। सुजान ने अपना चित्र भी बना दिया				
५–	चित्र बनवाया गया			
६–	रसाल के चित्र पर कामलता मोहित			
७–				
८–पिता ने जामा दिया उस पर				

	११	१२	१३	१४	१५
	रतना का चित्र				
९-				राजाराम ने छीता की सुन्दरता सुनी	
१०-					
११-					
१२-		सर्वमंगला ने चित्रबंधनी सखी से अंतः करण का चित्र मँगाया अपना भेजा	उपदेशी सुवा ने सर्वमंगला को अंतःकरण के गुण सुनाये		
१३-					
१४-		नूरजहाँ की परी सखी ने स्वप्न देखते खुर० को नूरजहाँ की मूर्ति दी			परी सखी सुमति ने नूरजहाँ के रूप की प्रशंसा की
१५-					
१६-					
१७-		रंभा-चित्र कुमार को; कुमार चित्र रंभा को			
१८-		चित्रकार छिताई का चित्र लाया अलाउद्दीन को दिखाया । :प्रतिनायक:			
१९-					
२०-					
२१-					
२२-					
२३-					

१६	१७	१८	१९	२०
	पदार्थ से	प्रेम का स्वरूप	नायक प्रयत्न	नायिका प्रयत्न
१–	×	×	+	×
२–			योगी बनकर रतनसेन निकला शिव की सिद्धि पाकर गढ़ छेकना	पद्मावती ने अला-उद्दीन मे पति को छुड़ाने की बुद्धि उपाई
३ -			ममुद्र मार्ग से खोज	
४–			सुजान ने देव की मढ़ी में अन्नसत्र खोला (अ) सुजान द्वारा सागरगढ़ की शत्रु से रक्षा आ-कौला के साथ गिरनार की यात्रा	चित्रावली ने नपुंसक भृत्यों को जोगी वेष में भेजा अ–कौला ने बंदी बनाया। आ-चित्रावली द्वारा पत्र इ–कौला का हंस मिश्रदूत
५–			चित्रकार ने स्वप्न	

	१६	१७	१८	१९	२०
				में देखी सुन्दरी का चित्र बनाया विप्र ने पहचाना कि यह कनकावती है। परमरूप जोगी। विप्र ने कनकावती को परमरूप पर आकृष्ट किया। भरथराय ने राजसिंध से कनकावती के लिए युद्ध किया, जिसमें हारा।	
६-				स्वप्न की सुन्दरी का चित्र बनवाया।	
७-				मोहन ढूंढ़ने घर से निकल पड़ा चीन, चित्रापुरी, रूप-नगर आदि गया।	
८-				विप्र भेष में राजाराम देवगिरि राजा देव के पुरोहित के यहाँ। राजाराम जोगी बन दिल्ली पहुँचे।	
९-				हंस जोगी बना, पुनः जोगी बन भोलाशाह के यहाँ	हंस के पास सखी परी को भेजा।
१०-				गुरुनाथ तपी को गुरू मान राजकुमार जोगी बना-सात वन नांघे कायापति बनजारे के सात जहाज से समुद्र पार कर जिउपुर। आगे शिवमंदिर में आकाश वाणी।	

१६	१७	१८	१९	२०
			राजकुमार मोती निकालने चला ।	
११–	सर्वमंयला की मणि माला ब्राह्मण के के गले में देखकर			सर्वमंगला ने १–चित्र बनवाया २–गले की माला भेजी ।
१२–			यूसुफ की सवारी, औरतों में जुलेखा को पहचाना	जुलेखा को स्वप्न में यूसुफ का परिचय कि मिस्र के वजीर के मिलेंगे। मिस्र के वजीर से शादी । निराशा-यूसुफ को बाजार में जुलेखा ने खरीदा । जुलेखा ने भागते यूसुफ को लांछन लगा बंदी बनाया ।
१३–			खुरशेद जोग साधने को जोगी बना यत्न से सुफलपुर पहुँचा ।	नूरजहां ने अपनी परी सखी सुमति को वर ढूंढ़ने भेजा
१४–			प्रेमा ने मित्र बलसेन के द्वारा मोहिनी मालिन और उसकी माता के माध्यम से पंचमहल में चन्द्रकला से भेंट की । जोगी बना सहपाल शिष्य । गुरु के परामर्श से चन्द्रकला की खोज, दैत्य को मारा	

	१६	१७	१८	१९	२०
१५				१ ढोला मालवणी को सोता छोड़ मारवाड़ (पूगल) को। २ मारवणी के तोते को प्रत्युत्तर दे आगे बढ़ा। ३ पहाड़ अड़ावड़ा पार किया। ४ पूगल पहुँच मारवणी को साथ ले चला।	मारवणी ने डूमणी से भेद जान ऊँट को छड़ी मारकर भगाया। ढोला उसे सँभालने दौड़ा तो समझा कर ढोला को ले भाग खड़ी हुई।
१६				१ राजकुमार सोम रंभा के स्वयंवर के लिए चला २ सिद्धवेष में कुमार कल्पलता के यहाँ से चंपावती पहुँचा। ३ शिव मन्दिर में सोम की वीणा से आकर्षित रंभा के दर्शन। ६ रंभा-सोम कल्पलता के यहाँ पहुँचे।	चित्र बनवाने का आदेश। रंभा का चित्रकार कुमार से मिला और चित्र लाकर रंभा को दिया। ५ कल्पलता ने विद्यापति तोता भेजा।
१७—				१ देवगिरि घिरने पर नायक सरसी सेना लेने ढोल समुद्र गया।	१ छिताई ने सत नहीं छोड़ा।

	१६	१७	१८	१९	२०
				२ छिताई-हरण सुन योगी हो गया, वीणा ले कर चला। ३ सरसी ने जनगोपाल के यहाँ वीणा बजायी।	२ अपनी वीणा जनगोपाल के यहाँ रख दी।
१८—				१ कामकंदला ने विक्रमादित्य से कहा कि माधव को लीला दिलायें २ माधव ने मृदंगी में दोष बताया राज ने उसे सभा में बुलाया वहाँ कंदला दर्शन। ३ संगीत प्रतिद्वन्द्विता में कंदला को हराया।	१सुमुखी ने लीला-माधव की भेंट करायी। २ कामकंदला ने नृत्य में कुचों से भौंरा उड़ाया। ३ माधव को छिपा कर अपने यहाँ रखा।
१९—				४ विक्रम के राज्य में जाकर विक्रम से सहायता ली।	
२०—				विक्रमादित्य के शिवमंदिर में गाथा। गोगविलासिनी वेश्या ने पता लगाया माधव का।	
२१—				१ विलास ने गुरु से लता के प्रेम की भीख माँगी।	लता ने योगिनी स उड़ने की विद्या सीखी और महाकाल

	१६	१७	१८	१९	२०
				२ महाकाली के मन्दिर में दोनों मिले और उड़ गये ।	के मन्दिर से विलास के साथ उड़ गयी ।
२२—				१ राजा हंस के साथ जोगी बन चल पड़ा । २ हंस की सहायता से प्रति रात्रि चंद्र किरण से मिलता	१ चन्द्रकिरण प्रति रात्रि राजा से मिलती अपने कक्ष में । २ राजा के दंड को सुन ज़ीवित जल मरने का निश्चय । १३ वर्ष तक रानी वेश्या के यहाँ वियोग में ।
२३—					सेठानी की सखी चतुष्पथ पर लेटे चंदकुंवर को समझा बुझा के सेठानी के पास ले गयी ।

२१	२२	२३	२४
प्रतिनायक	बाधा मानवी	बाधा प्राकृतिक	बाधा दैव से
१—	मृगावती उड़ गई		
२—१ अलाउद्दीन २ राजा देवपाल कुंभलनेरका		पद्मावती दर्शन के समय मूर्छा	
३—	माता रूपमंजरी ने मधुमालती को पक्षी बना दिया		
४—	कुटीचर ने चित्रावली की माँ द्वारा सुजान का चित्र धुलवाया। अ-शिव-मंदिर में कुटीचर ने सुजान को अंधा किया और गुफा में डाला आ-कौलावती ने हार की चोरी लगा सुजान	अ-गुफा में अंधे को अजगर निगल गया विरह ताप से उसे उगला आ-सुजान को हाथी ने पकड़ा, हाथी को पक्षिराज ने पकड़ा और	

	२१	२२	२३	२४
		को बंदी बनाया । ६–चित्रावली के पिता ने १–बंदी किया २–मारने को हाथी भेजा जिसे सुजान ने मारा ३–स्वयं चढ़ाई की सुजान को मारने के लिए ।	समुद्र तट पर गिरा दिया । ६ समुद्री तूफानादि	
५—		१–राजसिंध कनकावती के पिता ने भरथराय को हराया । २–राजसिंध की शिकायत पर जगतपतिराय ने भरथनेर पर आक्रमण किया और आधा नगर उड़ा दिया ।		
६—				
७—		१–मधुकर का पिता उसे नगर के बाहर ले गया । २–मालती को विलायत के बादशाह ने खरीदा फिर वजीर के यहाँ, छत्रपति(तुर्किस्तान)को बेची गयी, छत्रपति के दमाद ने मालती को संदूक बंद कर नदी में डुबाया-प्ररमनी ने निकाला, संतान के प्रधान तब बादशाह के यहाँ ।	नाव जिस पर मधुकर मालती बैठे वह फटी, मधुकर कहीं, मालती कहीं	
८—		जहाज यात्रा में		

२१	१२	२३	२४
	साथियों से विछोह, जांगी के हाथ पड़ा		
९—अलाउद्दीन	चित्र देखकर अलाउ-द्दीन ने देवगिरि घेरी राघवचेतन के परा-मर्श से अलाउद्दीन छीता को उड़ा ले गया ।		
१०—दिनौर	शब्द हंस के पास से लौटी तो वंदिनी । परियों ने हंस को जवाहर के पास से उड़ाकर पुनः पहाड़ पर पहुँचाया । दिनौर ने (वीरनाथ के पास) हंस जवाहर को अलग कर दिया ।		
११—	राजकुवर दुर्जनराय की जेल में बन्दी राजा कृपा ने दुर्जन को मारा राजकुँवर को मुक्त किया ।		
१२—	अंतःकरण के पिता मित्रों ने सर्व-मंगला से विरत करना चाहा । मायावी अधेष्ट ने अंतःकरण को फँसाना चाहा ।		
१३—	जुलेखा की निंदा । वजीर ने उसका परित्याग किया । जुलेखा वियोग में अंधी ।		
१४—			

२१	२२	२३	२४
१५—सुल्तान अविद जिसने मालिन से रूप प्रशंसा सुन कर रूपनगर पर आक्रमण कर दिया	चन्द्रकला के माता पिता ने उसे पंच महल में डाल दिया, चन्दकला के गायब [दैत्य द्वारा] हो जाने पर राजा ने प्रेमा के पिता को लूटा और बंधन में डाला, मालिन को देश निकाला दिया ।		
१६—	१—माता पिता [नल] ने ढोला से मारवणी के विवाह की बात छिपाकर मालवणी से विवाह कर दिया । २—मालवणी के प्रबंध से मारवणी के दूत ढोला तक न पहुँच सके । ३—मालवणी के तोते ने ढोला को मालवणी के मृत्यु का संदेश दे उसे लौटाना चाहा ४—ऊमर सूमरा के दूत ने कहा कि मारवणी बूढ़ी हो गयी है ५—मार्ग में मारवणी को पीना साँप डस भी गया	सांप द्वारा	

२१	२२	२३	२४
	६-ऊमर सूमरा ने ढोला को आ घेरा।		
१७—	मानसरोवर पर अप्सराएं राजकुमार को उड़ाकर कल्पलता के पास ले गयीं। उससे विवाह।		
१८-अलाउद्दीन की देवगिरि पर चढ़ाई।	१-भर्तृहरि का सरसी को शाप २-अलाउद्दीन द्वारा छिताई का हरण		
१९—	१-वीणावादन माधव का जिससे पुष्पावती के राजा गोविंदचंद ने माधव को देश-निकाला दिया। २-माधव की कला से कंदला त्रस्त, कामावती के राजा ने माधव को देश निकाला दिया। विक्रम वैद्य बना कंदला को माधव के मरने का समाचार, कंदला मृत, माधव को कंदला का समाचार, माधव मृत, विक्रम ने कंदला से प्रेम दिखाया।		
२०—	पुष्पावती की महा-		

	२१	२२	२३	२४
		रानी रुद्रदेवी माधव पर मोहित, माधव के न मानने पर लांछन लगाया जिससे देश निकाला। आम्रावती से वह सौंदर्य के कारण निकाला गया।		
२१—				
२२—		पुरोहित गुरु ने आरम्भ में दोनों का साक्षात्कार न हो इसलिए पर्दा लगाया और कुमारी को अंधा और विलास को कोढ़ी बताया।		
२३—	खत्री वणिक ने टापू से चंद्र किरन को लिया, वश में न आने पर वेश्या के बेचा।	गड्डुआशाह ने राजकुमार को अबीर गुलाल के चक्र से पकड़वा दिया, धोबी से रँगे कपड़ेवाले का पता लगवाया	हंस के पंख जल गये पत्नी से न मिल सका	
२४—				

२५	२६	२७	२८
बाधा दानवी	**सहाय दैवी**	**सहाय मानवी**	**सहाय दानवी**
१—			
२ —	शिव की सहायता। गढ़ में सूलीके अवसर पर	गोरा बादल	
३—		प्रेमा (जिसे मनोहर ने राक्षस से छुड़ाया) ताराचन्द	
४-		चित्रकार सोहिल को मारनेवाले सुजान का चित्र लेकर आगया	
५-		विप्र-समाचार-वाहक बना उसने विवाह कराया। संन्यासी ने कच्छप-निधि विद्या परम-रूप को दी, जिससे	

	२५	२६	२७	२८
			अदृश्य होकर कनकावती से मिला। नगर के उड़ा दिये जाने पर परमरूप पानी में बहता जगराय के हाथ लगा—कनकावती जगपतिराय के। जगपति ने परमरूप कनकावती का विवाह किया।	
६–				
७–			मधुकर को मालती का अध्यापक रखा गया। एक बादशाह के दस सेवकों ने मालती को अवध के मार्ग पर छोड़ा जहाँ से वह बगदाद पहुँची।	
८–	एक दानव मोहन को ले उड़ा।	एक देव मोहन को उड़ाकर रूपरंभा के लेगया, रूपरंभा ने रतनावती के पिता को समझाया। रतना के पिता ने दानव से मोहन को मुक्त किया	पद्मिनी को अप्सरा, हाथी और सिंह से मोहन ने मुक्त किया। पद्मिनी ने रतनावती से मिलाने में सहायता की।	
९–			राम से छीता की सगाई	
१०–		अप्सराओं ने हंस को चीन पहुँचाया। दिनौर		

	२५	२६	२७	२८
		के स्थान पर हंस दूल्हा बना शब्द पुनः उड़कर हंस के पास। जोगी रूप में हंस को शब्द ले आयी, हंस जवाहर फिर मिले।		
११-			तपी ने स्वप्न की सुन्दरी का पता दिया। फुलवारी की मालिन	
१२-				
१३-			नवी याकूव ने आशीर्वाद दे जुलेखा को युवती बना दिया। नवी ने दोनों का विवाह करा दिया। तपसी की सहायता से जलाशय के तट पर। परतीत राय घटवार की नाव से पीरानपीर के वरदान से सुफलपुर पहुंचा।	
१५-	दैत्य चंद्रकला को ले उड़ा ४० कोठरी के किले में बन्द किया कोठरियों की चाबी चन्द्रकला को।	चंद्रकला ने दैत्य की वर्जित ४०वीं कोठरी खोली तो नरमुण्डों ने दैत्य को मारने और उसकी मुक्ति के उपाय बताये। गुरु ने आकर अविद से मारी गयी प्रजा को जीवित कर दिया।	गुरु ने प्रेमा को वन में परामर्श दे चंद्रकला की खोज में भेजा।	

२५	२६	२७	२८
१६–	१—मारवणी के ढाढ़ियों ने मालवणी के पहरेदारों को प्रसन्न किया और ढोला को मारवणी का संदेश दिया । २—बीसू नाम के चारण ने मारवणी का सच्चा समाचार दिया जिससे ४ थी वाधा का शमन हुआ । ३–योगी और योगिन आये । योगिन के अनुरोध से योगी ने अभिमंत्रित जल से मारवणी को जीवित किया : पाँचवी वाधा दूर हुई : ४–डूमणी गायिका ने मारवणी को ऊमर सूमरा के कपट की सूचना दी ।		
१७–			
१८–		१–अलाउद्दीन ने छिताई को पुत्री मान लिया । २–राघवचेतन ने सरसी को राज-महल में निमंत्रित किया ।	

	२५	२६	२७	२८
			३–अलाउद्दीन ने छिताई सरसी को सौंपदी ।	
१९–		वैताल ने अमृत लाकर विक्रम को दिया जिससे दोनों जिये ।	१–सुमुखी २–विक्रमादित्य । ३–उज्जैन की भोग विलासिनी वेश्या	
२०–				
२१–				
२२–		१–महाकाली ने प्रकट हो आशीर्वाद दिया । २–योगिनी ने विद्या सिखायी और विवाह किया ।		
२३–		दैवयोग से नगर के राजा के मर जाने पर यह प्रातः सबसे पहले मिला और राजा बना दिया गया ।		
२४–		१–मृगया में रास्ता भूला, ऋषि ने तंबा-पुर जाने को कहा । २–तंबापुर की सुन्द-रियाँ उसे नगर में ले गयीं, वह चतुष्पथ पर सो गया ।		

२९	३०	३१	३२	३३
सहायता पशु-पक्षी द्वारा	**प्राप्ति**	**प्रेमी को**	**प्रेमिका को**	**अन्य वृत्त**
१–	१ मृगावती प्राप्ति परन्तु उड़ गयी २ रुक्मिनी प्राप्ति ३ पुनः मृगावती प्राप्ति ४ दोनों के साथ राजकुमार अपने राज्य में	राजकुमार की आखेट में हाथी से गिर कर मृत्यु	मृगावती तथा रुक्मिनी सती	
२ हीरामन तोता	पद्मावती नागमती प्राप्त, अपने राज्य में।	रतनसेन देवपाल से युद्ध में घायल उसी से अन्ततः मर गया।	पद्मावती सती नागमती ,,	अ–ब्राह्मण बनजारे का वृत्त जिसके द्वारा तोता सिंहल से चित्तौर पहुँचा।

२९	३०	३१	३२	३३
				आ—राघवचेतन का वृत्त जिससे अला-उद्दीन चढ़ कर आया ।
३—	मनोहर मधुमालती का विवाह। ताराचंद प्रेमा का विवाह।	दोनों जोड़ों का अपने अपने यहाँ सुख भोग ।		
४- वनमानुष ने सुजान को अंजन दिया	कंवला से विवाह चित्रावली से विवाह	सुजान चित्रावली-कंवला को अपने राज्य में लाया,		शिव पार्वती के प्रसाद से पुत्र सुजान प्राप्त ।
५—	परमरूप कनकावती विवाह	दोनों सुखी		
६—पक्षी ने सपना देखकर कामलता को परिचय दिया	रसाल कामलता का विवाह			
७—मछली के पेट से पाँच रत्न जिन्हें मधुकर ने देकर मालती बादशाह से पायी ।	मधुकर मालती चक्करों में पड़कर बगदाद पहुँचे। हारूँरशीद ने विवाह करा दिया ।			
८—	मोहन रतनावती विवाह	मोहन को रतनावती मिली । जांगिन को ले आया। उत्तिम को पद्मिनी मिली ।		जगत राइ को वृद्धावस्था में दूसरे विवाह से पुत्र मोहन ।
९—	अलाउद्दीन ने छीता का राम	दोनों सुखी		

	२९	३०	३१	३२	३३
		मे विवाह कर दिया ।			
१०-			हंस को मीर दौला के पुत्र ने मार डाला ।	दोनों पत्नियाँ भी मर गयीं ।	ख्वाजा खिज्र की कृपा से पुत्र हंस । अप्सरा शब्द जवाहर की सखी बन गयी ।
११-	सुवा जेल से राजकुमारी इन्द्रावती के पत्र लेजाता				
१२					
१३-		जुलेखा ने यूफ की कई परीक्षाएँ ले अपना आत्म-समर्पण किया, विवाह	यूसुफ की मृत्यु [दोनों की समाधि साथ-साथ]	जुलेखा उसके शवपर मर गयी	यूसूफ के भाइयों ने यूसूफ को कुँए में डाला । सौदागर उसे मिस्र ले गये यूसूफ ने स्वप्न बताया । मिस्र के बादशाह ने उसे मुक्त किया । मंत्री बनाया फिर बादशाह बनाया । जुलेखा ने छुरी तरबूज से सफाई देनी चाही । मलिक शाह
१४-		सुफलपुर के शाह			

	२९	३०	३१	३२	३३
		ने स्वागत किया नूरजहाँ का विवाह कर दिया			की तपस्या दस्तगीर पीर के वरदान से पुत्र खुरशेद शाह की प्राप्ति।
१५	पक्षी ने सह पाल गुरु को प्रेमा की माँ के वन में रुदन का समाचार दिया।	प्रेमा चन्द्रकला का विवाह।	दोनों सुखपूर्वक		स्वप्न में लक्ष्मी ने रानी के गर्भ से जन्म लेने की बात कही।
१६ -			ढोला–मारवणी सकुशल आ गये		अकाल के कारण पूगल के राजा पिंगल में शरण आये, वहीं ढोला (तीन वर्ष का) मारवणी (डेढ़ वर्ष की) का विवाह होगया।
१७–			१ स्वयंवर में रंभा ने सोम को वरा। २ कल्पलता-रंभा के साथ वैरागर में राज्यभोग ३ एक नाटक देख अंत में सोम ने वैराग्य लिया		१ सिद्ध द्वारा बतायी चंडी उपासना, उस से संतान लाभ २ कामदेव रति की बातें और उनका रंभा तथा सोम में प्रेम कराना।

२९	३०	३१	३२	३३
१८-	सरसी को छिताई मिली			१-देवगिरि के राजा रामदेव का अलाउद्दीन के दरबार में रहना। २-अलाउद्दीन का भेष बदल महलों में जाना और गुलेल के समय एक दूती द्वारा पहिचाने जाना, फटकारे जाना। ३-सरसी के वीणावादन ने मिलाने में सहायता की।
१९-सुवा ने सहायता दी				गोपियों का कामदेव तथा रति को शाप। कामदेव माधव के रूप में पुष्पावती के राजपुरोहित के यहाँ। रति

२६	३०	३१	३२	३३
				का पद्मावती नगरी में राजा के यहाँ जन्म। ज्योतिषियों ने बालिका को वेश्या बताया अतः एक टोकरी में बंद कर नदी में बहा दिया। कामसेन राजा के सुपुर्द कर दिया कामावती नगरी की एक वेश्या ने। उज्जैन में एक वेश्या ने विरही माधव का पता लगा कर विक्रम को बताया।
२० -				१-शुकदेव का शाप २-कामदेव माधव ब्राह्मण को हरिणी से गोविन्द्र चन्द्र ने छुड़ाकर

	२९	३०	३१	३२	३३
					अपने मन्त्री को पालनार्थ दिया।
२१-		विक्रम ने दोनों को मिलाया कामसेन मे युद्ध करके			विक्रम ने कंदला माधव की, परीक्षा ली दोनों मृत, वैताल अमृत नाया।
२२-	देवदत्त ने रत्नपुर में मंगल कलश विलास पर छिड़का वह वहाँ का राजा				
२३-	१ हंस ने मार्ग बताया, ऊपर उड़ाकर लेगया २ किरण के कुंवर ने अपने पोषक पिता को मारा। राजा पर फरियाद,वह पुत्र को पहचान गया	१ विवाह द्वारा प्राप्ति २—पुनः बिछुड़ने के बाद प्राप्ति			
२४-		एक वर्ष दोनों साथ।	दोनों घर लौटे		विजय विलास द्वारा

—: ० :—

—६—

कथा-चक्र

यहाँ तक हिन्दी में उपलब्ध कथा-साहित्य का परिचय, उसमें मिलने वाले अभिप्रायों तथा उसके विश्लेषित स्वरूप पर विचार किया गया है। इस अध्ययन से सामान्यतः यह आभास मिलता रहा है कि कितनी ही कहानियाँ अपने मूल रूप में एक दूसरे से बहुत साम्य रखती हैं। यदि इन कहानियों में से साक्षी कथाएँ, अभिप्राय-आवृत्ति, हेतु कथाएँ या भूमिका कथाएँ, या संयोजक-सूत्र कथाएँ निकाल दें तो जो कथा-रूप उपलब्ध होगा, वह ऐसी कितनी ही कहानियों से साम्य रखता प्रतीत होगा। ऐसे साम्य रखने वाली कहानियाँ एक 'चक्र' के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। इस प्रकार हिन्दी का उपरोक्त समस्त कथासाहित्य भी कुछ चक्रों में विभाजित किया जा सकता है। यहाँ उन्हीं चक्रों का निरूपण किया जाता है।

चक्र नाम	रूप	चक्र में आने वाली कहानियाँ
पहला—ढोला-मारू चक्र		
	१—नायक-नायिका अबोधावस्था में संबंधित, किन्तु फिर दूर हो गये। नायक नायिका को भूल गया	
	२—यौवन प्राप्ति पर नायक	

	का अन्य से संबंध। यह स्त्री नायिका के संदेश नायक तक नहीं पहुँचने देती। ३—युक्ति से नायिका का संदेश नायक को मिला। नायक का पूर्व प्रेम उभरा, वह अन्य स्त्री की बाधाओं को तथा अन्य बाधाओं को दूर कर नायिका से मिला। ४—नायिका को लेकर मार्ग की बाधाएँ दूर करते हुए नायक घर आया :	
दूसरा—चंदन-मलयागिरि चक्र	१—विवाहित दंपत्त और उनके दो बालक २-दुर्भाग्य से चारों का विछोह। ३-पुरुष आकस्मिक रूप से राजा बना। ४—स्त्री एक सेठ के चंगुल में फँसी। सेठ के वश में न आने पर वह वेश्या के यहाँ या अपने पति राजा के यहाँ—पर दोनों अभी एक दूसरे को पहचानते नहीं ५—दोनों लड़कों का भी भटकते भटकते राजा के यहाँ नौकर होना। ६—दोनों का निजी कहानी कहना--जिससे माँ द्वारा पहचाने जाना—तब राजा	१—चंदन मलयागिरि २—नल-दमयन्ती

	ने भी पहचाना और सभी मिले।	
तीसरा-उषा-कथा चक्र	१—नायिका अपने अभिभावक से छिप कर नायक से मिलती है। दोनों का प्रेम। २-इस गुप्त प्रेम का अभिभावक को पता चला। नायक और उसके पक्ष वालों से अभिभावक का युद्ध। ३—अभिभावक की पराजय या मृत्यु और नायिका नायक के साथ आयी।	१—उषा-चरित्र
चौथा—प्रद्युम्न-चक्र	१—सौतिया डाह, इनमें से एक का पुत्र लुप्त। (दैत्य, दानव या देव द्वारा) २—लुप्त पुत्र का अन्य या अन्यों द्वारा पालन। ३—उसके द्वारा अनेकों जीवट के कार्य संपन्न—तथा अनेकों मृत्यु-प्रपंचों से बचा। ४-उसने आकर अपनी विमाता को छकाया, और अपनी मा को सुखी किया।	१—प्रद्युम्न चरित्र २—सीता-चरित्र
पाँचवाँ—माधवानल चक्र	१. अत्यन्त सुन्दर नायक। सुन्दरता के कारण (अनेकों राज्यों से) निष्कासित। २. विशेष कौशल से नायिका	१. माधवानल कामकंदला

	से साक्षात्कार और दोनों का प्रेम। ३. दोनों के मिलन में नायिका के पक्ष के राजा द्वारा बाधा। ४. नायक का अन्य राजा की सहायता से नायिका को प्राप्त करना।	
छठा—रुक्मिणी-चक्र—	१. नायिका स्वप्न-चित्र-श्रवण से नायक में अनुरक्त। २. अभिभावक द्वारा उसका अन्य से संबंध का प्रयत्न। नायिका ने नायक को संदेश भेजा। ३. नायक का उक्त संबंध में बँधने से किंचित पूर्व ही नायिका का अपहरण।	१. रुक्मिणी हरण २. पृथ्वीराज-संयोगिता
सातवाँ—मृगावती-चक्र	१. नायिका दिन में पशु-रूप, रात में स्त्री। २. विशेष टोटके से नायक ने नायिका को वश में किया। दोनों साथ। ३. टोटके के भंग होने से नायिका नायक को त्याग गयी। ४. नायक के भीषण प्रयत्न से नायिका की पुनः प्राप्ति	१. मृगावती (कुतुवन) २. दंगवै-चरित्र
आठवाँ—विक्रम-(पर-दुख भंजनहार) चक्र (यात्रा-तत्व-प्रधान)	१. नायक घर से निष्कासित २, चलते चलते अनेकों अपने तथा दूसरों के संकटों को काटते चलना,	१. श्रीपाल-चरित्र २. विक्रम-चरित्र

	विशेषतः परोपकारार्थ (कई कहानियों का इस विधि से समावेश)। ३. अन्त में विशिष्ट घटना से प्रत्यावर्तन और पुनः अपने राज्य में या घर में।	
नवाँ—पंचाख्यान चक्र	१. एक कथा-सूत्र प्रमुख २. उसमें कितने ही सूत्र उदाहरणार्थ प्रस्फुटित, ये तत्व मूल कथा सूत्र के पात्रों में से किसी के वर्जन या प्रेरणा के लिए प्रस्तुत किये गये।	१. पंचाख्यान २. मधु मालती (चतुर्भुज)
दसवाँ–सत-परीक्षा चक्र	१. सत-व्रती पात्र २. सत से डिगाने के यत्न विफल ३. सत से सुख और आनंद	१. मैनासत २. सत्य हरिश्चन्द्र ३. कनक मंजरी
ग्यारहवाँ-सत-चमत्कार	१. सत-व्रती पात्र २. व्रत के अभीष्ट के नाश या हरण से सत को उत्तेजना ३. सत के चमत्कार या प्रभाव से अभीष्ट प्राप्ति की बाधा में बाधा-या सत-शक्ति और बाधक अन्य शक्ति की टक्कर ४. सत की विजय-अभीष्ट प्राप्ति की बाधा का शमन या अभीष्ट का प्रत्यावर्तन	१. सत्यवती कथा २. सावित्री-सत्यवान
बारहवाँ-धनुष-यज्ञ चक्र	१. नायिका को प्राप्त करने के लिए कुछ निर्दिष्ट जीवट या जोखिम के	१. लखमसेन पद्मावती २. अर्जुन-द्रौपदी

	के कृत्यों (Tasks) का सफल संपादन २. नायिका की प्राप्ति	
तेरहवाँ—दो मित्र चक्र	१. नायक का स्वप्न, चित्र, मूर्ति दर्शन या श्रवण से नायिका से प्रेम । २. उसे प्राप्त करने के प्रयत्न एक माध्यम (शुक, हंस दूत या मित्र) द्वारा सहायता । ३. मार्ग के संकट पार कर नायिका से मिलन । ४. नायिका को प्राप्त करने में आयी अन्य बाधाएँ पार कर नायिका की प्राप्ति ५. नायिका के साथ प्रत्यावर्तन के समय मार्ग में पुनः संकट नायिका और नायक विछोह ६. दैव कृपा या अन्य कृपा या आकस्मिक रूप से नायक और नायिका का पुर्नमिलन	१. पद्मावत २. प्रेमपयोनिधि ३. चित्रमुकुट कथा ४. नल दमयन्ती
तेरहवाँ (अ)	इस चक्र में १ नायिका नायक से वियुक्त २ नायिका किसी माध्यम (हंस, गरुड़) से पति को मँगवाती है । ३ पति की प्राप्ति	
चौदहवाँ—राजा चंद चक्र या मधुमालती चक्र	१. दैवी, जादुई या आकस्मिक तत्व द्वारा नायक का नायिका से (केवल	१. राजा चंद की बात २. चित्रावली ३. मधुमालती (मंझन)

	एक रात्रि मात्र का) मिलन २. नायक अंचल पर लिख-कर, या अपना चित्र बनाकर या अन्य चिह्न छोड़कर या क्षणिक साक्षात्कार के वाद नायिका से उसके अजाने ही वियुक्त ३. नायिका का नायक से प्रेम, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न या साधना ४. दोनों का वियोग करने वाली वाधाओं का हट जाने पर पुर्नमिलन	
पन्द्रहवाँ—भक्त-कथा चक्र	१. भगवान का भक्त २. उसे मारने के और छकाने के अनेकों प्रयत्न। ३. सभी प्रयत्न विफल; भगवान के द्वारा या भक्ति के प्रताप के द्वारा। ४. भक्त की मान्यता या उसे हरि-दर्शन	१. प्रह्लाद-चरित्र २. कबीर परचई ३. प्रद्युम्न-चरित्र
सोलहवाँ—सुषुप्त सौंदर्य चक्र	१. एक सुन्दरी किसी अमानवीय व्यक्ति के आधीन, उसे दिन में बाहर जाते समय मृतवत रखता या सुषुप्त रखता, और रात में आने पर उसे जीवित या जागृत कर देता	

	२. नायक ने सुषुप्त या मृतवत् सुन्दरी को देखा और प्रेमाभिभूत । उसने विधि जानकर उसे अकेले में जीवित किया ।	
	३. अमानवीय व्यक्ति के मारने का रहस्य सुन्दरी के द्वारा जानकर उसे मार डाला और ।	
	४. सुन्दरी को प्राप्त किया ।	
सत्रहवां—गणेश-कथा	१. माँ के मैल से पुतला बनाया उसमें प्राण-प्रतिष्ठा	
	२. माँ की आज्ञा से वह द्वार-रक्षक । पिता को माँ के पास जाने से रोकता है ।	
	३. पिता से युद्ध, पिता उसका सिर काट लेते हैं ।	
	४. माँ के कहने पर हाथी का सिर स्थापित कर जीवित करना ।	
अठारहवाँ—पवन-अंजना चक्र	१. किसी बात से रुष्ट हो पति द्वारा पत्नी का त्याग	१. हनूमान चरित्र २. शकुन्तला दुष्यन्त
	२. किसी अन्य वियोगी को देखकर पति का पत्नी से मिलने आना; अकेले गुप्त रूप से पत्नी से मिलना और चिह्न देकर चले जाना ।	
	३. पत्नी को पतित जान सास-ससुर द्वारा त्याग ।	
	४. पुत्र होने पर किसी	

	(रिश्तेदार के) आश्रय मिला । ५. पुत्र असामान्य गुणों से युक्त ६. अन्त में पति द्वारा खोज और मिलन	
उन्नीसवां–श्रुति पंचमी चक्र	१. दो सौतेले भाई । जहाज से व्यापारार्थ यात्रा २. नायक को सौतेले भाई ने जंगल में छोड़ जहाज चला दिया । ३. नायक भटकता एक ऐसी जगह पहुँचा, जहाँ एक सुन्दरी से उसका विवाह । ४. नायक और सुन्दरी घर की ओर तभी (सौतेले भाई का) जहाज लौटा । दोनों को जहाज पर ले लिया । सौतेला भाई सुन्दरी पर मोहित ५. मार्ग में फिर नायक को छोड़ दिया या समुद्र में गिरा दिया । ६. कठिनाइयाँ झेलता हुआ तथा कुछ सिद्धियाँ पाकर नायक जहाँ पत्नी हैं, वहाँ पहुँचकर युक्ति-प्रयत्न से अपनी पत्नी को प्राप्त करता है ।	१. सुरति पंचमी कथा २. श्रीपाल चरित्र ३. प्रिय मेलक तीर्थकथा
बीसवां–श्रीपाल-मैना सुन्दरी चक्र	१. पिता ने छोटी पुत्री के व्यवहार से असंतुष्ट होकर उसका विवाह	

	एक दरिद्र कुष्टी से कर दिया ।	
	२. पुत्री ने जिन पूजा से या सत से या अन्य कृपा से पति को स्वस्थ कर लिया ।	
	३. स्वस्थ होकर पति का समृद्धिवान होना, शक्ति वान होना ।	
	४. पुत्री ने दुर्दशाग्रस्त पिता को अपने यहाँ बुलाया, और अपने उस कथन की सत्यता दिखायी जिसके कारण रुष्ट हो पिता ने उसे लुंज-पुंज को दे दे दिया था ।	
इक्कीसवाँ--सदयवत्स सावलिंगा चक्र	१. नायक तथा नायिका एक शाला में परदे से पृथक पृथक हो पढ़ते ।	१. प्रेमलता प्रेमविलास
	२ पर्दे के वर्जन को तोड़ दोनों ने एक दूसरे को देखा और परस्पर प्रेम ।	२. मधुमालती (चतुर्भुज)
	३. पहले कुछ बाधाएँ। दैवी कृपा वा दैवी शक्तियों से बाधाएँ दूर ।	
	४. दोनों का विवाह ।	
बाईसवाँ—छिताई-चक्र	१. चित्र, स्वप्न या वर्णन से किसी पूर्व विवाहिता नायिका के रूप पर प्रति-नायक मुग्ध ।	१. छिताई चरित्र
		२. मृगावती (समय सुन्दर)
		३. छीता
	२. नायिका को प्राप्त करने के लिए नायक के पिता या पति पर आक्रमण । नायिका की प्राप्ति या	

नायक बन्द ।
३. कौशल से नायिका की मुक्ति या नायक की मुक्ति या नायक को नायिका पुनः प्राप्त ।

तेईसवाँ—सीता-हरण
४. प्रतिनायक या दानव नायक की स्त्री का हरण करता है ।
२. प्रतिनायक का नाश ।
३. नायक-नायिका मिलन ।

चौबीसवाँ—तप-चक्र
१. तपस्या या बलिदान से देव या सिद्ध को प्रसन्न करके पुत्र प्राप्त ।
२. पुत्र के विलक्षण कार्य ।

पच्चीसवाँ—दानव-आश्रय चक्र
१. एक दानव के वश में कुमारी ।
२. दानव ने वर ढूँढ़ा और विवाह कर दिया ।

छब्बीसवाँ—पति-तप
१. वियुक्त पति के लिए तपस्या ।
२. कुछ विलक्षण घटनाओं का संघटन और
३. पति-प्राप्ति ।

सत्ताईसवाँ—दिव्यादिव्य
१. मानव का अभिशप्त यक्षिणी से प्रेम ।
२. मंत्रवश वचनबद्ध हो यक्षिणी मानव के प्रेमाधीन—विवाहित ।
३. यक्ष माता-पिता द्वारा विरोध और बाधा—
अ—मानवपति को सर्प बन डसा । (अवधूत ने पुनः जीवित किया ।)

आ-यक्ष अपनी पुत्री को हर
ले गया (दूसरे यक्ष
यक्षिणी की सहायता से
वियोगियों का मिलाप)
३–अन्त में यक्षिणी के पिता
का आक्रमण, युद्ध-मृत्यु ।
४. दोनों की विरह बाधाएँ
हटीं, दोनों का मिलन ।
५. विरह काल में नायक से
एक मानवी का प्रेम ।
उसका भी अन्त में
मिलन ।

ये सामान्य कथा-चक्र हैं । इन कथा-चक्रों में कहानियों के कथा-मानक रूपों के आधार पर ही उनका उल्लेख किया गया है । इन कथा-चक्रों में एक बात तो यह ध्यान आकर्षित करती है कि आठवाँ तथा नवाँ चक्र शैली गत हैं, शेष चक्र वस्तुगत हैं ।

कुछ कहानियाँ जटिल हैं उन्हें कई सामान्य कहानियों में विभाजित किया जा सकता है । सामान्य कथा-रूपों में विभक्त हो जाने पर ही उन्हें इन चक्रों में सम्मिलित किया जा सकता है । ऐसी एक कहानी 'श्रीपाल चरित्र' की है ।

इसकी २० वें चक की प्रधान कथा तो श्रीमती वर्न के 'लीअर चक्र' की है; जिसमें राजा अपनी सबसे छोटी पुत्री से असंतुष्ट होकर किसी दरिद्र को दे देता हैं । किन्तु वह अपने कर्म से सुखी और समृद्ध हो जाती है । किन्तु इस कहानी में श्री पाल कोढ़ी है, लुंज-पुंज । पुत्री श्रीपाल से विवाह करके 'सतवंती' हो जाती है, अत. कथा का एक अंश ग्यारहवें चक्र के अनुकूल हो जाता है, जिसमें सत के प्रताप से जिन भगवान की कृपा से और सुश्रूषा से श्रीपाल रोग से मुक्त हो जाता है ।

श्रीपाल जब स्वस्थ हो जाता है तो वह पराक्रमार्थ निकल पड़ता है, अब यह कथा आठवें **विक्रम-कथा-चक्र** का रूप ग्रहण कर लेती है : उसे परोपकारार्थ कई पराक्रम करने पड़ते हैं । जैसे—

(१) विद्याधर को मंत्र-सिद्धि में सहायता देता है ।
(२) अपने स्पर्श से अटके जहाज को चला देता है ।
(३) सेठ की चोरों से रक्षा करता है ।
(४) चोरों की मृत्यु से रक्षा करता है ।

(५) एक चैत्यालय का द्वार अपने हाथों से खोल देता है।

यहाँ से यह कहानी उन्नीसवें कथा-चक्र की हो जाती है। चैत्यालय के हाथ से खोल देने से वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री का विवाह श्रीपाल से कर दिया। अब जहाज पर पत्नी सहित चला तो सेठ ने उसे समुद्र में गिरा दिया। जब यह कथा-चक्र समाप्त होता है, तभी यह कथा बारहवें चक्र का आश्रय ग्रहण करती है। मह चक्र वर्न के ३२ वें टाइप से संबंधित है,जिसे उसने 'ब्राइड वेजर टाइप' नाम दिया है। इसमें पहेलियों का उत्तर देकर, या अन्य जीवट के कार्य करके, या दानव को मार कर, या स्त्री को हँसाकर, या किसी रहस्य का पता लगा कर नायक को पत्नी या नायिका को पति प्राप्त होता है। श्रीपाल आठ पहेलियों का उत्तर देकर १६०० राजकुमारियों से विवाह करता है। तब इसके बाद श्रीपाल घर लौटता है और कहानी मूल कथा-चक्र में जुड़ जाती है।

अतः इसमें चार कथा-चक्र हैं, जिनमें आठवाँ प्रधान है, शेष उसके अन्त-र्भुक्त हैं।

सीता-चरित्र में ये कथा-चक्र हैं—

१—आरंभिक कथा चक्र तो अठारहवें के समान है, हाँ, उसके दूसरे तत्व को इसमें स्थान नहीं।

२—तब अन्तर्कथा के रूप में 'राम कथा' आती है। इस रामकथा में भामंडल वृत्त चौथे 'प्रद्युम्न-चक्र' का रूप ग्रहण करता है।

३—राम-विवाह बारहवें चक्र के अन्तर्गत है।

४—राम के बनवास का वृत्त इस कथा को आठवें चक्र की विक्रम-कथाओं में सम्मिलित कर देता है, जिसमें कई छोटे-छोटे कथांश सम्मिलित होते जाते हैं।

५—फिर सीता-हरण और रावणवध की कथा श्रीमती बर्न के 'गुदरून रूप' (Gudrun Type) की हो जाती है, जिसे हमने तेईसवाँ चक्र माना है

६—इसके बाद अन्तर्कथा समाप्त हो जाती है, और कथा-सूत्र पुनः प्रद्युम्न-चक्र से जा जुड़ता है जिसमें 'पुत्र और पिता' में युद्ध होता है।

७—सबसे अन्त का चक्र 'सत-परीक्षा' और उसके चमत्कार से संबंधित है। इस प्रकार सात विभिन्न-चक्रों को 'अभिप्राय' के रूप में जोड़कर यह कथा प्रस्तुत की गयी है।

दुखहरन की 'पुहपावती' का आरम्भिक अंश भूमिका-कथा के रूप में है। इसमें ये तत्व हैं—

१—धार्मिक राजा के सन्तानाभाव या सिद्धि की कामना
२—भवानी की बारह वर्ष उपासना, फिर भवानी को सिर भेंट
३—भवानी के कहने से शिव ने अमृत दे राजा को जीवित किया और
४—पुत्र या सिद्धि का वरदान दिया। यह हमारा **चौबीसवां चक्र** है।

यह **कथा-चक्र** भूमिका का ही **चक्र** है और एकानेक लोक-कथाओं तथा अन्य कथाओं में मिलता है।

तब यह कथा **'आठवें'** विक्रम-चक्र में सम्मिलित हो जाती है। कुमार घर छोड़कर चल पड़ता है—किन्तु यह पराक्रम की कथा **बारहवें चक्र** का भी रूप साथ ही ग्रहण करलेती है। 'राम-चरित्र' के 'धनुष-यज्ञ' की तरह (१) वाटिका में सीता ने राम को, राम ने सीता को देखा, वैसे ही कुमार ने पुहुपावती को और पुहुपावती ने कुमार को देखा। (२) तब जैसे राम ने 'धनुष-तोड़ा', निर्दिष्ट जीवट का कार्य करके सीता प्राप्त की, उसी प्रकार कुमार ने राजा के आधे राज्य देने की घोषणा पर भयानक सिंह को मारा और आधा राज्य प्राप्त किया। परोपकार और स्वार्थ पराक्रम इसमें मिल गये हैं। किन्तु अभी पुहुपावती की प्राप्ति नहीं हो पायी कि सिंहनी का पीछा करते कुमार भटक गया—यहाँ यह कहानी **चौदहवें चक्र** में किंचित संशोधन-से प्रवेश कर गयी है। कुमार और पुहुपावती का साक्षात्कार अच्छी तरह हुआ है, फिर भी उसे बहुत अल्प माना जा सकता है। अब इस कथा ने कुछ-कुछ **पहले कथा-चक्र** का रूप ग्रहण किया। पुहुपावती की दूती ने चारणों की तरह गान या वीणा से मुग्ध करके कुमार को आकर्षित किया। और पुहुपावती का स्मरण कराया। पर यहाँ मालवणी जैसी कोई विरोधिनी नहीं।

तब यह कथा **पच्चीसवें चक्र** में प्रवेश करती है। लोक-कथा के 'बेजान-नगर' जैसे 'बेगम नगर' में दानव ने समस्त नगर तो उजाड़ दिया, पर रँगीली नाम की राजकुमारी के सौन्दर्य के कारण उसका अभिभावक बन गया। उसने कुमार से उसका विवाह कर दिया। अब कथा-चक्र विवाहित पद्मावती के साथ लौटते रत्नसेन के समकक्ष होगया है जिससे यह **तेरहवें** कथा-चक्र के चौथे और पाँचवें तत्वों से युक्त हो उठा है। नौका इसमें डूबी है और नायक पटरे के सहारे बचा है।

इसकी पत्नी 'रंगीली' के सूत्र ने यहाँ से **सत्ताइसवें** कथा-चक्र को पकड़ा है, प्रियमेलक तीर्थ की भाँति यहाँ जंगल का चतुर्भुज भगवान का मन्दिर है।

रँगीली के सूत्र में गरुड़ के माध्यम से पति का रँगीली के पास पहुँचना, तेरहवें (अ) चक्र से संबंधित है।

प्रथम पत्नी रूपवती के मैना सन्देश ने पुनः कुछ ढोला-मारू के कथाचक्र का रूप ग्रहण किया है। मैना इस कथा में कुमार को रूपवती का स्मरण दिला देती है।

अन्त का कथांश योगी को पुहुपावती का दान भक्त-कथा के चक्र से संलग्न हो जाता है और कथा-समाप्त हो जाती है।

दुखहरन का कौशल इन कथा-नियोजनों में निश्चय ही दृष्टव्य है। इन्होंने इतने कथा-चक्रों को ग्रहण किया, किन्तु सभी को संशोधित करके ग्रहण किया। पूर्ण और शुद्ध कथांश किसी भी चक्र का नहीं लिया।

शशिमाला कथा[1] के भूमिका भाग में अभिशप्त यक्षिणी से मानव के प्रेम का उल्लेख है, जो पुरुरवा-उर्वशी की कथा की कोटि का है। पर 'चतुर्भुज' की 'मधुमालती' की भूमि पर विशेष है। मधुमालती में 'मधु' भिन्न जाति का और प्रेमिका मालती भिन्न जाति की है। प्रेम-याचना में विपर्यय है। मधु-मालती में मधु से मालती याचना करती है, और जाति भिन्नता के और पद-भिन्नता के आधार पर मधु विवाह के लिए तत्पर नहीं। जैतमाल के मंत्र-प्रयोग से मधु वश में होता है। शशिमाला कथा में कुमार दिनमणि रूप-लुब्ध हो यक्षिणी शशिमाला से प्रेम याचना करता है, और यक्षिणी तथा सखियाँ समझाती हैं कि यह असंभव है, कहाँ यक्षिणी कहाँ मनुष्य ! दिनमणि ही मंत्र-प्रयोग से शशिमाला को श्लेष-वचन से बद्ध कर लेता है। यह सत्ताइसवाँ चक्र बनता है, यों बर्न का यह दूसरा चक्र जैसा है, जिसका नाम "मैलूसिना टाइप' रखा है। इस चक्र का पहला अंश तो ज्यों का त्यों है। दूसरे अंश का पूर्व भाग है, पर शर्त नहीं। वैसे कथा में शर्त-रूप में अभिशाप की अवधि इसमें है। जितने वर्ष अभिशापवश यक्षिणी मर्त्यलोक में है उतने वर्ष तो वह साथ रहती ही है। मैलूसिना में 'शर्त' पुरुष द्वारा टूटती है, और वह सुन्दरी लुप्त हो जाती है। यहाँ अवधि पूर्ण होने पर उसके पिता यक्षिणी को पुरुष से विलग कर देते हैं। शर्त यों नहीं है, पर परिणाम वियोग ही होता है।

चौथा अंश भी पहले आधे तक ठीक है। पुरुष उसकी खोज में निकलता है। पर अंतिम दुखान्त बनाने वाला अंश नहीं है। शशिमाला में वियोग में विकल नायक शशिमाला को खोजता हुआ, किसी संकेत से हिमालय में जाकर तपस्या करने लगता है और अन्त में शशिमाला उसे मिल जाती है।

१—शशिमाला कथा दयाल या प्रभुदयाल कवि की कृति है और संवत् १६५८ में लिखी गयी। अन्तिम पुष्पिका में उल्लेख है कि "सोरह से सम्वत् बिते अठावन ऊपर ताहि। बिच सावित के अंत महुँ कीन्ही कथा निबाहि।"

चतुर्भुजदास की मधुमालती से आरंभिक अंश के उक्त भेद के बाद फिर दोनों कहानियों में साम्य उपस्थित हो जाता है।

१—दोनों में दोनों का गन्धर्व विवाह हो जाता है।

२—दोनों में इस सम्बन्ध से नायिका के पिता रुष्ट होते हैं और बाधा डालते हैं।

४—युद्ध होता है जिसमें नायिका के पिता हार जाते हैं।

इसके उपरान्त किंचित वैषम्य से एक साम्य और मिलता है : वैषम्य है कि शशिमाला में पिता युद्ध में मारा जाता है। मधुमालती में हार जाता है, और अन्त में दोनों का सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है—यहीं साम्य है कि पिता की बाधा हट जाने पर—

५—दोनों मिल जाते हैं।

वैषम्य कुछ और भी हैं— शशिमाला कथा में

१–बाधाओं में नायिका की माँ सर्पिणी बन कर कुमार को डस लेती है। यह एक अभिप्राय इसमें और बढ़ा है

२–दीर्घ विरह भी शशिमाला में है। नायक और नायिका दोनों को भयानक विरह होता है। मधुमालती में विवाहोपरांत विरह को स्थान नहीं मिला।

३–शशिमाला में 'मालती' का प्रसंग और है। विरही नायक जब नायिका की तलाश में योगी बना घूमता है तब मालती नाम की स्त्री उस पर मोहित हो उसे अपना पति बना लेती है, पर वह मालती से हाथ तक नहीं लगाता, नायिका के विरह में भूला रहता है। मालती को विरहिणी बना नायक उसे छोड़ चल पड़ता है।

४–नायक योगी बना, वस्तुतः नायिका के लिए प्रेम-समाधि लगा लेता है।

बाधाएँ दोनों में ही पिता (माता) द्वारा डाली गयी हैं। इनका निवारण

ग्रमानवीय विलक्षण शक्तियों द्वारा ही हुग्रा है। दोनों की तुलना में इन शक्तियों का रूप यह है :—

मधुमालती	**शशिमाला**
नायक के पास ही निजी शक्तियाँ ग्रौर सिद्धियाँ हैं:—	**ग्रन्य देवी ग्रौर सिद्ध शक्तियाँ इनकी सहायता करती हैं—**
१—उसकी गुलेल ग्रद्भुत संहार करने वाली है।	१—ग्रवधूत सिद्ध भभूत से सर्प-विष उतार देता है।
२—वह ग्रपनी शक्ति से बन का विस्तार करता है ग्रौर भ्रमर-सेना को नायिका के पिता की सेना के विरुद्ध भेजता है।	२—नील यक्ष की यक्ष-सेना नायिका के पिता की सेना से युद्ध करती है, ग्रौर उसे मार डालती है।

मालती के प्रसंग में ही बारहमासा ग्राया है, ग्रौर वह बारहमासा संदेश भेजने के रूप में ही ग्राया है, इससे यह सन्देशरासक की परम्परा को प्रस्तुत करता है।

हिन्दी की समस्त प्रमुख कथा-सामग्री उपरोक्त प्रमुख चक्रों में विभाजित की जा सकती है। कुछ ग्रौर भी चक्र हो सकते हैं, पर वे गौण हैं। उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया। किन्तु एक **मृगावती** का विशेष उल्लेख ग्रपेक्षित है। यह समयसुन्दर की कृति मृगावती है।

समयसुन्दर की **मृगावती** कुतबन की मृगावती से बिलकुल भिन्न है। इसके दो भाग ग्रत्यन्त स्पष्ट हैं। प्रथम भाग उदयन के जन्म से संबंधित है, ग्रौर दोहद के ग्रभिप्राय का इसमें विचित्र उपयोग किया गया है। यह अंश 'कथा सरित्सागर' में है। एक ग्रन्तर तो नाम का होगया है। समयसुन्दर ने सतानीक की पत्नी का नाम मृगावती बताया है, कथा सरित्सागर में यह सतानीक का पुत्र सहस्रानीक है। पहली कथा वस्तुतः प्रेम-कथा नहीं। मृगावती गर्भवती है, दोहद में उसका मन रक्त में स्नान करना चाहता है। सतानीक ने एक ताल बनवा कर लाक्षारस से उसे परिपूर्ण करा दिया। मृगावती उसमें स्नान कर निकली तो गरुड़ उसे माँस-पिंड समझ कर उड़ा ले गया। ग्रौर एक जंगल में छोड़ गया। एक ऋषि के ग्राश्रम में उदयन का जन्म हुग्रा। उदयन ने एक भील व्याध से एक पशु की रक्षा की। बदले में उसे एक ग्राभूषण दे दिया। वह ग्राभूषण सतानीक के पास पहुँचा। भील से वृत्तान्त विदित हुग्रा—ग्रौर राजा जाकर मृगावती ग्रौर ऋषि को ले ग्राये। यों चक्र की दृष्टि से देखा जाय तो इसका चक्र 'दुष्यन्त-शकुन्तला-भरत' का ही चक्र है।

१—शकुन्तला या मृगावती दोनों को उड़ा

ले जाकर ही पति के देश से अन्यत्र दूर पहुँचाया गया है ।

२—उस दूर देश में ही भरत या उदयन का जन्म हुआ ।

३—बहुत समय पश्चात् दुष्यन्त या सतानीक वहाँ जाकर पत्नी और पुत्र को लेकर आते हैं ।

४—दोनों कथाओं में पुत्र का आभूषण किसी न किसी रूप में एक माध्यम का काम देता है

यह श्रीमती वर्न के गुड्रून टाइप से मिलती है । इस कथा के इस अंश में प्रेम-कथा का कोई विशेष तत्व नहीं । इससे पूर्व प्रेमकथा हो सकती है । यह शकुन्तला-कथा में हैं । इसके बाद भी हो सकती है । वह इस मृगावती में है ।

मृगावती का दूसरा कथा-रूप उत्तरार्द्ध 'पद्मावत-कथा-चक्र' के अन्तर्गत रखा जा सकता है । इसके रूप को यों प्रस्तुत किया जा सकता हैं :

		पद्मावत	**मृगावती**
अट्ठाइसवाँ कथा-चक्र—	१—एक राजा के यहाँ एक गुणी पुरुष आया ।	राघव चेतन	चित्रकार
[पद्मावत, मृगावती (समयसुन्दर), छिताई वार्ता]	२—उसके गुण के कारण ही उसे अपमानित होना पड़ा, जिससे वह राजा से रुष्ट होगया ।	यक्षिणीसिद्धि से मिथ्या दूज दिखादी	मृगावती के चित्र में जाँघ पर तिल दिखाया ।
	३—वह एक अन्य राजा के यहाँ गया और पहले राजा की पत्नी के सौन्दर्य पर (चित्र या वर्णन द्वारा) उसे मोहित किया ।	अलाउद्दीन के यहाँ	चंडप्रद्योतन के यहाँ
	४—वह राजा उसे प्राप्त करने के लिए उस पर चढ़ पहुँचा है।	अलाउद्दीन ने दूत भेजकर पद्मावती माँगी,	चंडप्रद्योतन ने भी पहले दूत भेजा फिर न चढ़ाई की ।

	मिलने पर चित्तौड़ पर चढ़ाई ।	
५ – पर वह सुन्दरी उसे प्राप्त नहीं हुई ।		
	अलाउद्दीन को सुंदरी प्राप्त नहीं हो सकी	चंद्र प्रद्योतक को भी सुन्दरी प्राप्त नहीं हो सकी

'मृगावती' को धार्मिक रूप देने के लिए समयसुन्दर ने इस कथा को एक और मोड़ दिया है । इस मोड़ में ये अभिप्राय हैं:—

१—चंडप्रद्योतन के घेरे से परेशान शतानीक अतिसार-ग्रस्त होगये और मर गये ।

२—मृगावती ने चंडप्रद्योतन को संदेश भेजा कि अब मैं आपकी होना चाहती हूँ किन्तु पुत्र उदयन की सुरक्षा के लिए उसका किला ऐसा दृढ़ बनवा देना चाहती हूं कि मेरे पीछे उसे शत्रु-भय न रहे । इसके लिए आप उज्जैनी से चिकनी ईंटें मँगवा दीजिये ।

३—चंडप्रद्योतन इस प्रस्ताव से फूल गये और उज्जैन से ईंटें मँगवा दी, जिससे किला अभेद्य बन गया ।

४—चंडप्रद्योतन ने दूती भेजी कि अब मृगावती को उसके पास आजाना चाहिये, मृगावती ने उत्तर दिया कि पर-स्त्री को चाहना यह राजा को अशोभनीय है ।

५—वह जैन धर्म में दीक्षित हो साध्वी बन गयी ।

कथा-चक्र की दृष्टि से जायसी की 'पद्मावत' भी जटिल है । उसका पूर्वार्द्ध तो तेरहवें चक्र से संबंधित है । जबकि उत्तरार्द्ध अट्ठाइसवें चक्र में है । किन्तु इसी उत्तरार्द्ध का एक सूत्र है जो पद्मावती से संबंधित है, इसका चक्र-रूप यह बनता है—

१—सुन्दरी पति से वियुक्त ।

२—उसकी इस असहायावस्था में उस पर एक

अन्य राजा (या कई व्यक्ति) उस पर डोरे डालने लगे। इसके लिए दूती भेजी (या स्वयं पहुँचा।पहुँचे)

३—सुन्दरी ने सत की रक्षा की, दूती की बातों में नहीं आयी (या पुरुषों से छल पूर्वक अपने सत की रक्षा की)

४—इस प्रकार का प्रयत्न करने वाली दूती (या पुरुषों) की दुर्दशा और घोर अपमान।

५—पति मिले।

स्पष्ट है कि यह **दसवें चक्र** का ही एक रूप है, और यह साधन के मैना-सन के ही समकक्ष नहीं, कथा-सरित्सागर की उपकोशा भी इसी चक्र में बैठेगी। बर्न का चौथा रूप जिसे उन्होंने **पेनीलोप टाइप** नाम दिया, इसी चक्र के समतुल्य है। इसके चरण ये हैं :—

१—आदमी यात्रा पर जाता है, पत्नी घर पर रहती है।

२—वह पातिव्रत्य के साथ उसकी बाट जोहती है।

३—वह लौट कर उसे मिल जाता है।

पद्मावती के कुछ अभिप्रायों को देखा जाय तो वे अन्य कथा-चक्रों से लिये गये विदित होते हैं। इनमें एक अभिप्राय असंभवातिशयोक्ति के कारण विशेष ध्यान आकर्षित करता है। वह है : **एक राजपक्षी राक्षस को उड़ा ले गया।** डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस पर यह टिप्पणी दी है :

> "राज पंखि = गरुड़ या सीमुर्ग जैसा कोई विशालकाय पक्षी जिसके विषय में नाविकों की यह धारणा थी कि यह बड़े-बड़े जहाजों को पंजों में दबोचकर ले जाता है। महाभारत आदिपर्व में ही हमें यह अभिप्राय मिलता है जिसमें गरुड़ जी आपस में लड़ते हुए हाथी और कछुए को पंजों में उठा ले जाते हैं और उनका जलपान कर डालते हैं। मध्यकालीन नाविकों में इस की अनेक कहानियाँ प्रचलित थीं। जायसी ने यहाँ दैत्य, भँवर और राजपंखि इन तीन अभिप्रायों का उल्लेख किया है। चित्रावली में भी राजपक्षी का उल्लेख है (ततखन राजपंछि एक आवा। परबत डोला डैन डोलावा। ३११।२) (पद्मावत : मूल और संजीवनी व्याख्या पृ० ४०२)"

चित्रावली में सुजान को हाथी ने पकड़ा और उस हाथी को पक्षिराज ले उड़ा। यह पक्षिराज मृगावती (समयसुन्दर) में मृगावती को ले उड़ा है (कथा-सरित्सागर में भी इसका उल्लेख है)।

ऐसे राजपक्षी का उल्लेख और उसका हाथी या राक्षस को उड़ा ले जाना यह अद्भुत व्यापार जैन धूर्त्ताख्यान की प्रेरणा से लिया गया भी माना जा सकता है। अतः 'धूर्त्ताख्यान' कथा-चक्र के अन्तर्गत रखा माना जा सकता है।

इसी प्रकार पद्मावती से विवाह कर साथ लौटते हुए समुद्र में रत्नसेन और पद्मावती का अलग-अलग बह जाना ऐसा अभिप्राय है जो जैन करकंडु चरित्र के कथा-चक्र से भी सम्बन्धित है। इस करकंडु चरित का रचनाकाल सं० १००८ है।

लखमसेन पद्मावती की कहानी यों तो छोटी है, फिर भी उसमें कई कथा-चक्रों के तन्तु दिखायी पड़ते हैं। इसका मूल कथा-चक्र तो इतना है :

१—विशिष्ट व्यक्ति ने लक्ष्मणसेन को एक कुँए में डाल दिया।

२—कुँए में से रास्ता पा कर लक्ष्मणसेन एक पाताल नगर में पहुँचता है; जहाँ पद्मावती है।

३—स्वयंबर में पद्मावती ने उसे वरण किया, किन्तु विवाह से पूर्व उसे कई शौर्य के कार्य करने पड़े।

४—उन शौर्य के कार्यों से उसका क्षत्रियत्व प्रकट हुआ।

५—तब पद्मावती से विवाह हुआ।

इसका पहला चरण **चौदहवें चक्र** का प्रथम चरण है। दूसरा चरण पद्मावती कथा-चक्र के उस अभिप्राय के समान है, जिसमें रत्नसेन कुंड में प्रवेश करके गढ़ में पहुँचने का मार्ग निकालता है। वह पद्मावती का ही गढ़ है। चौथा अभिप्राय वर्न के ३० वें 'ब्राइड वेजर टाइप' के अनुकूल है। उसका दूसरा चरण तो ठीक इसी के समान है। इसी के अनुकूल पद्मावती में भी है जिसमें रत्नसेन को पद्मावती के पिता से युद्ध करने के उपरान्त ही पद्मावती प्राप्त होती है। लखमसेन पद्मावती में एक अन्य शत्रु से युद्ध करना पड़ता है। युद्ध करने का अभिप्राय: दोनों में है। यह अभिप्राय लखमसेन-पद्मावती में स्वयंवर और विवाह के बीच में आया है, इस रूप में यह रामचरितमानस के राम-सीता के विवाह के वृत्त के अनुकूल है, राम-परशुराम का संघर्ष स्वयंवर तथा विवाह के बीच में आता है, यद्यपि परशुराम वाली घटना 'युद्ध' का रूप नहीं ग्रहण कर पायी।

किन्तु यदि लखमसेन-पद्मा की कहानी में सिंह और युद्ध को आपत्तियों या संकटों का पर्याय मान लें तो इतनी कहानी बर्न के **चौंतीसवें रूप** के अनुरूप हो जाती है जिसका नाम है 'पाताल यात्रा'। इसमें तीन चरण हैं :

१—एक आदमी एक भूमिगर्भित मार्ग से एक अद्भुत प्रदेश में

पहुँचता है। लखमसेन पद्मावती में कुँए में होकर पाताल में पहुँचता

२—वह कई संकटों से बाल-बाल बचता है—लखमसेन पद्मावती में सिंह और युद्ध के संकटों में से बचा है।

३—वह पाताल से एक राजकुमारी को छुड़ा कर लाता है। पद्मावती को विवाह करके लाता है।

लखमसेन पद्मावती की कथा विवाहोपरांत फिर आगे बढ़ती है। इस कथा के दूसरे अंश के ये चरण बनते हैं :—

१–योगी सिद्ध ने सपने में राजा से कहा कि मुझे पानी पिलाओ।

२—राजा पानी पिलाने गया तो योगी ने उससे पद्मावती के गर्भ का बालक माँगा।

३—राजा बालक ले गया और योगी की आज्ञा से उसके चार खंड किये।

४—पहले खंड से धनुषबाण निकले, जो राजा ने ले लिये, दूसरे खंड से खड्ग निकली जो योगी ने ले ली, तीसरे खंड से धोवती निकली, वह राजा ने ले ली। चौथे खंड से सुन्दरी निकली, जिसे सिद्ध ले गया।

५—राजा को वैराग्य हो गया। वह धोती पहन उड़ कर एक समुद्र किनारे पहुँचा।

६—वहाँ एक सेठ पुत्र डूब रहा था, उसे उबारा और सेठ के पहुँचाया।

७—वहाँ के राजा की पुत्री चन्द्रावती लखमसेन पर मुग्ध। दोनों का विवाह हुआ।

८—पद्मावती ने योगी से कहा कि मुझे लखमसेन के दर्शन कराओ। अन्यथा मैं जल मरूँगी।

९—योगी उसे लेकर चन्द्रावती के नगर में पहुँचा। उसने पद्मावती के परामर्श से खड्ग और फरसा सेमर के वृक्ष में रख दिये।

१०—पद्मावती लखमसेन के पास पहुँची और सेमर के वृक्ष से खड़ग ले लेने का संकेत किया।

११—धोवती पहिन लखमसेन सेंबल के वृक्ष पर पहुँचा। पीछे योगी भागा। पर लखमसेन ने खड़ग आदि हथिया लिये।

१२—दोनों में युद्ध, पर सिद्धनाथ मारे नहीं मरता। पद्मावती ने

बताया कि इसके सिर के ऊपर जब तक भौंरे मँडराते रहेंगे ये नहीं मरेगा ।

१३—लखमसेन धोती पहन कर उड़ा और भौंरे को मार डाला, और योगी को मार डाला ।

१४—अब चन्द्रावती और पद्मावती को लेकर गढ़ सामौर (पद्मावती की नगरी) में आया, वहाँ से विदा लेकर अपने नगर में आया ।

इस अंश में भी कई कथा-रूप या चक्र सम्मिलित हैं ।

पहला चक्र 'विश्वामित्र-हरिश्चन्द्र' कथा के भूमिका अंश के रूप में है ।

१—स्वप्न में राजा ने वचन दिया ।

२—उस बचन के पालन में पुत्र मारा गया, पत्नी भी त्यागनी पड़ी ।

३—उसे घरबार राजपाट छोड़ कर चल देना पड़ा ।

५वें तथा ६वें सूत्र मिलकर किंचित **विक्रम-चक्र** का रूप ग्रहण करते हैं। परदुखभंजनहार की तरह लखमसेन सेठपुत्र को डूबने से बचाता है ।

तब आठवें से अन्तिम सूत्र तक इस कथा का चक्र बर्न के **'पंचकिन टाइप'** नाम के छठे कथा-रूप के समान हो जाता है । इसका दूसरा नाम बर्न ने 'प्राण-प्रतीकी कथा-रूप' भी दिया है, लखमसेन में वर्न का दाना (Giant) सिद्ध या योगी होगया है, उसने पद्मावती को हथिया लिया है । लखमसेन या प्रेमी-प्रेमिका की तलाश में नहीं गया, प्रेमिका ही प्रेमी को तलाश करके पहुँचती है । इस अन्तर के अतिरिक्त शेष बर्न के अनुकूल है । प्रेमिका ही दाने या योगी के प्राण-प्रतीक का भेद बताती है । जिसे प्रेमी या पति मार कर योगी को मार डालता है और पद्मावती को प्राप्त कर लेता है ।

लखमसेन पद्मावती की इस कथा को यों तो पूरी कथा कहा जा सकता है, पर कुछ ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनका समाधान इस कथा से नहीं होता । सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि पद्मावती ने १०१ राजाओं को मारनेवाले से विवाह करने की प्रतिज्ञा क्यों की है ? यह प्रतिज्ञा उसने योगी को ही बतायी। लक्ष्मणसेन को स्वयंवर में वरण करने और विवाह करने में इस प्रतिज्ञा का किंचित भी ध्यान नहीं रखा गया । दूसरा प्रश्न यह है कि योगी के रहस्य को पद्मावती कैसे जानती है ? पद्मावती यह कैसे जानती है कि उसके अर्भक के योगी चार टुकड़े करायेगा, चार टुकड़े करने पर धनुषबाण, खड्ग, धोती तथा सुन्दरी निकलेंगी ? पुत्र के चार टुकड़े होजाने पर लक्ष्मणसेन क्यों लौट कर

पद्मावती के पास नहीं गया ? यदि पेट फाड़कर लाने में पद्मावती की मृत्यु हो चुकी थी तो वह बाद में योगी के साथ कैसे दिखायी पड़ी ? क्या वह सुन्दरी ही पद्मावती थी जो चौथे खंड से निकली थी, जिसे लेकर योगी उड़ गया था ? भौंरों में योगी के प्राण हैं, इसे भी पद्मावती ने कैसे जाना ?

जायसी की **चित्ररेखा** में भी दो सूत्र तो स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। एक सूत्र नायक का है। इस सूत्र के चरण ये हैं—

१—ज्योतिषियों ने बताया कि नायक की उम्र कम है।

२—मृत्यु से कुछ पहले नायक काशी पहुँचा, वह तीर्थ में ही मरना चाहता है।

३—मृत्यु के समय से पहले उसने खूब दान-दक्षिणा बाँटी। ऋषियों-ब्राह्मणों में व्यासजी भी। उन्होंने बड़ी उमर का आशीर्वाद दिया।

४—आशीर्वाद से मृत्यु टल गयी।

इस वृत्त में प्रथम चरण वस्तुतः 'सत्यवान' के चक्र में रखा जा सकता है। सत्यवान की उम्र भी कम बतायी है। परिणाम अर्थात् कथा का अन्तिम चरण भी समान ही है। सत्यवान की मृत्यु भी टल गयी, चित्ररेखा के नायक की मृत्यु भी टल गयी। किन्तु सत्यवान की वस्तुतः मृत्यु हो गयी थी, उसे पुनरुज्जीवन प्राप्त हुआ है। यहाँ व्यास जी के आशीर्वाद से मृत्यु आने से पूर्व ही टल गयी है। मृत्यु टालने का जानबूझ कर प्रयत्न सत्यवान कथा में है, यहाँ मृत्यु की तय्यारी में दान-पुण्य से व्यास का आशीर्वाद मिला और मृत्यु टल गयी।

दूसरा सूत्र नायिका चित्ररेखा का है—

१—चित्ररेखा का संबंध एक कुबड़े से नेगी कर आये थे।

२—कुबड़े की बरात चली, रास्ते में सोता हुआ नायक मिला। बरातियों ने उसे कुबड़े के स्थान पर दूल्हा बना दिया कि विवाह में बाधा न पड़े।

३—नायक का विवाह कुबड़े के स्थान पर चित्र-रेखा से होगया। रात को दोनों को साथ सुलाया गया। नायक ने नायिका के आँचल पर दूसरे दिन अपनी मृत्यु होने की बात लिखी और अपना पता भी लिखा और चला गया।

४—नायिका ने लेख पढ़ा और सती होने की
तय्यारी करने लगी किन्तु सती होने ही वाली
थी कि नायक लौट आया, दोनों मिले।

इस कथांश की मुख्यवस्तु 'राजाचंद की बात' सम्बन्धी **चौदहवें चक्र** से संबंधित है। यहाँ नायक दैवयोग से दूल्हा बनाया गया है, किसी देव-परी या जादू का हस्तक्षेप नहीं, अंतिम अंश भी बदला हुआ है। चौदहवें चक्र में नायिका को प्रयत्न करना पड़ता है तब प्रिय को अन्तिम रूप से प्राप्त किया जा सका है। यहाँ वैसा प्रयत्न नहीं है।

गर्भ-कथाएँ—इन मूल कथा-रूपों में कवि और भी अधिक विलक्षणता लाने या किसी रहस्य के समाधानार्थ या किसी नीति-रीति के निदर्शनार्थ कुछ और कथाऐं भी जोड़ता है। ये गर्भ-कथाएँ निम्न लिखित कोटियों में रखी जा सकती हैं—

१—भूमिका कथाएँ या
हेतु कथाएँ
२—संयोजक कथाएँ
३—साक्षी कथाएँ।

१—**भूमिका कथाएँ** वे कथाएँ हैं जो मूल-कथा की भूमिका का काम देती है। गणपति के **माधवानल कामकन्दला प्रबन्ध** में 'काम' और 'रति' के शुकदेव के शाप के कारण 'माधव' और 'कामकंदला' के रूप में जन्म लेने की कथा, भूमिका-कथा ही है।

कुशललाभ ने यह भूमिका बदल दी है। इस भूमिका में भी शाप तो है किन्तु यह शाप इन्द्र का है, और जयन्ती नाम की अप्सरा को दिया गया है। एक छोड़ दो शाप हैं। एक शाप तो जयन्ती को रूप-गर्व के कारण मिला है। पहले शाप से वह पाषाण-शिला बनी है। माधव से जब इस शिला का विवाह बालकों ने खेल-खेल में कर दिया, तब वह पुनः शाप-मुक्त हो अप्सरा होकर उड़गयी। किन्तु इस बार वह इस विचार से कि उसका विवाह माधव से होगया है वह उसके पास आने लगी है। जब प्रतिबन्ध लगाया गया तो उसने माधव को ही इंद्रलोक में बुला लिया, यहाँ तक कि नृत्य के समय भी उसे भ्रमर बना कर उरोजों के बीच कञ्चुकी में रखकर वह नृत्य करने लगी। तब इन्द्र ने वेश्या के घर जन्म लेने का शाप दिया। इस प्रकार कामकंदला का जन्म हुआ। माधव का जन्म शिव के एक बार स्खलित होजाने से हुआ। शिवजी ने अपना यह रेत गंगा किनारे सरपत में रख दिया। राज पुरोहित संतान का भूखा था। शिवजी ने आशीर्वाद दिया। वे गङ्गा किनारे आये तो सरपत में

बालक मिला। इसी का नाम माधव रखा गया। यह समस्त कथा भूमिका कथा है।

विरहवारीश में गोपियों के शाप से काम-रति का माधव तथा कामकन्दला के रूप में उत्पन्न होना, तथा लीलावती को ब्राह्मण के शाप और शिव के बरदान से पुष्पावती में पैदा होना भूमिका-कथाएँ हैं। बोधा की कामकन्दला ने राजा के घर में जन्म लिया, पर उसमें पण्डितों ने वेश्या के लक्षण बताये तो एक कटहरे में बन्द कर नदी में बहा दिया। उसे नटों ने नदी से निकाला, पाला-पोसा तथा कामावती के राजा को दे दिया। वह राजनर्तकी बन गयी।

रसरतन में काम-रति द्वारा सोम-रंभा में स्वप्न दिखाकर पारस्परिक प्रेम का भाव पैदा कराने का प्रसङ्ग तथा रंभा की उत्पत्ति विषयक प्रसङ्ग भूमिका कथा है।

इसी प्रकार लखमसेन पद्मावती में योगी द्वारा १०१ राजाओं को पद्मावती वरण के लिए मार डालने के लिए एक कुँए में पटकते जाना भी भूमिका-कथा ही है।

भूमिका-कथा आरंभ में ही आती है, ऐसी ही कथा जब किसी बात का हेतु बताने के लिए कथा के अन्दर आती है तो उसे हेतु-कथा कह सकते हैं। वीसलदेव रास में उड़ीसा के राजा के संबंध में रानी राजमती को ऐसा विशेष ज्ञान क्यों है इसे बताने के लिए राजमती ने अपने पूर्व जन्म की कथा सुनायी है। यह पूर्व जन्म में हरिणी होने की कथा हेतु-कथा है।

इसी प्रकार प्रायः सभी जैन-कथाओं में पूर्वभव का वृत्तान्त कहीं न कहीं आता ही है। वह 'हेतु कथा' के रूप में ही अवतीर्ण होता है। चतुर्भुज की मधुमालती में जैतमाला द्वारा मधुमालती और अपनी पूर्वभव की कथा बतायी गयी है।

संयोजक-कथा इन कथाओं में संयोजक कथाओं को विविध कथाओं को जोड़ने के काम में लाया जाता है। संयोजक कथा सूत्र की भाँति है जिसमें अनेक कथाएँ मनिकों की भाँति पिरोयी रहती हैं। इसके अनेकों उदाहरण भारतीय कथा-साहित्य में प्रसिद्ध है—वैताल-पच्चीसी में विक्रमादित्य और वैताल की कहानी संयोजक कथा है। सिंहासन बत्तीसी में भोज और सिंहासन की बत्तीस पुतलियों की कथा संयोजक कथा है। प्रियमेलक कथा में मुख्य नायक ही संयोजक कथा का रूप धारण किये हुए हैं। विक्रम चक्र की सभी कथाओं में एक संयोजक-कथा होती है, वह कथा कभी कभी इतनी सी ही होती है कि "बड़ी पूजा-उपासना से भगवान या ऋषिमुनि, या देव-दानव के आशीर्वाद से पुत्र जन्म हुआ। यह पुत्र अत्यन्त प्रबल या अत्यन्त सम्मोहक

था, अतः उसे निष्कासन दिया गया। वह घर से निकला और कितनी ही कथाओं का स्वयं नायक बनता चला गया।"

३—**साक्षीकथाएँ**—ये कथाएँ बीच बीच में आतीं हैं और किसी तथ्य, नीति या स्थिति को समझाने के लिए दृष्टान्त या उदाहरण की भाँति दी जाती है। चतुर्भुजदास की मधुमालती में साक्षी कथाओं का सबसे अधिक उपयोग किया गया है। उसमें ये कथाएँ साक्षी कथा के रूप में है :

१—मृग-सिंहनी की प्रेम-कथा
२—घूहर (उल्लू) और काग की कथा (काकोलूकीय)
३—टिटहरी के अण्डों की कथा
४—कुंवर कर्ण की कथा
५—मलंदसुत चन्दा और अनवरी की कथा।

इन अन्तर्भुक्त सहायक या उपकथाओं को अलग कर देने पर मूल कथा प्राप्त होती है। इन्हीं की कथा-चक्रों में ऊपर दिखाया गया है।

हिन्दी पूर्व की जैन कथाओं में मिलने वाले अभिप्राय

हिन्दी की कथाओं का जैन कथाओं की परंपरा से घनिष्ठ संबंध है। ऐसा अब तक प्रतिभासित होता रहा है। यहाँ हम हिन्दी पूर्व की कुछ जैन कथाओं के अभिप्राय दे रहे हैं, जिनसे हिन्दी कथाओं से संबंध का प्रमाण उपलब्ध होता है।

भविसत्तकहा [१०वी शताब्दी से पूर्व (स्वयंभू तथा हेमचन्द्र के बीच के काल में धनपाल कृत)]	१—सौतेले भाई की ईर्ष्या। उसने धोखे से नायक को जंगल में छोड़ दिया।
	२—नायक एक उजड़े नगर में पहुँचा जहाँ दानव या राक्षस के अभिभावकत्व में एक सुन्दरी उसे मिली।
	३—नायक और सुन्दरी का विवाह।
	४—जहाज पर घर लौटते समय सुन्दरी पर आसक्त हो जहाज के स्वामी (सौतेले भाई) ने नायक को धोखे से कहीं छोड़ कर सुन्दरी को लेकर जहाज चला दिया।
	५—नायक ने राजा से कह न्याय द्वारा अपनी सुन्दरी को प्राप्त किया।
णायकुमार चरिउ [पुष्पदन्त कृत]	६—व्यापारी द्वारा लाये गये एक राजकुमारी के चित्र को देख राजा उस पर मोहित।

७—मुनि की भविष्यवाणी से पुत्र-जन्म की सूचना।

८—बंद स्थान (जिन मन्दिर जो किसी से नहीं खुला) पुत्र के चरण-स्पर्श से खुल गया।

९—कुँए में गिरे बालक की नाग द्वारा रक्षा।

१०—सौतेले भाई द्वारा नायक को मारने के प्रयत्न : उद्धत अश्व तथा उद्धत हाथी द्वारा। नायक ने दोनों को वश में किया।

सनत्कुमार-चरित [सं० १२१६ में ले० हरिभद्र]

११—उद्यान में एक उत्सव में नायक तथा युवती मिले तथा प्रेमाबद्ध हुए।

१२—एक व्यक्ति ने एक तेज घोड़ा दिया जो नायक को भगाकर दूर देश में ले गया।

१३—युवती को एक यक्ष चुरा ले गया।

१४—मानसरोवर प्रदेश में युवती और नायक मिले, विवाह हुआ।

१५—मित्र ने नायक का पता लगाया, मानसरोवर में एक किन्नरी के गीत द्वारा।

जिणदत्त चरित [सं० १२७५ रचयिता-लाखू या लक्खण]

१६—नायक के सौन्दर्य से नगर-युवतियाँ आक्रान्त।

१७—सिंहल द्वीप में जाकर राजकुमारी से विवाह।

१८—राजकुमारी पर मोहित एक रिश्तेदार नायक को समुद्र में फेंक देता है। [४ थे अभिप्राय को किंचित परिवर्तित किया गया है; ६वाँ चित्र देखने का अभिप्राय भी इसमें है]

१९—(सिंहल की) राजकुमारी के पेट में से सर्प निकलता और प्रेमी को डस लेता।

२०—नायक ने पेट से निकलने वाले सर्प

को मार कर राजकुमारी से विवाह किया।

करकंडु चरित्र [सं० ११२२ रचयिता मुनि कनकामर]

२१—अशुभ लगन में उत्पन्न राजकुमारी (नाम पद्मावती) परित्यक्त, एक उद्यान में।

२२—नायक ने विवाह किया।

२३—दोहद में—पुरुषवेश में रानी ने राजा के साथ हाथी पर नगर-भ्रमण किया हाथी भाग खड़ा हुआ।

२४—राजा-रानी वियुक्त [राजा हाथी से कूद कर अलग, रानी हाथी पर चढ़ी एक वन में पहुँची।]

२५—सूखा बन हरा होगया (रानी के पहुँचते ही)

२६—रानी के (श्मशान में) पुत्र-जन्म जिसे एक चांडाल (रूप में विद्याधर) ले गया।

२७—एक अन्य राज्य के राजा की मृत्यु पर नायक को राजा बनाया गया।

२८—पिता और पुत्र (नायक) में युद्ध; नायक की माँ ने दोनों को मिलाया

२९—एक विद्याधर हाथी रूप में नायक की पत्नी को हर ले गया

३०—सिंहल में जाकर राजकुमारी से विवाह

३१—सिंहल की राजकुमारी के पेट से सर्प निकलता था

३२—उस सर्प को मार कर विवाह किया

३३—सिंहल राजकुमारी के साथ लौटते समय मच्छ का नौका पर आक्रमण

३४—राजा (मच्छ मारने कूदे, मच्छ को मारा, पर नौका पर नहीं लौट सके) को एक विद्याधरी उड़ा ले गयी।

३५—रानी बहकर एक अन्य द्वीप पर पहुँची,

	वहाँ पति प्राप्त्यर्थ पूजा। पद्मावती ने प्रकट हो पति मिलन का आश्वासन दिया
	३६—विद्याधरी ने राजा से विवाह किया और वियुक्त रानी (रतिवेगा) से मिलाया
पउमसिरी चरिउ [११९१ वि० ले० धाहिल]	३७—एक पिशाच ने नायक-नायिका के प्रेम में संदेह उत्पन्न कर भेद पैदा किया
	३८—चित्र अङ्कित मयूर हार निगल गया, फिर माया से उसे उगल दिया।
सुदंसरण चरिउ [११०० वि० ले० जयनंदी]	३९—एक रानी ने नायक के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उसे बुलाया और रति का प्रस्ताव किया।
	४०—नायक के अस्वीकार करने पर लाँछन लगा, बंदी बनाया।
	४१—बितर (देव) ने नायक की रक्षा की।
जंबु सामि चरिउ	४२—स्वप्न का फल पुत्र होना
[१०७६ वि० **वीरकवि**]	४३—नायक ने मत्त गज को वश में किया

ऊपर दिये गये अभिप्रायों के साथ उन अभिप्रायों को भी जोड़ना आवश्यक है जो ऊपर हिंदी जैन कथाओं से दिये गये हैं, क्योंकि प्रायः सभी हिंदी जैन कथाएँ अपने से पूर्व की अपभ्रंश या संस्कृत जैन कथाओं का अनुवाद या रूपान्तर ही हैं।

इन अभिप्रायों को देखकर हिन्दी कथा-काव्य परंपरा पर दृष्टि डालने से वह इन जैन अपभ्रंश कथाओं का ही विकास विदित होती है किन्तु सत्य यह है कि इन कथाओं का और हिन्दी कथाओं का मूल स्रोत एक ही है, वह है लोकमानस की लोक-कथाएँ। वहीं से इन जैन कथाओं को सामग्री मिली और वहीं से हिन्दी कथा-काव्यों को।

—:०:—

उपसंहार

विकास की दृष्टि से जो बात सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करती है वह योगी या जोगी है। यह नाथ जोगी है। 'लखमसेन पद्मावती कथा' के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं : "पद्मावती कहइ सुरा नाथ, एक बोल माँगू तो हाथि।" योगी को पद्मावती ने यहाँ 'नाथ' कहा है। यह सम्प्रदाय की दृष्टि से ही प्रतीत होता है। यह जोगी को नाथ-संप्रदाय का सिद्ध करता है। नाथ-संप्रदाय की परम्परा से यह जोगी इस कथा-काव्य की परंपरा में आ पहुँचा है। यों तो जैसा ऊपर बताया गया है हिन्दी के इस युग के कथा-साहित्य की परम्परा का तारतम्य जैन-कथा-परम्परा से बैठता है। प्रायः अधिकांश अभिप्राय, जो हिन्दी-कथा-परम्परा में काम में आये, वे जैन कथा-परम्परा में मिलते हैं, और उन्हीं की संतति हिन्दी कथा-काव्य प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तविक बात यह है कि इस युग की पृष्ठभूमि जटिल सूत्रों से निर्मित थी। नाथ-संप्रदाय के सूत्र भी लोक में घुलमिल गये थे। जैसे जैन-परम्परा के तन्तु किसी कवि विशेष द्वारा प्रकल्पित नहीं थे, वे लोक-संपत्ति थे, लोक-कथाओं में व्याप्त थे और लोक-कथाओं से ही लिये गये थे, वैसे ही नाथ-संप्रदाय के सूत्र भी लोक-व्याप्त हो लोक-कथाओं से लिपट गये थे। भर्तृहरि का वृत्त भर्तृहरि के लिए योग का वृत्त हो सकता है, पर भर्तृहरि की पत्नी के लिए तो वह प्रिय-वियोग का दारुण प्रसंग है। पूरनमल के वृत्त की धुरी भी विमाता-प्रेम ही तो है। मत्स्येन्द्रनाथ का त्रिया देश में रम जाना, और उनके

उद्धार हेतु गोरखनाथ का त्रिया देश जाना तथा योगी द्वारा इष्ट प्राप्ति के निमित्त यात्रा करने के समान ही नहीं है। नाथ-सिद्धों के चरित्रों के साथ जो अद्भुत सिद्धि-चमत्कारों के अभिप्राय जुड़ गये थे उन्होंने इस युग की प्रेम गाथाओं और कथाओं के लिए उन्हें विशेष आकर्षण युक्त बना दिया था। अतः योगी प्रायः प्रत्येक कथा-काव्य की धुरी बन गया है।

एक और दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि प्रेमगाथा और कथा के माध्यम से जैसे योगी का अलख और निर्गुण, प्रेम के रूपक से, सगुण होने का प्रयत्न कर रहा है। वह लोक-मानस की भाषा में अपना रूपान्तर ढूँढ़ रहा है।

योगी को प्रेमयोगी बनाकर गाथा और कथा के रचयिताओं ने अपनी-अपनी दार्शनिकता उसके साथ गूंथ दी। वस्तुतः दार्शनिकता ने लोक-मानस के विकास-क्रम में यौन-संपर्क को आरम्भ में उर्वरत्व का अनुष्ठान समझा, फिर उसे प्रतीकात्मकता प्रदान की, उसे टोने से युक्त तो माना ही गया था, उसके पुरुष-स्त्री पक्ष की शक्तियों को काम-रति का नाम ही नहीं दिया गया, उसे देवत्व प्रदान भी किया गया। देवत्व सदा कल्याणकर शक्ति ही तो है। एक तात्विकता ने काम को काम के रूप में ही चार पुरुषार्थों में गिन लिया और कामकथाएँ लिखीं जिनकी फल-श्रुतियाँ लिखना वे नहीं भूले—यथा

सुणइ कथा जे आपइ दान, गाइ दक्षणा अर कापड़ पान।
वीर कथा संभलइ जे रली, तिहि वीयोग नहीं एका घड़ी ॥ १३०
हरि जल हरि थल हरी पयालि, हरि कंसासुर बधियो बालि।
दैत्य स्यंघारण त्रिभुवनराय, सुरता जे बैकुंठा ठाइ ॥ १३१

—लखमसेन पद्मावती (दामो)

अह कथा जे संभलइ, वंचइ बली विशेष।
पातक परीयावट तणां, तिहां रहइ नहीं रेष ॥२१३॥
महनिशि आनंदइं सरइ, अंगि न आवइ रोग।
सजण-तणी संख्या नहीं, भवि भवि पामइ भोग ॥२१४॥

माधवानल कामकंदला प्रबन्ध (गणपति)

इन काम-कथाओं[1] में भी प्रेम की अनन्यता है, किन्तु सशरीर काम-

१. कथा के संबंध में शास्त्रकारों ने विचार किया है। भामह ने 'कथा' और आख्यायिका का उल्लेख किया है। दण्डी में और भामह में साम्य है। उसने दोनों में कोई विशेष भेद नहीं माना। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने कथा के तीन भेद माने : १ परिकथा, जिसमें इतिवृत्त मात्र हो, रस-परिपाक के लिए जिसमें विशेष स्थान न हो। लखमसेन पद्मावती को संभवतः परिकथा कहा जा सकता है। २ सकल कथा और ३—खंड कथा। अभिनव गुप्त ने परिकथा में वर्णन-वैचित्र्य युक्त अनेक वृत्तान्तों का समावेश आवश्यक माना है। सकल कथा में

कल्याण के लिए। इसे काम से बिलग नहीं किया जा सका, यद्यपि 'प्रेम' को दार्शनिक स्तर पर रखने के लिए कुछ सांप्रदायिक चेष्टा भी की गयी मिलती है। किन्तु वह समस्त दार्शनिक ऊहापोह लोक-तत्वों से तिल-तंदुल न्याय से मिली हुई है। काम-कथाओं की मूल प्रवृत्ति से ये प्रेम-कथाएँ भिन्न नहीं। नायक-नायिका के संयोग के स्थलों के वर्णनों से यह तथ्य स्पष्ट उद्घाटित होता है। यही नहीं काम-शास्त्रानुसार नायिकाओं का वर्णन और उनका नखशिख वर्णन भी दोनों को एक ही परम्परा का बताता है। चतुर्भुजदास ने मधुमालती को कामकथा ही नहीं, नीतिकथा और राजनीति कथा भी बताया है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन प्रेमगाथाओं में तथा अन्य कथा-साहित्य में भी 'कथा-तत्व' का मूल लोक-क्षेत्र है। इनमें दिव्य तथा अलौकिक और जंत्र-मंत्र, जादू-टोना लोक-मानस की परम्परा से आया है। इनमें योग तथा प्रेम का जो गठबंधन हुआ है वह भी इनका सम्बन्ध अन्तर्धारा द्वारा सिद्ध-नाथों की साधना के सूत्र के लोकावतरण से सिद्ध करता है।

वस्तुतः 'कामकथा' का इस काल में एक महत्वपूर्ण स्थान था, और भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार यह काम-कथा भी दैवी तत्व से युक्त ही मानी जाती थी। यह चतुर्भुजदास की मधुमालती से तो अत्यन्त स्पष्ट ही है। उन्होंने मधु को कामावतार बताया है—

"काम अंस पूरन अवतारी
याकी अकथ कथा है न्यारी
तीन लोक सारे इन जीते।
ऐसे करत बहुत दिन बीते"

बीज से फलपर्यन्त तक की पूरी कथा रहती है। श्रीपाल चरित या प्रद्युम्न चरित इस कोटि में आ सकते हैं। खण्डकथा एकदेश प्रधान होती है। हेमचन्द्र ने सकल कथा को चरित नाम दिया है। उदाहरण में 'समरादित्य-कथा' का नाम दिया है। उपकथा में चरित के अन्तर्गत किसी प्रसिद्ध कथान्तर का वर्णन रहता है। 'चित्रलेखा' को हेमचन्द्र ने उपकथा माना है। हरिभद्राचार्य ने एक नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने सामान्य कथाओं को चार भागों में बाँटा है: १—अर्थ-कथा, २—काम-कथा, ३—धर्म-कथा और ४—संकीर्णकथा। अर्थकथा का विषय अर्थ-प्राप्ति होता है। कामकथा प्रेम-कथा है। धर्मकथा की परिभाषा में सिद्धर्षि ने लिखा है :—

"मोक्षकांक्षैकतानेन चेतसांसि लभन्तिये
शुद्धां धर्म कथामेव सात्त्विकास्ते नरोत्तमाः

और 'संकीर्णकथा' का यह लक्षण दिया है—

'ये लोकद्वय सापेक्षाः किञ्चित्सत्त्वयुतानाः
कथातिच्छन्ति संकीर्णां ज्ञेयास्ते वर मध्यमाः

इस कामदेव को उन्होंने एक अत्यन्त सामान्य स्तर पर भी पहुँचा दिया है—

"जोवन रूप जहाँ लौं होई
सो प्रतिबिंब काम को होई"

किन्तु अपने यहाँ तो 'कामावतार' का पौराणिक उल्लेख भी है, वह कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न कामावतार ही हैं इसीलिए इन्होंने लिखा है—

"प्रदमन देह किसन जिन्ह पाथे
सरभर करत कौन तिहिं साथे"

जैनियों में भी २४ कामावतारों में प्रद्युम्न का उल्लेख है। प्रद्युम्नचरित इस प्रकार कामदेव का ही चरित है। ऊपर 'माधवानल कामकंदला' की कुछ भूमिका-कथाओं का उल्लेख हुआ है, उससे 'माधवानल कामकंदला' की कथा एक भिन्न रूप से कामावतार की कथा ठहरती है। इसलिए 'काम-कथाएँ' काम-रति के अवतारों की भी कथाएँ थीं, और मूल में काम-शिक्षा की भी कथाएँ थीं। किन्तु इनका स्तर लोक-मूल से संबद्ध रहता था।

इन कथाओं में दैवी तत्व, पशु-पक्षी तत्व, जादू-टोना या सिद्धि-चमत्कार, शाप-वरदान के अद्भुत अंश तो प्रायः होते ही हैं, जिनमें विश्वास और जिनके उल्लेख और श्रवण में आनन्द बिना लोक-मानस के असंभव है; पर प्रायः सभी कथाओं में किसी-न-किसी रूप में योगी, समुद्र यात्रा, ऋतु वर्णन और बारहमासा, संयोग-संभोग, वियोग, गुरु या मार्गदर्शक, रूप-सम्मोहन और नखशिख, युद्ध-वर्णन, मिल ही जाते हैं।

इन पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट विदित होता है कि ये गाथाएं और कथाएँ चार सूत्रों से गूँथी गयी हैं :—

१—**योगी कथा**—इसका रूप प्राय यह रहता है : गुरु मिला, उसने माया [या विद्यमान पत्नी] से मन उचटा दिया। शिष्य विरक्त होकर गुरु के पीछे चल पड़ा। गुरु के उपदेशानुसार उसने योगी होकर योग साधा। उससे सिद्धि प्राप्त की। माया, गुरु, योग, यात्रा इस कथा का परिकर बनाते हैं।

२—**सिद्ध-कथा**—गुरु ने शिष्य को सहज का ज्ञान दिया—शिव को शक्ति या डोमिनी चाहिये। बिना उससे रमे योगी सिद्ध नहीं हो सकता, न सिद्ध पूर्णता ही पा सकता है। इसमें शाक्त और तंत्र दोनों समन्वित हैं।

गुरु, प्रेम, पद्मिनी, रूप-सम्मोहन, नख-शिख, संयोग-संभोग इस कथा का परिकर बनाते हैं।

३—**वीर कथा**—वीर वीरकार्यार्थ घर से चल पड़ता है, आक्रमण या

युद्ध में प्रवृत्त होता है। विजय प्राप्त कर विजयोल्लास और विजयोपहार में सुन्दरी और रत्न लेकर लौटता है। गृह-पत्नी का वियोग।

गृह-त्याग, बड़े समूह के साथ यात्रा, भेदिया मार्गदर्शक, युद्ध, सुन्दरी-रत्नोपहार इस परिकर के हैं।

गृह पत्नी का वियोग, वियोग संदेश में बारहमासा भी इसी परिकर के हैं।[1]

---

१. 'वीर' शब्द एक विशेष साम्प्रदायिक अर्थ भी रखता है। तन्त्रों के अनुसार सत-रज-तम इन तीन गुणों के कारण मनुष्य भी तीन प्रकार के हैं : १—पशु=तम-प्रकृति, २—वीर=रज-प्रकृति, ३—दिव्य=सत-प्रकृति। सामान्यतः मनुष्य पशु है, पशु से 'वीर' स्थिति को प्राप्त करने के लिए उसे चार साधनाओं में होकर क्रमशः ऊपर उठाना चाहिये। वे चार साधनाऐं हैं : १—वैदिक : क्रिया मार्ग। एक विशेष पद्धति से वेद के बताये मार्ग का अनुसरण, जो आगमिक के अनुकूल हो। २—वैष्णव: भक्ति मार्ग। विष्णु की भक्ति प्रधान, विष्णु को सर्वव्यापक रूप में देखते हुए। तथा ३—शैव-क्षत्रिय मार्ग। शिव-ध्यान, कठिन परिश्रम और शक्ति उपार्जन, इससे ज्ञानमार्ग प्राप्त होता है। ४—दक्षिण—इसके द्वारा 'पशुत्व' छूटता है, साधक 'वीरत्व' प्राप्त करता है। इसमें 'देवी' का ध्यान किया जाता है। रात्रि में विशेष अनुष्ठान किये जाते हैं। मनुष्य की अस्थियों की माला के उपयोग द्वारा विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन सिद्धियों से युक्त हो वह वीर बन जाता है। 'वीर' से ऊपर उठकर दिव्य बनने के लिए 'वाम', 'सिद्धान्त', 'अघोर', 'योग' साधनाओं से कौल' साधना पर पहुँचना होता था। 'लखमसेन पद्मावती' इसी अर्थ में 'वीर काव्य' है। कर्पूरमंजरी में इस सम्प्रदाय के भैरवानंद का उल्लेख है। इसमें भी भैरवानंद का सुमिरन किया गया है। "समरु वीर भइरवाणंद।" आदि। इस कवि ने पहले अध्याय के आरम्भ में लिखा :—

> 'सुणउ कथा रस लील विलाश। योगी मरण राय बनवास।
> पद्मावती बहुत दुख सहइ। मेलउ करि कवि दामउ कहइ।
> कासमीर हूंती नीसरइ। पंचन हू सत अमृत रस भरइ।
> सुकवि दामउ लागइ पाय। हम वर दीया सारद माय।
> नमुं गणेश कुंजर केस। मूंसा वाहण हाथ फरेस।
> लाडू लावण जस भरि थाल। विघन हरण समरूं हूं वाल।
> संवतु पनरइ सोलोत्तरा मझारि। ज्येष्ठ वदि नवमी बुधवार
> सप्त तारिका नखत दृढ़ जाणि। वीर कथा रस करूं बखांण
> सरस विलास कामरस भाव। जाहु दुरीय मनि हूऊ उछाह।

आदि।

दूसरे खण्ड का आरम्भ केवल भैरवानंद के स्मरण करने के बाद ही कर दिया है। इसमें योगी को 'वीर' भी कहा गया है। सिद्ध अथवा वीर के मन में 'पद्मावती' को पाने और उसे पाने के लिए १०१ मनुष्य कपालों का आयोजन, यह समस्त वृत्त उसे साम्प्रदायिक दृष्टि से 'वीर' सिद्ध करता है।

वीर शब्द का संबन्ध 'वीर्यवान' से भी है। वीर्यवान का सम्बन्ध 'सरस-

(४) **वरिणक-कथा**—वाणिज्य के लिए वणिक देश-विदेश जाता है, विशेषतः समुद्र-यात्रा करके दूर देश जाता है। उसकी पत्नी घर में उसकी बाट जोहती है। वियोग में दुःख के दिन बिताती है। वह वणिक समुद्र-यात्रा करके दूर देश से धन-संपत्ति लेकर लौटता है। इसमें कभी-कभी खरीदी हुई सुन्दरियाँ भी होती हैं। समुद्र यात्रा, गृहपत्नी का वियोग, इसी के परिकर के हैं।

इन चारों क्षेत्रों में से आरंभ के तीनों पर यथाक्रम से हम पहले ही विचार कर चुके हैं। चौथी कथा का सम्बन्ध तो स्पष्टतः लोक-क्षेत्र ही है। इस प्रकार इन कथाओं में ये स्तर मिलते हैं :—

सात

अध्यात्म * दार्शनिक | आवरण

* छह-सैद्धांतिक

प्रतिभा *

पाँच—बौद्धिक : शास्त्र, विविध विद्या, ज्ञान

लोक क्षेत्र * चार—[लौकिक विश्वास, रीति-रिवाज, लोक-ज्ञान

तीन—[कल्पना-विधान : अलंकार-अवर्ण्य योजना, उद्दीपन

लोकमानस *

दो—[वर्ण्य-वस्तु : इतिहास, लोक कथा, पुराण-कथा, कल्पना-कथा

एक—[कथा-अभिप्राय, कथा-तन्तु, कथा-रूप, फल-श्रुति, साधना-रूप

इस कथा-साहित्य की आधार-भूमि लोक-मानस है। समस्त ढाँचा और निर्माण की समस्त नींव गहराई में लोक-मानस से आबद्ध है। इस आधार-

---

विलास काम रस भाव' से भी किया गया है। यह तन्त्र के अनुष्ठानों से भी सिद्ध है, और सामान्य किन्तु आदर्श 'काम-कथाओं' से भी। यह 'वीर्यवानता और शौर्य' साथ साथ दिखाने के लिए एक अद्भुत कथांश की अवतारणा भी की गयी। यह अवतारणा हमें 'हम्मीर रासो' में ही नहीं मिलती, 'चतुर्भुज' की 'मधुमालती' में अन्तिम साक्षी-कथा के रूप में भी मिलती है। यह यों अश्लील भी प्रतीत होती है। बन में ही नायक-नायिका रति-रत हैं। वहाँ सिंह आ पहुँचता है। नायक रति से बिना विरत हुए ही, धनुष-बाण से उस सिंह को मार डालता है। इस वृत्त से 'काम=वीर्यवान और शौर्य=शूरवीरता दोनों की सिद्धि दिखायी गयी है। इसी कारण काम-कथाओं में भी युद्धादि विषयक वीरकथांशों को नियोजित किया गया है।

इस प्रकार वीर-कथा में साम्प्रदायिक हीं नहीं सामान्य वीर-व्यक्तित्व का भी समावेश है।

भूमि में इतिहास-पुराण तथा कल्पना-कथा तक मूलतः लोक-मानस के ढाँचे में ढलकर ही ग्राये हैं। इसके ऊपर भी लोक-तात्विक स्तर है। यह सामान्य लोक क्षेत्रीय है। बड़ी-बड़ी शास्त्र ग्रौर ज्ञान की देनें, साम्प्रदायिक तथ्य ग्रौर विश्वास लोक-क्षेत्र में प्रचलित होकर ग्रत्यन्त सामान्य लोक-भूमि के बन जाते हैं। वहीं से कवि ग्रौर साहित्यकार ने इन्हें लिया है। इसके ऊपर कवि का उपार्जित ज्ञान गुंथता दिखायी पड़ता है। यह केवल ग्रत्यन्त प्रतिभाशाली ग्रौर ऊँचे कवियों में ही मिलता है। इसके ऊपर एक झीना ग्रावरण ग्राध्यात्मिक रंग का रहता है। इसी में सिद्धान्त ग्रौर दर्शन के कुछ दर्शन होते हैं।

चतुर्थ अध्याय

१

सगुण भक्ति काव्य

आरंभिक—भक्ति तत्व लौकिक तत्व है। इसका विकास लोक तत्वों से समन्वित होकर सम्पन्न हुआ है। भक्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप पर ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि इसमें एक ओर तो 'राग तत्व' की तन्मयकारिणी या तादात्म्य कारक वृत्ति होती है, दूसरी ओर इसके साथ मूल आनुष्ठानिक भावना होती है। मूल आनुष्ठानिक भावना में टोने का भी तत्व विद्यमान रहता है। इसका आधार तत्व प्रायः वही है जो देवी-देवता या दई-देवता को आधीन करने के उपयोग में आता है। इसमें दई-देवता की सत्ता और शक्ति में विश्वास निहित होता है, यह सत्ता या शक्ति नाम-रूप-धारिणी होती है। रूप-धारण में मूलतः वैलक्षण्य होता है। मानवेतर तत्व से भी मूल-स्थिति में इसका गाढ़ संबंध होता है। ये तत्व आरंभ में अनेकधा होते हैं, धीरे-धीरे आदिम 'मन' जैसे तत्व के विश्वास से वे सभी मानवेतर तत्व मानव-तत्व के साथ संजोये जाकर एक **परमदेव** का व्यक्तित्व धारण करते हैं। इसे तुष्ट करने का भाव भी निरंतर विद्यमान रहता है। इस परमदेव का साक्षात्कार आदिम मन कर सकता है, सृष्टि के बिखरे तत्वों में भी और उन्हीं के समन्वित रूपों में भी। इसके लिए उसमें **नाम-रूप** के 'अंगांगी' अनुष्ठान का आयोजन रहता है। नाम के लिए उसका 'नाम' है यह मंत्र का

काम करता है । इसे लेने पर नामधारी को वश में होना ही पड़ता है, क्योंकि 'नाम' नामधारी का अंग ही होता है । रूप की भी मूर्त कल्पना करनी ही पड़ती है । नाम-रूप की 'ध्यान-धारणा' से उस 'परमदेव' का आवाहन होता है । यह अनुष्ठान अभीष्ट साधन के लिए किये जाते हैं । अभीष्ट में वह देव कैसे बाधक बने या कैसे साधक बने या कैसे बाधक न रहे, यह बात सिद्ध करने के लिए उसको तुष्ट किया जाता है—इस तुष्टि के लिए उसे पहले तो अपना निजी देवता बनाया जाता है, और उसे अपने हृदय के राग-तत्व समर्पित किये जाते हैं; उसे बलि भी दी जाती है । बलि में भी आत्म-समर्पण का भाव होता है । मन सिद्धान्त + सहानुभूतिक टोना (अहं + वत्) = मनुष्य बलि = पूर्ण आत्म-समर्पण । इन तत्वों से ही भक्ति का निर्माण होता है । ये जहाँ विद्यमान हैं वहाँ भक्ति विद्यमान होती है ।

सिन्धु सभ्यता में ये तत्व विद्यमान देखे जा सकते हैं :—

'परमदेव'—परमदेव की सत्ता का इस सभ्यतानुयायियों ने जो साक्षात्कार किया उसका एक विवरण श्री केदारनाथ शास्त्री जी ने 'हड़प्पा' नामक पुस्तक में, दिया है । उनका कथन है कि—

"इसका शरीर जो प्रकटतः मानुषी दिखाई देता है वस्तुतः कई पशुओं अथवा उनके अवयवों के विलक्षण संयोग से संगठित है । यह मूर्ति भ्रान्ति और प्रतारणा का भव्य उदाहरण है । पशुमुख के समान लम्बा चेहरा, उभरी हुई तिरछी आँखें, लम्बे कान, आंखों से लेकर थोथनी तक दोनों ओर गहरी झुर्रियाँ, रोमरहित अस्थिमय छोटा-सा सिर —ये सब लक्षण निस्सन्देह इस सत्य के प्रत्यायक हैं कि सिर पशु का है । और फिर सिर पर कुटिल विशाल सींग जो स्पष्ट रूप से भैंसे के हैं इस बात का और भी समर्थन करते हैं कि देवता महिष-मुंड है । + + + + देवता के महिष मुंड होने का समर्थन उस दृश्य से भी होता है जो मोहेंजो-दड़ो की एक मुद्रा[1] पर उत्कीर्ण है : फलक २७,३ : । इसमें प्राकार-वेष्टित देवद्रुम के सामने एक यूप है जिसके शिखर पर सींगवाला महिषमुण्ड प्रतिष्ठित है । सींगों के मध्य में शिखण्ड के समान उतरती हुई पीपल की शाखा देवत्व का चिह्न है ।[2] यूप के शिखर पर महिष-

---

१. मेके—फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहेंजो-दड़ो, ग्रं २, फलक १०३, मुद्रा ८ ।

२. प्राक्-वंशावली-काल के सुमेरियन देवताओं के मुकटों में वन-वृषभ के सींगों के बीच भी देवद्रुम की मंगलमय शाखा है । प्रतीत होता है कि शाखा शिखण्ड की यह विलक्षणता सुमेरियन लोगों ने सिंधु-लोगों से ली थी । मेसोपोटेमिया में यह शाखा-शिखण्ड कुछ समय के लिए अकस्मात प्रकट होता है

मुण्ड के होने का तात्पर्य यह है कि महिषमुण्ड देवता देवद्रुम का अधिष्ठातृ-देवता होने के कारण उसका संरक्षक था। यह देवद्रुम जीवन-तरु माना जाता था। वे भाग्यवान् जो इनकी शाखा को अपने सिर पर धारण करते थे अमर और अजेय हो जाते थे। पूर्वोक्त चारदीवारी के बाहर और महिषमुण्ड देवता की संरक्षकता में एक पुरोहित यज्ञवृषभ पर से फाँद रहा है। ध्यान-पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि इस देवता का सींगोंवाला मुकुट मुद्रा नं० ३८७ पर अंकित पीपलवृक्ष की प्रतिकृति है। महिष-मुण्ड देवता के मुकुट में पंखे के आकार का शिखण्ड इसी मुद्रा पर अंकित पीपल वृक्ष के छत्राकार आच्छद का अनुकरण है। +++++मार्शल का विचार है कि देवता की भुजायें कंधों से कलाई तक कंगनों से लदी हैं। इसमें संशय नहीं कि यद्यपि स्थूल दृष्टि से वे मानुषी भुजायें दिखाई देती हैं, वस्तुतः वे ऐसी नहीं। ये साक्षात कनखजूरे हैं जो शरीर के दोनों ओर कंधों से लटक रहे हैं। ++

"अब महिषमुण्ड-देवता के शरीर के अधोभाग को ध्यानपूर्वक देखिए। टंककार की कला का यह अद्भुत उदाहरण है। इसे देखने से मालूम होता है कि देवता टांगों को योगासन-मुद्रा में बांधकर ध्यान-मग्न बैठा है। परन्तु वस्तुतः टांगों के स्थान दो लिपटे हुए नाग योगासन का भ्रम पैदा कर रहे हैं। इन नागों के सिर तो देवता के कटि-प्रदेश में एक दूसरे से सटे हुए हैं और पूंछें देवता के पांवों के अग्रभागों में समाप्त होती हैं। शरीर के इस भाग का सर्पमय होने का पता लगाना अत्यन्त कठिन है जब तक कि मूर्ति को उलटा करके न देखा जाय (फलक ३३, चः) ऐसा देखने से नागों के सटे हुए सिर देवता की कटि है और उनके द्विगुणित शरीर उसकी टाँगें हैं। कटिसूत्र से लटकता हुआ डोरा उल्टा देखने से नागों के सिरों के बीच की विभाजक रेखा बन जाती है और डोरे के मुड़े हुए गोल सिरे नागों की आँखों का बोध कराते हैं। इस देवता के विचित्र संगठन की दूसरी बात इसकी असम्भव आसन-मुद्रा है। पीठ को केवल अपने पावों की अंगुलियों से छू रहा है, शेष शरीर आकाश में निराधार स्थित है। इसके अतिरिक्त पावों की मुद्रा भी असम्भव है। पाँव सीधे नीचे की ओर तने हैं और अंगुलियाँ ९०° के कोण पर ऊपर को उठी हैं। यह आसन-मुद्रा स्वभावतः असाध्य है। परन्तु कलाकार ने सम्भवतः यह मुद्रा इसलिए बना दी कि दर्शक को देवता में अलौकिक चमत्कार के सामर्थ्य का बोध कराना था। +++

परन्तु उत्तर-काल में लुप्त हो जाता है। विपरीत इसके सिन्धु-सभ्यता में यह विशेषता इसके दीर्घ-जीवन-काल में निरवच्छिन्न बनी रहती है और 'देवद्रुम-कथानक' से इसका प्रादुर्भाव इस तथ्य का साक्षी है कि यह कल्पना प्रथम भारत में उत्पन्न हुई।

"मार्शल का विचार है कि देवता छाती पर एक त्रिभुज के आकार का उरस्त्राण अथवा कवच पहने हुए हैं। उनके मतानुसार शाक्तों के तान्त्रिक कवच का जन्म भी इसी से हुआ। परन्तु इसे कवच मानने में आपत्ति यह है कि इसका देवता के संकीर्ण शरीर से समन्वय करना कठिन है। सादृश्य के आधार पर यह मानना उचित होगा कि देवता का वक्षःस्थल यदि अंशतः बाघ का शरीर नहीं तो कम से कम व्याघ्राम्बर से आवृत अवश्य है। यह उस बाघ के धारीदार शरीर से बहुत सादृश्य रखता है जो देवता की बाँईं ओर उछल रहा है। मोहेंजो-दड़ो की मुद्रा नं० ३४७[1] (फलक १६, च) पर एक संकीर्ण देवता जिसका शरीर अंशतः मानुषी और अंशतः बाघ है, अङ्कित है। इससे पता लगता है कि सिंधुकालीन देवताओं के शरीर में मनुष्य और बाघ का योग अज्ञात नहीं था। पुनः जब हम देखते हैं कि महिष मुण्ड देवता का बाकी शरीर कई जीवों का संघात है तो यह अनुमान लगाना असंगत नहीं कि इसका मध्य भाग भी किसी ऐसे ही पशु-अंश का बना होगा। + + +

यदि हम इस देव-शरीर के ऊपर के भाग को जिसमें सिर, सींग और एक भुजा शामिल है, ध्यान से देखें तो बिच्छू के आकार का आभास ही होने लगता है। + + +

महिषमुण्ड देवता की एक और विलक्षणता यह है कि इसके पीठ की टाँगें साक्षात् केंकड़े हैं।"

अब यह **परमदेव**, सृष्टि के विविध तत्त्वों का पशु आदि रूप में पृथक-पृथक दर्शन करके, सब से समन्वित एक महिषमुण्ड देवता के रूप में भी साक्षात्कार का विषय बना है। यह मोहेंजोदड़ो की मुद्रा सं० ४२० के देखने से स्पष्ट हो जाता है। इसमें पृष्ठभूमि रूप में चराचर के साथ नाम भी अङ्कित है। स्वयं महिषमुण्ड-देव विविध प्राणियों के अभिप्रायों से विलक्षण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। साथ ही एक दूसरा चित्र पूजा और बलि के उपकरणों से युक्त है।

इस विलक्षण देवता के सम्बन्ध में उक्त लेखक ने कुछ अपना अभिमत भी दिया है। वह इस प्रकार है :—

"मेरे विचार में सिन्धुकालीन महिषमुण्ड देवता अपनी विलक्षणताओं के कारण वैदिक देवता 'रुद्र' के बहुत निकट है। ऋग्वेद में रुद्र को घोर, प्रचण्ड और असुर के नाम से निर्दिष्ट किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन आता है कि रुद्र सृष्टि के समस्त भयङ्कर तथा आसुरी तत्त्वों का संघात है।[2] वेदों में

१. मेके —फर्दर एक्सकेवेशन्स, ग्रन्थ २, फलक ८७, २२२।
२. ऐतरेय ब्राह्मण, ३, ३३।

रुद्र को जो 'पशुपति' विशेषण दिया गया है उसका तात्पर्य यह है कि वह पशुओं पर घातक आक्रमण करता है इसलिए सब पशु उसी की संरक्षकता में छोड़ दिए गए हैं।[१] वेदों में यह उल्लेख भी मिलता है कि स्वर्ग में नररूप देवता दिव्य पशुजगत् से परिवृत होते हैं।[२] महिषमुण्ड देवता भी कई पशुओं से परिवृत है। उसके दाँई ओर हाथी और बाघ तथा बाँई ओर गेंडा और भैंसा हैं एवं उसके सिंहासन के नीचे दो हिरण अथवा पहाड़ी बकरे खड़े हैं।

"+ + मार्शल ने महिषमुंड देवता को ऐतिहासिक काल के पशुपति शिव से एकात्म सिद्ध किया है। परन्तु यह निर्विवाद है कि ऐतिहासिक शिव वैदिक काल के रुद्र का ही रूपान्तर है क्योंकि उसके बहुत से लक्षणों और विशेषणों को यह धारण करता है। स्मरण रहे कि सिंधुवासियों और आर्यों में जो परस्पर सम्पर्क हुए वे वैदिक काल में ही हुए होंगे। + + + अतः यही निष्कर्ष युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि सिंधुकालीन महिषमुण्ड देतता बजाय उत्तरकालीन शिव के पूर्वकालीन वैदिक रुद्र का ही पूर्व रूप था।

"परन्तु यह भी सत्य है कि महिषमुण्ड देवता कई बातों में वैदिक रुद्र से और कई में ऐतिहासिक शिव से सादृश्य रखता है। सादृश्य के बिन्दु ये हैं—(१) देवता का संकीर्ण शरीर जो पशुओं का संघात होने पर भी नररूप हैं; (२) जंगली पशुओं से साहचर्य, और (३) योगासन मुद्रा। इनमें पहले दो लक्षण रुद्र में पाए जाते हैं और अन्त के दो शिव में। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, रुद्र का शरीर भी भयङ्कर तत्वों का संघात था और पशुपति रूप में वह पशुओं का स्वामी था। ऐतिहासिक शिव यद्यपि भयङ्कर तत्त्वों का संघात नहीं था तथापि उसका पशुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अपने घोर रूप में वह महाकाल है, अर्थात् काल का भी काल। समस्त भूत, प्रेत, पिशाच आदि गण उसके आदेश में हैं। विषधर मृणाल के समान उसके शरीर से लिपटे रहते हैं। वह व्याघ्राम्बर और कृत्तिवासस् हैं जिसका तात्पर्य यह है कि वह भयङ्कर से भयङ्कर जीव की खाल अनायास ही उधेड़ कर उसे वसन के रूप में ओढ़ने में समर्थ है। भारत के कुछ प्रान्तों में यह कहावत चली आती है कि दिवाली के दिन अर्थात् शीतकाल के आरम्भ में शिव बिच्छू, साँप, कनखजूरा आदि समस्त विषैले जन्तुओं को समेट कर अपने थैले में भर लेता है। जहाँ वे छः मास तक कैद रहते हैं, और ग्रीष्मकाल के आरम्भ में शिवरात्रि के दिन पुनः उन्हें थैले से बाहर फेंक देता है। ऐसी दन्तकथाओं का जन्म अवश्य भारत के अति प्राचीन सिंधुयुग में ही हुआ होगा।"

२. मेकडानेल—वैदिक माईथालोजी, पृ० ७५।
३. मेकडानल—वैदिक माईथालोजी, पृ० १४८।

इस प्रकार इस युग में तीन आदिम वृत्तियों का समन्वय फलीभूत हुआ : १—मन सिद्धान्त से सृष्टि में देवत्व विधान, २—उसका एक परम रूप—"व्यष्टि समष्टि", ३—उसकी तुष्टि-पुष्टि और उसे वशीभूत करने के लिए मंत्र[1], स्तुति, पूजा तथा बलि। इसी के साथ 'योगासन' की मुद्रा और 'चराचर' का 'नर रूप' में व्याप्त होना। ये भी मूल लोक-मानस के आनुष्ठानिक प्रक्रिया के रागतत्व परक उद्‌भाव हैं। अतः इसी लोकभूमि पर भक्ति का सम्पूर्ण परिपाक हुआ, पीछे तो उसकी अमनोवैज्ञानिक दार्शनिकता मात्र का संवर्द्धन हुआ।

यहाँ से भक्ति का विकास सगुण कृष्ण-राम तक कैसे पहुँचा, इसका किंचित दिग्दर्शन 'सूर की झाँकी' के आरंभिक निबंधों में कराया गया है। इनमें से एक तारतम्य दिखाने के लिए कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं :—

"+ + +मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के द्रविड़ अथवा व्रात्य एकेश्वरवादी थे। उनके इस ईश्वर का नाम शिव था। उनके लेखों में स्पष्ट उल्लेख है कि शिव परमात्मा है, वही विश्व का शास्ता है। वह अद्वैत है, स्वयं-भू है, वह महत् है और देवों में देवोत्तम है। वह सर्वदृष्टा और उदारचेता है, वह विश्व का कर्त्ता-भर्ता-हर्ता है।[3] एकेश्वरवाद भक्ति का प्रधान आश्रय है, विशेषतः तब जब कि उसे आधार मिल जाये। इस एकेश्वर शिव को इस युग में साकारता भी मिल गयी थी; जिसके कितने ही प्रमाण यहाँ मिले हैं। एक तो ऐसा अनोखा ठप्पा मिला है जिसमें शिव के दोनों ओर दो व्यक्ति बैठे हुए अङ्कित है। यह ठप्पा सिद्ध करता है कि इस युग के लोग भक्त थे—भक्ति का ऐसा

---

१. मन्त्र के संबंध में एक फलक की मीमांसा करते हुए उक्त शास्त्री जी ने लिखा है :—

"पूर्वोक्त मुद्राछाप नं० १ पर जिस चित्राक्षर की ओर ऐंद्रजालिक निर्देश कर रहा है वह फलक १३, ठ में निर्दिष्ट दो चित्राक्षरों का योग है। इनमें पहला अक्षर अश्वत्थ-देवता का प्रतीक और दूसरा समृद्धि का उपहारक बहंगी वाला है : फलक १३, ठ। संयुक्ताक्षर का तात्पर्य है—'समृद्धि का देने वाला परमदेवता"। एक हाथ से चित्राक्षर को छू कर और दूसरे हाथ को तांत्रिक मुद्रा में बैल की ओर तान कर ऐंद्रजालिक मानो इस मन्त्र का उच्चारण कर रहा है—"परमदेवता की कृपा से तुम सौम्य बन जाओ और साथ ही मेरे लिए सौभाग्य और समृद्धि का कारण बनो।" इस चित्र में स्पष्ट प्रतीत होता है कि उद्दण्ड जंगली पशु को सौम्य तथा उपकारक बनाने के लिए पुरोहित परम देवता की सहायता का आवाहन कर रहा है।"

२. देखिये सूर की झाँकी—निबन्ध २, ३, ४, तथा ५, पृ० ११ से ४० तक।

३. हेरस : 'रिलीजन आव दी मोहनजोदड़ो पीपिल ऐटसेट्रा।'

मूर्त्त प्रमाण अन्यत्र प्राप्त नहीं। फलतः आर्यों से पूर्व द्रविड़ों में यही भक्ति जन्म ग्रहण कर चुकी थी और प्रचलित हो चुकी थी।

"++ऋग्वेद के वरुण में भी वे समस्त तत्त्व दिखायी पड़ते हैं जो भक्ति के बीज कहे जा सकते हैं। +++ वरुण विषयक जिन भक्ति के तत्त्वों का आभास हमें ऋग्वेद में मिलता है, वह किसी बाहरी प्रभाव का ही परिणाम होगा। वरुण विषयक ऋचाओं का निर्माण संभवतः उस समय हुआ होगा जब आर्य लोग मोहनजोदाड़ियों के सम्पर्क में आ चुके होंगे। इसके उपरांत वैदिक साहित्य में हमें दो विशेष उल्लेखनीय घटनाएं मिलती हैं—एक तो केनोपनिषद के द्वारा प्रस्तुत की गयी है, जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है। "ब्रह्म" को देख कर वैदिक देवताओं का आश्चर्य और उसके समक्ष उनकी असमर्थता, तथा उमा हेमवती द्वारा उसका परिचय—ये तत्त्व यह स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि वैदिक देवताओं के परिकर में उनके लिए अपरिचित और दूसरे शब्दों में बाहरी तत्त्व का प्रवेश हुआ—उसका व्याख्यान "उमा हेमवती" अर्थात् शिव परिकर की स्त्री ने किया। दूसरी महान घटना है "श्वेताश्वतर उपनिषद की रचना"—श्वेताश्वतर में स्पष्टतः भक्ति का प्रतिपादन है; और असंदिग्ध रूप में इस भक्ति का इष्ट 'रुद्रशिव' को बताया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद के ऋषि श्वेताश्वतर को महाभारत में 'महापाशुपत' कहा गया है। इसी उपनिषद में सबसे पहले 'भगवत' शब्द का प्रयोग शिव के लिए हुआ है। इन दोनों वैदिक घटनाओं को साथ-साथ देखने से विदित होता है कि वैदिकेतर क्षेत्र से आर्यों को पहले तो समस्त देवताओं के मूल स्रोत 'ब्रह्म' का ज्ञान कराया गया, और तदनन्तर उसका अपनी परम्परा के अनुकूल नामकरण किया गया। फलतः इस उपनिषद के द्वारा 'इन्द्र' और 'ब्रह्म' परम्पराओं का सम्बन्ध हुआ और आर्यों ने वैदिक काल में ही 'भक्ति' को महत्व प्रदान किया।

और, तब भारत में कुछ बड़े परिवर्तन हुए और भक्ति का केन्द्र 'शिव' के स्थान पर 'विष्णु' को बनना पड़ा। 'शिव' का स्थान विष्णु को सरलता से नहीं मिल गया, इसके लिए अत्यन्त दीर्घकालीन और भयानक संघर्ष रहा, जिसका इतिहास भारत के पुराण और पुराण-पूर्व के साहित्य में बिखरा पड़ा है। असुरों का सम्बन्ध साधारणतः शिव-पूजा से दिखायी पड़ता है। असुरों अथवा राक्षसों और देवताओं के संघर्ष में यही शिव और विष्णु की ही प्रतिद्वन्द्विता दिखायी पड़ती है। सुरों-असुरों और देवों-राक्षसों के संघर्षों की समस्त कथाओं को एकत्र करके देखा जाय तो यह सिद्ध होगा कि पहले शिव का

दौर-दौरा था।[1] फिर शिव और शैवों को परास्त[2] करके विष्णु की प्रधानता हुई, दोनों में प्रतिद्वन्द्विता और युद्ध[3] बहुत समय तक चला, तब दोनों के समन्वय की चेष्टा हुई।[4] और अन्त में शिव पिछड़ गये तथा विष्णु का प्राधान्य स्थापित हो गया। + + + शिव का रुद्र के साथ संयोग, और त्रिवेद 'ब्रह्मा-विष्णु-महेश' की कल्पना सामंजस्य और समन्वय का परिणाम है।

+ + +

"विष्णु शब्द इन्द्र तथा वरुण की भांति वेदों के अन्य प्रकृतिवादी देवताओं के नामों से भिन्न है। इसकी व्युत्पत्ति पर कई प्रकार से विचार हुआ है। सायण ने इसका शब्दार्थ 'व्यापनशील' दिया है। ब्लूमफील्ड ने 'वि+स्नु' में संधि विग्रहपूर्वक इसका अर्थ 'पृष्ठ पर होकर' (Through the back) किया है। आप्टे ने इसकी साधारण व्युत्पत्ति के लिए यह उदाहरण दिया है।

यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विशधातोः प्रवेशनात्॥

इस व्युत्पत्ति में 'विश' धातु का उल्लेख है, और यह 'विश' धातु ऐतिहासिक दृष्टि से हमें वेदों के उस 'विश' शब्द तक पहुँचाती है जो ब्राह्मणों और क्षत्रियों के विशेष वर्गों को छोड़ कर शेष समस्त आर्य वर्गों के लिए प्रयोग में आता था और जिसका रूप वैश्य शब्द में अभी तक सजीव है। आप्टे द्वारा दी गयी उपरोक्त व्युत्पत्ति में यदि हम विश्व के स्थान पर विश रख दें तो

१. रावण का समस्त देवताओं पर आतङ्क इसी शैव विजय का द्योतक है। श्वेताश्वतर ऋषि का 'महा पाशुपात' होना और उपनिषद् में रुद्र-शिव को ब्रह्म का स्थान देना भी इसी सत्य को प्रकट करता है।

२. राम के द्वारा रावण की पराजय इसे सूचित करती है। सती के दाह के उपरान्त शिव की विरक्ति में भी यही संकेत है।

३. शिव का पार्वती से विवाह, स्कन्द का जन्म, देवताओं की सहायता, शैव की पुनः प्रतिष्ठा का यत्न है। अर्जुन और शंकर युद्ध का इसी का प्रतीक है।

४. शिव-विष्णु के भयानक युद्ध को ब्रह्मा ने शान्त किया और दोनों को एक बताया इसमें दीर्घ संघर्ष और अन्त में समन्वय का भाव बताया है। इस समन्वय को मूर्तियों में भी उत्कीर्ण किया गया। शिव-विष्णु की संयुक्त मूर्तियां उपलब्ध होती है।

५. परशुराम और राम का संघर्ष भी इसी का प्रतीक है। परशुराम शिव भक्त थे, तभी उन्होंने पिनाक के टूटने पर राम को ललकारा। राम ने पिनाक तोड़ा यह घटना, और परशुराम की पराजय और शस्त्र-समर्पण शिव की पराजय के ही द्योतक हैं।

स्पष्ट हो जायगा कि विष्णु वह देवता है जो समस्त विश जाति का इष्ट था— फलतः 'विष्णु'नाम उस काल के किसी देवता को विश जाति के द्वारा दिया गया होगा और यह उसी वर्ग में विशेष प्रतिष्ठित होगा, यह सँभावना विदित होती है - यही वैश्य जाति आज 'वणिक' भी कहलाती है और इतिहास के अन्वेषकों की स्थापना है कि यह 'वणिक' शब्द वैदिक 'पणिस' का ही रूपान्तर है और आगे भी वे कहते हैं कि यह 'पणिस' वैदिक काल की अनार्य जाति थी : यह जाति वैदिक और वैदिक-पूर्व काल में अत्यन्त ही प्रसिद्ध व्यापारी जाति थी। जो दूर-दूर देशों में जाकर वाणिज्य करती थी। वेदों की साक्षी से विदित होता है कि यह जाति लेखन-कला में सिद्धहस्त थी, क्योंकि इन्हें वेदों में 'ग्रथिन' कहा गया है। इनके पास विशाल लोहे के कोट थे, ये सोम-विक्रेता थे और ये आर्यों की गायें चुरा ले जाते थे। इन्द्र ने इन्हें युद्ध में जीत कर सप्त-सिंधुओं का जलमोचन किया। अब यह उल्लेखनीय है और विचारणीय है कि आर्यों की वैश्य जाति का विश शब्द अनार्यों की जाति के द्योतक इस 'पणिस' या 'वणिक' का कैसे पर्यायवाची हो गया। निश्चय ही ये दोनों वर्ग परस्पर मिल-जुल गये होंगे। इस मेल-जोल में ही सम्भवतः यह रहस्य छिपा होगा कि शिव का स्थान विष्णु ने ग्रहण कर लिया।

आर्यों और अनार्यों के इस मेल-जोल ने देवताओं के सम्बन्ध में ही वह तरल अवस्था प्रस्तुत कर दी कि इन्द्र, विष्णु, शिव में कोई भेद नहीं रहा, ठीक वैसे ही जैसे कबीर ने सिद्ध करने की चेष्टा की कि राम और रहीम में कोई भेद नहीं। यह तरलता आर्यों के विविध वर्गों के देवताओं के नामों के सम्बन्ध में भी थी। विष्णु के पर्यायवाची 'जिष्णु' शब्द को लिया जाय तो विदित होगा कि यह सूर्य, इन्द्र, विष्णु तीनों के लिए आता है। शिव को महेन्द्र बनाया गया, 'मह' विशेषण से अत्यन्त आदर प्रदान किया गया और अन्त में वही 'महेन्द्र' तीसरे स्थान पर पहुँच गये।

"जिष्णु और विष्णु की तुलना से यह भी विदित होता है कि 'जिष्णु' का मूल 'जि' है जिससे इसका शब्दार्थ होता है विजय की योग्यता वाला-विजेता। इसी अर्थ के कारण इन्द्र, सूर्य, विष्णु ही नहीं अर्जुन भी जिष्णु कहे जाते हैं। उसी प्रकार 'वि' मोक्ष है। जिससे विष्णु हुआ—मोक्ष की योग्यता रखने वाला-मोक्षदाता। इस मोक्ष का भाव इन्द्र के साथ वृत्र और पणिस से जल-मोक्ष का है और वरुण के साथ पाश-मोक्ष अथवा शुनः शेफ के मोक्ष का है तभी विष्णु उपेन्द्र हैं।

+ + +

"ऋग्वेद में जो विष्णु बहुत पिछड़े हुए थे, वे यजुर्वेद में चमक उठे। वहाँ

विष्णु उपेन्द्र थे, 'इन्द्र के साथी' थे, उनका पृथक् कुछ महत्व न था। उन्हीं विष्णु को यहाँ पृथक् श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो गया। स्थिति में परिवर्तन हो गया। जो यज्ञ पहले कामना सफल करने और देवताओं को प्रसन्न करने का साधन था वह अब स्वतः साध्य हो गया। वह स्वयं देवता हो गया। यज्ञ ही विष्णु है, ऐसा कई स्थानों पर कहा गया। विष्णु अब व्यावहारिक कर्मकाण्ड से ऊपर उठने लगे, अब उनके सम्बन्ध में परिभाषा ही नहीं होती, उनका रूप भावात्मक हो चला। वह कर्म-क्षेत्र से उठकर ज्ञान-क्षेत्र में पहुँचने लगे। इस काल के बाद का साहित्य वैदिक कर्म तथा यज्ञ-याग प्रधान धर्म के प्रति एक क्रान्ति का अध्याय आरम्भ करता है। ऋषियों को प्रतीत होने लगा था कि यज्ञ-याग करने मात्र से काम नहीं चल सकता। उस यज्ञ के स्वरूप को जानना आवश्यक है। वह यज्ञ मानसिक भी हो सकता है। बृहदारण्यक के आरम्भ में अश्वमेघ यज्ञ की मानसिक उपासना के रूप में व्याख्या की गयी है। आरण्यक नगर से दूर एकान्त अरण्यों के रहने वाले ऋषियों के निमित्त प्रतीत होते हैं। वहाँ वे आर्य-धर्म के कर्मों को यज्ञयाग आदि को करने में किस प्रकार समर्थ हो सकते थे? वहाँ सुविधा और सामग्री कहाँ थी! अतः वे मानसिक उपासना करने लगे।

"वे यज्ञ के, आवश्यक प्रतीत होने वाले उपचारो मे भी घबड़ा गये होंगे। यज्ञ की बलि ने भी उन्हें विचलित कर दिया होगा। ऋग्वेद में शुनः शेफ का उल्लेख है, उसकी कथा वैदिक ही है।

"+ + + वे वैदिक कर्मों को त्याग नहीं सकते थे। उन्होंने उसका रूप बदल दिया। उसे मानसिक-उपासना का रूप दे दिया। इस काल में वैदिक कर्म को मानसिक और भावात्मक रूप मिलने के साथ उनके तथ्य पर विचार करने की ओर झुकाव देखा जाता है।

"इसी ब्राह्मण और आरण्यक के समय में 'ब्रह्म' का अधिकार जानने और बताने की चेष्टा की गयी। ऋग्वेद में ब्रह्म छन्द के लिए आया। अब ब्राह्मणों के प्राधान्य से ब्रह्म यज्ञ तथा देवताओं मे भी बढ़कर हो गया। विण्टरनिट्ज़ ने इसी को लक्ष्य करके लिखा है—

"इस प्रकार निष्कर्ष यही निकलता है कि ब्रह्म अब स्वर्गीय देवताओं का पार्श्ववर्ती 'मानवी देवता' नहीं रहा। वह देवताओं से ऊँचा उठ गया है। शतपथ ब्राह्मण में ही यह तो कह दिया गया मिलता है कि 'ऋषि से अवरोहित ब्रह्म ही वस्तुतः देवता है' अर्थात् उसी में सदैव देवता समाहित हैं।"[1]

---

1. Thus at last the conclusion is arrived at, that the Brahman is no longer a human god by the side

"ब्रह्म ने इस प्रकार प्रधानता पा ली। यह ब्रह्म इसी यज्ञ से सम्बन्ध रखने के कारण सृष्टि का कर्त्ता हुआ। इसका रूप रहस्यमय होता गया। इस-मार्ग के 'इन्द्र' अग्नि और वरुण की उपासना को छोड़ कर ऋषि लोग जङ्गल में बैठकर 'ब्रह्म' के सम्बन्ध में विचार करने लगे। कर्म-मार्ग की क्रांति ज्ञान-मार्ग में हो गयी। इस प्रत्यावर्तन ने ब्राह्मणों के युग का विकास उपनिषदों के रूप में कर दिया।

+ + +

सामवेद की केनोपनिषद में ब्रह्म की यह विचित्रता और सर्व-शक्ति मत्ता एक मनोहर कहानी के रूप में समझायी गयी है।

"एक देवासुर-संग्राम में 'ब्रह्म' की कृपा से देवों को विजय मिली। सभी लोग इस विजय के अभिमान में फूल गये और अपनी प्रशंसा करने लगे। वे यह न जान सके कि वास्तव में इस विजय का कारण क्या है? उस ब्रह्म ने ऐसे अभिमान को दूर करने का निश्चय किया, वह उनके मध्य में एक विचित्र परन्तु पूजनीय के रूप में उत्पन्न हुआ।

"ते अग्निमब्रवन जातवेद एतद्वजानीहि किमेतद्यक्षा मिती तथेति ॥१६॥ केन"

"अग्नि को उस पूजनीय का परिचय प्राप्त करने का भी भार दिया गया। 'अग्नि' उस ब्रह्म के समक्ष गया। ब्रह्म ने अग्नि की शक्ति के सम्बन्ध में जानने की उत्सुकता प्रकट की। अग्नि ने बड़े गर्व-पूर्वक अपनी शक्ति का वर्णन किया। एक हलका-सा तृण ब्रह्म ने अग्नि की परीक्षा के निमित्त उसके सामने रखा। अग्नि अनेक प्रयत्न करने पर भी उसे न जला सका। वह उस पूजनीय व्यक्ति का पता न पा सका। इसी प्रकार वायु, इन्द्र आदि सभी देवता हार गये।

"इस कथा से यह ऐतिहासिक तथ्य निकल सकता है कि उस समय तक अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं की प्रतिष्ठा थी; कोई एक स्वयं-भू सर्वात्म सत्ता भी है, इसका विशेष ज्ञान नहीं था। उस ब्रह्म ने अपनी शक्ति का परिचय दिया। अग्नि उस ब्रह्मत्व से शून्य रहकर तुच्छ है, वायु भी निस्सार है और इन्द्र भी प्रतिष्ठाहीन है। उपनिषदों के ऋषि-कवियों ने उसी विष्णु-सर्व-शक्तिमान को खोजा और उसका महत्व समझाया।

---

of the heavenly gods but that he raises himself above the gods. Already in the Satapatha Brahman it is said 'The Brahman descended from a Risi indeed is all deities" i. e. in him all deities are incorporated.

यज्ञ में ब्रह्म की प्रधानता हुई। उस ब्रह्म की प्रधानता से सृष्टि में परम-तत्व समझा जाने लगा। उन्हें निश्चय हो गया कि 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्वरव"—ब्रह्म देवताओं में सर्व प्रथम हुआ [अथर्ववेदीय मुण्डक १ : (वही)

× × × ×

अभी तक ब्रह्म देव था, वह एक रहस्य था, उसका कोई आकार विशेष न था। आकार की प्राचीरों से मुक्त, रहस्य की स्वच्छन्द वायु को भोगता हुआ यह ब्रह्म विश्व-देव के रूप में ग्रहण किया गया। यह ब्रह्म विश्व-आत्मा के रूप में दूसरीकोटि के उपनिषदों का विषय बना। साम्प्रदायिक उपनिषद् तीसरी श्रेणी में रखे गये हैं। उनमें आत्मा के स्थान पर विष्णु अथवा शिव के किसी रूप को रख दिया गया। + + + +

+ + + +

"+ + निस्संदेह बौद्धों से पूर्व विष्णु-पूजा का आरम्भ हुआ परन्तु उसकी अवतार रूप में प्रतिष्ठा बहुत बाद की बात है।

"उस 'विष्णु' ने ऋग्वेदकालीन 'सूर्य' के पर्यायत्व से मुक्ति पायी, यज्ञ का अधिष्ठाता बना, उसे ब्रह्म की कोटि तक पहुँचा दिया गया। उसी को अब धीरे-धीरे विभिन्न क्षेत्रों में साम्प्रदायिक छाप से मुद्रित करने के लिए नारायण, नृसिंह, राम और फिर कृष्ण के नाम दिये जाने लगे। कितने रंगों की रंजित भूमिका के साथ 'विष्णु' ने लौकिक साहित्य को इन्द्र-धनुषी बनाया।

+ + +

"इस विष्णु के विकास का दर्शन करके अब विष्णु-शिव संघर्ष में यह बात जानने योग्य रह जाती है कि वैदिक आर्यों ने पहले तो शिव को रुद्र के साथ मिलाया, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, रुद्र को शतरुद्रीय में सहस्र नेत्रों वाला बतलाया गया है जो सूर्य का संकेत है और मोहेंनजोदड़ो वासी शिव को सूर्य मानते थे—तब आगे पुराणों में भी शिव को सूर्य कहा गया।

पद्म पुराण ने स्पष्ट बताया है कि शिव और सूर्य में कोई अन्तर नहीं। इसी पुराण में सूर्य को रुद्रवपुष कहा गया है। सौरपुराण में रुद्र को आकाश में स्थित माना है और गरुड़पुराण में 'शिव-सूर्यायनमः' कहा गया है। बारह आदित्यों में विष्णु के अर्थ शिव अथवा रुद्र भी हैं। अन्य महाभारत, वामन, कूर्मादि पुराणों में भी शिव को सूर्यवाचक नामों से अभिहित किया गया है। भर्ग भी शिव का एक नाम है। रुद्र अग्नि भी है। इस सूर्य और अग्नि के माध्यम से शिव-विष्णु एक भूमि पर आ गये, तो आगे विष्णु ने यज्ञ के सहारे ही जैसे इन्द्र को पदच्युत कर दिया, इस शिव को भी हटा दिया। इसका ऐतिहासिक उल्लेख शतपथ ब्राह्मण तथा पुराणों में विद्यमान है जिसमें स्पष्टतः

यह प्रश्न प्रस्तुत हुआ है कि देवताओं में श्रेष्ठ कौन है और परीक्षा के उपरान्त विष्णु ही श्रेष्ठ माने गये, भृगु की लात से विष्णु की जय ही घोषित होती है। इस प्रकार शिव हट गये, विष्णु प्रधान हो गये; शिव से जो भक्ति संलग्न था वह अवश्य विष्णु के साथ रह गयी।+++

"विष्णु कैसे कृष्ण में अवतरित हुए अथवा रूपान्तरित हुए इसे समझने के लिए भी हमें संभवतः वेदों से ही आरम्भ करना पड़ेगा, क्योंकि यों तो अवतारवाद का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है पर उसको यदि विचार का विषय न भी बनाया जाय तो भी यह प्रश्न ही आवश्यक है कि अवतार के लिए विष्णु ने कृष्ण को क्यों चुना और क्यों आगे के कवियों ने कृष्ण के लिए भी यह कहा कि उसके सम्बन्ध में वेदों ने नेति-नेति कहा है।××

× × ×

"महाभारत की साक्षी से विदित होता है कि पहले नारायणी सम्प्रदाय था। शान्तिपर्व में इसके विषय में भगवान ने कहा है कि यह सम्प्रदाय परम्परा से चलता हुआ वृहस्पति तक पहुँचेगा। जिनसे राजा वसु उपरिचर को प्राप्त होगा। यहीं यह समाप्त हो जायगा। इस सम्प्रदाय में दीक्षित होने पर वसु उपरिचर ने पशु-बलि-रहित अश्वमेध यज्ञ किया, तब उसे साक्षात् हरि ने प्रकट होकर दर्शन दिये थे। यह यज्ञ आरण्य विधि से था अर्थात् मानसिक था, एकांतिक था, तभी, वसु उपरिचर को एकांतिक उपासक कहा गया है।

"उधर नारद ने श्वेतद्वीप में नारायण के दर्शन किये। वहाँ उन्होंने अपने वसुदेव धर्म की व्याख्या नारद को सुनायी। इसमें उन्होंने वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को अपनी ही मूर्तियाँ बताया है और कहा है कि आगे इन चारों रूपों में अवतार लेकर कंसादि असुरों का संहार करूँगा। इसी को एकान्तिक धर्म बतलाते हुए भगवान ने कहा है कि इस धर्म को सात्वत ही पालन करते हैं।

"इस विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि महाभारत यह मानता है कि नारायण प्राचीन धर्म है, जिसकी परम्परा विदित नहीं। वह वसु उपरिचर तक रहा। 'हरि' उसके इष्ट का नाम था, वह पशु-बलि-विरोधी और एकान्तिक उपासक था। उपरिचर से यह नारायण-सम्प्रदाय सात्वतों में विलीन हो गया। सात्वत सम्प्रदाय ही नहीं एक कुल था। वह पद्धति में नारायणीय था किन्तु 'हरि' के स्थान पर 'वसुदेव-व्यूह' को मानने लगा। ऊपर के आख्यान यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्वतों ने नारायण-सम्प्रदाय निगल लिया। अब कृष्ण 'हरिनारायण' 'वासुदेव संकर्षण' हो गये थे।

+ + +

"इसी काल में 'लगभग ई० पू० २०० वर्ष में' बेसनगर का गरुड़स्तम्भ हेलियोदोर ने सर्वेश्वर वासुदेव के लिए स्थापित किया था। इसमें वह अपने को भागवत धर्म का अनुयायी बताता है। इससे यह प्रकट होता है कि पाणिनी पूर्व से प्रचलित सात्वत् धर्म ई० पू० की पहली-दूसरी शताब्दी तक भली प्रकार प्रचलित हो गया था और इसको अब सात्वत् न कहकर संभवतः भागवत कहा जाने लगा था। संभवतः भागवत शब्द का प्रयोग, साहित्य में सबसे पहले शैवों के लिए हुआ है। पातंजलि ने महाभाष्य में शिव-भागवतों का वर्णन किया है। शिव-भागवत से यह भागवत शब्द विष्णु को मिला होगा ऐसी संभावना विदित होती है। अथर्वशिरस् उपनिषद में और श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव अथवा रुद्र-शिव को 'भगवत' कहा गया है। और आज तो यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिव भी भागवत हो सकते हैं, यद्यपि कोष में यह उल्लेख अवश्य मिलेगा कि 'भगवत' संबोधन सभी देवताओं के लिए आ सकता है। नारायण, सात्वत और शैवों के संगम से नारायण, हरि, वासुदेव, भगवत पर्यायवाची हो गये और इनसे अभिप्रेत था 'विष्णु'। किन्तु वासुदेव-संकर्षण का व्यूह तो मानव-समूह का व्यूह था, जो नारायण, हरि, विष्णु की भाँति देवता मात्र नहीं थे, मनुष्यों की भाँति शरीर धारी थे और मनुष्यों की भाँति जन्म-मरण से युक्त थे। यह भी विदित होता है कि ये सात्वत नाम की जाति के इष्ट थे, ये उनके कुल के वीर थे।

इधर भारत में आभीरों अथवा अहीरों का प्राधान्य हो उठा। ये आभीर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इनके सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का यह कथन है कि ये भारतेतर प्रदेशों से भारत में आये। किन्तु नई शोधों से यह परिणाम समीचीन प्रतीत होता है कि ये शुद्ध भारतीय है, और सम्भवतः आदि अनार्य हैं। इनका नाम तामील भाषा का आभीर है जिसमें आ का अर्थ गाय है। आभीर अथवा अहीर, तामिल शब्द आभीर में गोप-ग्वालों का पर्याय है। अहीर को ब्रज में ग्वाला भी कहा जाता है। ये गोप गोपाल और कृष्ण के पूजक थे। कृष्ण इनका नेता था। वेदों में भी एक ऐसे कृष्ण का उल्लेख है जिसने अँशुमती नदी के किनारे इन्द्र से युद्ध किया था। डा० डी० आर० भंडाकर का मत है कि यह कृष्ण आभीरों का कृष्ण है। [डी० आर० भंडारकर : सम अस्पेक्ट्स आव एँशयंट इंडियन कलचर] इसी कारण कृष्ण के साथ गाय और गोपी का घनिष्ठ सम्वन्ध है। आभीरों के प्राबल्यके समय और वैदिक कर्मकाण्ड अथवा यज्ञ-विधान के शैथिल्य के समय, उस व्यवस्था के बिरोधी मत उन्नत हुए, और क्योंकि उनकी भूमि

प्रायः समान थी अतः वे परस्पर मिल गये। इस प्रकार वासुदेव ही कृष्ण हो गये।

"वासुदेव गोपाल-कृष्ण में मिल गये। अब कृष्ण का रूप पूर्ण हो गया। इस विकास में गोपियों का वह आग्रह भी ऐतिहासिक माना जा सकता है जिसमें वे यशोदानन्दन गोपाल कृष्ण को ही अपना इष्ट मानने का हठ करती है और वे मथुरा नहीं जाती हैं, न वासुदेव, देवकी-पुत्र[1] वासुदेव में ही श्रद्धा दिखाती हैं। उद्धव से यही प्रार्थना करती हैं—'बारक वह मुख फेरि दिखाबहु दुहि पय पिअत पतूखी', हरिवंश में कृष्ण ने घोषित किया है कि ब्राह्मण ऋचाओं का यज्ञ करते हैं, कृषक हल का यज्ञ करते हैं, हम गिरि-पर्वत का यज्ञ करेंगे। हमें वन और गिरि की पूजा करनी चाहिये। हमें गायों की पूजा करनी चाहिये। देवता भले ही इन्द्र की पूजा करें हम तो पर्वत की पूजा करेंगे। मैं तो बलात् भी गायों की पूजा निश्चय ही कराऊँगा। गाय, पर्वत, वन आदि की पूजा और इन्द्र का विरोध ये सभी बातें कृष्ण में अत्यन्त आकर्षक थीं। इनका सम्बन्ध वैदिक कृष्ण से तो स्पष्ट दिखायी पड़ता है, उस कृष्ण से जो अंशुमती के किनारे इन्द्र के विरुद्ध सेनाएँ लेकर खड़ा हुआ था, वही वासुदेव भी हुआ पर उसे उन समस्त चमत्कारो से युक्त होना चाहिये जो अन्य देवताओं में हैं विशेषतः विरोधी इन्द्र में। इसी लोकमनोविज्ञान ने कृष्ण का जो चरित्र विस्तृत किया उसने वस्तुतः उसमें इन्द्र के सभी चमत्कार सम्मिलित कर लिये। ऋग्वेद में इन्द्र के समस्त कौतुकों का उल्लेख एक ही मंत्र 'स जनास इन्द्र' में अत्यन्त विशदता पूर्वक हुआ है। उसमें कृष्ण की प्रायः समस्त लीलाओं का वीज विद्यमान है।

इन्द्र या कृष्ण

वेदों में इन्द्र का कुछ ऐसा वर्णन है कि उसमें वर्तमान कृष्ण-चरित्र के प्रायः सभी अभिप्राय मिल जाते हैं। एक अत्यन्त ही प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें इन्द्र का परिचय दिया गया है। उस मंत्र के कवि ने बड़ी ओजपूर्ण वाणी में दृढ़तापूर्वक बताया है कि 'स जनास इन्द्रः' हे मनुष्य ! वही इन्द्र है ! इस मंत्र में इन्द्र के महत्कार्यों का कवि ने उल्लेख किया है।

१. य जातः एव प्रथमः मनस्वान् देवः देवान क्रतुना परिऽअभूषत।
कृष्ण को जन्म से ही परम ब्रह्म स्वीकार करने की ओर संकेत।
समस्त देवताओं में अधिक शक्तिशाली और कौन हो सकता है ?

---

१ देवकी-पुत्र कृष्ण का एक और उल्लेख वेदों में है। इन्हें कई विद्वान भागवत के कृष्ण ही मानते हैं, पर बहुत से अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं।

यस्य शुष्मात् रोदसीइति ।
अभ्यसेताम् नृम्णस्य महना ।
सः जनासः इन्द्रः ।

किंचित दूरान्वय से रोदसी और कंस शब्द समानार्थी प्रतीत होते हैं यथा—
कं = जल – (सत्येनमाभिरक्ष त्वं वरुणेत्यभिशाप्य कं – याज्ञ – वल्क्य) तथा कंसं = जल पात्र (A drinking vessel—आप्टे)
जलपात्र = पृथ्वी = रोदसी ।

फिर

'सं' का पृथक अर्थ भी होता है = साँप
कं + सं = जल का सर्प = अहिवृत्र । वायु भी अर्थ होता है ।
कं + सं = जल + वायु = द्यावा पृथ्वी

अतः रोदसी अथवा कंस जिससे भयभीत हुआ जन्म के समय ही । रोदसी शब्द में दो अर्थ हैं । पृथ्वी और आकाश । कं और सं (कंस) में भी दो भाव हैं ।

२. यः पृथिवीम् व्यथमानाम् अदृंहत्
जिसने व्यथमान, दुःखी, पृथ्वी को दृढ़ किया; कैसे ?
यः पर्वतान् प्रऽकुपितान अरम्णात् ।
जिसने (अरम्णात्) क्रीड़ा की (पर्वतान्) पर्वतों से
जो (प्रकुपितान) हिले हुए थे, चंचल, थे ।

और

यः अन्तरिक्षम् विऽममे वरीयः

जिसने पर्वत को (अन्तरिक्षं) आकाश में पृथ्वी से ऊपर (विममे वरीयः) उठा लिया और यः द्याम् अस्तभ्नात्–जिसने इस प्रकार उस पर्वत पर (द्याम्) आकाश के जल को रोका (अस्तभ्नात्)

इस प्रकार अर्थ करने से इसमें गोवर्द्धन-धारण की घटना लक्षित होती है ।

३. य : हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् – जिसने सर्प को मारकर (सप्त) सर्पणशील नदी को प्रेरित किया, मुक्त किया । कालियनाग से यमुना के मुक्त करने की ओर संकेत मिल सकता है ।

यः गाः उत्ऽआजत् अपऽधावलस्य – जिसने वल की गुहा में से गायों को निकाला । अघासुर नाम का एक असुर अजगर बनकर गायों को निगल गया था । कृष्ण भी साथ गये और उनका उद्धार किया ।

यः अश्मनोः अन्तः अग्निम् जजान—दो पत्थरों से जिसने अग्नि पैदा की।

संऽवृक् समत्ऽसु सः जनास : इन्द्र—जो संग्राम में नाश करने वाला है। खांडव दाह के लिए हो सकता है यह संकेत।

४. येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि—जड़-चेतन का कर्त्ता भी है कृष्ण।

यः दासम् वर्णम अधरम् गुहा अकरित्यकः—शत्रुओं अथवा असुरों को आधीन करने वाला। 'दास'—The words दास and दस्यु are used in the Rigveda of all the enemies of the Aryans, whether demonds or men.

[देखिए पीटर पीटरसनः हिम्स फ्राम दी ऋग्वेदः पृ: ११७] श्वघ्नीऽइवयः जिगीवान् लक्षम्—सायण ने बताया है कि 'श्वभिमृगान् हन्तीति श्वघ्नी व्याधः यथा व्याधो जिघृक्षन्तं मृगं परिग्रहणाति तद्वत्—व्याध जिस प्रकार अपने लक्ष्य का वध करता है उसी प्रकार असुरों का वध किया। कृष्ण ने तृणावर्त, धेनुक, केशिन आदि का वध किया था। और इसी प्रकार—

आदत् अर्यः पुष्टानि—शत्रुओं की सम्पत्ति को (कृष्ण ने कंस का राज्य) प्राप्त किया।

५. यम् स्म पृच्छन्ति कुह सः इति घोरम् उत ईम् आहुः न एषः अस्ति इति एनम्–कि वह कौन है, गोपियों ने पूछा, जिसके सम्बन्ध में पूछा जाता है।

'निर्गुन कौन देश को वासी' और जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि 'वही नहीं है'। उद्धव ने कहा कि वह निराकार है।

सः अर्यः पुष्टीः विजुः इव आमिनाति श्रत् अस्मै धत्त—शत्रुओं की संपत्ति का जो नाश करता है उसमें श्रद्धा करो।

य रध्रस्य चोदिता—'रध्रस्य चोदिता' इन्द्र का बहुत प्रिय नाम है इसलिए इन्द्र राधानांपति भी कहा गया है। रध्र ही राधा है समृद्धि की प्रेरक, और उसको प्रेरित करता है। यह रध्र कृष्ण की राधा हो गयी है। सायण में तो एक स्थान पर रध्र का यह अर्थ दिया है "रध्रमाराधकं यजमानम्"।

यः कृशस्य यः ब्रह्मणः नाधमानस्य कीरेः—दुर्बलों और ब्राह्मणों का रक्षक।

७वे में इन्द्र को गायों का, ग्रामों का अनुशासक बताया है। उसे 'अपाम् नेता' कहा गया है। इसमें जल में से कमल लाने वाले का उल्लेख हो सकता हैं। गायों और गामों से उसका 'गोप' होना सिद्ध है।

८वे में यह बताया गया है कि युद्ध में प्रवृत्त दोनों पक्ष जिससे सहायता की याचना करते हैं। क्या इसमें अर्जुन और दुर्योधन दोनों का साथ-साथ युद्ध के लिए सहायतार्थ प्रार्थना करने जाने का बीज नहीं है ?

९वे में 'यत्र कृष्णस्ततो जयः' का भाव है । यस्तमात् न ऋते विऽज-यन्ते जनासः । यही नहीं इसमें 'यः विश्वस्य प्रतिऽमानम्' कहकर कृष्ण के विश्वरूप (विराटरूप) का संकेत निहित कर दिया है ।

इस एक ऋचा से ही कुछ ऐसा आभास मिलता है कि यह इन्द्र का वर्णन नहीं कृष्ण का वर्णन है । इन्द्र विषयक अन्य ऋचाओं से भी ऐसी ध्वनि मिलती है ।

उदाहरणार्थ ऋग्वेद के चौथे मण्डल का १८ वाँ मन्त्र लीजिये। इसके सम्बन्ध में W. Norman Brown (Philadelphia) का कथन है ।

"The fullest account of Indra's early days, as recorded in any single hymn of the Rigveda appears in VI. J A O S 62, 63, 93, 95, this material with certain other material found elswhere in the Rigvda is utieised in an effort to reconstruct the general outline of the story of Indra's birth and infancy." (सिद्ध भारती pp. 131)

ऋग्वेद के उक्त मन्त्र के प्रथम श्लोक से ही विदित होता है कि इन्द्र की मां इन्द्र के उत्पन्न होते समय उसकी स्तुति कर रही है । वह जानती है कि इन्द्र देव हैं । साथ ही वह उससे यह भी प्रार्थना करती है कि अपनी मां को ऐसे नारकीय स्थान में न पड़े रहने दे--

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे

अतश्चिद् आ जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः

इस श्लोक से विदित होता है कि कृष्ण की मां देवकी कृष्ण के जन्म पर उनके भगवान विष्णु रूप में दर्शन देने के समय उनसे प्रार्थना कर रही है-- आप महान् हैं, प्राचीन परम्परा के अनुसार(यदायदाहि धर्मस्य...)आप अवतार ले रहे हैं, आप अवतार लें । मैं यहाँ नारकीय स्थान में पड़ी हूँ । आप यहाँ न रहें । किन्तु समय पर नारकीय स्थान से मेरा उद्धार करें--

(Indra's mother speaks) This is this is the ancient accustomed path, by which the gods were all born upward. Thence let this Mighty one be born (upward). Let him not make his mother fall down there (in Hell).

उक्त अनुवादक ने 'अमुया' शब्द पर यह टिप्पणी दी है ।

"Amuya" in the RV. regularly means 'there' in an evil scene : it is used of the place where the dead

Vrtra lie (I. 328) where demons lie (X. 89, 14), where those who practise sorcery by sexual intercourse are to go (I. 29. 5, X. 85. 30), probably also X 1352 where Indra is to strike down the wicked (V. 34. 5) here too it means (awful) Place of VII. 104. 17, implied in III 53, 21."

इसके स्पष्ट अर्थ हैं कि इन्द्र की मां वृत्र अथवा दानवों की बन्दिनी है। वह वहाँ से छिपकर किसी चमत्कार से इन्द्र को जन्म देने बाहर आयी है। अब इन्द्र को वहीं त्याग कर कर वह विवशता के कारण 'अमुया' उसी नारकीय स्थान को लौट रही है, इन्द्र को वह देव समझती है और आशा करती है कि वह उसका उद्धार करेगा—

इस श्लोक से इन्द्र और कृष्ण का तादात्म्य और भी अधिक पुष्ट हो जाता है। दूसरे श्लोक में है—

नाहमतो निरया दुर्गहैतत् तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि

बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै।

इस श्लोक में जैसे इन्द्र अथवा कृष्ण अपने मन में विचार कर रहे हैं कि न, अभी संकटों का सामना नहीं करना चाहिए। अर्थात् वृत्र को मारने का अभी उद्योग नहीं होना चाहिए, अभी तो मुझे बहुत से ऐसे काम करने हैं जो पहले नहीं हुए हैं, तब युद्ध भी करना है और पूछताछ भी—

स्पष्ट है कि कृष्ण उन लीलाओं की कल्पना कर रहे हैं जो कंस को मारने से पूर्व उन्हें करनी हैं।

परायतीं मातरमन्वचष्टन नानु गान्यनु नू गमिमानि

त्वष्टुगृहे अपिवत् सोममिन्द्र: शतधन्य चम्वो सुतस्य

He saw his mother leaving him. No. no I shall follow her. I must surely go with her! In Tvastr's house Indra drank Soma a haeemarrnp-worth of the pressed juice from the bowls.

इसमें गायों को चराने और त्वष्ट्र के घर सोम पीने का उल्लेख है। त्वष्ट्र नन्द, सोम मक्खन है। यहाँ पर सोम के सम्बन्ध में जो टिप्पणी दी है, वह ध्यान देने योग्य है—

"In other passages Indra steals the soma after overcoming Tvastr (III. 48. 4, of. I. 61. 7) who

seems to be the Mighty Father (but not Indra's father) cf. III 48. 2. or he has to slay Visvarupa to get it either alone or with the aid of Trita Aptya (X. 8, 8-9: II, 11, 15)—

इसमें सोम की चोरी का उल्लेख भी है, जो कृष्ण की माखन-चोरी लीला का बीज है। कृष्ण के गाय चराने का भी।

किस ऋधक् कृणवद् सहायं यं मासो जभार शरदश्क पूर्वीः
नही न्वस्य प्रतिमान मस्त्यन्तर्जातिषुत ये जनित्वाः

Could he now put away conquer (his enemies), he whom she bore (as embryo) a thousand months and many autumns ? No match has he among those already or yet to born.

इसमें कृष्ण के बल का उल्लेख है।

अवद्यमिव मन्यमाना गुहाकारिन्द्रं माता वीर्यणा न्यृष्टम्

अथोदस्थात् स्वयमत्कं वसान आ रोदसी अपृणाज्जायमानः

कृष्ण के वरुण की ओर संकेत है, द्यावा पृथ्वी को जन्म के समय कंपित करने की ओर संकेत है। कृष्ण के : नंदगृह में : छिपाये जाने की ओर संकेत है किन्तु वीर्यवान होने के कारण न छिप सकने की ओर भी संकेत है। कंस ने पता लगा ही लिया था कि बालक रूप में कृष्ण कहाँ है ?

आगे के मन्त्रों में किसी 'कुशाव' द्वारा निगल लिये जाने का भी उल्लेख है ? कृष्ण को एक असुर ने निगल ही लिया था। ऋग्वेद के इस मन्त्र की साक्षी हमारे प्रस्तुत विषय के लिए महत्वपूर्ण है।

पहले तो यज्ञ के आधार पर विष्णु से इन्द्र पिछड़े। भले ही वे विष्णु उपेन्द्र बने रहे पर यज्ञ-शैथिल्य के उपरान्त विष्णु जब कृष्ण बने तब कृष्ण में इन्द्र के विरोध के बीज के साथ इन्द्र के समस्त गुण भी प्रस्तुत हुए। इस प्रकार इन्द्र कृष्ण में परिवर्तित होकर इन्द्र का विरोध करने लगे। इस प्रकार अवैदिक प्रवृत्ति ने वैदिक प्रवृत्ति को अपने में समा लिया और तब उसे परास्त कर दिया। इन्द्र-विरोधी व्यक्तित्व का नाम 'कृष्ण' हमें वेद में मिलता ही है।

एक देवता के प्रमुख गुणों का आरोप दूसरे देवता पर करने की प्रवृत्ति स्वयं वेद में विद्यमान मिलती है। A. A. Macdonell ने इसका निरूपण करते हुए लिखा है—

"Indefiniteness of outline and lack of individuality characterises the Vedic conception of the gods. This is mainly due to the fact that they are near to the physical phenomena which they represent than the gods of any other Indo-Europen people......

The absence of distinctiveness must be still greater when several deities............spring from different aspects of one and the same phenomena. Hence the character of each Vedic god is made up of only a few essential traits combined with a number of other features common to all the gods, such as brilliance, power, beneficence, and wisdom.......such common features tend to obscure what is essntial because in hymns of prayer and praise they naturally assume special prominece. Again, gods belongjng to different departments, but having prominent functions in common, are apt to be approximated. Thus Agni, primarily the god of terrestrial fire, dispels the demons of darkness with his light, while Indra the aerial god of the thunder-storm slays them with lightening. Into the conception of fire-god further enters his aspect as lightening in the atmosphere. The assimilation is increased by such gods often being invoked in pairs. These combinations result in attributes pecliar to the one attaching themselves to the other, even when the latter appears alone. Thus Agni comes to be called soma-drinker, Vrtra-slayer, winner of cows and waters, sun and dawn attributes all primarily belonging to Indra" (Vedic Mythology, pp 15-16)

अतः इसी क्रम से इन्द्र के गुण विष्णु में पहले उपेन्द्र भाव से फिर पूर्णतः आरोपित हुए। जब यज्ञ-भाव से विष्णु का पलड़ा भारी हुआ तो फिर विष्णु में स्वतः ही समस्त इन्द्र समा गया। वही विष्णु कृष्ण में अवतरित होगा तो इन्द्र के पराक्रम की घटनाएँ उसी के अनुकूल उतरेंगी। बृहद्देवता में इन्द्र की एक परिभाषा यह दी गयी है।

रसादानं तु कर्मस्य वृत्रस्य च निवर्हणम।
स्तुतेः प्रभुत्वं नर्वस्य बलस्ये निखिला कृतिः (॥-६)

"Now the taking up of moisture is his function, and the destruction of Vrtra (and)—the prevailing

feature (prabhutvam) of (his) praise—the complete accomplishment of every (kind of) mighty deed."

इसमें कृष्ण के प्रमुख गुण लक्षित होते हैं। इसी गुण-आरोप के आधार को वृहद्देवता ने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है—

भवद्भतस्य भव्यस्य जङ्गमस्थाकरस्य च।
अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः (।-६१)
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतोवायु रेव च।
सूर्यो दिर्वीत विज्ञेयास तिस्त्र एवेह देवनाः। (।-६९)

जो पृथ्वी पर अग्नि है, अन्तरिक्ष में इन्द्र-वायु वह दिव-लोक में सूर्य है। इस प्रकार एक का दूसरे में समन्वय हुआ।

लोकवार्त्ता के माध्यम से ऐसा हो जाना असम्भव नहीं। परशुराम और राम विष्णु के अवतार हैं। परस्पर एक दूसरे का विरोध करते हैं। कृष्ण स्वयं विष्णु के अवतार हैं। वे उपेन्द्र होकर कृष्णावतार में इन्द्र का विरोध करते हैं। अर्जुन इन्द्र-पुत्र हैं। कृष्ण के साथ वह भी खाण्डव दाह के मिस इन्द्र का विरोध करते मिलते हैं। इसी प्रकार इन्द्र का ही एक विकास कृष्ण में प्रस्तुत हुआ। ऐसे कृष्ण से नारायण, हरि, वासुदेव, भगवान मिलकर वैष्णव सम्प्रदाय की परम्परा को नूतन भूमि पर ले आये। इसे भागवत ने परिपूर्णता प्रदान की, और वल्लभाचार्यजी ने उसे १५ वीं तथा १६ वीं शताब्दी में लोक-भक्ति का इष्ट बना दिया और अवतारों की परम्परा की व्यवस्था करते हुए स्वयं कृष्ण हो गये।[१]

१. वल्लभाचार्यजी महाप्रभु ही नहीं वे आचार्य अथवा गुरु पहले थे। तदुपरांत वे स्वयं कृष्ण माने गये या हुए। गुरु का और इष्टदेव का यह अभेद भी आदिम शैव भावना का ही उत्क्रमण है। शैव संप्रदाय में तो गुरु के नाम से भी शिव अभिहित होते हैं; यथा, लकुल सम्प्रदाय के शिव लकुलीश हैं। लकुल गुरु हैं। वे स्वयं शिव का अवतार माने जाते हैं। वे स्वयं शिव हो गये हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रभु वल्लभाचा कैसे स्वयं कृष्ण हो सके।

बालकृष्ण : बाल-देवता

कृष्ण जब भक्ति के आलंबन बने तो उन्हें तीन कथा-रूपों में ढाला गया—

१—बाल-कथा	बालकृष्ण
२—काम-कथा	गोपीकृष्ण
३—वीर-कथा	भगवान कृष्ण

यहाँ तक हम यह तो देख चुके कि कृष्ण कैसे परमतत्व बने। किन्तु प्रश्न यह भी तो है कि वे 'बाल रूप' में क्यों पूजे गये? बालकृष्ण में यह आकर्षण क्यों मिला? बालकृष्ण की कल्पना का मूल स्रोत क्या है? और उस मूल से उद्‌भावित होकर भी वह १६ वीं १७ वीं शताब्दी में और आज भी क्यों मान्य रहा? ईश्वर को बालरूप में क्यों ग्रहण किया गया?

पर यह बात केवल भारत के लिए और कृष्ण के लिए ही नहीं, अन्यत्र भी मिलती है। ईश्वर या देवता की बालरूप में अवतारणा यूनानी साहित्य में भी विद्यमान है, अपोलो और हर्मीज को भी बालरूप दिया गया है।

बाल-ईश्वर या बाल-देव के ऐसे समस्त विवरणों में जो बात ध्यान आकर्षित करती है, वह है इनके साथ लोक-कथा का परिवेश। बाल-देव के सभी विवरणों में कुछ सामान्य विशेषताएँ सर्वत्र मिलती हैं— वे हैं (यह बालक देव) असहाय या परित्यक्त अवस्था में मिलता है। मिस्र की पुराण कथा में 'होरस' की ऐसी ही अवस्था है।

"होरस का पिता ओसिरिस अपने भाई सेत द्वारा एक कफन में जिन्दा बंद कर समुद्र में बहा दिया जाता है। सेत राजा हो जाता है। ओसिरिस की स्त्री आइसिस मारी-मारी फिरती है। तभी होरस का जन्म होता है। सेत को पता लग जाता है। वह माँ-बेटे को एक मकान में वन्दी बना देता है। सेत होरस को मार डालना चाहता है कि कहीं वह अपने पिता के राज्य का दावेदार न बने। किन्तु थोथ आइसिस को इस संकट की सूचना दे देता है। आइसिस होरस को लेकर भाग कर बूटो (Buto) पहुँचती है। वहाँ होरस को नगर की कुमारी देवी उआजीत (Uazit) को सौंप वह ओसिरिस की खोज में निकल जाती है।[१] यह देवी सर्पिणी थी। इस कथा में 'होरस' के पिता नहीं, माँ मारी-मारी फिरती है, बंदी हो जाती है, फिर वह होरस से बिछुड़ भी जाती है, उसका पालन-पोषण सर्पिणी (देवी) करती है।

यूनान में जिअस का पिता क्रोनस तो स्वयं ही अपने पुत्र का शत्रु है, क्योंकि भविष्यवक्ता ने बताया है कि उसका पुत्र ही उसे मारेगा। अतः जियस के जन्म लेते ही उसे या तो क्रीट की एक गुफा में जाकर छिपाया गया, या वह गुफा में ही पैदा हुआ और वहाँ गुप्त रूप से उसका पालन पोषण डिक्टीअन देवियों ने और क्यूरेटी (Curetes) ने किया।

डायोनीसियस जब गर्भ में छह महिने का था उसकी माँ सेमेले (Semele) की मृत्यु हो गयी। सेमेले की भस्म से डायोनीसिअस को उसका पिता जियस उठा लाया। तीन महिने अपनी जाँघ को काटकर उसमें रखा। पूरे नौ महिने हो जाने पर जिअस ने उसे हर्मीज को सौंप दिया, उसने इनो और अथमस को सौंप दिया। उसकी विमाता हेरा उसके प्राणों की गाहक थी। उसे और भी कई दिव्य व्यक्तियों के पास पालन-पोषण के लिए रहना पड़ा।

अपोलो की माँ लीटो को पुत्र के साथ मारे मारे फिरना पड़ा है। बालक अपोलो ने माँ को पाशविक टिठ्योस के अत्याचारों से रक्षा करनी पड़ी है— लीटो को भी हेरा के भय से मारे-मारे फिरना पड़ा है और एक गुप्त स्थान पर अपोलो को जन्म देना पड़ा है।

भारत में तो बाल-देव के वर्णन वैदिक काल से ही मिल जाते हैं। इन्द्र के बालपन का जो वृत्त ऊपर दिया गया है, वह भी ऐसे ही बाल-देवों के समकक्ष है। पैदा होते ही उसे माँ से पृथक होना पड़ा है, तथा दूसरों के हाथों ही उसका पालन-पोषण हुआ है। यह हम ऊपर देख ही चुके हैं।

१. ईजिप्शियन मिथ एण्ड लीजेण्ड : डोनाल्ड-ए-मेकेंजी पृ० १८-१६।

कुमार जो मूलत: बाल-देव ही है, उनकी स्थिति भी कुछ विचित्र है। उनमें मूल रूप में पिता-माता हीनता का तत्व विद्यमान है। क्योंकि विविध वृत्तों पर ध्यान दिया जाय तो विदित होगा कि पार्वतीजी ने उन्हें गर्भ में धारण नहीं किया। उन्हें अग्नि ने धारण किया, इस भय से अग्नि कुछ काल तक भागती-छिपती फिरी थी तो अंगिरा ने धारण किया। तब अग्नि ने।[1] वह भी उस तेज को धारण किये न रह सकी, गंगाजी को दिया, गंगाजी ने कृत्तिकाओं (षडमातृकाओं) को दिया। उन्होंने उसका पालन-पोषण किया। सर-भू भी कुमार का नाम है, उन्हें सरपत से उत्पन्न माना है। इस प्रकार जब माँ ही नहीं तो, पिता कहाँ ? पिता तो सदैव ही विकल्पित होता है। फिर भी यदि पितृत्व स्वीकार भी किया जाय तो मातृहीन तो मानना ही पड़ेगा। ऐसे बालकों की कथा में यही होता है कि वह कई स्थानों पर भी पलता है। यहाँ पहले तो गर्भ ही कई स्थानों पर गया है, फिर 'षडमातृकाओं' का विश्लेषण कर दें तो छ: माताओं ने पालन किया।

उधर गणेश भी बालदेव के रूप में आते हैं, उनकी स्थिति कुमार से उलटी है। कुमार की माता नहीं थी। गणेश के पिता नहीं। बिना पिता के जन्म हुआ है—अर्थात् पिता नहीं। एक जङ्गल में एकान्त गुफा में वह त्याज्य माता के साथ रहता है। यह सब लोककथा के अनुरूप है।

जैन वृत्तान्तों में हनूमान जन्म भी माँ की असहायावस्था में हुआ है, उनकी

१—प्राचीन आरमीनियनों के आनुष्ठानिक गीतों में दैवी बालकों के जन्म का यह वर्णन है :—

Heaven was in labour earth was in labour.	आकाश प्रसव पीड़ा से पीड़ित था, पृथ्वी भी पीड़ित थी।
And the purple sea was in labour.	और बैंजनी समुद्र प्रसव पीड़ा से पीड़ित था
The blood-red sea weed had birth pangs.	रक्ताक्त समुद्र-सरपत जन्ति-वेदना ग्रस्त था
The hollow stem of the seaweed emitted smoke.	पोली समुद्र सरपत के नरकुल ने धूँआ निकाला
The hollow stem of the seaweed emitted flame.	पोली समुद्र सरपत के नरकुल ने अग्नि की लपटें निकालीं
And out of the flame sprang a little boy.	और उन अग्नि-शिखाओं से एक छोटा बालक पैदा हुआ :

कुमार के अग्नि गर्भ से और सरपत से जन्म लेने के वृत्त से यह वर्णन कितना साम्य रखता है। माधवानल कामकंदला के एक संस्करण में राजपुरोहित को शिवरेत के सरपत-आधान से उत्पन्न माधव नदी के किनारे प्राप्त हुआ है।

माँ अंजनी को सास-ससुर ने चरित्र दोष के संदेह में निकाल दिया था। ऐसी असहायावस्था में ही हनूमान जी का जन्म हुआ था। जैन-क्षेत्र के प्रद्युम्न चरित्र में प्रद्युम्न जन्म के समय ही माँ-बाप से पृथक् कर दिया गया। उसे एक दैत्य पूर्वजन्म की शत्रुता के कारण उड़ा ले गया और एक पत्थर के नीचे दबा दिया। वहाँ से उसे विद्याधर कालसंवर और उसकी पत्नी ले गये, और पालन-पोषण किया। उसने बाल्यावस्था में ही अनेकों अद्भुत पराक्रम दिखाये।

धर्मगाथा के क्षेत्र में ऐसे कितने ही बालकों का उल्लेख है जिन्हें असहाय-वस्था में दिखाया गया है। प्रह्लाद को भी धर्मगाथा में ऐसी असहायावस्था में दिखाया गया है जैसे उसके माता-पिता या अभिभावक हैं ही नहीं। स्वयं उसका पिता ही उसका शत्रु बन गया है। बालक प्रह्लाद को अनेकों घातक कष्टों में से होकर निकलना पड़ा है। प्रह्लाद को पहाड़ से नदी में गिराया गया, जेल में भूखों मारा गया, आग में जलाया गया, उतप्त स्तम्भ से बांधा गया सब संकटों से वह बच गया।[२]

इसी प्रकार भारत में अनेकों लोक-कथाएँ हैं जिनमें बालवीर का जन्म असहायावस्था में होता है, या जन्म के उपरान्त ही वह असहायावस्था या अनाथावस्था में पड़ जाता है। यह असहायावस्था या अनाथावस्था वाला

१. प्रह्लाद की इस बाल-कथा को 'कुल्लेर्वो' की कथा से मिलाइये। फिनिश (फिनलेंड की) पुराकालीन 'कुल्लेर्वो' नामक वीर की गाथा 'कलेवल' में दी गयी है। अण्टेमो नामक एक वीर ने अपने भाई कलेर्वो के समस्त वर्ग को नेस्तनाबूद कर दिया, केवल उसकी जवान पत्नी ही बच रही, वह गर्भवती थी। उसके पुत्र हुआ, जिसका नाम कुल्लेर्वो रखा गया। यह बालक तीसरे दिन ही पालने से उतर पड़ा और जब केवल तीन महिने ही का था और केवल घुटने तक ही ऊँचा था, तभी अपने पिता के शत्रु से बदला लेने का विचार करने लगा। अण्टेमो को पता चला तो उसने उसे मरवा डालने के कई यत्न किये—

पहले एक बोतल में बन्द कर लहरों में फेंक दिया गया। दो रातें बीत जाने पर देखा तो वह बोतल से बाहर निकल आया था और लहरों पर बैठा ताँबे के दंड को लिये, उसके रेशमी डोरे को पानी में डाल कर मछली की शिकार कर रहा था।

तब बहुत सी सूखी लकड़ी की भारी आग में डाल दिया गया, तीन दिन तक यह आग धधकती रही, तीसरे दिन भी वह उसमें जीवित था, बाल तक बाँका नहीं हुआ था।

अब उसको पेड़ से बांध दिया गया। यहाँ भी वह जीवित रहा। पेड़ पर बैठा चित्र बना रहा था।

बालक या तो बाल्यकाल में ही चमत्कार दिखाता है, या बाद में जाकर अत्यन्त प्रबल दिखायी पड़ता है।

: अ : उदयन कथा में मृगावती को गरुड़ उड़ा ले गया। पिता रहित स्थिति में उसका जन्म हुआ। साधुओं के आश्रम में पालन-पोषण हुआ।

: आ : शकुन्तला को अप्सरा उड़ा ले गयी। पति से वियुक्तावस्था में भरत का जन्म हुआ। यह भरत सिंहों से खेलता था।

: इ : राजा नल के जन्म के समय उसकी माँ मंझा को राजा प्रथम ने महल से निष्कासित कर दिया था। उसे चांडालों को सौंप दिया कि इसे मार डालो। पर चांडालों ने दया कर उसे छोड़ दिया। वह जंगलों में भटकती फिरी, ऐसे ही बियावान में हींस बिरे (हींस के लता गुल्म) में नल उत्पन्न हुआ। नाल काटने के लिए, जन्ति के गीत गाने के लिए देवी आयी थी। तब मंझा और नल को एक सेठ साथ ले गया। उसके यहाँ दोनों का पालन-पोषण हुआ। बाल्यावस्था में ही नल ने दानव को मार कर मोतिनी से विवाह किया था।

धर्मगाथा के बाल-देव तथा लोक-कथा के बालवीर के सम्बन्ध में गम्भीर विचार करते हुए सी० केरेन्यी (C. Kerenyi)ने जो लिखा है उसको संक्षेप में यहाँ देना आवश्यक है।

"धर्मगाथा में बालक ने भी स्थान पाया है-- धर्मगाथा में यह दैवी अवतार है। बहुत से देवता केवल प्रौढ़ या युवा रूप में ही नहीं मिलते, वे बाल-देवताओं के रूप में भी आते हैं—जीवन की सम्पन्नता और अर्थ इस चमत्कारी बालक में प्रौढ़ दाढ़ी वाले देवताओं से किंचित भी कम नहीं। उलटे यह अपेक्षाकृत अधिक सम्पन्न और अपेक्षाकृत अधिक मर्मस्पर्शी है। बाल-देव के आने पर, वह चाहे होमर के हर्मविषयक गीत हों, जियस या डायोनीसिस की धर्मगाथा हो, या वर्जिल का फोर्थ एक्लौग हो, हमें लगता है कि हम उस धर्मगाथात्मक वातावरण से घिरे हुए हैं, जिसे आधुनिक मनुष्य 'परी-कहानी जैसा' कहते हैं।

वस्तुतः प्रश्न यह है कि पृथक्-पृथक् देशों और संस्कृतियों में बालदेव का धर्मगाथा रूप मूल में एक-सा ही क्यों है ?

'बाल देवों के प्राचीन धर्मगाथिक (Mythologems) परी-कहानी के वैलक्षण्य से परिवेष्टित हैं और वैलक्षण्य को प्रेरित करते हैं।—बाल-देव सामाण्यतः परित्यक्त हुआ पाया जाता है, असाधारण संकटों का उस पर आक्रमण होता है—कभी तो पिता ही स्वयं पुत्र का शत्रु होता है—

'माँ को तो एक विशेष प्रकार का भाग लेना पड़ता है। वह होती भी है,

साथ ही नहीं भी होती है। प्राचीन इटालिक उदाहरण लिया जाय—टागेस (Tages) नाम का बालक, जिससे एट्रस्कनों को पावन विज्ञान प्राप्त हुए थे, एक हलवाहे की आँखों के सामने जमीन से निकला था—माता भूमि का बालक और मातृहीन तथा पितृहीन अनाथ का ठेठ रूप।

इस वृत्त के एक रूपान्तर में बालक के परित्याग और निर्जन परिवेश में माँ भी साझी मिलनी है। वह गृहहीन होकर जहाँ तहाँ भटकती है और पीड़ित की जाती है।

दोनों रूपान्तरों में यह तथ्य सामान्य रूप से मिलता है कि नवोत्पन्न देव परित्यक्त होता है। एक में माँ तथा बालक दोनों परित्यक्त रहते हैं, दूसरे में बालक अकेला ही निर्जन तथा आदिम जगत में मिलता है। यहाँ परी-कथा का वातावरण घनीभूत होता मिलता है। यूरोपियन तथा ऐशियाई लोकवार्त्ता के अनाथ बालक (orphan child) का हमें स्मरण हो आता है, कि वह किस प्रकार परित्यक्त किया गया। दोनों प्रकार के उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें या तो बालक माता-पिता रहित अकेला संकटापन्न है, या जिसमें वह माँ या धाय के साथ है।

क्या यह अनाथ बालक जो हमें परी-कथा (लोक कथा) में मिलता है, बाल-देव का पूर्वज नहीं और क्या उसी क्षेत्र से धर्मगाथा में नहीं लिया गया है ?"

लेखक देवकथाओं और लोक-कथाओं में सर्वत्र असहाय-अनाथ बालक को देखकर और शीघ्र ही उसी बालक में देवत्व या दानवत्व के दर्शन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि असहायावस्था के लोक-चित्रों में देवत्व आरोप नहीं, यह देवत्व का ही कोई तत्व होना चाहिये। असहायावस्था = सबसे विलगता = निर्जनता = एकांतता मानकर वह एक ऐसे बालक को ढूँढ़ता है, जो बालक है, निर्जन में एकान्त में है, और जिसमें देवत्व की विलक्षणता है। तब उसके सामने प्रलयकालीन पत्र-शायित बालक-रूप नारायण का चित्र उभर आता है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्मगाथाओं और लोकगाथाओं में ये बाल-वर्णन जिनमें बालक + निर्जन या असहायावस्था + देवतत्व (विविध संकटों से बच आना और जीवट के भीम कर्म, बालक होते हुए भी कर आना) तथा द्वियौनत्व मिलते हैं। यह वर्णन सृष्टि के आदि सर्जन के समय के दृश्य का अवचेतन के द्वारा पुनस्मरण हैं, या पुनरावलोकन है। विविध जातियों द्वारा समान रूप से एक ही अभिप्राय का इस प्रकार दर्शन यह सिद्ध करता है कि मनुष्य की आदिम भावनाएं सर्वत्र समान रूप से लोक-मानस में स्फुरित होती रही हैं। ये आदिम मानव भावनाएँ व्यष्टिगत निजी उद्भव की स्थितियों की भी स्मृति के

समतुल्य होकर समष्टि की उस स्थिति को ही प्रकट करती हैं। यही धर्मगाथा के रूप में मनुष्यों को अनुभूत होती है।

इसी की व्याख्या में सी० जी० जुंग ने लिखा है :—

"Statements like 'the child-motif is a vestigial memory of one's own childhood' and similar explanations merely beg the question. But if, giving this proposition a slight twist, we were to say : "The child-motif is a picture of certain forgotten things in our childhood", we are getting closer to the truth. Since, however, the archetype has always to do with a picture belonging to the whole human race and not merely to the individual, we might put it better this way : "the child motif represents tne preconscious childhood aspects of the collective psyche."

इस प्रकार महान् मनोविश्लेषण शास्त्री जुङ्ग की दृष्टि में यह **बाल अभिप्राय** सामूहिक मनोमूल के चेतना-पूर्वी बाल पक्ष को प्रस्तुत करता है।

यह **'बाल-अभिप्राय'** (Child motif) किसी वास्तविक मानवीय बालक के परिज्ञान पर निर्भर नहीं करता। जो ऐसा समझते है, वे भूल करते हैं। बाल-अभिप्राय का अस्तित्व किसी पूर्वगामी यथार्थ बालक के कारण नहीं, न ऐसे यथार्थ बालक का होना 'बाल अभिप्राय' के अस्तित्व के लिए पूर्वस्थ शर्त ही है। मनोवैज्ञानिक यथार्थता की दृष्टि से 'बालक' विषयक पदार्थिव भाव (empeircal idea) केवल एकमात्र साधन (और यह कोई अकेला ही ऐसा नहीं) है जिससे एक उस मनोमूलक तथ्य को अभिव्यक्त किया जाता है, जिसे इससे अधिक ठीक रूप में नहीं व्यक्त किया जा सकता। अतः इसी तरह बालक का धर्मगाथात्मक भाव, यह जोर देकर कहा जा सकता है कि, पदार्थिव बालक की प्रतिकृति नहीं, किन्तु एक प्रतीक है जो इसी रूप में स्पष्टतः समझा जाने योग्य है। यह एक विलक्षण-बालक है, एक दैवी बालक, जो नितान्त असाधारण परिस्थितियों में उद्भवित हुआ है और पाला-पोसा गया है, और—मुख्य ध्यान देने योग्य बात यह है कि, यह मानवी बालक नहीं है। इसके कार्य ऐसे ही चमत्कारक या दानवी होते हैं जैसी इसकी प्रकृति और शारीरिक गठन। इन अत्यधिक अपार्थिव गुणों के कारण ही सिर्फ 'बालक अभिप्राय' के उल्लेक की आवश्यकता है। कि बहुना, धर्मगाथा के 'बालक' के कितने ही रूप होते हैं। अभी एक देवता, या दानव, अभी टाम अंगुष्ठ (Tom Thumb) पशु, आदि आदि, और इससे यह पता चलता है कि इसका कारण

विधान (Causality) कम से कम विवेक-संगत (rational) या यथार्थतः मानवीय नहीं।"

इस प्रकार मनोविश्लेषण शास्त्र के इस प्रचेता ने यह बताने की चेष्टा की है कि यह 'बाल-अभिप्राय' चेतना-पूर्वी मनोमूल से उद्भूत है, और मानव व्यष्टि के अपने निजी सृजन कालीन अनुभव की अवचेतन में से स्फुरित वह झलक है, जो वस्तुतः व्यष्टि-सीमित नहीं रहती; वह व्यष्टि अपने रूप में समष्टि के प्रथम बालक के उद्भव के मूल अनुभव को ही स्मरण करता होता है।

ये अनुभव अवचेतन (Unconscious) मानस में समाये रहते हैं। वहीं से ये मूर्त रूप ग्रहण करते हैं, और ये अपने द्वारा मानव के, इस युग में आदिम मूल-मानस से, उच्छिन्न चैतन्य मानस को उसके उसी मूल अतीत के मानस से सम्बन्धित कर दिया करना है। यही नहीं, इसी के द्वारा मानव अपनी संपूर्णता (Wholeness) की उपलब्धि करता है। क्योंकि मानव केवल चेतन-मानस ही नहीं, वह अवचेतन भी है, अतः दोनों के योग से ही सम्पूर्णता प्राप्त करता है।

यह देखकर कि मनुष्य ने 'बाल-देव' के विषय पर चर्चा करना कभी कम नहीं किया, हम संभवतः साम्य को व्यष्टि से आगे ले जा कर मानव जाति या जीवन की प्रक्रिया के सम्बन्ध यह निष्कर्ष दे सकते हैं कि मानवता भी संभवतः सदा अपनी बाल्यावस्था की स्थिति से झगड़ती रहती हैं, अर्थात् अपनी मूल, अवचेतन और ऐन्द्रिक भावोन्मेषमयी स्थिति (Instinctive state) से संघर्ष करता रहता है, और इस संघर्ष का संकट वस्तुतः सदा विद्यमान है वही इस 'बालक' की कल्पना को प्रेरित करता है। धार्मिक आचार, यानी धर्मगाथात्मक घटना का बार-बार पाठ और बार-बार अनुष्ठान करना, अन्ततः बालक और तत्संबंधी प्रत्येक बात की मूर्तकल्पना (imge) को चेतन मानस के अन्तश्चक्षुओं के समक्ष बार-बार जागृत करने का काम करता हैं, जिससे कि आदि मूल स्थिति से शृङ्खला विच्छिन्न न हो जाय।

चेतन और अवचेतन के सम्बन्ध के द्वारा जहाँ मानव अपनी सम्पूर्णता की उपलब्धि इस मूलस्थपित (Arch Type) के द्वारा करता है, वहाँ वह अपने वर्तमान चेतन-मानस को अपनी आदि मूल से भी सम्बन्धित रखता है। यह आदिमूलक चेतन-पूर्वी मूलमानस इन मनोविश्लेषणों द्वारा अवचेतन में ही अवस्थित माना गया है। निश्चय है कि यह फ्रायडियन अवचेतन से भिन्न अवचेतन ही होगा, जिसकी जड़ें आदि स्थिति में हैं, और यह हमें उत्तराधिकार में प्राप्त मानस को मानने के लिए विवश करता है। आज जब यह उत्तराधिकारावतरित मानस चेतन-मानस की भूमिका बनता है तो यही लोक-मानस का

रूप ग्रहण कर लेता है। यह हम पहले अध्याय में देख ही चुके हैं। अतः 'बाल-देव' का समस्त विधान इसी लोक-मानस की अनुभूति है। इसी के कारण इसमें सबसे अधिक लोकतत्व है, और आज भी कृष्णभक्ति इस बालकृष्णोपासना के द्वारा अपने उसी मूल रूप की उपलब्धि के मानसिक माध्यम से आध्यात्मिक मोक्ष की संभावना सिद्ध करती है।

'बाल देव' के इस समस्त निर्माण के चार तत्व मिलते हैं :—१—परित्यक्त-सी मूल से विच्छिन्न निर्जन स्थिति में, २—दैवी पराक्रम, ३—द्वियौनत्व, ४—आदिअन्ताद्वैत। १. परित्यक्त-सी निर्जन स्थिति में रहस्यमय तथा चमत्कारक उत्पत्ति। कृष्ण जेल में पैदा होते हैं, चारों ओर आतंक-पूर्ण स्थिति है, पर वे जहाँ पैदा होते हैं, वहाँ जन्म समय सब सुधु-बुध भूल जाते हैं, माता-पिता बेड़ी से मुक्त हो जाते हैं, ताले खुल जाते हैं। साथ ही **अत्यन्त क्षुद्र आरम्भ**—कृष्ण अपने माता-पिता से विच्छिन्न, ग्वाल-वालों में दूसरों के द्वारा पाले जाते हैं।

२. बालक की अजेयता या दैवी पराक्रम के सम्बन्ध में जुंग ने लिखा है—'यह एक उल्लेखनीय असंगति (Paradox) सभी बाल-धर्मगाथाओं में मिलती है कि 'बालक' एक ओर तो असहायावस्था में भयानक शत्रुओं के पंजों में डाल दिया जाता है और निरंतर नेस्तनाबूद हो जाने के खतरे से घिरा रहता है' उधर दूसरी ओर उसके पास ऐसी शक्तियां होती है जो सामान्य मानवता की शक्ति से कहीं बढ़कर होती हैं। भगवान कृष्ण की बाल-लीलाओं में ऐसी शक्तियों का अद्भुत वर्णन मिलता है। पालने में ही दैत्यों को पछाड़ा, पूतना का बध दूध पीते ही किया, केशी आदि दानवों को पछाड़ा और सबसे बढ़कर दैवी चमत्कार और अद्भुत शक्ति का प्रदर्शन किया गोवर्द्धन पर्वत को उठाकर। यह पराक्रम 'वामनावतार' की कोटि का ही माना जा सकता है। 'वामन' में भी बाल-अभिप्राय के दोनों तत्व उपस्थित है। कालिय नाग को नाथना कुछ कम पराक्रम का काम नहीं।

३. द्वियौनत्व इस बाल-अभिप्राय में प्रायः मिलता है, तथापि यह इतना प्रबल नहीं। हाँ यह जिस रूप में लोक-मानस द्वारा विकसित किया जाता है उस रूप में अवश्य और निश्चय ही मिलता है। जुंग और केरेन्यी ने इसे 'हेर्माफ्रोडिटिज्म नाम दिया है। इस सम्बन्ध में जुंग का कथन है कि—

"यह एक आकर्षक तथ्य है कि सम्भवतः आदि सृष्टि मूलक [Cosmo gonic] देवताओं में से अधिकांश द्वियौन [Bisexual] प्रकृति के हैं।" उनकी राय मेंदो विरोधी योनियों का यह अद्वय [Union] मानस की आदि स्थिति का सूचक है। किन्तु इसका महत्व इस कारण विशेष है कि यह अद्वय

मानव जाति के भाव-जगत में निरन्तर बना रहा है, और संस्कृति के उच्च से उच्च स्तर पर भी यह एक उच्च दार्शनिकता के साथ बार-बार प्रकट होता रहा है। यह आदिम भाव विरुद्ध [योनियों] के उत्पादक अद्वय का प्रतीक बन गया है—यह 'अद्वय प्रतीक' अब केवल मानव की अतीत आदिम स्थिति की ओर ही इंगित नहीं करता, यह मानव के अभी तक के अनुपलब्ध साध्य का भी द्योतक गया है। जुंग महोदय ने आगे बताया है कि "अब यह सहज ही समझा जा सकता है कि सृष्टि-आदि मूलक [Primordial] हर्माफ्रोडाइट का मूर्तकल्पानांश [Image] आधुनिक मनोविज्ञान में नर-नारी के विषम योग [antithesis] के वेष में पुनः प्रकट हुआ है—दूसरे शब्दों में नर रूपी चेतना और स्त्री रूपी अवचेतना।

"मूलतः यह आदिसृष्टिक मूल स्थपित [Archtype] उर्वरकटोने [Fertilty magic] के क्षेत्र में ही पूरी तरह काम में आता था और उर्वरत्व के अतिरिक्त इसका कोई और उद्देश्य उस समय न होने से बहुत समय तक यह शुद्ध वनस्पति-प्राणि जगत का व्यापार बना रहा। वहाँ से विकसित होकर यह मनोविज्ञान के क्षेत्र में आ पहुंचा।"

जो भी हो इस मनोवैज्ञानिक व्याख्या से यह बात तो अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि नर-नारीत्व के अद्वय की भावना लोक-मानस से घनिष्ठ रूपेण सम्बन्धित है। आज भी इसमें विद्यमान आकर्षण लोक-मानस की अवचेतन प्रक्रिया के ही कारण है। अर्द्धनारीश्वर की कल्पना के मूल में यही लोक-मानस है, और सिद्धों और तंत्रों की 'अद्वय' या कौल साधना की मूल भूमि भी यही मानस है। किन्तु बालरूप में कृष्ण से इसका सम्बन्ध कैसे ?

इस सम्बन्ध को हम 'केरेन्यी' के एक कथन से समझ सकते हैं– उन्होंने बताया है कि—

"सृष्टि आदि मूलक बालक का मूर्तांश [Image] प्रस्फुटित हो पड़ता है, यह यौवन के आदर्श रूप में रूपान्तरित हो उठता है।" दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कुछ देवताओं में जो अनन्त यौवन बालरूप में ही फूट है, वह इसी स्थिति का परिणाम है। उन्होंने इसी को आगे यों लिखा है—

"आदिमूलक सत्ता [Primal being] की द्वियौनवर्ती हर्मोफोडिटिक विशेषता ने भी मान्यता प्राप्त करली जबकि यूनानी संस्कृति में अप्सरा-जैसा बालक आदर्श रूप में उद्भवित हुआ। मानो सृष्टि आदि मूलक द्वियौनीय बालक ही लोक-क्षेत्रीय रूप में इस प्रकार पुनः अवतरित हुआ हो।"

स्पष्ट है कि कृष्ण में कामदेव के रूप-सौंदर्य की स्थापना नर में नारीत्व के प्रतिभास को सिद्ध करता है। यह सदा से ही एक आश्चर्य की बात रही है

कि ऐसा छोटा बालक कामकला में ऐसा दक्ष। इसका समाधान चेतन मानस के व्यवस्थित विवेक से हो ही नहीं सकता। यहाँ मनोविश्लेषण ने उसकी एक सम्भव व्याख्या दी है। अवचेतन की नींव में जो उत्तराधिकारावतरित लोक-मानस है, वहीं से इसकी सिद्धि है।

इसी भाव के कारण कहीं कहीं बालक शिश्न से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यह शिश्न प्रजाधारण का ही प्रतीक है। अतः 'बालक' बालक के आदि मूलक मूर्तांश में समुद्र में तैरते वक्त नारायण-रूप में सृष्टि का आदि भी है और प्रजाधारक रूप में सृष्टि का अन्तिम रूप भी है।

तात्पर्य यह है कि बालकृष्ण का धर्म-ग्रहीत समस्त रूप और लीला-व्यापार इसी लोक-मानसिक भूमि का व्यापार है, और उसके द्वारा हम अपने उसी आदिमूल को प्राप्त करना चाहते हैं जो पिंड में वैसे ही व्याप्त है जैसे ब्रह्माण्ड में।[1] इसी बाल रूप के विकास में बालकृष्ण ही नहीं गोपी-कृष्ण के कृष्ण पक्ष का भी एक समाधान है। कृष्ण की काम-कथा का ही एक पहलू है।

साथ ही बाल-देव के पराक्रमों के वर्णनों में वीर-कथा का रूप प्रस्तुत हो जाता है। वीर-नायक की भाँति बाल-देवता को अनेकों अमानुषिक पराक्रम करने पड़ते हैं। भगवान कृष्ण ने दानवों को मारा, नाग को नाथा, गोवर्द्धन धारण किया। ये सभी वीर-कथा के ही अभिप्राय हैं। मथुरा जाकर कंस को

१. श्री सी० केरेन्सी तथा सी० जी० जुंग मनोविश्लेषण-विज्ञान के विश्वासी हैं। उन्होंने समस्त व्यापार को अपनी दृष्टि से देखते हुए यही स्थापना की है कि बालेश्वर या बाल-देव का मूर्तांश [Image] धर्मगाथिक [Mythologem] है। यह लोक-मानसिक नहीं। इनकी दृष्टि में 'लोक-मानसिक' मनुष्य के अपने व्यापारों के अनुरूप होता है, अर्थात् मानवीय। दैवी तत्व अनाथ बालक में हमें मिलता है, वह अनाथ बालक का तत्व नहीं, वह इस मानवीय बालक में जोड़ा नहीं गया, वरन् दैवीतत्व का ही एक दूसरा रूप है। इसको हिन्दुओं की सृष्टि आदि मूलक बाल-कल्पना से उन्होंने और भी पुष्ट किया है। मार्कंडेय ने समुद्र पर तैरते बाल-रूप नारायण को देखा उसके उदर में प्रवेश किया तो समस्त त्रैलोक्य मिला। जुंग ने इसी की पुष्टि में भारतीय दर्शन की उस अनुभूति का उल्लेख किया है जिसे 'अणयो रयीणान् महतो महीयान' जैसे शब्दों में प्रकट किया गया। बालक, उच्छिन्न, परित्यक्त, असहाय, दीन बालक 'अणयो रयीणान्' अणु से भी अणु, छोटे से भी छोटा, क्षुद्र से भी क्षुद्र, फिर भी त्रैलोक्य धारी, विराट—अर्थात् महतो महीयान, महान से भी महान। पर समस्त भाव-रूप के मूर्तांश को ग्रहण किया जाय तो यह विशुद्ध आदि मानवीय प्रथम भावोलब्धि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। समस्त दैवी तत्व ही लोक-मानस की अनुभूति है, और लोक-मानस के के प्रथम दृश्य ग्रहण और भावोद्रेक का ही परिणाम है। इसे लोक-मानस के मनोविज्ञान से ही समझा जा सकता हैं, केवल मनोविश्लेषण से नहीं।

पछाड़ना इस वीर-कथा का चरम है। और ये तो वे सूत्र हैं जो बाल-कृष्ण में ही लिपटे हुए हैं, या उनके निर्माण के तन्तु हैं। अतः स्पष्ट है कि ये तीनों कथा-सूत्र एक ही लोक-मानसिक अनुभूति का परिणाम हैं—और सर्वत्र ही ये तीनों एक ही बालक में गूँथे हुए मिलते हैं।

इन सबके साथ एक आवश्यक तत्व जो कृष्ण के साथ उनकी बाल-लीलाओं में मिलता है, वह है वंशी। वंशी को संगीत का प्रतीक मान सकते हैं। यूनानी धर्मगाथा में हर्मीज ने कछुए से 'लायर' (एक वाद्य यन्त्र) बना डाला है। उसके संबंध में सी० केरेन्सी ने प्रश्न किया है—

'किन्तु क्या हम यह नहीं कह सकते हैं कि प्रथम वाद्य का यह आविष्कार, जिसे बालक हर्मीज ने अपोलो को भेंट में दिया था, किसी अर्थ से "सृष्टि-आत्मक' [Cosmic] है? हम यहाँ सृष्टयात्मक सामग्री की चर्चा कर रहे हैं जो धर्मगाथात्मक, दार्शनिक, गणितात्मक, संगीतात्मक, या किसी अन्य मार्ग से अपने आपको अभिव्यक्त कर सकती है।' यह वैविध्य संभव ही तभी है जब कि वह सृष्टयात्मक सामग्री ही हो।—अतः यही लेखक आगे कहता है कि 'सृष्टि आदि मूलक बालक [Primordial child] के हाथ में वाद्य संसार के संगीतात्मक गुण को अभिव्यक्त करता है, भले ही कवि का इरादा ऐसा न हो। यह स्वयं हर्मीज की प्रथम और प्रधान विशेषता है।' इस लेखक को जब यह वाद्य डालफिनारूढ़ बालक के हाथ में दिखायीं देता है तो उसे उस प्रारम्भिक सम्बन्ध का ध्यान आता है जो विशेषनामों के अभिधान के अस्तित्व में आने से पूर्व ही विद्यमान थे : जल, बालक, और संगीत का मौलिक सम्बन्ध।[1] कृष्ण की कल्पना में वह दृश्य कितना सारगर्भित है जिसमें यमुना नदी में नाग पर कृष्ण आरूढ़ हैं, और वंशी बजा रहे हैं।

इस प्रकार बाल-कृष्ण का लोक-मानस प्रतिष्ठित स्वरूप पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। इस रूप में बाल-देवता में आज भी इस भक्ति और आस्था का कारण भी स्पष्ट हो जाता है। सभी की भूमि लोक-मानस से सम्बन्धित है।

१. "इंट्रोडक्शन टू ए साइंस ऑव माइथालजी" में बाल देवता पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसके लेखक हैं श्री० सी० जी० युंग तथा सी० केरेन्यी। हमने ऊपर इन लेखकों के जो उद्धरण दिये हैं वे इसी पुस्तक से लिये गये हैं। पूर्ण विवेचन के लिए यह पुस्तक ही देखनी चाहिये।

कृष्ण-शाखा का भक्ति-काव्य

भक्ति-तत्व लौकिक तत्व है। इसका विकास लोक-तत्वों से समन्वित होकर संपन्न हुआ है। 'भक्ति' आन्दोलन वस्तुत लोक-वेद-तत्व के समझौते के लिए नहीं खड़ा हुआ था, वरन् लोक-तत्व को बौद्धिक मान्यता प्रदान कराने के लिए हुआ। यही कारण है कि भक्ति को पहले स्वीकार किया गया, बाद में उसके लिए प्रमाण ढूँढे गये या गढ़े गये। यह भक्ति तत्व जब सगुणत्व के साथ-साथ उत्कर्षवान हुआ तब इसने लौकिक नायकों को वरण किया।

कृष्ण मूलतः लोक-नायक हैं। साथ ही उनका भक्ति का स्वरूप लोक-कथाओं के माध्यम से पूर्णता को प्राप्त हुआ है।

उनके जन्म की कथा अपने में स्वयं एक पूर्ण लोक-कथा है। उसी प्रकार 'यशोदानन्दन' की कथा अलग है और जिस रूप से वह कृष्ण को प्रस्तुत करती है उससे विदित होता है कि उसमें कई लोक-कथाएँ सम्मिलित हुई हैं— वे कथाएँ ये हैं (असुरबध) प्रत्येक असुर बध की कथा एक स्वतन्त्र कथा है।

वत्सहरण की कथा,
गोवर्द्धन धारण की कथा,
चीरहरण की कथा,
कमल लाने की कथा,
कालिय नाग नाथने की कथा;

इन समस्त यशोदानन्दनीय कथाओं से समन्वित होकर कृष्ण-वृत्त का स्वरूप एक महान लोक-कथा का रूप ग्रहण कर लेता है जिसे साहसिक कृत्यों की शृङ्खला के नायक की कहानी की परम्परा में रखा जा सकता है, हरक्यु-लीज़, नल, जगदेव अथवा पांडव और राम इसी परम्परा में हैं।

कृष्ण जन्म की कथा का क्रोनस की कथा से साम्य है।

कृष्ण-जन्म की कथा	**क्रोनस की कथा**
१—कंस की बहिन देवकी का वसुदेव से विवाह हुआ तो आकाशवाणी ने कंस को बताया कि तेरी बहिन के गर्भ से तेरा काल जन्म लेगा।	१–२ - इस कथा में स्वयं क्रोनस ने अपना बहिन से शादी कर ली है। उसे ज्ञात हुआ है कि उसके जो पुत्र होगा वह उसे मार डालेगा। फलतः कृष्ण की कथा की भाँति ही क्रोनस कथा में : (१) बहिन के गर्भ से उत्पन्न पुत्र ही काल होता है, (२) क्रोनस को पहले ही विदित हो जाता है कंस की भाँति कि उसका पुत्र ही उसको मारेगा।
२—कंस बहिन और बहनोई को बन्दी बना लेता है। फलतः कृष्ण का जन्म कंस के ही यहाँ होता है। क्रोनस कथा में बहिन को पत्नी बना दिया गया है। कंस कथा में वह बन्दिनी होकर कंस के पास है।	
३—कंस अपने बहिन के पुत्रों को उत्पन्न होते ही मार डालता है।	३—क्रोनस अपने पुत्रों को पैदा होते ही खा जाता था, निगल जाता था।
४—कंस कथा में कृष्ण को पैदा होते ही वसुदेव-यशोदा के यहाँ	४—क्रोनस की बहिन और स्त्री रही आ (Rhea) अपने छठे पुत्र

गोकुल पहुँचा आते हैं, यशोदा की पुत्री को बदले में ले आते हैं। पटकने पर हव आकाश में उड़ जाती कंस के है।	जिअस को छिपाकर क्रीट में पहुँचा देती है और क्रोनस को कपड़े में पत्थर लपेट कर देती है जो उसे पुत्र समझ कर निगल जाता है।

और अन्त में भविष्यवाणी पूरी हुई। कृष्ण ने कंस को मारा और जिअस ने क्रोनस को।

इस कथा के संबंध में सर जेम्स जार्ज फ्रेजर ने टिप्पणी देते हुए बताया है कि क्रोनस जिअस से पुराना था, और यह पुरानी मूल-निवासी किसान जाति का देवता[1] था। इस प्रमाण से इस कथा का लोक-मूल निश्चित हो जाता है।

असुर बधों को लें तो सूरदास के कृष्ण ने निम्न असुरों का बध किया है:-

१—पूतना
२—श्रीधर का अंगभंग
३—कागासुर
४—सकटासुर
५—तृणावर्त
६—बकासुर
७—अघासुर
८—धेनुक
९—प्रलंब
१०—शंखचूड़
११—वृषभासुर
१२—केशी
१३—रजक
१४—व्योमासुर
१५—कुवलया (हाथी)

१—बट ट्रेडिशन सरटेनली प्वाइंटस टू द कन्कलूजन वैट इन लैटियम एण्ड परहैप्स इन इटैली जेनरली द सीड-गौड सैटर्न वाज ऐन ओल्डर डीटी वैन द ओकगौड जुपीटर, जस्ट ऐज क्रोनस ऐपीयर्स टू हैव प्रिसीडेड जिअस। परहैप्स सैटर्न एण्ड क्रोनस वर द गौडस आव ऐन ओल्ड इन्डीजिनस एण्ड ऐग्रीकलचरल पीपिल—[द गोल्डेन बाउ, पार्ट १, द मैजिक आर्ट ऐण्ड द एवल्यूशन आव किंग्स—वोल्यूम ॥ तृतीय संस्करण पृ० ३२३]

इन असुरों पर ध्यान देने से एक बात तो यह उभरती है कि ये सभी खेतिहर क्षेत्र के ही असुर हैं। काग, वक, धेनुक, वृषभ, केशी आदि सभी पशु, पक्षी गाँवों के लिए सामान्य हैं। शकट, तृणावर्त—आँधी आदि भी ग्रामीण क्षेत्र से सम्बन्धित हैं। इन सबको असुर बनाने में किसका हाथ है ? निश्चय ही लोक-वार्ता का ही हाथ है। लोक-मानस ने सामान्य तत्वों को यह भयानक-रूप दिया है, इन असुरों में एक ऐसा भी व्यक्ति है जो असुर नहीं, बामन है—श्रीधर। यह श्रीधर सूरदास के लिए प्रक्षेप है। किसी ने सूर के नाम से या किसी दूसरे सूरदास ने यह पद रचा है और सूरसागर में सम्मिलित कर दिया है। यह श्रीधर बामन भी कंस के परिवार का बताया गया है। उसका परिचय यों दिया गया है:—

श्रीधर बामन करम कसाई,
कह्यौ कंस सौं वचन सुनाई,
प्रभु मैं तुम्हारौ आज्ञाकारी
नन्द सुवन कौं आवों मारी।

यह बामन गया और उसने अपने किये का फल भी पाया। किन्तु यह प्रक्षिप्त इसलिए लगता है कि कंस की चिंतना में इसको कहीं स्थान नहीं मिला। श्रीधर प्रसंग में आगे के ही पद में है—

सुन्यों कंस, पूतना संहारी
सोच भयौ ताकें जिय भारी।
कागासुर कौं निकट बुलायौ......

यहाँ पूतना संहार का तो उल्लेख है, श्रीधर अंग-भंग का नहीं। तुरन्त बकासुर को स्मरण किया है।

कागासुर का भी बध हो गया तब कंस ने यों कहा है—

दनुज-सुता पूतना पठाई, छिनकहिं मांझ संहारी
घींच मरोरि दियो कागासुर, मेरे ढिग फटकारी—

पूतना के उपरान्त कागासुर तो है, पर श्रीधर-बामन नहीं, कागासुर को तो कंस ने स्वयं भेजा है, श्रीधर वामन स्वयं सेवा के लिए आगे आया है। यह शैली भेद भी श्रीधर-प्रसंग को प्रक्षिप्त कर देता है। इसके अतिरिक्त :—

१—पांडे लीला
२—यमलार्जुन उद्धार
३—वत्स हरण
४—दावानल पान
५—कालिया नाग नाथन

६—चीर हरण

७—गोवर्द्धन धारण

८—वरुण से नन्द को छुड़ाना

लीलाएँ या तो प्रक्षिप्त हैं या सूर ने उसे किसी महात्म्य परम्परा से लिया है। यह भी कृष्ण-कथा का मौलिक अंश नहीं, पर शेष 'कथांश' कृष्ण-कथा के ही अङ्ग हैं और इसमें सन्देह नहीं कि ये सभी लोक-वार्त्ता से लिये गये हैं।

'यमलार्जुन उद्धार' प्राचीन वृक्षात्माओं से सम्बन्धित है। बछड़ों की चोरी वैदिक साहित्य में भी है और लोक-साहित्य का यह विश्व में एक प्रिय अभिप्राय है। नाग को नाथना, नाग को वश में करने के रूप में, एकानेक लोक-कहानियों में आज तक आता है। यही बात दावानल पान, चीर हरण, गोवर्द्धन धारण वरुण से नन्द को छुड़ाने वाली लीलाओं की है। इन सभी में लोक-मानस पूर्णतः व्याप्त है। इन अभिप्रायों की लोक-परम्परा के कारण ही यह कथावृत्त लोक-तत्वों से युक्त नहीं, एक और लोक-रसायन इस वृत्त में मिलती है। लोकवार्ता में लोक मानस एक विशेष रसायन का उपयोग करता है। विविध कारणों से युग-परिवर्तन के साथ कुछ व्यक्तित्वों के महत्व में हेर-फेर हो जाता है। कभी जो व्यक्तित्व बहुत महत्वपूर्ण था वह अत्यन्त गौण हो जाता है। इन्द्र का ही उदाहरण लें। वैदिक काल में इसे ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। पुराणों में इसका महत्व बहुत कम हो गया। बौद्ध धर्म में इसका स्थान और भी गौण हुआ। कृष्ण के प्रसङ्ग में इन्द्र कृष्ण का प्रतिद्वन्द्वी बन गया। कृष्ण ने इन्द्र-पूजा समाप्त करादी और गोवर्द्धन-पूजा आरम्भ करायी। यह किस कारण हुआ। इसका कारण लोक-रसायन है। इसी लोक-रसायन का एक परिणाम यह भी होता है कि विविध प्रकार के व्यक्तित्वों का एक दूसरे पर आरोप हो जाता हैं। यहाँ तक कि पूर्व युगीन महत् व्यक्तित्व के गुणों और चरित्रों का समस्त आरोप उत्तरयुगीन प्रतिद्वन्द्वी पर हो जाता है। इन्द्र और कृष्ण के सम्बन्ध में भी लोकरसायन ने यही किया है। कृष्ण में प्रायः उन समस्त पुरुषार्थों का आरोप हुआ है जो हमें इन्द्र में मिलते हैं।[1] यह समस्त स्वरूप में भी कृष्ण-कथा को लोक-तत्व से समन्वित कर देता है।

इस कृष्ण-कथा का मूल लोक-कथा है, इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि इसी कृष्ण-कथा का एक स्वरूप बौद्ध जातकों में है, और दूसरा जैन पुराणों में भी। बौद्ध जातक की कृष्ण-कथा की तुलना भागवत से करते हुए श्री मोहन-लाल महतो वियोगी ने 'जातक में श्रीकृष्ण लीला वर्णन' विषयक एक निबन्ध

१. देखिये इसी पुस्तक के पृ० ३७७ से ३८४ तक

लिखा था ।[1] उसका आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

'जातक को उलटने-पलटते' 'मट्ठ कुंडलिजातक' पर मेरी दृष्टि पड़ी । पढ़ गया और एक दिन 'घट जातक', एकाएक मैं पढ़ने लगा । पढ़ते-पढ़ते मैं चौंक उठा । यह तो श्रीकृष्ण लीला का वर्णन है ।

भगवान बुद्ध ने जेतबन में यह कथा सुनायी थी जो अत्यन्त विचित्र है । श्रीकृष्ण-लीला में जितने नाम आए हैं उन नामों को उन्होंने स्मरण किया है । कंस, नंदगोपा, बासुदेव, बल्देव, अर्जुन, प्रद्युम्न आदि और स्थानों में मथुरा द्वारावती आदि हैं । ऋषियों में कृष्ण द्वैपायन का नाम भी आया है तथा राक्षसों में चाणूर, मुष्टिक आदि भी हैं । घटना क्रम कुछ इधर-उधर है, किन्तु कथानक में विशेष विकार नहीं आने पाया है ।

जातक की इस कथा के अनुसार उत्तरापथ[2] में असितांजन नगर का राजा कोई मका-कंस था । कंस और उपकंस उसके दो पुत्र थे—इस तरह कथा का श्रीगणेश होता है । हमारे पूर्व-परिचित कंस से इसका इतिहास कुछ दूसरे प्रकार का है । श्रीमद्भागवत के अनुसार कंस उग्रसेन का लड़का था ।

'उग्रसेनसुतः कंसः'—ऐसा वाक्य भागवत में आया है । जातक का कंस मकाकंस नामक राजा का पुत्र था और उत्तरापथ के असितांजन नगर का निवासी था । कंस की एक बहन भी देवगर्भा कंस और उपकंस की सगी और अकेली बहन थी जबकि देवकी हमारे पूर्व-परिचित कंस की चचेरी बहन थी, जिसके गर्भ से भगवान प्रकट हुए । हाँ, एक बात जातक में भी है । जब देवगर्भा का जन्म हुआ तब ज्योतिषी ब्राह्मणों ने भविष्यवाणी की कि इसके गर्भ से जो पुत्र होगा वह कंस-गोत्र और कंसवंश का नाश कर देगा ।

भागवत के अनुसार जब देवकी विवाह के बाद पतिगृह जा रही थी तब स्नेह के कारण कंस अपनी चचेरी बहन का रथ स्वयं हाँक रहा । मार्ग में उस समय आकाशवाणी हुई—

पथि प्रग्रहिणं कंसानभाष्याहाशरीरिणीवाक् ।
अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यावंहोअयुघ ।

देवकी के आठवें गर्भ से उत्पन्न होने वाली संतान के कंस के मारे जाने की कथा में ही फर्क नहीं पड़ा है समय और स्थान में भी अन्तर है । जातक में

---

१. देखिये साप्ताहिक हिन्दुस्तान (८ फरवरी १९५३ ई० का अङ्क पृ० १२—१३)

२. जा..ककालीन भारत का 'उत्तरापथ' गंधार, केकय, तक्षशिला, काश्मीर के अंचल का नाम था ।

कहा गया है कि अपनी देवगर्भा बहन को कंस ने एक खम्भे का महल बनवाकर रख दिया। उसका विवाह उसने नहीं होने दिया। भागवत में कहा गया है कि भविष्यवाणी सुनकर कंस अपनी बहन को, जो दुलहन बनी हुई पतिगृह जारही थी, तलवार लेकर मारने दौड़ा। महात्मा वसुदेव ने समझा-बुझाकर कंस को रोका। वह मान गया। जातक में वर्णित कृष्ण-लीला के अनुसार उत्तर मथुरा का राजा था महासागनु—उसके दो पुत्र थे—सागर और उपसागर। उपसागर उपकंस का मित्र था। दोनों की शिक्षा साथ-साथ एक ही ऋषि-आश्रम में हुई थी। उपसागर लफंगे स्वभाव का था। उसने अपने भाई सागर के महल में ऐसा उत्पात किया कि तुरन्त मथुरा से भाग जाने में ही अपनी खैरियत समझी। वह भागता हुआ अपने मित्र उपकंस की शरण में गया।

ऐसी कथा की कोई झलक श्रीमद्भागवत या किसी दूसरे आर्ष-ग्रन्थ में नहीं आयी है। भगवान बुद्ध के श्रीमुख से ही इस कथा का श्रीगणेश हुआ। उपसागर आवारा तो था, ही अपने रक्षक की बहन देवगर्भा पर ही उसने डोरे डाले। देवगर्भा वेचारी भरी जवानी लिए खम्भे वाले महल में पंख फड़फड़ाया करती थी। बाहर निकलने का आदेश तो था नहीं, क्या करती। नंदगोपा नाम की एक दासी को प्रसन्न करके उपसागर ने देवगर्भा की निकटता प्राप्त की। देवगर्भा के एकान्त महल में उपसागर लुकछिपकर जाने लगा। दासी नंदगोपा इस काम के लिए पुरस्कार भी पाती थी। बात बहुत दिनों तक छिपी न रह सकी। गुप्त बात का बहुत बड़ा फल देवगर्भा के शरीर में प्रकट हुआ—क्वारी राजकन्या गर्भवती हो गयी। बहन पर अत्यधिक स्नेह के कारण कंसबन्धु ने देवगर्भा की सारी कथा जानकर, उसे ऊपसागर के ही हाथों में सौंप दिया। कंसों ने सोचा कि यदि बहन के गर्भ से कन्या पैदा होगी तो उसका पालन करेंगे, पुत्र होगा तो गला घोंट कर मार डालेंगे। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी के अनुसार देवगर्भा के पुत्र से कंस-वंश के नाश होने का भय है, न कि कन्या से।

दश पुत्रों की माता देवगर्भा

देवगर्भा ने प्रथम गर्भ से कन्या-रत्न को जन्म विया। भाइयों ने आनन्द प्रकट किया। 'गोवउड़मान्' गाँव बहन को देकर उसे अलग बसा दिया।

लगातार देवगर्भा बच्चे जनने लगी। दुर्भाग्यवश उसने क्रमशः दस पुत्रों को जन्म दिया और उसकी प्रिय सहचरी नन्दगोपा ने दस कन्या। देवगर्भा का प्रत्येक पुत्र नन्दगोपा ले जाती थी और अपनी कन्या उसे देदेती थी। भागवत के नन्दगोप जातक में नन्दगोपा दासी के रूप में हैं। संयोग ऐसा था कि देवगर्भा और नन्दगोपा साथ-साथ प्रसव करती थीं—'एक ही समय बच्चों की अदला-

बदली में' दैव सहायक था, यही कहना उपयुक्त होगा। देवगर्भा के दसों लड़के, जो आगे चलकर डाकू हो गये नन्दगोपा के पुत्र कहे जाने लगे, क्योंकि ऐसी ही व्यवस्था कंस के भय से की गयी थी। देवगर्भा के गर्भ से डाकू प्रकट हुए। वासुदेव से आरम्भ करके अंतिम पुत्र अंकर तक सभी डाके डालने लगे। जातक में इन्हें 'अन्धक वेणु दास-पुत्र दस दुष्ट भाई' कहा गया है। यह सन्देह हो जाता है कि कहीं इस कथा का सम्बन्ध श्रीकृष्ण से तो नहीं है, क्योंकि सारी घटना का रुख उसी ओर है जिधर श्रीकृष्ण-लीला का है।

जब नन्दगोपा को बुलाकर कंस ने डराया कि तेरे लड़के पापी हैं, वे डाके डालते हैं तब वह डर गयी और उसने सारा भेद खोल दिया। कंस भयभीत हो उठा। वे दसों भाई उसके भानजे हैं, देवगर्भा के लड़के, जिनसे उसे भय था—यह जानकर उसके होश हिरन हो गये। वह उन प्रवल शत्रुओं के शीघ्र नाश का उपाय सोचने लगा और उधर दसों भाई राज्य में आतंक फैलाते रहे। प्रजा रोज आकर रोती-बिलखती थी। राजा घबड़ा उठा।

उप-अमात्यों ने राय दी कि वे पहलवान हैं। नगर में कुश्ती कराने का प्रबन्ध कीजिये। दसों भाई निश्चय ही आजायेंगे, तब हम उनका खात्मा कर देंगे।

श्रीमद्भागवत के कंस ने भी ऐसी व्यवस्था की थी। यहाँ पर जातक और भागवत से मेल बैठता है। जातक में भी दस्यु-भाइयों बलराम और वासुदेव से कुश्ती लड़ने वाले इन्हीं पहलवानों के नाम लिये गये हैं जिन नामों को भागवत में हम पढ़ते हैं—चाणूर और मुष्टिक।

'कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत।
मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः॥

अब जातक की ओर ध्यान दें। दसों भाई बड़ी शान से अपने मामा के दंगल में पहुँचे। पहले उन्होंने धोबियों का मुहल्ला लूट लिया और इसके बाद सुन्दर कपड़े पहनकर आगे बढ़े। वे वनवासी डकैत थे—डील के कपड़े न रहे होंगे, इसीलिए पराक्रम का प्रदर्शन करना पड़ा। यह है जातक का वर्णन, किन्तु भागवत के श्रीकृष्ण जब मथुरा पहुंचे तब—

मतांसि तासामरविन्दलोचनः
प्रगल्भलीलाहसितावलोकनैः।
जहार मत्तद्विरदेन्द्रविक्रमो
दृशांददच्छ्रीरमणात्मनोत्सवम्॥

मतवाले मस्त हाथियों की तरह चलते हुए जब वे मथुरा नगरी में पहुँचे तो लक्ष्मी को भी विमोहित करनेवाले अपने श्यामरूप से नर-नारियों के नेत्रों

को लुभा लिया। अपनी प्यारी मुसकान से, प्रेमभरी चितवन से सबका मन चुरा लिया। चोरी की बात दोनों जगह है, जातक में भी और भागवत में भी। जातक के वासुदेव बलराम आदि धोबियों के कपड़े लूटकर नगर में घुसे तो भागवत के वासुदेव और बलराम लोगों के चित्त चुरा कर आगे बढ़े[1]। थोड़ा सा अन्तर है, बहुत थोड़ा सा। जातक का ही वर्णन यहाँ पर उपस्थित करना मैं चाहता हूँ। इसके बाद बलददेव और वासुदेव ने चाणूर तथा मुष्टिक को धराशायी कर दिया। दोनों पहलवानों का बध करके वासुदेव ने अपना चक्र सम्हाला। उनके दोनों मामा कंस और उपकंस सामने ही बैठे थे। वासुदेव एक ही झपट्टे में दोनों मातुलों के सिर काटकर अट्टहास करने लगे। बलराम ने मुष्टिक को मारा था—वह प्रेत हो गया। जातक में कुछ परिचित शब्द इसी प्रसङ्ग में हम पढ़ते हैं जैसे—रोहिणेय्य, केसव, कृष्ण आदि। मातुलों का बध करके उनके राज्य पर उन्होंने अधिकार कर लिया तथा फिर विश्वविजय करने चले। अन्त में उन्होंने द्वारावती नगरी को जा घेरा। इस नगर के एक ओर समुद्र तथा तीन ओर पहाड़ों का प्राकृतिक घेरा था। वे द्वारावती को जीतकर वहाँ बस गए। ऐसे थे जातक के वासुदेव आदि डकैत-बंधु। भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण ने द्वारका को बसाया था जो अड़तालीस कोस लम्बी तथा समुद्र के बीच में थी—

दुर्गद्वादशयोजनम्
अन्तःसमुद्रे नगरम्

ऐसा वर्णन भागवत के बारहवें स्कंध में है।

दुर्वासा के स्थान पर कृष्ण द्वीपायन

इसके बाद दुर्वासा के शाप और मूसल की, एक दूसरे ढङ्ग की कथा भगवान बुद्ध कहते हैं। वह इस प्रकार है—केशव को जब राज्य करते काफी समय व्यतीत हो गया तब उन दसों भाइयों के लड़कों ने एक दिन 'कृष्ण द्वीपायन' की दिव्य दृष्टि की परीक्षा लेने का साहस किया। कृष्ण द्वीपायन एक पहुँचे हुए सिद्ध थे। लड़कों ने एक पुरुष को स्त्री की तरह अलंकृत करके तथा पेट पर तकिया बांधकर द्वीपायन के सामने उपस्थित किया। कृष्ण द्वीपायन ने कहा—यह व्यक्ति आज के सातवें दिन एक लकड़ी का टुकड़ा जनेगा और उसीसे वसुदेव-कुल की इतिश्री हो जायेगी। तुम लकड़ी टुकड़ा जलाकर राख समुद्र में फेंक देना। "राजपुत्र बड़े नाराज हुए और बोले—अरे तपस्वी, यह पुरुष है। इसे प्रसव कैसे होगा?"

१—सूरदास ने रजक लीला दी है। इसमें कृष्ण ने कंस के धोबी को लूटा है। देखिये सूरसागर (ना० प्र० सं०) दूसरा खंड पृ० १२६२

इसना कहकर उन्होंने कृष्ण द्वीपायन को तांत की रस्सी से गला घोंटकर मार डाला। बेचारे ऋषि का अन्त हो गया। उस पुरुष पर जो नारी का स्वांग भरकर कृष्णद्वीपायन के निकट गया था, पहरा बैठा दिया गया। ऋषि की बात खाली नहीं गयी। सातवें दिन सचमुच लकड़ी का एक टुकड़ा उस पुरुष के पेट से निकला। कंस-वंश का यही नाशक यमदंड था। वह लकड़ी जलाकर उसकी राख सागर में डाल दी गयी। उसी राख के प्रभाव से नगर के प्रधान द्वार पर एरंड के पेड़ उग आये। यह जातक का वर्णन है।

तदनन्तर एक दिन राजा जलक्रीड़ा करने सागर की ओर चले। रेत पर छावनियाँ डाल दी गयीं। आनंद मनाया जाने लगा, पुत्र, पौत्र, नाते-रिश्तेदार सभी हँस-खेल रहे थे कि किसी बात पर झगड़ा उठ खड़ा हुआ। अस्त्र तो थे नहीं, काल-प्रेरित उन्हीं एरंडों के डंठल तोड़-तोड़ वे लड़ने लगे। हाथ में आते ही डंठल भयानक मूसल बन जाता था। देखते-देखते सभी जूझ गये, सारा वंश ही समाप्त हो गया। जातक की इस कहानी से भागवत में भगवान कृष्ण की उस कथा का कुछ मेल बैठता है जिसमें यदुवंश के नाश का, जो सागर तटपर दुर्वासा के शाप से हुआ था, वर्णन है। वहाँ दुर्वासा थे और जातक में बेचारे कृष्ण द्वीपायन। दुर्वासा को किसी ने कुछ नहीं कहा और द्वीपायन को बेमौत मरना पड़ा। भागवत में लिखा है—

जनयिष्यति वो यन्दा मुसलं कुलनाशनम्।

"मूर्खो, इससे एक ऐसा मूसल पैदा होगा जिससे तुम्हारे कुल का नाश हो जाएगा।" यही दुर्वाशा का शाप है। जातक के अनुसार जब वासुदेव के सभी सगे-सम्बन्धी मूसलों की मार से मर रहे थे तब वासुदेव, बलदेव, बहन अंजना देवी और पुरोहित चारों रथ पर बैठकर भाग खड़े हुए और एक दूर के गाँव में जाकर रुके। वासुदेव ने उसी जगह विश्राम करना चाहा।

वासुदेव की मृत्यु

एक बात छूट गयी। जब वासुदेव बलदेव आदि चारों व्यक्ति गृहयुद्ध से भयभीत होकर भागे तो रास्ते में एक भयानक यक्ष मिला। मुष्टिक पहलवान जिसे बलदेव ने कंस के अखाड़े में मारा था, मरकर प्रेत हो गया था। उसने बलदेव को देखते ही बदला लेने के लिए उसे धर दबोचा और चबा डाला। इस तरह बलदेव भी प्रेत के पेट में चले गये। अब बचे तीन व्यक्ति, गाँव के बाहर ही ठहरे। विश्राम करके वासुदेव ने अपने पुरोहित के साथ बहन को गाँव के बाजार में भेजा—खाने का सामान लाने के लिए। इधर वासुदेव जो थक गये थे एक वृक्ष की शीतल छाया में छिपकर लेट गये। जरा नाम का एक बहेलिया था। वृक्ष को हिलता देखकर उसे सुअर का भ्रम हुआ। भाग-

वत के अनुसार श्रीकृष्ण के तलवे की ललाई देखकर बहेलिये को मृग के सिर का भ्रम हुआ था। जातक के बहेलिये को सुअर का और भागवत के बहेलिये को मृग के सिर के अग्रभाग का—नाक से ललाट तक का। जातक का बहेलिया भी 'जरा' है और भागवत का बहेलिया भी जरा है—

मूसलावशेषायः खंडकृतेबुर्लुब्धको 'जरा'।
मृगास्याकारंतच्चरणं दिव्याध मृगशंकया॥
भागवत, एकादश स्कंध।

मूसल के बचे हुए टुकड़ों को बाण का फलक बनाकर 'जरा' वनों में घूमता था। उसने श्रीकृष्ण के लाल-लाल चरणतल को देखकर मृग समझा। निशाना मारा और चरण बिंध गया। होनी होकर रही, वह टल न सकी, टाली न जासकी। जातक के वासुदेव को भी बड़ा-सा सूअर समझकर जरा ने बाण से बींध दिया तो वासुदेव को मृत्यु के निकट देखकर एक पुरानी बात याद आयीं। कभी पंडितों ने भविष्यवाणी की थी, जरा नाम के किसी व्यक्ति के बाण से तुम मरोगे।

जरा को वासुदेव ने क्षमा-दान दिया और श्रीकृष्ण ने भी जरा को अपनाया। जातक का 'जरा' क्षमा पाकर प्राण लेकर भागा और किसी जंगल में छिप गया तथा भागवत का जरा क्षमा पाकर सीधे स्वर्ग चला गया—

त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ।

तीन बार परिक्रमा करके उसने भगवान को प्रणाम किया और वह तत्काल विमान पर चढ़कर स्वर्ग चला गया।" जातक में कृष्णलीला इसी रूप में है।

कृष्ण-कथा का यह रूप सिद्ध करता है कि यह कथा लोक-कथा के रूप में प्रचलित थी, और इसके कई रूपान्तर समय-समय पर हुए, जिनमें से जो रूपान्तर जिसे मिला, उसका उपयोग उसने अपनी दृष्टि से किया।

कृष्ण की जो कथा आज हमें मिलती है उसमें पूर्व के विविध कृष्णों के वृत्तों का भी आधार दिखायी पड़ता है। ऋग्वेद में कृष्ण का उल्लेख है, जो किसी नदी के किनारे था। यह आर्य विरोधी था। छान्दोग्य उपनिषद में देवकीपुत्र कृष्ण का उल्लेख है। यह कृष्ण विद्वान था विश्वक का पुत्र कृष्ण था, कृष्ण ऋषि था। कृष्ण नाम का एक असुर था जिसके दस हजार अनुयायी थे। ये लूटमार करते थे। इन्होंने इन्द्र को पराजित किया था। एक वैदिक मंत्र में ५०,००० कृष्णों का उल्लेख है, ये सभी मार डाले गये, इनकी गर्भवती स्त्रियों तक को नहीं छोड़ा गया, क्योंकि यह अभीष्ट था कि कृष्णों का वंश समूल नष्ट होजाय।[१]

१—देखिये—डाउसनः ए क्लासिकल डिक्शनरी आव हिन्दू माइथालोजी

वर्तमान कृष्ण-कथा में कृष्ण इन्द्रविरोधी हैं, कृष्ण आश्रम के अन्तेवासी हैं, सान्दीपन के यहाँ, वे देवकी के पुत्र हैं। कृष्ण दस्यु हैं, दस हजार उनके अनुयायी हैं, इसका रूपान्तर बौद्ध जातक में है, कृष्ण वहाँ दस्यु है और दस हजार संख्या उसके दस महलों के रूप में रह गई है। कृष्णों का समूल नाश यादववंश के समूल नाश का ही पूर्व रूप है।

इस प्रकार कथा-भूमि सर्वथैव लोक-मानस की सृष्टि है। इसके अतिरिक्त वल्लभसम्प्रदाय की भूमि ही लौकिक है, जो स्पष्टतः और मूलतः वेद-विरोधी भी है जिसमें सूरदास और अन्य कृष्ण-काव्य के कवियों का दृष्टिकोण यह है कि वे जो सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं वह सिद्धान्त सर्वमान्य है। वेद-उपनिषद भी उसकी साक्षी देते हैं किन्तु जिसे स्पष्टतः वेदमार्ग कहा जाता है, वह उनका मार्ग नहीं। उनका मार्ग तो लोक-मार्ग* है। यह लोक-मार्ग इसलिए भी है कि वेदेतर है, वेदमार्ग-विरोधी भी है, भक्ति परक है और भक्ति लोक-तत्वमय है। पर यह लोकमार्ग इसलिए भी है कि इसमें जो साहित्य रचा गया उसमें विविध सम्प्रदायों अथवा मतों की परम्पराओं के अवशिष्ट लोक-तत्व भी हैं जिसका उपयोग एक विशेष व्यवस्था के अनुरूप किया गया है। योगियों के चित्र उनके सिद्धान्तों की आलोचना, योगमाया का उल्लेख, आत्मतत्व का अन्तर्निष्ठ रूप, जाति-पाँतिवाद का विरोध, नारी-पुरुष का साम्य आदि ऐसी ही बातें हैं।

इसी के साथ लोक-भाषा और लोक गीत-प्रणाली का उपयोग भी यह सिद्ध करता है कि सूर और अन्य कृष्णभक्त कवियों की काव्य भूमि लोक भूमि ही थी। उसमें लोक-तत्व बहुत प्रबल था। यही कारण है कि उसने इतनी लोक-प्रियता प्राप्त की।

सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों में जो तत्व विद्यमान मिलते हैं वे सभी बाद के भी कृष्ण-भक्ति कवियों में प्राप्त होते हैं। किन्तु बाद के कृष्ण-भक्ति-कवियों में शास्त्रीय मर्यादा की ओर आग्रह बढ़ता गया है। बाद के कवियों ने पद-रचना छोड़कर कवित्त-सवैये की शैली को अपनाया। कवित्त में निश्चय ही लोक-मानस का रूप है,क्योंकि कवित्त में शास्त्रीय बन्धन हैं तो, पर वे किसी भी मात्रिक छन्द अथवा वर्णवृत्त से बहुत कम हैं। उसका समस्त निर्माण एक निश्चित सांचे में होता है जो सहज परम्परा से प्राप्त होता है क्योंकि केवल

* यह प्रतीत होता है कि सूर ने 'लोक-वेद' दोनों का विरोध किया है। जहाँ लोक-वेद आदि का ऐसा उल्लेख हुआ है, वहां 'कानि' या 'मर्यादा' से ही अभिप्राय है। अतः लोक मर्यादा का विरोध है। लोक-तत्व का मूल रूप किसी भी मर्यादा ऊपर से रहता है, वैसे ही भक्ति संप्रदाय की कृष्ण शाखा का रूप है।

वर्णों को गिनकर रख देने में भी कवित्त नहीं बनता पर उसमें पदों जैसी उन्मुक्तता भी नहीं, अतः लोक-मानस की वह स्वच्छन्दता नहीं मिलती। इसी के साथ बाद के काव्य में चमत्कार और आलङ्कारिक प्रयोगों का आग्रह बढ़ता गया है, उसी परिमाण में लोक तत्व भी कम होता गया है। हाँ, कथा-तत्व सम्बन्धी लोकतत्व को कम करने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी। पर इस ओर भी उनकी चेष्टा थी यह स्पष्ट है जब कि हम यह देखते हैं कि बाद में लीला को गौण स्थान दिया गया, शृङ्गार-चित्रों और केलि-क्रीड़ा को सर्वोपरि महत्व दिया जाने लगा, और कृष्ण से अधिक राधा का महत्व होने लगा।

पाँचवा अध्याय

राम शाखा

कृष्ण-काव्य का स्वरूप जिस प्रकार के लोक-तत्वों से बना है, उससे भिन्न लोक-तत्वों का समावेश राम-कथा में हुआ है। कृष्ण-कथा का मूल साहसी कार्यों में प्रवृत्त होने वाले वीर नायक की गाथा में निहित है, राम-कथा मूलतः प्रेम-कथा है। यह एक महान प्रेम-कथा है जो जन्म से आजतक विविध रूप ग्रहण कर चुकी है। आज जो राम-कथा हमें मिलती है उसमें तीन लोक कहानियाँ मिली हुई हैं।

एक कहानी है—धनुष-भंग के द्वारा सीता की प्राप्ति,

दूसरी है—रावण-वध के द्वारा सीता की प्राप्ति,

तीसरी है—प्राप्ति के ठीक अवसर पर सीता का लुप्त हो जाना अर्थात् पृथ्वी में समा जाना।

पहली कहानी में धनुष तोड़ना सबसे प्रमुख अभिप्राय है। उसका यथार्थ रूप है पुरस्कार-प्रतियोगिता। इसमें 'सीता' प्रतियोगिता में सफल होने के कारण विजय के पुरस्कार रूप में प्राप्त हुई हैं। द्रौपदी के लिए मत्स्यभेद, तथा ऐसी अन्य कहानियाँ जिसमें राजा द्वारा घोषणा होती है कि यदि काम कर दिया जायगा तो पुरस्कार में आधा राज और राजकुमारी मिलेगी, इसी परम्परा से सम्बन्धित है।

दूसरी कहानी वास्तव में प्रेमकथा है, इसमें प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए

मार्ग की बाधाओं को दूर करना पड़ता है। प्रेयसी कहाँ है ? यह पता लगाने के लिए भी भटकना पड़ता है। इस प्रेम-कथा में नायक का एक अभिन्न मित्र या भाई नायक के साथ अवश्य रहता है।

तीसरी कहानी में प्रेयसी जैसे-तैसे हाथ में आती है या आनेवाली होती है कि ठीक मिलने के क्षण पर वह लुप्त हो जाती है। शान्तनु-गंगा, पुरूरवा-उर्वशी नल-मोतिनी की कहानियों में भी यह अभिप्राय मिलता है।

बहुधा लोक-कहानियों में दूसरी और तीसरी कहानी मिली रहती है। क्योंकि ये दोनों कहानियाँ ही प्रेम-कहानियाँ हैं।

राम-कथा में ये तीनों मिलों मिली हुई हैं।

इन तीनों कथाओं पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि पहली का संबंध विशेषतः राजकीय क्षेत्रों से होगा। और पुरस्कार-योजना का मूल किसी सामयिक संकट को हल करने की दृष्टि से हुआ होगा। किन्तु बाद में इस युक्ति का उपयोग निम्न रूपों में भी होने लगा।

१—राजकुमारी के बहुत से प्रतिद्वन्द्वियों में से एक को छाँटने के लिए।

२—राजकुमारी को पाने के लिए उत्कण्ठित, देखने में अत्यन्त अयोग्य लगने वाले व्यक्ति का वर्जन करने की विधि के रूप में। जैसे शीरीं-फरहाद में यह समझा गया था कि फरहाद दूध की नहर न तो खाद सकेगा, न कुमारी का वरण कर सकेगा।

इस कहानी का प्रधान अभिप्राय वह है जिसे स्मिथ थामसन ने मोटिफ इडेक्स में 'एच ३३१' वर्ग दिया है। इस वर्ग में भी ३३१, ४, २ से यह मिलता-जुलता है।

दूसरी कथा ही मूल कथा है, अथवा समस्त रामचरित की केन्द्रीय कथा है। यह मूलतः प्रेमकथा है और लोक-मानस से उद्भूत सामान्य कथा मानी जा सकती है। लोक-मानस से कथा-तत्व के विकास पर विचार करते हुए राम-कथा की इस मूल कहानी के जन्म की सम्भावना हमने प्रकृति के तत्वों में मानी थी। राम-कथा के जन्म का यह इतिहास यहाँ उद्धृत करना ठीक रहेगा।

धर्मगाथाओं के निर्माण अथवा विकास की तीन अवस्थाएं मानी जा सकती हैं। आरंभिक अवस्था में प्राकृतिक व्यापारों और व्यापार-कर्ताओं को यह जीवन द्योतक शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त करेगा।

किन्तु जीवन व्यापार से विभूषित प्रकृति के ये तत्व और व्यापार मानवीकरण के आरोप, अथवा रूपक के द्वारा सिद्ध हुए नहीं माने जा सकते। उन व्यापारों का आदि-द्रष्टा प्रकृति के इन व्यापारों को अपनी भाँति ही प्राणियों के व्यापार मानता है। सूर्य, ऊषा आदि उसके लिए प्राणी ही हैं, अतः उनको

वह रूपक अथवा मानवीय आरोप के द्वारा प्रकट नहीं कर रहा। अपने मनोभावों में उस प्रकृति-मंडल को उसने यथार्थतः इसी रूप में देखा है।

इस क्रम से आरंभिक गाथाओं का निर्माण हुआ, जो वेद में बिखरी मिलती है। माध्यमिक गाथाएं वे होती हैं जिनमें शब्दों के यथार्थ और विषय या तो बिलकुल ही विस्मृत हो जाते हैं या अधिकांश विस्मृत हो जाते हैं और उन विस्मृत कड़ियों को जोड़ने के लिए कल्पित कड़ियाँ बन जाती हैं अथवा बना ली जाती हैं। तीसरी प्रकार की गाथाएँ भी होती हैं, ये शब्द के बहु-अर्थों के कारण अथवा एक ही अर्थवाले विविध शब्दों के श्लेष से उत्पन्न हो जाती हैं।

धर्म गाथाओं और लोक-कथाओं के अध्ययन से यह विदित होता है कि इनका मूल बहुत प्राचीन है। और ये संभवतः उस समय अपनी धुंधली रूप-रेखा तय्यार कर चुकी थीं जब कि विविध राष्ट्रों और देशों में विभाजित आर्य जन विभाजन से पूर्व शान्तिपूर्वक किसी एक स्थान पर रहते थे।

इस विचार-विमर्श से यह निष्कर्ष निकलता है कि लोक-वार्ता साहित्य की धर्म-गाथाओं का उदय जिन उपादानों और व्यापारों से हुआ उन्हीं से साधारण लोकवार्ता साहित्य की लोक-गाथाओं और लोक-कथाओं का भी हुआ। धर्म-गाथा और लोक-कथा के उदय की श्रेणियाँ संक्षेप में यों दिखायी जा सकती हैं :—

पहली अवस्था :—आदि मानव के मानस द्वारा प्रकृति व्यापारों का दर्शन, उनका नामकरण, और उनमें अपने जैसे व्यापारों का ज्ञान—

दूसरी अवस्था :—इस ज्ञान के दो रूप हुए : एक ज्ञान ने विकसित होकर उन प्रकृति के व्यापारों के वाचक शब्दों के यथार्थ अभिप्राय तो अंशतः अथवा पूर्णतः विस्मृत कर दिया, और उन प्रकृतिवाची शब्दों के विषयों को देवत्व और अलौकिकत्व से विभूषित कर दिया, उनमें धर्म-भावना वा, श्रद्धा अथवा भय का संचार कर दिया। ऐसा प्रकृति के उन तत्वों और व्यापारों के सम्बन्ध में हुआ जो मनुष्य को अपने प्रत्यक्ष अनुभव से उसके दैनिक कार्यक्रम में हानिलाभ पहुँचाते थे।

दूसरे ज्ञान ने विकसित होकर प्रकृति के विविध व्यापारों में मिलने वाली शिक्षाओं को हृदयंगम किया— उन प्रकृति के व्यापारों को कथा-रूप दिया— और उनसे उपदेश निकाला।

तीसरी अवस्था :—पहला ज्ञान धर्म गाथाओं के रूप में धार्मिक आख्यानों का आधार बना। उन्हें मनीषियों ने अपना कर और भी अधिक श्रद्धा का भाजन बना दिया। इसमें से महाकाव्यों तथा धर्मगाथाओं के परिपक्व रूप खड़े

हुए। यह शिष्ट और विशेष वर्ग की संपत्ति होता चला गया। इसका रूप भी स्थिर होता गया।

दूसरे ज्ञान को साधारण लोक ने अपनाया इसमें प्रकृति के व्यापारों की शिक्षाएँ साधारण कल्पना से विविध रूप ग्रहण करती रहीं, यही साधारण लोक-वार्ता हुई। इसमें या तो मनोरंजन की प्रधानता रही, या नैतिक शिक्षा की। इस साहित्य में कथा-कहानी के रूप में घटनाएँ तो सुरक्षित रहीं, पर नामों की रक्षा न हो सकी। इसकी आधार रूप-रेखा तो दृढ़ रही पर ऊपरी रूप में अनेकों परिवर्तन होते गये और रंग भरते गये। यह सर्व साधारण की संपत्ति बनी।

चौथी अवस्था :—मूल लोकवार्ताएं अपने आदि स्रोत से पृथक् होती चली गयीं। वे विविध मानव-समूहों द्वारा विविध भौगोलिक प्रदेशों में ले जायी गयीं। उन प्रदेशों की भूगोल के अनुसार उस कथा के स्थानों का नामकरण हुआ। ये अधिकाधिक फलने-फूलने लगीं उनकी शाखा-प्रशाखाएँ ऐसा रूप धारण करने लगीं कि मूल से वे बिलकुल असंबद्ध प्रतीत होने लगीं। अब ये बिलकुल ही साधारण लौकिक कहानियाँ हो गयीं।

पाँचवीं अवस्था :—ये साधारण लोक-कहानियाँ साधारण जन समुदाय में प्रवाहित हो चलीं और साधारण लोक-मानस ने इनके समान ढाँचे पर बिलकुल लौकिक और स्थानीय कहानियाँ रच डालीं। ऐसी कहानियों को भी प्रेरणा मिली जिनका उनकी कहानी से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा।

वैदिक प्रकृति—उदाहरण के लिए पहली अवस्था में मानव ने ऊषा को देखा और मुग्ध होकर गा उठा—

"We see that thou art good : far shines thy lustre,
Thy beams, thy splendour have flown upto heaven,
Decking thyself, thou makest bare thy bosom,
Shining in majesty, thou goddess Morning.

हम देखते हैं कि तू भव्य है : तेरी रश्मियाँ, तेरा तेज अत्यन्त देदीप्यमान है।

+ × × ×

Thy ways are easy on the hills : thou passest Invincible !
Self-illuminous through waters
So lofty goddess with thine ample pathway, Daughter of Heaven bring wealth to give us comfort.

सूर्य के सम्बन्ध में उनके मन में यह धारणा बनी—

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां

मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् । ऋ० १, ११५ ।

"सूर्य दिव्य (देवी) तथा जोतिष्मती उषा पीछे पीछे ऐसे ही जाता है जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रेयसी के।"

मेघ और वर्षा के व्यापार को देखकर उसने इन्द्र की जो कल्पना की वह तो अद्भुत ही है। उसने कहा–

यो हत्वाहि मरिणात्सप्त सिन्धुन्योगा उदाजदपधा वलस्य ।ऋ० २-१२

तथा—

य: शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं
चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविदन्त् ।
ओजायमानं यो अहि जघान
दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥[ऋ० २, १२]

"Who found out in the fortieth autumn, Sambara abiding in the hills: who slew that dragon boasting of his might, the sprawling demon. He, O men, is Indra." [Tr, Peter Peterson]

उसने अग्नि की प्रशंसा में ये अनुभूतियाँ समर्पित कीं—

अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वी: ।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्

(ऋ० III. २०.२)

अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम ।
याश्च माया मायिनां विश्वमिन्व त्वे पूर्वीः संदधुः पृष्ट बन्धो ॥ ३ ॥
अग्निर्नेता भगइव क्षितीनां दैवीनां देव ऋतुपा ऋतावा ।
स वृत्रहा सनयो विश्व वेदाःपर्षद्विश्वाति दुरिता गृणन्तम् ॥ ४ ॥

"Agni born of sacrifice, three are thy viands, three thine abiding places, three the tongues satisfying (the gods): three verily are thy forms, acceptable to the dieties and with them never heedless (of our wishes), be propitious to our praises."

"Divine Agni knowing all that exists······have deposited in whatever are the delusions of the deluding (Rakshasas)."

"The divine Agni is the guide of devout men, as the Sun is the regulator of seasons: may he, the observer of truth, the slayer of Vritra, the ancient, the om-

niscient convey his adorer (safe) over all difficulties" [Rv. III. 2. 8. Tr. by H.H. Wilson]

बादलों में मेघ के जल को बन्द कर रखनेवाला अहि वृत्र है, इन्द्र उसी वृत्र को मारकर वर्षा कराता है। यह इन्द्र सूर्य का ही रूपान्तर है, अग्नि इसका प्रमुख साथी। तभी वेदों ने अग्नि और इन्द्र की साथ-साथ स्तुति की है— Ouer powering is the might of these two ; the bright (lightening) is shining in the hands of Maghvan, as they go together in one chariot for the (recovery) of the cows, and the destruction of Vritra [Rv. V. 6, 11. Tr, H.H. Wilson]

"The heroic Agni is able to encounter hosts and by him the gods obercome their foes."

तनूनपादुच्यते गर्भ आसुरो नराशंसो भवति यद्विजायते।
मातरिश्वा यदमिमीत मातरि वातस्य सर्गो अभवत्सरीयाग्गि॥

ऋ० III. 39, 11

When (existing) as an embryo (in the wood) Agni is called Tanunapat: When he is generated (he is called) the Asura-destroying Narashansa: when he has displayed (his energy) in the material firmament, Matarishwan: and the creation of the wind is in his rapid motion.

× × × ×

न नि मिषति सुरगो दिवेदिवे यदसुरस्य जठरादजायत।

III. 29, 14.

Day by day he never slumbers after he is born from the interior of the (spark) emitting wood. (Rv. III. 2. 17.)

उसने देखा अन्धकार, और कल्पना की कि यह अन्धकार वर्षों को और प्रभातों को भक्षरग किये जाता था, इंद्र तथा सूर्य ने उन्हें मुक्त किया : Having slain Vritra he has liberated many mornings and years (that had been) swallowed up by darkness. [RV. IV. 2 9.

उसने कल्पना की कि यह अन्धकारिग्णी रात्रि कोई दुष्प्रवृत्ति छिपाये हुए है, अतः इंद्र उसे मार डालता है, "Is as much, Indra, as thou has displayed such manly prowess, thou has slain the woman, the daughter of the sky, when meditating mischief RV. 3. 9.

और उसने उस इंद्र को उषा के प्रेमी के रूप में चित्रित किया, "Thou Indra, who art mighty, hast enriched the glorious dawn the daughter of heaven. इन्द्र तुम बलवान हो, तुमने वर्चस्विनी उषा को समृद्ध किया है—उस उषा को जो द्यावा की पुत्री है।

वेदों में यही उषा 'सरमा' भी कही जा सकती है। अन्धकार की अधिष्ठात्री ने परिण का रूप धारण किया है, जो सरमा को फुसला लेना चाहती है। रात्रि उषा के प्रथम प्रकाश को अपने चंगुल में कर लेना चाहती है।

इस आरम्भ के पहले आदि कवियों ने प्रकृति के इन व्यापारों में शक्ति के दर्शन किये, उनके हृदय आतंक और श्रद्धा से परिपूर्ण हो उठे, उन्होंने उन्हें देव मान लिया, उनके व्यापार, जो यथार्थ में प्रकृति-व्यापार थे, देवताओं के अलौकिक कृत्यों की कथा बन गये। अब सूर्य सूर्य नहीं रहा, वह इंद्र के रूप में एक शक्तिशाली देव होगया, जिसने वृत्र नाम के अहि का, सर्पों के से आकारवाले बादलों का, संहार कर डाला, और सृष्टि को जला दिया। यह वृत्र दानव हो गया। इसका आकार-प्रकार सर्पों जैसा कल्पित किया गया। इसे मारकर नष्ट भ्रष्ट कर दिया तो सरमा प्रत्यक्ष हुई (When thou hadst divided the cloud for (the escape of) water, sarama appeared before thee. RV. IV 2, 6) "जब तुमने जल के (उन्मोचन के) लिए बादलों को विभक्त कर दिया, तेरे समक्ष सरमा प्रकट हुई।"

इन्द्र उषा को प्रेम करता है, उसे उपहारों से समृद्ध करता है, उषा वृत्र की बन्दिनी थी, इन्द्र ने उसके बन्धनों को नष्ट कर दिया उषा मुक्त हुई। ['The terrified Ushas descended from the broken waggon when the (showerer of benefits) had smashed it]'भयभीत उषा टूटे रथ से उतरी जब कि (वरदानों के बरसाने वाले ने) उसे ध्वस्त कर दिया।"

वृत्र-विनाश में इन्द्र का साथ अग्नि ने दिया। अग्नि भी अब देव हो गया है, मात्र प्रकृति का एक भूत नहीं रहा। पणि ने सरमा को फुसलाया, उसे इन्द्र से छीन लेना चाहा, पर वह मारी गयी इंद्र के बाण से : जब पणि सरमा को बहका रही थी, इन्द्र के विरुद्ध, तब सरमा ने पणि से कहा था : I donot know that Indra is to be subdued," "for it is he him self that subdues, you panis will be prostrate killed by Indra. "मैं नहीं जानती कि इन्द्र का दमन किया जाना है, क्योंकि

यह तो वही है जो दमन करता है, तुम पणिस भूशायी होगी इन्द्र भारा पार डाली जाओगी :

और यही होता है। इन्द्र का मित्र अग्नि साधारण देवता नहीं है, उसने वृत्र के संहार में इन्द्र का साथ दिया है, वह कभी सोता नहीं, वह सबको कठिनाइयों से बचाकर ले जाता है। वह सबका ज्ञाता है। इस प्रकृति-व्यापार का यह धर्मगाथा विषयक पूर्व रूप बढ़ने लगा। समय बीतने पर इन्द्र अग्नि जैसे सीधे दिव्य पात्रों का स्थान राम-लक्ष्मण अथवा कृष्ण-बल्देव ने ग्रहण किया। वृत्र रावण बना। पणि सूर्पणखा हुई और परिपक्व धर्मगाथा का पौराणिक रूपान्तर प्रस्तुत होगया। यह विशिष्ट सम्प्रदाय में हुआ। लोक-कल्पना में उपरोक्त आदिकालीन विविध प्रकृति-तत्वों की प्राणी-रूप-कल्पना ने एक अद्भुत कहानी का ढांचा खड़ा किया, जिसमें न तो इन्द्र-वृत्र का नाम रहा, न राम-रावण का।

इस कहानी का मूल ढांचा कुछ ऐसा बना। राजकुमार और उसके मित्र घर से चले। उन्होंने एक सुन्दरी की छवि देखी। वह सुन्दरी पानी में रहती थी। एक मणि धर सर्प के वश में थी। दोनों ने सर्प को मार डाला और सुन्दरी को प्राप्त किया। एक अन्य राजकुमार की दृष्टि सुन्दरी पर पड़ी। उसने चतुर दूती भेजी जो धोखा देकर ले गयी। पर राजकुमार के मित्र ने पता लगा लिया और उस दूती को धता बता कर सुन्दरी को छुड़ा लिया। जब राजकुमार और सुन्दरी के साथ वह मित्र भी घर लौटने लगा तो उसने रात में जगकर पक्षियों की बातों से राजकुमार पर पड़नेवाले संकटों को जान लिया। उसने तीनों संकटों से राजकुमार की रक्षा की, पर अन्त में राजकुमार हठ पकड़ गया कि बताओ तुम्हें इन संकटों का कैसे ज्ञान हुआ तो मित्र ने सब हाल कहा। वह पत्थर का होगया तब राजकुमार और सुन्दरी से जो पहला पुत्र उत्पन्न हुआ उसके स्पर्श या रक्त से वह पाषाण पुनः जीवित हो उठा। यह कहानी इन्द्र उषा, सरमा अग्नि, पणि की ही लोक-कल्पना में जीवित रहनेवाली आवृत्ति है। अग्नि के तीन रूपों से तीन संकटों की कल्पना हुई है। सब संकटों से अग्नि रक्षा करती है। इससे मित्र द्वारा रक्षा की भावना लोक-कहानी में मिलती है। पणि दूती है। अग्नि की सामर्थ्य बीत जाने पर पाषाणवत शीतल और वह तभी पुनरुद्दीप्त हो सकती है जब पुनः उद्योग किया जाय। वेदों में अग्नि के आरम्भिक रूप को प्रथम उत्पन्न शिशु भी कहा गया है—"He (it is) whom the two stick have engendered like a new

---

१—जैसा वेदों में अग्नि के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह कभी नहीं सोता वैसे ही लोक-कथा में बताया गया है कि लक्ष्मण बनवास में कभी नहीं सोए।

born" RV. V. P. 10. "इसे ही दो अरणियों ने उत्पन्न किया है नव-जात (शिशु) की भाँति।"

और यह भी कहा गया है कि उसके कारण वृद्ध युवा हो जाते हैं। "but he has (again) been born, and they which have become grey haired are (once more) young. [RV. V. 1. 2. "किन्तु वह (पुनः) उत्पन्न हुआ है, और वे जो कि श्वेत केशी हो गये थे (एकबार पुनः) युवा हो गये हैं।

यह लोकवार्ता विविध दलों के व्यक्तियों के साथ अलग अलग देश में गयी और अपनी उस मौलिक रूपरेखा की रक्षा करते हुए भी विविध देशों में इसने विविध रूप धारण कर लिये, जिन्हें तुलना करने पर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि यह एक ही कहानी है जिसने इतने वेष बदल लिये हैं। जर्मनी में यह फेदफुल जोह्न के नाम से प्रचलित है, दक्षिण में राम-लक्ष्मण की कहानी का रूप लिया, बङ्गाल में फकीरचन्द बनी, ब्रज में 'यारू होइ तौ ऐसौ होइ' के नाम से चल रही है। और भी इसके कितने हो अवान्तर रूप इधर उधर के अनेकों प्रदेशों में मिलते हैं।[1]

इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक-वार्ता में हम किसी न किसी रूप में किसी प्राचीन युग को झाँकता देख सकते हैं। वह कहानीकार की मौलिक कल्पना नहीं होती। वरन् किसी प्राचीन कल्पना का रूपान्तर होती है और उसके विविध निर्माण-तंतुओं में ऐसी अद्भुत असंभावनाओं का समावेश होता है कि वे किन्हीं अन्य तत्वों की व्याख्या के द्वारा ही संभावना का रूप ग्रहण कर पाती हैं। इन लोकवार्ताओं के कथा-तत्वों को समझने के लिए उनमें झाँकते हुए रहस्य का उद्घाटन करना आवश्यक होता है।

जैसा कि उपरोक्त विवेचन से प्रकट होता है, यह अत्यन्त प्राचीन कथा एक ओर शुद्ध लोक-कहानी के रूप में और दूसरी ओर पुराण-कथा (माइ-थालाजी) के रूप में साथ साथ चलती रही है। यह लोक-कहानी निम्न तत्वों-अथवा अभिप्रायों से बनी हुई हैं :—

१—दो व्यक्ति : ये मित्र हो सकते हैं, वे भाई हो सकते हैं अथवा स्वामी और सेवक हो सकते हैं। प्रत्येक दशा में एक, जो छोटा ही माना जाना चाहिये, बड़े

१—देखिए ब्रज भारती, वर्ष २ अंक ५, ६, ७, संवत २००३ में लेखक की ब्रज की इसी कहानी पर टिप्पणी।

का अभिन्न सहायक है, निरन्तर जागरूक और प्रबल पराक्रमी है।

२—दो में से बड़ा अपनी प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए व्यग्र। सामान्य कहानी में यह प्रेयसी चित्र-दर्शन से प्रेयसी बनती है, अथवा मूर्ति-दर्शन से। यहाँ यह प्रेयसी अपहृत है, पहले प्राप्त हो चुकी है, अब उसका अपहरण हुआ है। यह अभिप्राय मूल कहानी में बाद में जुड़ा है, जब इस मूल कहानी में पहली पुरस्कार प्रतियोगिता की कहानी जोड़ी गयी।

३—प्रेयसी जल से घिरे अगम्य द्वीप में एक भयानक परकोटे में रहती है, जिसका मार्ग पाना सरल नहीं।

४—प्रेयसी या तो (१) सुषुप्त सौन्दर्य (स्लीपिंग ब्यूटी) की भाँति यहाँ रहती है, अथवा (२) उसका पिता दानव है जिसे मारकर ही प्रेयसी को प्राप्त किया जा सकता है। (३) दानव के द्वारा अपहृत सुन्दरी भी लोक-कहानी में आती है। इस कहानी का लोक रूप तो दानव कथावाला ही है। किन्तु राम-कथा के पूर्वोपरि संबंध के कारण अपहृत सुन्दरीवाला रूप इसमें प्रस्तुत हुआ है।

५—नायक प्रेयसी के संरक्षक दानव के गुप्त भेद को जानकर उसी विधि से उसका संहार करता है। इसमें पदार्थ-प्राण का अभिप्राय प्रायः रहता है। दानव के प्राण किसी पक्षी में या पदार्थ में अन्यत्र रहते हैं। रावण के प्राण अन्यत्र तो नहीं पर उसके शरीर के

नाभि-कुण्ड के अमृत के कारण वह अमर होरहा है। अतः इस मुख्य और मर्म स्थान को वेधकर ही रावण का संहार किया जा सकता है और प्रेयसी प्राप्त हो सकती है।

मूल प्रेम-कथा का यह रूप राम-कथा में ही नहीं, पदमावत और उसी की भाँति की अन्य प्रेम-कथाओं में मिलता है। यहाँ तक कि यह एक शुद्ध आनुष्ठानिक् धार्मिक काव्य 'जहारपीर' में भी मिलता है। राम-कथा तो कथा के आनन्द के लिए भी प्रस्तुत की जाती है। तुलसी के रामचरितमानस का एक दृष्टिकोण जहाँ धार्मिक महात्म्य है, वहाँ दूसरा कथा सुनने का आनंद भी है। पर जहारपीर के गीत का तो केवल आनुष्ठानिक मूल्य है, वह कथा के आनंद के लिए नहीं गाया जाता। उसका भी ढाँचा यही है। राम-कथा, प्रेम-कथा और अनुष्ठान-कथा के तत्वों को तुलना के लिए यहाँ साथ साथ प्रस्तुत किया जाता है।

राम-कथा	प्रेम-कथा	अनुष्ठान-कथा
१. दो भाई या मित्र या स्वामी-सेवक।	१. राजा तथा तोता। तोता निरंतर लक्ष्मण या फेथफुल जोह्न की तरह राजा की सहायता करता है।	१. जाहरपीर और गोरखनाथ अथवा जाहर का घोड़ा।
२. राम प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए चेष्टाशील। कितने ही जंगलों, संकटों और समुद्रों को पार करते हैं।	२. राजा पदमावती को प्राप्त करने के लिए चेष्टाशील। कितने ही जङ्गलों और समुद्रों को पार करते हैं।	२. जाहरपीर सीरियल को प्राप्त करने को चेष्टाशील। कठिन मार्ग को पारकर सीरियल के देश में पहुँचते हैं।
३. प्रेयसी लंका द्वीप में	३. प्रेयसी सिंहल द्वीप में	३. प्रेयसी जादू के देश में
४. प्रेयसी राक्षस के अधिकार में।	४. प्रेयसी अपने कठोर पिता के अधिकार में, जो राजा से उसका उस समय तक	४. प्रेयसी अपने पिता के आधीन जो जाहर से उसका बिवाह

	विवाह करना नहीं चाहता जब तक अपने नाश का उसे निश्चय नहीं हो जाता ।	नहीं करना चाहता । अत्यंत विवश होकर ही विवाह करता है ।
५. राक्षस रावण का संहार करके राम सीता को प्राप्त करते हैं ।	५. रत्नसेन पदमावती के पिता को हराकर अथवा देवताओं के आतंक से उसे विवश कर पदमावती को प्राप्त करता है ।	५. जाहरपीर तातिग की चाल से विवश करके और युद्ध में गोरख तथा देवी को अपने साथ प्रस्तुत करके सिरियल को प्राप्त करता है ।

अतः यह कथांश अत्यन्त ही महान लोक-कथा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त प्राचीन है और विश्व के एक बड़े भू-भाग में अत्यन्त लोकप्रिय है ।

स्टिथ थामसन ने प्राचीन मिस्र की एक कहानी के सम्बन्ध में लिखा है :

"The earliest of these surviving Egyptian tales dating from about 2000-1700 B. C. is that of ship-wrecked man. An Egyptian sailing in the Red Sea is ship-wrecked......He is cast upon a loney island which is inhabited by a King of the spirits in the form of a serpent. The latter recieves him kindly and succeeds after four months in having a passing ship rescue him.but in the meantime tells him of his own misfortbnes and predicts that his days are numbered and that the Island will sink into sea. Mention is also made without explanation of an earthly maiden who had formerly lived on the Island but had perished along with the family of the King of spirits. The story is so confused that it seems hardly possible that the man who took it in the present form understood its motivation. The hero is said to have been in great fear, before the giant serpent who is so kind to him. The role of maiden is left unexplained and undeveloped. Are we dealing with the tale of an ogre and the rescue of a girl as in folktale of today. [Folktales, Stith Thompson]

तीसरा अंश सीता के बनवास और लवकुश के जन्म से सम्बन्धित है। इस कथांश में निम्नलिखित प्रमुख अभिप्राय हैं :

१. गर्भवती स्त्री।

२. उस पर संदेह और उसका निष्कासन।

३. वन में पुत्र जन्म। वन में ही लालन-पालन।

४. पुत्रों ने अनजाने ही पिता को परास्त किया।

५. किसी विधि से पुत्र-पिता का परिचय।

६. पिता पत्नी को लेने को आग्रहशील।

७. पत्नी लुप्त।

यह बात ध्यान योग्य है कि यह कहानी अधिकांश लोक-नायकों अथवा लोक-देवताओं के जन्म के सम्बन्ध में कही जाती है, बहुत थोड़ा हेरफेर होता है।

हनुमान चरित्र में हनुमान का जन्म बन में हुआ। अंजना को भी सन्देह में माता-पिता सास-ससुर के यहाँ से निष्कासन मिला।

नल के जन्म के समय उसकी मां रानी मंझा को तो कनांसों (जल्लादों) को सौंप दिया गया था कि उसे जङ्गल में जाकर मार डालें। नल का जन्म 'हींस विरे' हींस नामक झाड़ के बिल अथवा कुंज में हुआ था।

भगवान बुद्ध का जन्म भी जंगल में हुआ था।

जाहरपीर या गोगाजी की मां को भी सन्देह की दृष्टि से देखा गया और ससुर ने उसे महलों से निकाल दिया। उसके पिता भी उसे अपने यहाँ आने देने को प्रस्तुत नहीं थे, पर गोगाजी ने गर्भ में से ही दोनों को चमत्कार दिखलाया, तब उसकी माँ के सास-ससुर ही उसे घर लिवा ले गये अन्यथा स्थितियाँ ऐसी ही हो चलीं थीं कि गोगाजी जंगल में ही जन्म लेते।

सीता का परित्याग भी राम संदेह के कारण ही करते हैं।

यह स्पष्ट हैं कि तुलसीदास ने रामचरितमानस में 'लवकुश-कांड' नहीं रखा, किन्तु केशव तथा अन्य रामचरित लेखकों ने इस कांड को स्थान दिया है।

अनेकों कथाओं में पुत्र पिता से अलग हो गया है। रामकथा में सीता अर्थात् माता के बनवास के कारण ऐसा हुआ है, किन्तु प्रद्युम्न को दानव जन्म के समय हर ले गया है। इसके उपरांत उसका लालन-पालन अन्यत्र हुआ है।

अर्जुन अपने पुत्र बभ्रुबाहन को गर्भ में छोड़कर ही अन्यत्र प्रवास कर गये थे। वह उनका प्रवास काल था।

लवकुश की भाँति अन्य पिता-त्यक्त पुत्रों का लालन-पालन बनों में नहीं हुआ। पर ऐसे प्रत्येक परित्यक्त बालक ने पिता को अपने पराक्रम से परास्त करके अपना परिचय दिया है। प्रद्युम्न-चरित्र में जैन लेखक ने दिखलाया है कि प्रद्युम्न भरी सभा में ललकार कर कहता है कि मैं कृष्ण की प्रियतमा रुक्मिणी का हरण करके ले जारहा हूँ, किसी में शक्ति हो तो रोके, और परिणामतः युद्ध हुआ जिसमें सभी परास्त हुए, तब प्रद्युम्न का परिचय कृष्ण को मिला।

अर्जुन को भी उसके पुत्र ने बुरी तरह परास्त किया।

निश्चय ही लोक कथाओं में यह एक रोचक अभिप्राय माना गया, और इसका बहुधा उपयोगी हुआ है। जाहरपीर ने जन्म से पूर्व ही गर्भ में से ही जाकर अपने बाबा को पछाड़ा है, जिससे उन्हें बाछल के निर्दोष होने का विश्वास हुआ, वे उसे घर ले आये।

अतः लवकुश काँड वाला पिता को युद्ध में परास्त करने का अभिप्राय बहुत ही लोकप्रिय अभिप्राय है।

अब अन्तिम अभिप्राय है प्रेयसी के लुप्त हो जाने का। भारतीय लोक कथाकार को यह अभिप्राय भी बहुत प्रिय है। वैदिक आख्यानों में उर्वशी लुप्त हो जाती है, पौराणिक आख्यानों में गंगा लुप्त हो जाती है, लोक-कथाओं में मोतिनी इसी प्रकार लुप्त हो जाती है। इस प्रकार के लोप हो जाने में कोई न कोई कारण रहता है, बहुधा यह लोप किसी शर्त के उल्लंघन के कारण होता है। सीता पृथ्वी में समा गयी, यह लोप होने की क्रिया का ही रूपान्तर है। पृथ्वी से सीता का जन्म मान लेने पर अंत में पृथ्वी में समाकर लोप हो जाना कथांतर से समीचीन ही विदित होता है।

तुलसी की रामकथा में सीता का परित्याग या लवकुश काँड नहीं है। अतः तुलसी की रामकथा प्रथम दो कहानियों के मेल से ही खड़ी हुई है। अब हमें यह देखना है कि प्रथम अंश के लिए और किन किन अभिप्रायों की संयोजना की गयी है।

प्रथम कहानी का केन्द्र स्थल धनुष-भंग होते हुए भी उससे पूर्व कई कथांश प्रस्तुत होते हैं। ये कथांश "धनुष-भंग" विषयक अभिप्राय के नायक और नायिका विषयक है। "धनुष-भंग" विषयक समस्त प्रकरण बालकाण्ड में ही तुलसी ने नियोजित किया है। इस प्रकरण में तुलसी ने यह क्रम रखा है;

१—भूमिका : शिव पार्वती विवाह के लिए शिवोपाख्यान। राम-कथा शिव ने पार्वती को सुनाई। इसी भूमिका अथवा प्रारंभ के लिए शिव का उपाख्यान दिया गया है।

२—पृष्ठभूमि : राम के अवतार की हेतु-कथा।

३-- जन्म।

४. बाल-क्रीड़ा और शौर्य : बाल-क्रीड़ा में एक अभिप्राय: तुलसी को भी प्रिय है और सूरदास को भी। भगवान को जो भोग चढ़ाया जाता है, यह निकाला जाता है, उसे जाकर राम या कृष्ण स्वयं खाते हैं। तुलसी की कौशल्या एक ओर तो राम को सोते देखती हैं, दूसरी ओर उसी समय पाकशाला में भोजन करते देखती हैं।

५. स्वयंवर : धनुषभंग।

शिव-पार्वती के आख्यान और उसके संवाद का समावेश इस राम-कथा को लोक तत्व से युक्त करने में पूरी तरह सहायक हैं। समस्त देवताओं में शिव-पार्वती सबसे अधिक लोक-वार्ता तत्व वाले देवता हैं। अवतार के हेतु-रूप जो कहानियाँ दी गयी हैं वे हैं :

अ. नारद का मोह भंग करने में नारद से शाप मिला जिसके कारण रामावतार लेना पड़ा।

आ. मनु-शतरूपा ने तपस्या की, वरदान में उन्हें पुत्र-रूप में मांगा।

इ. भानुप्रताप का शाप वश रावण होना, और अत्याचार करना। देवता और पृथ्वी की पुकार पर अवतार लेने का आश्वासन।

मनु-शतरूपा की तपस्या की कथा को छोड़कर शेष सभी कथाएँ लोक-कथाएँ हैं।

राम का जन्म यज्ञ की हवि से हुआ है। इसी प्रकार लोकवार्ता में विशिष्ट नायक किसी के आशीर्वाद से, भभूत से, किसी फल से अथवा जौ या गूगल से होते हैं। यह अभिप्राय विश्व भर में किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

२००० ई० पू० में मिस्र में होरस नाम के देवता के जन्म के सम्बन्ध में जो अनेक बातें कही जाती हैं, उनमें से एक यह भी है कि 'फल' से आइसिस के गर्भ धारण हुआ था। देखो "माइथालाडी आव आल रेसेज: इजिप्सियन"

कथा के मूल रूप पर ध्यान दें तो ऐसा पुरुष बियावान जंगल में पैदा होना चाहिये। वहीं किसी ऋषि-मुनि या अन्य व्यक्ति के आश्रम में उसका लालन-पालन आदि होना चाहिये। विदित होता है कि राम का जन्म भी ऐसे ही किसी जंगल में हुआ होगा और किसी जंगल में ही लवकुश की भाँति उनका लालन पालन, शिक्षा-दीक्षा हुई होगी। पर जन्म की परिस्थिति को वाल्मीकि अथवा तुलसी जैसे साहित्यकार व्यक्तियों ने सुधार लिया। और उनकी माँ को जंगल या बन्दीगृह में नहीं भटकाया। पर अन्य बाल्यकालीन

घटनाक्रम घोर बनों से सम्बन्धित है इसमें सन्देह नहीं। राम का बाल्य जीवन विश्वामित्र के आश्रम में बीता है, जहाँ उन्होंने विविध पराक्रम दिखाये हैं। अंतिम पराक्रम स्वयंवर में धनुष-भंग का था। राक्षसों का मारना, ताड़का-वध, और अहिल्या का उद्धार शुद्ध लोकवार्ता की कहानियाँ हैं।

इस प्रकार रामकथा में लोक तत्वों के समावेश की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

दूसरे कथा-भाग के मूलांश पर ऊपर विचार हो चुका है। तुलसी रामायण में अथवा हिन्दी रामचरित में यह कथांश निम्न योजना के साथ प्रस्तुत किया गया है :

१—राम के राज्याभिषेक का निश्चय !

२—कैकेयी ने दशरथ से दो वरदान माँगे।

अ—राम का चौदह वर्ष का बनवास।

आ—भरत का राज्य पाना।

३—राम का बन को प्रस्थान तथा दशरथ की मृत्यु।

४—भरत-शत्रुघ्न का अयोध्या आकर बन में राम से मिलने जाना

५—चित्रकूट में राम-भरत मिलाप तथा पादुका लेकर लौटना।

६—वन में—

मुख्य	तथा	**प्रासंगिक**
शूर्पणखाँ कांड		जयंत की कुटिलता
श्री सीताजी का अग्नि प्रवेश		विराध वध
तथा माया सीता		खरदूषण का वध।
मारीच-मृग प्रसङ्ग		कबंध उद्धार
सीता हरण		शबरी पर कृपा
जटायु-रावण युद्ध		बालि बध
राम सुग्रीव मैत्री		सुरसा
बंदरों द्वारा खोज को प्रस्थान		छाया पकड़ने वाली राक्षसी
हनुमान का लंका पहुँचना		का बध।
अक्षयकुमार वध		लंकिनी वध
		हनुमान द्वारा अशोक
मेघनाद के नागपाश में बँधना		वाटिका का विध्वंस
लंका दहन		
सीताजी से चूड़ामणि लेकर		
लौटना।		

७—लंका में : राम की लंका पर चढ़ाई, तथा समुद्र का पुल बाँधना।	लक्ष्मणजी को शक्ति लगना।
कुंभकर्ण वध	हनुमान का संजीवनी लाना
मेघनाद वध	भरत के बाण से हनुमान का
रावण-वध	गिरना और फिर उठकर
सीता की अग्नि परीक्षा	लङ्का पहुँचना।
८—पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या लौटना।	

इस कथांश में 'राम को बनवास' पहली और दूसरी मूल कथा को जोड़ने के लिए है। राम को बनवास भेजने के लिए दशरथ-शाप की बात, और श्रवण-कुमार के अंधे माँ-बाप की कहानी दूसरे लोकवार्ता क्षेत्र से मिली है। श्रवण की कथा वस्तुत: श्रमण-संस्कृति से सम्बन्धित है। श्रवणकुमार की आज भी ब्रज के घर-घर में पूजा होती है। रक्षा-बधन के दिन घरों में भीतों पर 'सरमन' रखे जाते हैं। वे डोली कंधे पर डाले होते हैं, जिनमें अंधी-अंधा बैठाये जाते हैं। पहले इस सरमन को सेमई चावल से भोग लगाया जाता है, तब घर के लोग भोजन करते हैं।

'सरमन' अथवा श्रवणकुमार की कथा एक स्वतंत्र लोक-कथा थी। इसका एक प्रमाण बौद्ध जातक है। उसमें साम जातक में जो कथा दी गयी है, वह सरमन की ही कथा है। उसका संक्षिप्त रूप यह है। दो शिकारियों ने परस्पर प्रतिज्ञा की कि यदि एक के लड़का और दूसरे के लड़की हुई तो दोनों का विवाह कर देंगे। अत: दुकूलक और पारिका का विवाह कर दिया गया। पर वे दोनों ब्रह्मलोक से आये थे,वे परस्पर स्त्री-पुरुष की तरह नहीं रह सकते थे, भाई बहिन की तरह रहे। सक्क या शक्र ने भावी संकटों की आशंका देखकर उन्हें फुसलाया कि उनके एक पुत्र होना चाहिये। तब दुकूलक ने पारिका की नाभि को छू दिया। उसके गर्भ से सुवर्ण साम पैदा हुआ। दुकूलक और पारिका बन से कंद-मूल एकत्र करके लौटे तो एक पेड़ की छाया में बैठे। उनके शरीर से बूंदें टपक कर एक बिल में गयी, जिसमें एक साँप रहता था। वह साँप उन बूंदों के गिरने से क्रुद्ध हुआ और उसने ऐसी फुंककार मारी कि दोनों अंधे हो गये। साम उनकी सुश्रूषा में लगा रहता। एक दिन साम एक नदी के किनारे पानी भर रहा था। एक हिरण उनके पास निर्भय खड़ा था। बनारस के राजा

पोलियख ने यह दृश्य देखा और उसने समझा कि यह कोई दैवी पुरुष है। उन्होंने बाण मारकर उसे गिरा दिया। **पोलियख** को जब साम का यथार्थ हाल विदित हुआ तो वह बहुत दुखी हुआ। वह बहुसोदरी देवी के कहने से अंधी-अंधे के पास गया, उन्हें लेकर साम के पास गया। अंधी पारिका ने सत्य-क्रिया की, जिससे साम का विष उतर गया और वह जीवित हो उठा। उधर बहुसोदरी देवी ने भी सत्यक्रिया की जिससे दुकूलक और पारिका के नेत्र ठीक होगये। यहाँ शाप की बात नहीं है। पर कहानी सरमन की है, इसमें सन्देह नहीं। यह स्वतंत्र कहानी के रूप में किसी क्षेत्र में थी, यह जातक इसका प्रमाण है।

इसी प्रकार 'सीता-हरण' भी मूल कथा में अन्यत्र से आया है। स्टिथ थामसन ने बताया है कि इस मूल कथा के बहुत से संस्करणों में दानव अथवा दैत्य द्वारा सुन्दरी हरण का अभिप्राय रहता है। रामायण की यह कथा उसी सुन्दरी वाली लोक-कथा का रूपान्तर ही हो सकती है। इस हरण विषयक मूल कथा के कई अन्य तत्व भी इस राम-कथा में दिखायी पड़ते हैं।

१—हरण की हुई सुन्दरी से दानव या दैत्य विवाह करना चाहता है। यहाँ रावण सीता से विवाह करना चाहता है।

२—हरण की हुई सुन्दरी प्रायः कुमारी ही होती हैं, यों विवाहित भी हो सकती है। राम-कथा में सीता का जो मौलिक रूप दृष्टिगत होता है, वह कुमारी सीता का है, क्योंकि :

अ—सीता का जब हरण होता है तब वे अकेली हैं।

आ—सीता के संतान नहीं, यह कुमारी का सबसे प्रधान संकेत है।

इ—रावण सीता से विवाह करने का हठ करता है, विवाहिता से ऐसा हठ करने की कम संभावना है।

इस राम-कथा के मूल संस्करण में कथा-मूल यों हैं :

बौद्ध जातकों के 'दशरथ-जातक' में कथा का जो रूप मिलता है, वह इस कथा से भिन्न है। उसमें राम-सीता-लक्ष्मण बहिन भाई हैं। पिता उन्हें सौतेली माँ से मिलने वाले कष्टों की आशंका से सुरक्षार्थ बारह वर्ष के लिए बन में भेज देते हैं। नौ वर्ष बाद दशरथ की मृत्यु हो जाती है। मंत्री सौत के पुत्र भरत की आज्ञा मानने को तैयार नहीं। तब भरत राम को लौटाने बन को जाते हैं। राम बारह वर्ष से पहले लौटना नहीं चाहते। वे भरत को दूब की खड़ाऊँ दे देते हैं। उन्हें गद्दी पर स्थापित करके भरत न्याय करते हैं। यदि न्याय में कोई त्रुटि होती है तो खड़ाऊँ परस्पर बज उठती है।

इस कथा में सीता-हरण और रावण-युद्ध का उल्लेख नहीं। इस कथा से यह सिद्ध होता है कि बन में भरत-मिलाप और खड़ाऊँ लाने की लोक-कथा भी अलग प्रचलित थी। इस कथा को देखने से तो विदित होता है कि सीता हरण और रावण-वध इसी में बाद में जोड़ा गया। किन्तु इस राम-कथा का अभिप्राय वस्तुतः खड़ाऊँ का चमत्कार दिखलाना है जबकि मूल कथा का सम्बन्ध सीता-प्राप्ति और रावण-वध से प्रतीत होता है। अतः सुन्दरी को राक्षस के फंदे से मुक्त करने वाली कथा में यह खड़ाऊँओं वाली कथा बाद में जोड़ी गयी।

इस राम-कथा के मूल संस्करण में कथा-मूल यों हैं :

पिता ने वर्जित किया कि दक्षिण दिशा में मत जाना।

पुत्र (राम) अपने सेवक (लक्ष्मण) के साथ उसी दिशा में शिकार के लिए चल पड़े।

एक स्वर्ण मृग का पीछा किया, यह उन्हें दूर दंडकारण्य में पंचवटी के पास ले गया।

वहाँ दानव-पुत्री अथवा दानव की बंदिनी (सीता) सैर सपाटे को आया करती थी। राम ने वहाँ सीता को देखा तो सीता विमान द्वारा उड़कर लङ्का चली गयीं। (एक कथा में सीता रावण-मन्दोदरी की संतान हैं)

राम ने कहा वे इस सुन्दरी को प्राप्त करेंगे। सेवक (लक्ष्मण) ने साथ दिया।

उन्हें विदित हुआ कि वह सुन्दरी एक समुद्र से घिरे कठिन परकोटे (लंकागढ़) में रहती है।

राम ने हनुमान को पता लगाने और संदेश देने दूत बनाकर भेजा।

मूल कथा में ऐसा संदेश वाहक और मार्ग निर्देशक कोई पक्षी होता है, जैसे शुक या हंस या गरुड़। यह बात यहाँ दृष्टव्य है कि हनुमान में लोक-वार्ता के पक्षी के उड़ने के गुण आरोपित कर दिये हैं। वस्तुतः इस कथा में हनुमान किसी अन्य लोक-वार्ता से लिये गये हैं। जैसे किसी युग में श्रमण-संस्कृति का प्राबल्य था, उसके प्रतीक श्रमणकुमार की कथा को रामकथा से जोड़ दिया गया है, उसी प्रकार हनुमान-पूजा एक अन्य स्वतंत्र क्षेत्र की चीज है। राम-कथा से उनको सम्बन्धित करने के लिए जब विचार किया गया तो कथा का यह रूप हुआ। मूल कथा के पक्षी के गुण भी हनुमान में आरोपित किये गये। उन्हें शाखामृग से खग भी बना दिया गया। पक्षी की भाँति हनुमानजी ने वृक्ष से ही सीताजी को देखा और संदेश दिया।

राम ने बानरों और दैवी शक्ति के सहारे समुद्र पार किया।

दैवी शक्ति का परिचय वहाँ मिलता है जहाँ अकेले राम शिव-मंदिर की स्थापना करते हैं। लोक-कथाओं में ऐसे अवसर पर शिव ही सहायक होते हैं। दूसरे समुद्र पर क्रोध करते हैं और समुद्र आकर उन्हें सेतु बाँधने का रहस्य बताता है।

राम-रावण का युद्ध हुआ—विविध दैवी शक्तियों से। रावण पराजित हुआ।

राम ने सुन्दरी का उद्धार किया और उसे प्राप्त किया।

यह स्पष्ट है कि उक्त मूल कथा को आवश्यक संशोधन के साथ राम-कथा में परिणत किया गया है। शूर्पणखा का वृत्त भी अन्य किसी लोकवार्ता क्षेत्र से लिया गया है और सीता-हरण के लिए एक हेतु-कथा के रूप में उसका उपयोग किया गया है।

राम-कथा के इस प्रसिद्ध रूप के साथ लवकुश कांड का संयोग भी लोक वार्ता से लिया गया। शाक्तों के स्रोत से आने वाली लोक-कथा ने हिन्दी को 'जानकी विजय' नामक काव्य भी प्रदान किया। एक रावण को संहार करके राम को बड़ा अहंकार हुआ तो सीता ने एक अन्य प्रबल रावण का पता दिया। उस रावण से राम भी परास्त हुए तब सीता ने शक्ति का रूप धारण करके उस रावण का संहार किया। हस्तलिखित ग्रन्थों में तो जानकी विजय का इतना ही कथानक है। किन्तु लोक-साहित्य में जो संस्करण मिलता है उसमें इससे आगे का भी वृत्त है। सीताजी उस बड़े रावण को मारकर संतुष्ट नहीं हुईं, वे राम को छोड़कर चल पड़ीं और कलकत्ते में काली बनकर काली के मन्दिर में प्रतिष्ठित हो गयीं।

इस विवेचन से हिन्दी साहित्य में उपलब्ध समस्त राम-कथा के लोकतात्विक रूप का पता चल जाता है।

साम्प्रदायिक अनुभूतियों से जकड़ा हुआ राम-कथा का एक वह रूप भी मिलता है जो राधा-कृष्ण के प्रेम-योग से होड़ करता है। इसमें कथा-तत्व महत्वपूर्ण नहीं। कोई कथा है ही नहीं। इसमें 'राम-सीता' की प्रेम क्रीड़ाओं का धार्मिक अभिप्राय से वर्णन रहता है।

कथा-विन्यास के लोक-तत्व की प्रबलता के साथ तुलसी में लोक-तत्व का गम्भीर प्रभाव देवताओं के वर्णन के सम्बन्ध में भी मिलता है।

तुलसी ने किन और किस प्रकार के देवताओं का वर्णन किया है, यह नीचे की तालिका से विदित होगा।

लौकिक देवता	वैदिक देवता
गणेश	सरस्वती
भवानी शंकर	ब्रह्मा
सीता राम	विष्णु हरि
हनुमान	सुरेश
सीता	कामदेव
राम	कपिल
नारायण	रवि
शंकर	शशि
गंगा	पवन
सरस्वती	वरुण
यमुना	अग्नि
नारद	यम
शेष	
अवध	
सरयू	
नर-नारायण	
नर्मदा	
अदिति	
कालिका	
कागभुशुण्डि	
गरुड़	
बराह	
नरहरि	
आदिशक्ति	
बासुदेव	
कुबेर	
काल	
ग्रामदेवी	
नाग	

इस सूची से यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी के मानस में वैदिक देवताओं का महत्व बदल गया है। प्रधान देव यहाँ अत्यन्त गौण हो गये हैं। प्रधान देवताओं में विष्णु सर्वोपरि हैं और उनके बाद महेश हैं। वैदिक देवताओं के

सम्बन्ध में यह कहना भी तथ्य नहीं कि वे गौण होगये हैं। वस्तुतः वे अपना मौलिक देवत्व खो चुके हैं और अत्यन्त क्षुद्र दिखाये गये हैं।

सुरराज इंद्र की अवमानना प्रधानतः परिलक्षित होती है। यह अवमानना वेद विरोधी लोक-तत्व के प्रभाव के कारण हुई है। इन्द्र का सम्बन्ध यज्ञ-संस्कृति से है। यज्ञ-संस्कृति को लोक में बलि-प्रधान माना गया। बौद्ध धर्म ने उन लोक-तत्वों को उभारा जो बलि-प्रधान संस्कृति के विरोधी थे। इस विरोध ने पहले तो इन्द्र को अपने प्रधानपद से च्युत कर दिया। इन्द्र की जैसी सर्वोपरिता तो बुद्ध को मिली। इन्द्र विजित देवता की भाँति बुद्ध के सेवक और सहायक हो गये। सक्क अथवा शक्र हैं बौद्ध धर्म में इन्द्र। ये सक्क जातक कथाओं में बुद्ध के पूर्व जन्मों में उनकी देख रेख करनेवाले दिखाये गये हैं। बौद्ध धर्म ने यह समझौता निबाहा। वैष्णव धर्म में अहिंसा का भाव एक विशद रूप लेकर प्रस्तुत हुआ। इस उत्थान में पुराणों ने भी साथ दिया। लोकधारा से सम्बन्धित विविध तत्व प्रबल हुए और परस्पर समन्वय और समझौता करने लगे। विविध देवताओं में परस्पर स्पर्धा दिखायी देती है। यह स्पर्धा लौकिक भूमि पर लोक-देवताओं के साथ सम्पन्न हुई जिसमें वैदिक देवता नगण्य हो चले थे। अतः इस लोकोत्थान ने पहले तो इंद्र-पूजा समाप्त की। पूजा के समाप्त होने के साथ ही इंद्र की प्रतिक्रिया भी भयानक दिखायी गयी। प्रलय मेघ चतुर्दिक छा गये। लोक-शक्ति ने उस संकट का निराकरण किया। फलतः इन्द्र उसकी दृष्टि में और भी गिर गया। इन्द्र की मलिनताएँ उसके सामने आने लगीं। वैदिक बीजों से पुराणों ने जो इंद्र-कथा खड़ी की थी, उसमें इंद्र साकार राज्य अथवा साम्राज्य अथवा सामन्त शक्ति का आदर्श बन गया। इसकी कल्पना का यह रूप हुआ :

> इंद्र पद यज्ञ अथवा तपस्या करके मिलता है। यह इन्द्र पद अत्यन्त स्पृहणीय है, क्योंकि इससे अमरता तो मिलती ही है, देवताओं का राजत्व भी मिलता है, नन्दन कानन, कल्पवृक्ष, कामधेनु का उपयोग मिलता है। मर्त्यलोक की हवि और उनसे सम्मान मिलता है। ऐसे पद को प्राप्त करने के लिए कौन लालायित न होगा। असुर, दानव अथवा दैत्य अपने शारीरिक बल से पद को प्राप्त करते हैं, पर इस प्रकार प्राप्त किया हुआ यह पद क्षण स्थायी होता है। लोक-देवता विष्णु आर्य देवता इन्द्र की रक्षा से लिए आते हैं, और असुरों का संहार कर इन्द्र को फिर उसका सिंहासन देते हैं। पर ऋषि लोग उस पद को तपस्या और यज्ञ से प्राप्त करते हैं। यह प्राप्ति स्थायी होती है। अतः ऐसे प्रत्येक उद्योग को इन्द्र विफल

करने की चेष्टा करता है। इन्द्र के ये उद्योग दो काम करते हैं: तपस्वी की तपस्या की परीक्षा करके उसके महत्व को बढ़ा देते हैं। तपस्वी इस प्रकार कसौटी पर चढ़ जाता है। दूसरी ओर इन्द्र को क्षुद्र कर देते हैं कि वह अपने पद की रक्षा के लिए शुभ कर्म में प्रवृत्त व्यक्तियों को कष्ट देता है। इन्द्र के ऐसे उद्योगों के जो व्यक्ति शिकार हुए हैं उनमें 'हरिश्चन्द्र' तो सबसे प्रमुख हैं। सगर, विश्वामित्र आदि अनेकों इस सूची में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

शक्ति और राज्य के मद के सभी परिणाम इन्द्र में प्रतिफलित मिलते हैं। अतः इंद्र रूप-लिप्सु भी दिखाया गया है। गौतम की स्त्री अहिल्या की घटना ने तो उसे बहुत ही पतित सिद्ध कर दिया है। आगे कवियों ने दमयन्ती स्वयंवर में भी इन्द्र को पहुँचा दिया है, जहाँ वह नल जैसे मानव से स्पर्द्धा करने को प्रस्तुत होगया है। यहाँ इन्द्र एक मानव से भी परास्त दिखा दिया गया है। इंद्र इस प्रकार की लोक-विचार-धारा में पड़कर घृणा का ही पात्र प्रकट हो सकता था। ऐसा कौन सा निकृष्ट कार्य है जिसे इंद्र नहीं कर सकता। और ऐसे निकृष्ट कार्य इंद्र जिनके विरुद्ध करता है, लोक-मानस में उनके लिए ही श्रद्धा होती है। इस विधि से लोक-वार्ता ने यज्ञ-देवता इन्द्र को लोक-नायक और लोक-देवताओं से पग पग पर परास्त दिखाया। सरस्वती ने देवताओं के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट किया:

ऊँच निवास नीचि करतूती,
देखि न सकहिं पराइ विभूती ॥ अयोध्याकांड॥

आगे चित्रकूट प्रसङ्ग में स्वयं तुलसीदासजी ने कहा है:

सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाइ। अयोध्या २९५।

इससे भी संतोष न करके तुलसी ने इन्द्र की यह प्रशस्ति गायी है:

"देखि दुखारी दीन, दुहु समाज नर नारि सब।
मघवा महा मलीन, मुए मारि मंगल चहत॥
कपट कुचालि सींव सुरराजू, पर अकाज प्रिय आपन काजू।
काक समान पाक रिपु रीनी। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥

किन्तु तुलसी अपने इष्टदेव राम के अभिमत की भी मुहर लगा देते हैं:

लखि, हिय, हँसि, कह कृपानिधानू, सरिस स्वान मघवान जुवानू ।

इस प्रकार तुलसी ने इन्द्र को पतन के गंभीर गर्त में पड़ा दिखाकर उसको घोर घृणा का पात्र बना दिया है । यह सब लोक-वार्ता तत्व के प्रभाव के कारण ही हुआ है । जो तुलसी गणेश, शिव, पार्वती, सीताराम, हनुमान, नारायण, गंगा, नारद, शेष आदि का बड़े उत्साह से अभिवादन करते हैं, वे इन्द्र-वरुण का कहीं नाम तक अपने मंगलाचरण में नहीं लेते । जहां ग्रामदेवी, नागों तथा अन्य लौकिक देवताओं के नाम लेते समय तुलसी में एक उमंग दृष्टिगोचर होती है, वहां इन्द्र का नाम आने पर जैसे उनमें प्रब न क्षोभ उभर आता है ।

इस लोक-तत्व के प्राबल्य के साथ ही वेद-तत्व को संबंधित रखने के लिए वे सुर और सुर-काज को भूलते नहीं । राम-चरित के मूल में यह सुर-काज निरंतर विद्यमान रहता है । किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि तुलसी के ये सुर वैदिक परिभाषा के ही सुर नहीं, उनके साथ साथ इस शब्द में लोक परिभाषा के सुर भी सम्मिलित होते हैं ।

राम-कथा के मूल के संबंध में तुलसी ने लिखा है :

रामचरित मानस मुनि भावन ।
बिरचेउ संभु सुहावन पावन ।
त्रिविधि दोष दुख दारिद दावन ।
कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन ।
रचि महेस निज मानस राखा ।
पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ।

इस कथा की परंपरा भी तुलसीदासजी ने दी है :

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा ।
बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा ।
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा ।
राम भगत अधिकारी चीन्हा ।
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा ।
तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा ।
ते श्रोता बकता समसीला ।
सबदरसी जानहि हरिलीला ।
जानहि तीनिकाल निज ग्याना ।
करतल गत आमलक समाना ।
औरउ जे हरिभगत सुजाना ।

कहहि सुनहि समुझहि विधिनाना ।
मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत ।
\+ \+ \+ \+
भाषा बद्ध करबि मैं सोई ।

इस प्रकार इस राम-कथा के मूल रचयिता शिव हैं, उन्होंने इसे पार्वती को सुनाया । यह तत्व इस राम-कथा को लोक कथाओं की परंपरा में बैठा देता है । कथा-सरित्सागर अथवा बड्डुकहा अथवा बृहत्कथा की भूमिका से भी विदित होता है, वह कथा भी शिव ने पार्वती को, पार्वती के आग्रह से सुनायी थी ।

भारतीय संस्कृति के तत्वों पर मूल की दृष्टि से विचार करते समय यह बात स्पष्ट परिलक्षित होती है कि जिन तत्वों का संबंध शिव-पार्वती से बैठता है, उनका मूल लौकिक ही होता है ।

शिव-पार्वती लोक-क्षेत्र में सबसे अधिक प्रिय देवता हैं । लोक-कहानियों में गौरा पार्वती ही जन जन का दुख दूर करने के लिए पृथ्वी की यात्रा किया करते हैं । वे स्थान-स्थान पर दुखी-दीन और संकटग्रस्त की सहायता करते मिलते हैं । अतः लोक-मानस की समस्त देवताओं में गौरा पार्वती में आंतरिक श्रद्धा है । एक सबसे महत्वपूर्ण तत्व यह दिखायी पड़ता है कि ये शुद्ध करुणा से पसीज कर ही सहायता देते हैं जबकि अन्य देवता अपने भक्तों को ही सहायता देते हैं, अथवा उन्हें सहायता देते हैं जो उन्हें स्मरण करते हैं । इस शुद्ध निष्काम करुणा-वृत्ति के कारण शिव-पार्वती बिलकुल लोक धरातल पर प्रतिष्ठित होगये और कोई सांप्रदायिक आग्रह भी उनके साथ लोक-मानस में नहीं दिखायी पड़ता, इसी कारण समस्त लोकाभिव्यक्ति का मूल शिव-पार्वती से जोड़ दिया जाता है ।

फिर यह लोक-कथा लोक-भाषा में कवि ने कही, जिसके संबंध में उसे अनेक बार कहना पड़ा कि :

भाषा भनिति भोरि मति मोरी ।
हँसिबे जोग हँसे नहीं खोरी ।
\+ \+ \+ \+
भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी ।
\+ \+ \+ \+
स्याम सुरभि पय विसद अति भनत करहिं सब पान ।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान ।
राम सुकीरति भनिति भदेसा ।

असमंजस अस मोहि अँदेसा ।

इन्हीं के साथ यह भी कहा है :

का भासा का संस्कृत प्रेम चाहियतु सांच ।
काम जु आवै कामरी का लै करै कुमाचु ।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राम-कथा लोक-कथा है, वह लोक भाषा में लोक कथा की परंपरा के साथ लोक-कल्याण की भावना से लिखी गयी। उसकी लोक-प्रियता को भी सबसे बड़ा रहस्य यही है कि इस कथा के माध्यम से ज्ञान-विज्ञान को भी लोक-तत्वों से अभिमंडित करके उन्हें लोक ग्राह्य बना दिया गया है। यही स्थिति रामचरित-मानस के छन्दों की है, चौपाई, दोहा, सोरठा, आदि सभी छन्द लोक मूलक हैं।

ए. ए. मैकडोनल ने रामायण पर इन्साइक्लोपीडिया आफ रीलीजंस एण्ड एथिक्स में जो लघु निबंध दिया है उसमें बताया है कि ईसवी पूर्व चौथी शताब्दी के मध्य के लगभग रामायण का मूल अंश प्रस्तुत हुआ। यह अंश बाल्मीकि ने उस समय प्रचलित लोक-कहानियों का संग्रह करके और उन्हें एक व्यवस्थित कथा काव्य के रूप में ढालकर खड़ा किया था। बाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत अंश परिवर्द्धित होकर वर्तमान आकार में दूसरी शताब्दी ईसवी के अंत तक हुआ। यही निष्कर्ष "रामकथा" नामक पुस्तक में कामिल बुल्के महोदय ने निकाला है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह राम-कथा बाल्मीकि से पूर्व भी लोक-वार्ता का ही अंश थी। वहीं से उसे लेकर बाल्मीकि ने महाकाव्य का रूप प्रदान किया।

इसी के साथ इसी निबंध में राम-कथा के बौद्धिक बीजों का भी उल्लेख किया है जो इस प्रकार संक्षेप में गिने जा सकते हैं।

सीता : १ खेतों में हल से बने कूंड़ (personified furrow)
२ जुते हुए खेत की देवी (कौशिक सूत्र १०६) वर्षा के देव की पत्नी।

राम : इंद्र (सीता की उक्त व्याख्या के संबंध से)

रावण : वृत्र

रावण पुत्र मेघनाद को रामायण में भी "इंद्रशत्रु" कहा गया है। इंद्रशत्रु वेदों में वृत्र को कहा गया है।

सीता हरण : दानवों द्वारा गायों का हरण।

हनुमान अथवा मारुतिपुत्र : इंद्र के सहायक मरुतों का अवशेष।

त्रिजटा : सरमा नामक कुत्ता जिसने इंद्र के लिए गायों का पता लगाने के लिए रसा नदी पार की थी।

बेवर ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि रामायण पर यूनानी प्रभाव है, क्योंकि रावण द्वारा सीताहरण और राम द्वारा उद्धार हेलन के हरण और ट्रोजन युद्ध के तुल्य है। राम ने जैसे सीता के लिए धनुष भंग किया वैसे ही यूलिसीज ने भी किया। मैकडोनल ने इस तुलना से यूनानी प्रभाव को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि ऐसी घटनाएं अन्य साहित्यों में भी हैं और स्वतंत्र-रूपेण इनका उदय होसकता है। इसी प्रकार जैकोबी के वैदिक मूल के सिद्धान्त को भी नहीं माना जा सकता। श्लेष और साम्य से यह भ्रम हुआ है जो यथार्थ नहीं, राम-कथा लोक-कथा ही है।

राम-कथा सम्बन्धी टिप्पणी

ए० ए० मैकडानल ने राम-कथा के संबंध में लिखा है :

लेकिन इनमें परस्पर अंतर भी है। महाभारत अपने साहित्यिक पहलू से पुराना[1] कहे जाने वाले प्राचीन लोकप्रिय अवदान कहानियों का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि रामायण उस वर्ग की रचना है जिसे काव्य कहते हैं, अथवा प्रयत्नज (Artificial) महाकाव्य (Epic) जिसमें कथा के रूप को अधिक महत्व दिया जाता है। और जिसमें काव्य शोभाकर (अलंकार) प्रचुरता से उपयोग में आते हैं। महाभारत तो कितने ही स्वतंत्र अंशों का समूह है, जो महाकाव्य के गूदे के तंतु को मात्र शिथिलता से जोड़े हुए है; और वह गूदा समस्त रचना का कठिनाई से पांचवा भाग होगा। अतः इसका महाकाव्य होना मुश्किल ही है। यह तो नीति-शिक्षा का विश्व-कोष है; उसके रचयिताओं का पता नहीं और उसको अंतिम व्यवस्था देने वाले का नाम भी परंपरागत 'व्यास' विन्यस्त करने वाला (Arranger) है, जो स्पष्टतः ही मिथ्याश्रित (Mythical) है। रामायण यथार्थतः रोमाण्टिक रूप का

१—"द पुराण इंडेक्स" खंड १ भूमिका पृष्ठ viii पर वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार ने पुराण की व्युत्पत्ति में यह चरण दिया है। "यस्मात् पुरा हि अनति इदम् पुराणम्" (Verse 203 Chap I) वायुपुराण। वायुपुराण में एक और श्लोक है : प्रथमम् सर्वशास्त्राणाम् पुराणम् ब्रह्मणा स्मृतम्। अनंन्ताम् च वक्त्रेभ्यो वेदांतस्य विनिस्सृतः"। वायु पु०। ६०। मत्स्य पुराण का इसकी पुष्टि में और उल्लेख करके उन्होंने बताया है कि पुराण वेदों से पूर्व था। तब एक था बाद में उससे कई पुराण बने। वेदों में जो जहां तहां पुराण कथाओं की ओर संकेत है, वह भी पुराणों की वेदों से प्राचीनता सिद्ध करता है। पुराण मौखिक परंपरा से बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था, अतः यह सिद्ध है कि यह लोक-वार्ता के रूप में प्रचलित था।

महाकाव्य है जिसमें एक निश्चित योजना और प्रयत्न मिलता है और समस्त ग्रन्थ वाल्मीकि नाम के एक रचयिता द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

आगे चलकर ये लिखते हैं :

पाली "त्रिपिटक" नाम के प्राचीनतम बौद्ध साहित्य में रामायण का किंचित भी उल्लेख नहीं है। यह सच है कि राजा दशरथ संबंधी एक जातक में बारह पद्य हैं। जिनमें राम अपने पिता दशरथ की मृत्यु के संबंध में अपने भाइयों को सान्त्वना देते हैं, और इनमें से एक पद्य सचमुच हमारी "रामायण" में आता है। किंबहुना इस तथ्य से कि एक ही पद्य दोनों में समान है यह संकेत मिलता है कि जातक के पद्य महाकाव्य से नहीं लिये गये। वे किसी अन्य पुरानी राम-कथा से लिये गये हैं। क्योंकि जातक में राजा का और उसके अनुयायियों का नाम तक नहीं है, हालांकि वे कथा-कहानियों (Fabulous-Matter) से महत्वपूर्ण हैं, और उन्होंने दैत्यों और राक्षसों के संबंध में भी बहुत कुछ कहा है।

और तब कितनी ही अन्य विचारणा के उपरान्त वे आगे कहते हैं :

"समस्त उपलब्ध सामग्री के पर्यवेक्षण से इन पंक्तियों के लेखक को यही विदित होता है कि वे यही बताती हैं कि रामायण का मूल भाग चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व के मध्य में प्रस्तुत हुआ, जब राम के संबंध में प्रचलित लोकप्रिय (Popular) कहानियों को एकत्र करके कवि वाल्मीकि ने एक व्यवस्थित 'महाकाव्य' गूंथ कर खड़ा किया।"

रामायण की वस्तु का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा है :

"रामायण की कथा में जैसी कि वह मूल ग्रन्थों में लिखी गयी है, दो खंड स्पष्ट दिखायी पड़ते हैं। पहले मानव जीवन का सामान्य वृत्त है, गाथा तत्वों (Mythological Elements) की मिलावट से सर्वथा शून्य। इसका आरम्भ अयोध्या के दरबार में रानी के उन षड्यंत्रों से होता है जो उसने अपने पुत्र को गद्दी दिलाने के लिए किये। इसमें इनसे होने वाले परिणामों का वर्णन है। पिता राजा दशरथ की मृत्यु के उपरान्त राम के भाई भरत के अयोध्या में लौट आने पर ही यदि यह काव्य समाप्त हो जाता तो इसे ऐतिहासिक घटनाओं पर आश्रित एक महाकाव्य मान लिया जाता। दूसरी ओर दूसरा खंड गाथाओं (Myths) पर खड़ा हुआ है, जिसमें चमत्कारी और ऊहात्मक (Fantastic) साहस कृत्यों का वर्णन भरा पड़ा है।

२

कीथ ने भी "द माइथालाजी आव आल रेसेज। खंड ६। (१९१७) में धर्मगाथाओं पर लिखते हुए यही बातें लिखी हैं। दोनों ने राम सीता की कहानी

के लिए एच० जेकोबी द्वारा दी गयी व्याख्या स्वीकार कर ली है, जिसमें राम कथा के मूलों को वैदिक मूल से संबंधित दिखाया गया है, जिसे यों समझा जा सकता है।

वैदिक	रामायण
सीता—खेतों में हल चलाने से बने कूंड़	सीता—यहाँ इसे पृथ्वी से ही उत्पन्न माना गया है।
सीता—जुते खेतो की अधिष्ठात्री अद्भुत सुन्दरी और इन्द्र अथवा पर्जन्य की पुत्री :। कौशिक सूत्र के अद्भुताध्याय में तथा पारस्कर ग्रह्यसूत्र में।	
इंद्र—सीतापति	राम
पणिस द्वारा गायों का हरण	सीता-हरण
वृत्र—(अपहर्ता) चोर : इंद्रशत्रु	रावण—क्योंकि रावण का पुत्र इंद्रजीत कहाया इन्द्र का शत्रु।
वृत्र गुफा में रहता है।	कुंभकर्ण रावण का भाई गुफा में रहता है।
वृत्र वध में इंद्र के सहायक 'मरुत'	रावण वध में राम के सहायक मारुतपुत्र हनुमान
सरमा की यात्रा। रसा के पार जाकर पणिस द्वारा अपहृत मेघों का पता लगाना।	हनुमान की सीता की खोज में लंका यात्रा।

इस प्रकार कृषि के रूपक के साथ वैदिक देव-कथा रूपान्तरित होकर रामकथा बनी। पर इतने से तो पूर्ण व्याख्या नहीं होती। 'सीता' नाम तो वेदों से आया। पर यह राम।

तब कीथ लिखते हैं :

राम इन्द्र के चरित्र से मिलते-जुलते चरित्रवाला कोई स्थानीय देवता होगा जो प्रधानतः कृषि-रत समाज के विचारों का प्रतिनिधित्व करता होगा, गोचारणी (pastoral) समाज का नहीं।

३

इन विद्वानों के इन निष्कर्षों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रामकथा'

लोक-कथा-कहानियों के रूप में प्रचलित थी, जिसे वाल्मीकि ने संग्रह करके व्यवस्थित रूप दिया, और रामायण नाम रखा। वाल्मीकिजी द्वारा प्रस्तुत इस रूप में भी आदि और अंत में कितने ही जोड़ लगाये गये और यह वृद्धि स्वभाव से लोकवार्ता से ली गयी सामग्री से की गयी प्रतीत होती है। साहित्य में वाल्मीकिजी द्वारा ग्रहण किये जाने के उपरान्त भी यह वृद्धि चलती रही। और समय-समय पर लोक-प्रवाह और लोकवार्ता के परिणामस्वरूप यह अपना रूप जहाँ तहाँ कुछ बदलती रही। तुलसी में हमें इसका अंतिम रूप दिखायी पड़ता है।

वैष्णव भक्तों की जीवनी-साहित्य

सिद्धों और संतों में जिस चमत्कार और शक्ति के दर्शन होते हैं उसे हम यथास्थान देख चुके हैं। सिद्धों में वह शक्ति सिद्धि की शक्ति थी। संतों में इसका रूप द्वैध होगया। उनकी निजी शक्ति और सिद्धि का चमत्कार भी मिलता है, तथा उनके लिए ईश्वर या गुरु द्वारा किये गये चमत्कारों का भी वर्णन मिलता है। भक्तों में भी यह परम्परा चली आयी। पर जैसा स्वाभाविक है, यहाँ भक्तों के निजी चमत्कार कम, उनके लिए किये गये चमत्कार अधिक। भक्तों के लिए किये चमत्कारों का आदर्श रूप बहुत पहले ही प्रह्लाद-कथा में प्रस्तुत हो चुका था। इस कथा द्वारा भक्त चमत्कार-कथाओं का **एक रूप** ही सामने आता है : १—भक्त पर अत्याचार किये जाते हैं, (२) वे अत्याचार भक्त पर नहीं पड़ते, उस तक पहुँचते-पहुँचते उनका प्रभाव उलटा सुखप्रद होजाता है। अन्त में (३) अत्याचार करने वाला नष्ट हो जाता है, या झुक जाता है और भक्त का महत्व स्वीकार करता है।

दूसरा रूप इस कथा का वह होता है जिसमें १—भक्त अपने भगवान की पूजा-उपासना में या सत्संग में या भक्तों के सत्कार में संलग्न है, और उसे ध्यान नहीं रहता कि इसी समय उसे किसी दूसरे का कोई आवश्यक कार्य करना है। २—भगवान स्वयं भक्त का रूप धारण कर उस काम को कर आते हैं, जिससे उसका अभाव नहीं खटकता।

तीसरा रूप—सिद्ध परम्परा का अवशेष होता है। भक्त ने कुछ कहा, वह

सत्य होगया। उसके बचनों का यह निर्वाह स्वयं भगवान अपने बचन की भाँति करता है। **चौथा रूप** वह है जिसमें भक्त स्वयं भगवान के साथ रहता-खेलता दिखायी पड़ता है। भगवान स्वयं उसके समक्ष हों, पास हों, भक्त स्वयं भगवान के चमत्कार दिखाता हो।

यहाँ पर हम इस काल की कुछ भक्त-कथाओं से ऐसे ही चमत्कारपूर्ण अद्भुत वृत्त दे रहे हैं।

१—++ ऐसी रीत सों **श्री आचार्य महाप्रभु** कथा कहत हुते। सो ऐसे में एक बरसात की घटा उठी। सो सब आकाश घटा सों छाय गयो सो जब बूंद आयबे लगीं। तब श्री आचार्य जी महाप्रभु श्री मुखते वरजें। ता समें श्री आचार्यजी महाप्रभू विराजे हुते। तिनसों दूरि दूरि चार्यो ओर आड़ी मेंह बरसै। और बीच में एक चक्र सौ रहि गयौ। तहाँ एक बूंदहू न परी। ऐसे बरसा बौहौत भई। तब गोविंद दुवे नें श्री आचार्य जी महाप्रभुन सों बीनती करी। जो हमतो आपको साक्षात् पूरण पुरुषोत्तम जानत हैं।××

२—++इस्लाम धर्म के गुरु मुल्ला लोग बड़े मांत्रिक तांत्रिक थे। बादशाहों को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने अपने पैगम्बरों से मंत्र तंत्र सिद्ध किये थे। **श्रीबल्लभाचार्य महाप्रभू** के समय में बादशाहों के तांत्रिक मुल्लाओं ने एक यंत्र सिद्ध करके, श्री मथुरा जी के मुख्य तीर्थ स्थान विश्राम घाट पर लटका दिया और उस पर पहरा बैठाया कि कोई उसको तोड़ न सके। उस यंत्र का प्रभाव था कि उसके नीचे से जो हिन्दु जाति का निकले उसकी चोटी गिर जावे और दाढ़ी निकल आवे : उस समय जगन्नियंता परम दयालु अन्तर्यामी श्री बल्लभाधीश प्रभू पधारे और अपने तीर्थ पुरोहित श्री उजागर जी चौबे को तीर्थ पूजन स्नान करवाने की आज्ञा दी। श्री पुरोहित जी चौबे ने यंत्र की सब घटना का वृतांत कह सुनाया। आप अन्तर्यामी से क्या यह घटना छिपी थी?

++आप स्वयं, और आपके साथ बहुत सा प्रजामंडल, विश्राम घाट तीर्थ स्नान को श्री यमुना जी के घाट पर पधारे। आपके श्री अतुल तेज प्रताप से उस यंत्र का किसी पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। ++आप श्री ने कृपा करके अपने कर कमलों से एक यन्त्र लिखकर अपने परम कृपापात्र महानुभाव श्री बासुदेवदासजी छकड़ा और एक दूसरे कृपापात्र सेवक कृष्णदास मेघन दोनों को आपने उस यंत्र को दिल्ली शहर के सदर दरबाजे पर लटकाने की आज्ञा दी। आप श्री ने दो कृपापात्र सेवकों को यह भी आज्ञा दी कि बादशाह तुमको बुलाकर यन्त्र हटाने को कहें तब उनसे कहना कि बादशाहों का यह धर्म नहीं है कि किसी के धर्म में हस्तक्षेप करे। आपके मुल्ला लोगों ने हमारे तीर्थ स्थान पर यन्त्र लटकाया है। उसके विपरीत हमारे गुरुदेव श्री बल्लभाचार्य महा-

प्रभु ने उनके यन्त्र के प्रतिकारार्थ हम लोगों को यन्त्र यहाँ लगाने की आज्ञा प्रदान की है। तदनुसार हमने लगाया है। आप मथुरा के सूबे को आज्ञा दें, कि वह जो हमारे धर्म के विपरीत यन्त्र लटकाया है उसको तुरन्त हटा लेवें। उक्त यन्त्र का यह प्रभाव था कि जो मुसलमान उसके नीचे से जाये उसकी दाढ़ी गिर जाये और चोटी निकल आये। आचार्य यंत्र का प्रतिकार करने की किसी की सामर्थ नहीं हुई। दिल्ली में हाहाकार मच गया। बादशाह को खबर हुई तब उन श्री महाप्रभु जी के सेवकों को बुलवाया। उन ने बादशाह से निवेदन किया। उस से बादशाह ने मथुरा के सूबे को विश्राम घाट का यन्त्र हटाने की आज्ञा दी। तदनुसार जब वह यन्त्र हटा दिया गया तब आप श्री का यन्त्र हटा लिया गया। + +

\+ + +

३—योगी प्रकाशानन्द जी ने वर्षों की साधना के उपरान्त अलौकिक सिद्धियाँ उपलब्ध कीं। हिमालय की कन्दरा छोड़कर ब्रज में आये, अपनी शक्ति की परीक्षा करने। सोचा, **स्वामी हरिदास** जी ही अनन्य शिरोमणि हैं। इनकी परीक्षा ही करनी चाहिए। स्वामीजी, मोर, बन्दरों को प्रसाद वितरण कर रहे थे। प्रकाशानन्द भी मयूर बनकर चुगने लगे। भला निकुंजेश्वरी के वृन्दाबन में किसकी सिद्धि चल सकती है! स्वामीजी ने तत्काल ही पहिचान कर कहा· 'योगिराज! तुम्हारे भाग्य खुल गये जो दिव्य-वृन्दाबन में आगए। यह तो कुंजबिहारी की असीम कृपा का ही फल है।' सिद्धि की पोल खुल जाने से प्रकाशानन्द लज्जित हो गए। + +

४—दयाराम नामक एक भक्त को भगवत्कृपा से पारस-पत्थर प्राप्त हो गया। स्वामी जी की कीर्ति सुनता सुनता वह वृन्दावन आया। 'ऐसे सन्त शिरोमणि को क्यों न मैं यह अप्राप्य वस्तु भेंट करदूँ, जिससे श्री बांकेबिहारी की सेवा होती रहे!' दयाराम मन में सोचता आ रहा था।

जब स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ तो पारस भेंट करने से पहले ही उन्होंने आज्ञा दी—'जाओ, इसे श्री यमुनाजी के अर्पण कर आओ। और स्नान करके पवित्र होकर आओ।'

मन मार कर दयाराम पारस पत्थर को यमुना में फेंक आया। पर उसके प्रति उसका मोह बना ही रहा। स्वामी जी सब जान गये। एक दिन जब दयाराम स्नान करने जा रहा था तो आज्ञा दी—'दयाराम! आज श्री यमुना जी में से थोड़ी सी रज हमारे लिए लेते आना।'

स्नान के उपरान्त स्वामी जी के आज्ञानुसार रज ले जाने के लिए दयाराम

ने यमुना में हाथ डाला तो असंख्य पारस पत्थर हाथ में आगए। तब दयाराम की अन्तर्दृष्टि खुल गयी।++

५—++अन्त में बघेला नरेश पर न रह गया। हाथ जोड़ कर बोला—'महाराज ! मिट्टी के पात्र तो एकबार काम में लेने के उपरान्त अशुद्ध मान लिए जाते हैं। मुझ सरीखे तुच्छ सेवकों को भी आपकी कृपा से कोई कमी नहीं। आज्ञा करें तो श्री बिहारी जी की सेवा के लिए स्वर्ण-पात्र भिजवा दूँ ?'

श्री बिहारी जी का भोग लग रहा था। स्वामी जी ने (बघेला नरेश) राजाराम को दर्शन कर आने की आज्ञा दी। राजा ने जाकर देखा तो आश्चर्य में रह गया। मिट्टी के स्थान पर सोने के पात्र सजे हुए थे। हैरान सा होकर वह लौटा तो स्वामी जी ने हँसकर कहा—'राजन् ! श्रीधाम की रज स्वर्ण से भी अधिक पवित्र और बहुमूल्य है।'

६—एक दिन पुलिन में विराजे हुए स्वामी जी कुंजकेलि में मग्न हो रहे थे। किसी एक भक्त ने बहुमूल्य इत्र लाकर बिहारी जी की सेवा के लिए स्वामी जी को भेंट किया। अचानक ही स्वामी जी ने शीशी उठाकर बालू में औंधा दी। बेचारे भक्त को बड़ा दुःख हुआ। लाया तो था श्री बिहारी जी के अङ्ग पर लगाने को और फला दिया बालू में। करता क्या ? मन मार कर रह गया। उसे उदास देखकर स्वामी जी ने शिष्य के साथ श्री बिहारी के दर्शनों को भेजा। वहाँ देखा तो श्री बाँकेबिहारी जी की सारी पोशाक उसी इत्र में तर हैं और सुगन्ध से सारा वातावरण महक रहा है। प्रसन्नता के मारे वह भक्त गद्-गद् हो गया, पर उसे आश्चर्य भी बहुत हुआ। ध्यान भंग होने पर स्वामी जी बोले—'आज प्रिया-प्रियतम में फाग मची थी। श्री किशोरी जी के कर में तो पिचकारी थी पर श्याम के हाथ रीते थे। मैंने इत्र की शीशी ही उन्हें पकड़ा दी। समय पर अच्छा काम में आया।' सुनकर सेवक कृतार्थ हो गया।

\+ \+ \+

७—'भक्तनिके हित सुत विष दियौ उभैबाई कथा सरसाइ खोलिकै बताइये। भयो एक भूप ताके भक्तहू अनेक आवें आयो भक्त भूप तासों लगनि लगाइये। नितही चलत तोपै चलन न देत राजा बितयो बरष मास काहे भोर आइये। गई आस टूटि तन छूटि बेकी रीत भई लई बात पूंछी रानी सबै लै जनाइये।२०५। दियो सुत बिष रानी नृप जीवें नाहिं संत हैं स्वतन्त्र सोई इन्हें कैसे राखिये। भये विनभोर वधू सोर करि रोइ उठी भोइ गई रावलमें सुनी साधु भाखिये। खोलि डारी कटिप भवन में प्रवेश कियो लियो देखि बालक को

नीलतनु साखिये । पूछ्यों भूप तियासों जु सांच कहि कियो कहा कही तुम चल्यौ चाहो नैन अभिलाखिये ।४०। छाती खोलि रोये क्योंहू बोलिहू न आवे मुख भयो भारी भक्ति रीति कछू । न्यारिये जानीहू न जाति पांति जाकौ सौ विचार कहा अहो रससागर सों सदा उर धारिये । **हरिगुण गाय साखि संतनि बताय दियो बालक जिवाय लागी ठौर वह प्यारिये** । संगकै पठाय दिये रहे जे वे भीजे हिये बोले आप जाऊँ जौन मारिकै बिडारिये ।१०७।+ +

\+ + +

८—'**निष्किचन** इकदास तासुके हरिजन आये ।। विदित बटोही रूप भये **हरि आप लुटाये ।। साखि देनको श्याम स्वयं प्रभु आप पधारे** ।। रामदास के सदन राय रणछोर सिधारे ।। आयुधछातन अनुगके बलि बंधन अपु बपु धरे ।। भक्तनि संग भगवान नित ज्यों गउ वछगोहन फिरे ।।५३।।

\+ + +

९—"बीच दिये रघुनाथ भक्तसंग ठगिया लागे ।। निर्जन बनमें जाय दुष्टक्रम कियो अभागे ।। बीच दिये सो कहाँ **राम कहि नारि पुकारी** ।। **आये शांरग पाणि शोकसागरते तारी** ।। द्रुति दुष्ट किये निर्जीव सब दासप्राण-संज्ञा धरी ।। और युगनेत कमलनयन; कलियुग बहुत कृपा करी ।।५५।।

१०—विप्र हरिभक्त करि गौनौ चल्यौ तिया संग जाके दूनो रंग ताकी बात ले जनाइये ।। मन ठग मिले द्विज पूंछे अहो कहाँ जात जहाँ तुब जाबो यामें मन न पत्याइये ।। पंथ को छुटाय चाहैं बनमें लिवाय जाय कहैं अति सूधो पैंडो उरमें न आइये ।। बोले बीच रामतऊ हिये नेकु धकधकी कही उही भाम श्यामनाम कहा पाइये ।।१५३।। चले लागि संग अब रंग को कुरंग करौ तिया पर रीझे भक्ति साँची इन जानी है ।। गये बनमध्य ठग लोभलगि मार्‌यो विप्र क्षिप्र लेके चले वधू अति बिलखानी है ।। देखे फिरि फिरि पाछे कहै कहा देखै मार्‌यौ तब तो उचारयो देखो वाहि वीच प्रानी है । **आये राम प्यारे सब दुष्ट मारि डारे साधु प्राण दै उबारे हित रति यों बखानी है** ।।२५४।।

\+ + +

११— + + + **खायो विष ज्यायो** पुनि फेरिके पठायो सब आयो सो समाज द्वारवती सुखसार है ।। + + + चले मग दूसरे सु तामें **एक सिंह रहे आयो बास लेत शिष्य कियो** समझायो है ।। + +

\+ + +

१२—घर आये हरिदास तिनहिं गोधूम खवाये ।। तात मात डर थोथे खेत लांगूल बुवाये ।। आसपास कृषिकार खेत की करत बड़ाई ।। भक्त भजे की

रीति प्रगट परतीत जु पाई ।। **अचरज मानत जगत में कहा निपज्यो कहा उन-वायौ ।। धन्य धनाके भजन को बिनहि बीज अंकुर भयो ।।** ६२ ।। +

+ + +

१३—सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलियुगहिं दिखायो ।। निरअंकुश अति निडर रसिक यश रसना गायौ ।। दुष्टनि दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयो ।। बार न वांको भयो **गरल अमृत ज्यों** पीयो ।। भक्तिन गाय वजाय के, काहूतें नाहिं न लजी ।। लोकलाज कुल शृंखला, तजि **मीरा** गिरिधर भजी ।।११५।।

+ + +

१४—++कलि कुटिल जीव निस्तारहित, बाल्मीकि तुलसी भयो ।।१२६।।

+ + +

++ कियो तन विप्र त्याग लागी चली संग तिया दूरि ही ते देखि किये चरण प्रणाम है ।। बोले यों सुहागवती भन्यो पति हौंहूँ सती अब **तौ निकसि गई ज्याऊं सेवो राम है** ।। बोलिके कुटुम्ब कही जोपै भक्ति करो सही गही तब बात जीव दियो अभिराम है ।। भये सब साधु व्याधि मेटि ले विमुखता की जाकी वास रहे तौ न सूझे श्यामधाम है ।।५१४।। + + देखें राम केसो कही कैद किये हिये **हूजिये कृपाल हनुमानजू दयाल** हो ।। **ताही समै फैलि गये कोटि कोटि कपि** नये लोंचें तन खेंचें चीर भयौ यों विहाल हों ।। फोरे कोट मारें चोट किये डारें लोट पोट लीजै कौन ओट जाय मानों प्रलैकाल हो ।। भई तब आंखें दुखसागरको चाखें अब वेई हमें राखें भाखें वारौ धन माल हो ।। ५१६।। आदि ।

भक्तों और सन्तों के सम्बन्ध में ऐसे अद्भुत चमत्कारक वर्णन भक्तों के जीवनी-साहित्य में और वार्ता-साहित्य में भरे पड़े हैं। ऐसे वर्णन केवल भारत में ही नहीं मिलते। विश्व के प्रायः समस्त धर्मों के सन्तों और भक्तों के चरित्र ऐसे ही चमत्मकारों से पूर्ण हैं।

छठवाँ अध्याय

काव्यरूपों में लोक-तत्वों की प्रतिष्ठा

प्रत्येक उच्च शिष्ट, मनीषी, कलात्मक अभिव्यक्ति का मूल लोक-वार्ता में होता है, यह एक अखंड सत्य है। यह वैज्ञानिक प्रणाली से किये गये अनुसंधानों से निर्विवाद सिद्ध हो चुका है। इस लोकाभिव्यक्ति को हिंदी अथवा भारतीय दृष्टि से 'प्राकृत-वाणी' अथवा 'प्राकृत-अभिव्यक्ति' कह सकते हैं। संस्कृत का मूल 'प्राकृत' है और यह 'प्राकृत' विशाल नद की भाँति पूर्व वैदिक युग से अबतक निरन्तर प्रवाहित है। इसी प्राकृत धारा के ऐतिहासिक क्रम से कितने ही नाम रखे गये हैं। इस प्राकृतों में से ऐतिहासिक क्रम से साहित्यिक भाषा का निर्माण हुआ। हिन्दी भाषा के किसी भी प्रामाणिक इतिहास से इस तत्व को हृदयंगम किया जा सकता है। जैसे

१—मूल प्राकृत
२—वैदिक प्राकृत
३—पाली—प्रथम प्राकृत
४—प्राकृत—बौद्ध प्राकृत—जैन-प्राकृत। जातकों तथा जैन पुराणों तथा काव्य भी प्राकृत।
५—अपभ्रंश—साहित्यिक अपभ्रंश

६—पुरानी हिन्दी | तुलसी–केशव की
७—भाषा हिन्दी | बिहारी की भाषा
८—जनपदीय हिन्दी — उच्च हिन्दी खड़ी बोली ।

वस्तुतः समस्त अभिव्यक्ति की सर्वत्र दो ही प्रमुख प्रवृतियाँ होती हैं : वैदिक तथा लौकिक अथवा 'संस्कृत तथा प्राकृत' । 'संस्कृत' शब्द ही 'संस्कार' से युक्त का अर्थ देता है । एक प्रकृति प्रत्येक अभिव्यक्ति को संस्कृत रूप देने की सर्वत्र विद्यमान है, इसी प्रकृति से किसी भी अभिव्यक्ति का एक आदर्श सम्बन्ध निश्चित किया जाता है, उसके लिए शास्त्र रचना होती है ।

दूसरी प्रकृति लौकिक अथवा प्राकृत होती है, इसका सम्बन्ध सर्वतंत्र स्वतंत्र मानव की अभिव्यक्ति की स्वाभाविक धारा से होता है । ये दोनों प्रवृतियाँ एक साथ चलती मिलती है । किन्तु दोनों की प्रकृति में बहुत अन्तर है, और बह अन्तर सहज अन्तर है । संस्कृत प्रवृत्ति का सम्बन्ध मनुष्य की सौन्दर्य, विषयक कल्पना वृति से है । वह प्राकृत अभिव्यक्तियों से सुरुचि और सौन्दर्य के तत्त्वों को चुन लेता है । उन चुने हुए अंशों के आधार पर सुरुचि और सौन्दर्य के एक आदर्श अथवा निरपेक्ष स्वरूप की कल्पना करता है । उसे प्राप्त करने के सामान्य और विशेष नियमों का अनुसंधान करता है । निश्चय ही इस सुरुचि सौन्दर्य-संस्कार का सम्बन्ध शिक्षा और शिक्षित मेधाओं से ही होगा । शिक्षा और शिक्षित मेधा के विकास का क्रम पहाड़ की चढ़ाई के सदृश होता है । सामान्य लोक भूमि से पहाड़ ऊँचा होता जाता है और यह ऊँचाई आकाश में एक सीमा तक उठती हुई शिखर-विन्दु चोटी तक पहुँचती है । उसके उपरान्त फिर उतराई है जो पुनः सामान्य भूमि तक पहुँचती है और कभी-कभी उससे भी नीचे गर्त में उतर जाती है । अतः संस्कृत प्रवृति की प्रकृतितः दो नियमानुसार श्रेणियाँ होती हैं और प्रत्येक श्रेणी का एक शिखर होता है । किन्तु प्राकृत प्रकृति सामान्य भूमि के सदृश है, जो निरंतर एक धरातल पर विद्यमान किन्तु प्रवहमान रहती है । अतः इस अभिव्यक्ति को सामान्य सम-भूमि पर प्रवाहित नद माना जा सकता है, जिसमें विशाल लहरें उठती हैं, संस्कृत साहित्य की तरह । इसीलिए मूल प्राकृत से आज हिन्दी तक वह प्राकृत धारा निरंतर प्रवाहमान है भाषा की दृष्टि से ही नहीं, समग्र अभि-व्यक्ति की दृष्टि से, जिसमें भावों का रूप, भावों का कोटिक्रम, विषय और कलातत्व सभी सम्मिलित रहते हैं । फलतः हिन्दी के प्रत्येक मौलिक रूप का इसी प्राकृत धारा से जन्म होगा ।

संस्कृत और प्राकृत धारा में एक और सहज अन्तर प्रतीत होता है । संस्कृत धारा सदा पीछे की ओर देखती है । प्राकृत धारा सदा आगे की

और प्रत्येक देश में प्रत्येक भौगोलिक महान् इकाई की भाषा के क्षेत्र में एक ऐसा शास्त्रीय मेधा का युग आता है, जिसमें प्रत्येक अभिव्यक्ति का चरम संस्कार होगया विदित होता है। इस युग में जहाँ कलात्मक अभिव्यक्तियाँ शिखर पर पहुँच जाती हैं, वहीं शास्त्रीय विधान भी चरम उत्कर्ष पा लेते हैं। एक प्रकार से कला और शास्त्र दोनों में इस युग की मौलिक मेधा का सर्वतोभावेन उत्कर्ष होता है। बस यह उपलब्धि आदर्श बन जाती है। बाद के युग के लोग अपनी कृतियों को प्रामाणिक बनाने के लिए पिछले युग के कृतित्व और शास्त्र को देखा करते हैं, उनसे अपनी रचनाओं को मापने लगते हैं। उस युग के कृतित्व और शास्त्रीयता का आतंक ऐसा छाया रहता है कि संस्कृत प्रवृति के लोग यह समझने लगते हैं, नहीं, विश्वास ही करते हैं कि जो पूर्वजों ने प्राप्त किया, वह आगे असंभव है। वे पूर्वजों की कृतियों में देवत्व, आदर्श परिमिति और दिव्यता देखते हैं, अपने कृतित्व को वे उनके अनुकरण में ही सफल समझते हैं। इसी को वे आस्तिकता भी मानते हैं।

प्राकृत धारा स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ती जाती है। उत्तुंग लहरें उसमें उठें और किसी दैवी शाप से या बरदान से वे उठी लहरें पर्वत-शिखर की तरह स्थिर होकर रह जायें, तो भी प्राकृत धारा निरंतर बहती चलती है: वैसी जड़ लहरों को पीछे छोड़ती हुई वह आगे बढ़ती जाती है, यह प्राकृत धारा वर्तमान में पनपती है और आगे की हवाओं को भी आने से नहीं रोकती। इसमें नये नये निर्माण होते चलते हैं जिन्हें फिर कोई संस्कार-प्रेमी मेधावी अपनी तपस्या अथवा साधना से बहुत ऊंचा उठाकर जड़ बना देता है। अतः प्रत्येक युग की संस्कृत प्रवृत्ति अपनी प्रामाणिकता के लिए शास्त्रों को देखती है। उसकी अनुकूलता पाती है। उदाहरणार्थ "केशव" संस्कृत प्रवृत्ति का अच्छा प्रतिनिधित्व करते हैं।

उधर तुलसी में लौकिक अथवा प्राकृत प्रवृत्ति है। दोनों की अभिव्यक्ति के माध्यमों की तुलना कीजिये :

संस्कृत प्रवृत्ति	प्राकृत प्रवृत्ति
केशव	**तुलसी**
१—बाल्मीकि की रामकथा का अनुकरण किया :	१—लोक धारा से प्राप्त रामकथा को ग्रहण किया तभी तुलसी ने अपनी रामकथा के लिए यह लिखा : कीन्हि प्रश्न ऐहि भाँति भवानी जेहि विधि संकर कहा बखानी

	सो सब हेतु कहब मैं गाई कथा प्रबंध विचित्र बनाई जेहि यह कथा सुनी नहि होई जनि आचरजु करै सुनि सोई कथा अलौकिक सुनहि जे ग्यागी नहीं आचरजु करहि अस जानी रामकथा के मित जग नाहीं असि प्रतीति तिन्ह के मनमांही नाना भांति राम अवतारा रामायन सत कोटि अपारा कलप भेद हरि चरित सुहाए भांति अनेक मुनीसन गाए करिस न संसय अस उर आनी सुनिअ कथा सादर रति मानी राम अनंत अनंत गुरु, अमित कथा विस्तार सुनि आचरजु न मानिहहि जिन्ह के विमल विचार तुलसी ने वह कथा कही जो (गुरू से) सुनी।
२—केशव ने रामचन्द्रिका में पिंगल की दृष्टि से संस्कृत वृत्तों को ही महत्व दिया है : उन्हीं में रामचन्द्रिका लिखी है। उनमें वृत्तों का बहुत अधिक वैविध्य है जो उनके शास्त्रीयज्ञान को सिद्ध करता है।	२—तुलसी ने समस्त रामचरित मानस चौपाई, दोहा, सोरठा, आदि कुछ गिनेचुने छन्दों में रचा है। ये सभी छन्द मात्रिक हैं। उनमें भी शास्त्रानुकरण नहीं, लौकिक परिपाटी का स्वाभाविक रूप मिलता है।
३—केशव का लक्ष्य काव्य है।	३—तुलसी का लक्ष्य कथा कहना है।
४—केशव की चन्द्रिका सर्ग-बद्ध है।	४—तुलसी की रचना कांड-बद्ध है।
५—संस्कृत भाषा के चमत्कारों से युक्त	५—स्वाभाविक संतवाणी से युक्त

संत वाणी प्राकृत परम्परा का वह रूप है जो विविध प्रभावों का परिणाम होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी में एक "सधुक्कड़ी" भाषा के रूप

का अन्वेषण किया था। कबीर को सधुक्कड़ी भाषा का प्रमाण माना जा सकता है। पर यह सधुक्कड़ी भाषा प्रकृत रूप में प्राकृत के साथ सदा विद्यमान रही है। वेदों में इसके प्रमाण हैं। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश इससे परिपूर्ण हैं। विविध विद्वान ऐसी सधुक्कड़ी भाषा पर विचार करते समय भ्रम में पड़ जाते हैं और अपनी रुचि और प्रवृति के अनुसार उस भाषा का नामकरण करते हैं। वैदिक भाषा में संस्कृत और प्राकृत तत्वों का अन्वेषण हो ही चुका है। ये दोनों तत्व साथ मिलते हैं। बुद्ध की भाषा और अशोक के शिलालेखों की भाषा में शौरसेनी-महाराष्ट्री-मागधी अथवा अर्द्धमागधी के लक्षण अलग-अलग खोजे गये हैं। सिद्धों में से किसी में बंगला का मूल, किसी में मैथिली का मूल, किसी में भोजपुरी का मूल, किसी में पश्चिमी का मूल परिलक्षित हुआ है। जिससे कोई उन्हें बंगाली, कोई मैथिली, कोई हिन्दी का मानते हैं और खींचातानी रहती है। नाथों की रचनाओं में, विद्यापति और ब्रजबुली में, वैसे ही सन्तों में यह प्रवृत्ति है। इसी को शास्त्रों ने भी आगे चलकर प्रामाणिक मान लिया और प्रत्येक काव्य के लिए ब्रजभाषा की मुख्य पृष्ठभूमि पर षडभाषाओं से युक्त होना आदर्श माना। इस शास्त्रीय मान्यता का मूल "संत-वाणी' अथवा 'सधुक्कड़ी' भाषा की विद्यमानता में ही है। तुलसी ने इसी प्राकृत धारा की संतवाणी में रामचरित मानस रचा और अपनी भणिति को भाषा-भणिति माना।

वस्तुतः तुलसी लोक धारा के स्वाभाविक परिणाम थे और केशव थे सांस्कृतिक पुनरोद्धारक। अकबर के समय में समस्त क्षेत्रों में दोनों प्रवृत्तियों को बहुत प्रोत्साहन मिला था। सांस्कृतिक पुनरोद्धारण का अकबर के राज दरबार से सीधा सम्बन्ध था। अकबर ने संस्कृत के अध्ययन और उसके ग्रन्थों के अनुवादों का प्रबल उद्योग किया था, उसी पैमाने पर अरबी और फारसी के अध्ययन का भी प्रयत्न हुआ था।

राज्य-प्रभाव से मुक्त प्राकृत अथवा लौकिक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करने की अकबर की प्रणाली यह थी कि वह स्वयं उन लोक पुरुषों के पास छिपकर जाता था। ऐसे स्थानों की यात्रा करके वह अपने को कृतकृत्य मानता था।

अतः यह स्पष्ट है कि लोक-धारा से साहित्य के लिए केवल विषय अथवा विचार ही नहीं लिये जाते हैं, लोकधारा में उत्कृष्ट नये रूपों को भी ग्रहण करना पड़ता है। यह बात काव्य-रूपों के विकास पर विचार करने से स्पष्ट हो जाती है। इस विकास के इतिहास को इस प्रकार समझ सकते हैं :—

साहित्य के रूप

साहित्य के रूप क्यों ? साहित्य अथवा काव्य के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि वह 'काव्यात्मक' अनुभूति की अभिव्यक्ति है। तब इस अनुभूति को रूप वैविध्य क्यों प्राप्त होता है ?—वह 'अनुभूति' एक रूप क्यों नहीं ? १. वास्तविक बात यह है कि कोई भी अनुभूति अभिव्यक्ति के समय रूप तो ग्रहण करेगी ही, बिना रूप के वह अभिव्यक्त नहीं हो सकती। इसका क्रम यही होगा (अनुभूति) अभिव्यक्ति : शब्द-अर्थ : रूप। जिस प्रकार आत्मा चेतन प्राण शरीर (अभिव्यक्ति) प्राप्त करते हैं, तो रूप भी अनिवार्य है। काव्यात्मक अनुभूति भी बिना रूप के अभिव्यक्त नहीं हो सकती। रूप अभिव्यक्ति सहजात तत्व है। फिर यह रूप-वैविध्य ?

रूप, अभिव्यक्ति और अनुभूति का नित्य सम्बन्ध है, तो रूप के वैविध्य के साथ अभिव्यक्ति और अनुभूति का वैविध्य भी स्वीकार करना होगा। रूप-तत्व (मेटाफिजिक्स आफ फार्म। पर मौलिक विचार कहाँ किया गया है। अद्वैतवाद तो नामरूपात्मक जगत को मिथ्या मानता है। मिथ्या के अर्थ केवल यह हैं कि वह शुद्ध ब्रह्म-सत्व की भाँति नित्य नहीं। साहित्य में भी काव्यात्मक अनुभूति को मूलतः अद्वैत ही मानना पड़ेगा, और मूलतः रूप को मिथ्या। इस दार्शनिक उपपत्ति का इसके अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं कि रूप के द्वारा जिस अनुभूति की अभिव्यक्ति हो रही है, वह सार वस्तु है, वही समस्त रूपों में समभाव से व्याप्त है, वही अनुमूति यथार्थ काव्य है—यह तभी जब हम 'रूप' को ग्रहण कर अभिव्यक्ति के माध्यम से अनुभूति से साक्षात्कार करने के लिए अग्रसर होते हैं। दूसरे शब्दों में आलोचक या दार्शनिक के लिए। पर साहित्यकार, कवि अथवा अभिव्यक्तिकार के लिए इससे भी अधिक सत्य इस क्रम से है अनुभूति-अभिव्यक्ति-रूप। उसकी अद्वैत अनुभूति अभिव्यक्ति के उपादानों (शब्द-अर्थ-कल्पना-चित्रों) से रूप में अवतरित होती है, और बिना उसके वही कोई 'नाम' भी नहीं प्राप्त कर सकती, उसकी सत्ता का आभास भी नहीं मिल सकता। इस छवि के लिए रूप निश्चय ही सत्य है। किन्तु मौलिक प्रश्न जहाँ का तहाँ है ? यह वैविध्य कहाँ से ?

वस्तुतः विविधता तो अनुभूति के अद्वैत के विस्तार में ही निहित है—केन्द्र-विन्दु जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्म-प्रसार करता है तो वह परिधि का निर्माण करता चलता है। परिधि देश काल को जन्म देते हुए ही उद्‌भूत होती हैं। बीज में वृक्ष, उसकी शाखएँ, पल्लव, पुष्प तथा फल सभी समाये हुए हैं, वे बीज के विस्तार के ही परिणाम हैं। अनुभूति भी इसी प्रकार अपने अन्तरंग निर्माण में वैविध्य समा-

निहित किये हुए है। इस प्राकृतिक प्रक्रिया का आश्रय न भी लेकर अनुभूति की उद्भूति पर ही ध्यान दें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि कवि की अद्वैत अनुभूति को तो अनिवार्यतः वैविध्य युक्त होना होगा। अनुभूति कवि को होती है—कवि क्या है? शरीर—मन (माइण्ड) से उसका स्थूल पाशविक निर्माण होता है, जिस पर 'आहार-निद्रा-भय-मैथुन' की प्रवृत्तियों के कारण शेष सृष्टि से उसका साम्यवाद खड़ा होता है। किन्तु कवि इससे भी अधिक है। इस कुछ अधिक को उसकी प्रतिभा कह सकते हैं। यह प्रतिभा उसे अपने शरीर की स्थूल सीमाओं का उल्लंघन करने को विवश करती है: तब कवि क्रान्तदर्शी हो उठता है—और युग ही नहीं युग-युग भी उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। यहाँ वह होता है अपनी शारीरिक स्थूलता और उसकी आवश्यकताओं के साथ: सामने होती हैं उसके युग की परिस्थितियाँ जिनसे रहता है उसका संघर्ष, और इन सब में से होकर उसकी प्रतिभा उस भूमि पर जा पहुँचती है जहाँ पर वह प्रकृति (परिस्थितियाँ) और पुरुष (मानव) के परम्परा के आदि-मध्य-अंत की स्थितियों और विकृतियों का दर्शन कर सकता है: यही दर्शन काव्यानुभूति है। फलतः उसके निर्माण का समग्र रूप यह हो जाता है: **कवि = शरीर+मन+प्रतिभा < युग < युग-युग**। इस प्रकार अनुभूति में कवि व्यक्ति, उसकी युगीन प्रतिक्रिया और उस प्रतिक्रिया में युग-युगीन तादात्म्य सन्निहित रहता है, तो यह अनुभूति अद्वैत होते हुए भी वैविध्य संपन्न होगी ही। कवि के शरीर और मन का निर्माण भी सहज नहीं होता: कितने विज्ञान इस निर्माण के स्वरूप को समझने के लिए सतत् प्रयत्न में लगे हुए हैं: और अभी तक यथार्थ को प्राप्त कर सकने में असफल रहे हैं। इसी कारण अनुभूति में निजी वैविध्य ही नहीं होता, वह कवि-प्रतिभा और उसकी सामर्थ्य के भेद से भी भिन्न हो जाती है। तब, जब यह अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के लिए अग्रसर होती है तो अपने अनुकूल ही रूप ग्रहण करती है। बीज में ही वृक्ष का रूप निश्चित है। 'बोये पेड़ बबूर के आम कहाँ ते होंय' की प्राकृतिक प्रवृति अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप के साथ भी होती है। रूप को शोध कर उसमें अनुभूति अपने को अवतीर्ण नहीं करती। अनुभूति की अभिव्यक्ति होते ही वह स्वयंमेव ही सहज रूप धारण करती जाती है। यही सहज स्थिति है। इसमें अनुभूति और रूप प्रकृततः अनिवार्य सम्बन्ध रखते हैं, रूप से अनुभूति और अनुभूति से रूप को हृदयंगम किया जा सकता है। किन्तु यह केवल मौलिक प्राथमिक अवस्था में ही होता है।[1] रूप अपनी स्थूलता के कारण बाद में प्रमुख हो उठता है, और अनुभूति

१ क्रौंच वध को देखकर वाल्मीकि के मुख से कुछ वाक्य अनायास ही निसृत हुए। इन वाक्यों ने स्वयं महर्षि को आश्चर्यचकित कर दिया। वे विचारने

गौण हो उठती है। इनका अनिवार्य सम्बन्ध शिथिल हो जाता है, बस रूप अनुभूति से अलग होकर भी अपने लिए आकर्षण संग्रह कर सकता है। उस समय 'रूप' का शास्त्र बन जाता है, उसकी टेकनिक ढाल ली जाती है, उसके लक्षण और परिभाषाएँ निरूपित हो उठती हैं। तब यह रूप सांचे का स्थान प्राप्त कर लेता हैं और अनुभूति रहित होकर भी जीवित रह सकता है, अथवा तब अभ्यास से किसी रूप की प्राकृतिक अनुभूति किसी अन्य रूप में भरी जा सकती है। इसी सत्य को व्यक्त करने के लिए हमारे भारतीय शास्त्रकारों ने बताया कि :—

"शक्तिर्निपुणता लोककाव्य शास्त्राद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

काव्यप्रकाश।१–३

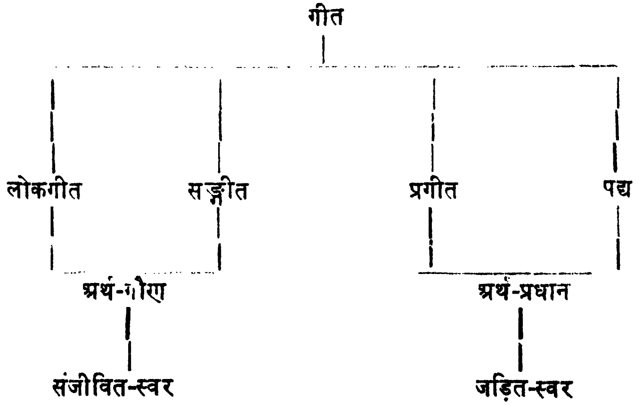
कि तीन प्रकार से काव्य उद्भव हो सकता है। (१) शक्ति निपुणता अथवा प्रतिभा द्वारा (२) ज्ञानार्जन से : लोक काव्य शास्त्राद्यवेक्षणम्। और (३) अभ्यास से (काव्यज्ञशिक्षियाभ्यास)

अतः अब प्रश्न यह है कि इस अनुभूति के रूप कैसे हो सकते हैं?

मनुष्य को वाणी का वरदान मिला और वह मनुष्य की प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुरूप द्विधा होगया। एक रूप तो व्यवसायिक वृत्ति के लिए प्रस्तुत हुआ। इसे बात, वार्ता अथवा साहित्य-शास्त्र की शब्दावली में गद्य कहा जा सकता है। यह आदान प्रदान का माध्यम था। किन्तु आरम्भिक अवस्था में मानव के पास व्यवसाय कम और प्राकृतिक प्राणियों की भाँति चहक विशेष थी। यह यों व्यवसाय कर्म के साथ भी लिप्त रहती थी और कोकिल की कूक की भाँति संभवतः उल्लास-उन्माद के क्षणों में यही चहक लय-ध्वनि से युक्त होकर 'गीत' रूप में कंठ से अभिव्यक्त हुई होगी। फलतः मानव की वाणी की दो ही प्रवृत्तियाँ आरम्भ में हुईं। १—गीत तथा २—बात। गीत का उदय बात से पहले ही होना चाहिए : क्योंकि गीत प्राकृतिक इकाई है। उसका भावोच्छ्वास से गहन सम्बन्ध बताना भी गीत के स्वरूप का ठीक से प्रतिपादन करना नहीं, वस्तुतः गीत स्वयं भावोच्छ्वास है। आदिमावस्था में भावोच्छ्वास के रूप में ही गीत उत्पन्न हुआ होगा, उस काल के मानव-जीवन में इस गीत ने प्रमुख स्थान ग्रहण किया था इसमें संदेह नहीं किया जा सकता। उस अवस्था

लगे कि ये शब्द क्या हैं? और वे इसी निश्चय पर पहुँचे कि 'शोकार्तस्य प्रवृत्तां में श्लोकः भवतु न अन्यथाः' 'मेरी शोकार्त प्रवृति ही श्लोक होगयी है, यह कुछ अन्यथा नहीं। यहाँ शोकार्त प्रवृति से श्लोक की अनिवार्यता कवि ने स्वीकार की है। शोक की अनुभूति ने अनिवार्यतः श्लोक का रूप ग्रहण किया।

में मनुष्य की प्रत्येक क्रिया भले ही वह व्यवसाय-वृत्ति से उद्भूत हो भावोच्छ्वास-मयी रहती है। भाषा के जन्म के निरूपण में 'यो-हे-हो-वाद' भले ही पूर्ण मान्यता नहीं प्राप्त कर सका हो, पर गीत के उद्गम का कारण उसे निर्विवाद माना जा सकता है परिश्रम का अङ्गी बनकर। अवकाश आदिम अवस्था में अवकास और व्यस्तता में अन्तर नहीं हो सकता। इस अवस्था में प्रत्येक क्रिया संजीवनीय उपयोगिता और अनिवार्यता रखती है। ऐसे क्षणों में भावोच्छ्वास का प्रतिरूप होकर गीत ने जन्म लिया और अपनी आंतरिक क्षमता के कारण अपने अतीत आधारों का उल्लंघन करता हुआ मानव के विशेष आकर्षण का पात्र होगया। निश्चय ही गीत का जन्म बात से पहले हुआ होगा और इसी गीत ने अपने विकास क्रम में शास्त्रीय नियमन से पद्य में रूपान्वय प्राप्त किया होगा। यह गीत तब से अबतक विकसित होकर निम्नलिखित रूप ग्रहण कर सका है :—



लोक-गीत ही आदिम गीत का यथार्थ उत्तराधिकारी है : और यह निरर्थक जंगली गीत-ध्वनि से लेकर सार्थक शहरी खयालों तक के विविध प्रकारों में व्याप्त है। इसका प्रधान धर्म है संजीवित स्वर का सहज उन्मुक्त उपयोग। मानव भावोन्माद में अपने को भूलकर जब गीत के हाथों अपने को बेच देता है, उसमें मनतः और शरीरतः लीन हो जाता है, तब वह लोक गीत रचता होता है। स्वर, लय, तान, ताल आदि भाव की थिरकन के साथ स्वयमेव आते जाते हैं। यही संजीवित स्वर जब विशिष्ट चमत्कारों को स्थाई बनाने के लिए रूपबद्ध कर लिया जाता है, और आगे उसमें परिमार्जन और संस्कार द्वारा ऊँचाई अथवा भव्यता के लिए शास्त्रीयता का सहारा लिया जाने लगता है तो वह संगीत हो जाता है। लोक-गीत और सङ्गीत का प्राण यह संजीवित स्वर

जब उच्छ्वास-गति के साथ भाव और उससे भी अधिक शब्द अर्थ के तत्व से बोझिल, मंथर और लघुकाय होने लगता है तो प्रगीति अथवा लीरिक में परिणति प्राप्त कर लेता है। यहाँ तक स्वर पूर्णतः संजीवित रहते हैं, अपने स्वाभाविक लोच और लचक के साथ, उच्चारकर्ता के व्यक्तित्व से लिपटे हुए किन्तु जब इन संजीवित स्वरों को जमा दिया जाता है, मात्रा की ताल में स्वर को नहीं अक्षर या वर्ण को बाँध दिया जाता है, और साँचे बना दिये जाते हैं तब वह गीत 'पद्य' का रूप ग्रहण कर लेता है। शास्त्र नियमों का निर्माण तो अध्ययन की सुविधा तथा विचार-कोटि तथा कला कोटि का स्तर स्थिर करने के लिए करता है, पर ये नियम कला के बंधन बन जाते हैं, और मर्यादाओं का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इससे फिर किसी कृति में सहज और स्वाभाविक गति और लोच का स्थान नहीं रह जाता है। शास्त्र ऐसे स्वातंत्र्य को उपेक्षा ही नहीं घृणा की दृष्टि से देखने लगता है। यही कारण है कि साहित्य-शास्त्र द्वारा पद्य तो मान्य हुआ, गीत नहीं। वह गीत अपनी स्वाभाविकता सहित लोक में पनपता रहता है। पद्य स्वर और वर्ण की मात्राएँ निश्चित करके ध्वनि-वैषम्य को अनुशासित करता है, तो सङ्गीत गीत की इस सहज विशेषता का सम्मान करते हुए, उसी वैषम्य में नियम-प्रतिष्ठा करके उसे एक कला का रूप प्रदान करता है। प्रगीतियों में भी जब इस स्वाभाविक प्रवाह में भाव और अर्थ-गांभीर्य सन्निविष्ट होजोता है, तब लोक-गीत की उद्दामता बोझिल और पंगु होकर चलती है। साथ ही अजाने स्वर की एक तौल उसमें घर कर जाती है, जो शास्त्र की जड़ता के विरुद्ध पहुँची हुई होती है। इस संजीवित स्वर की कुछ शक्ति का ह्रास प्रगीत (लीरिक) में होता है। उससे अधिक पद्य के उस रूप में होता है, जिसे मात्रिक छन्द कहते हैं। मात्रिक में मात्रा को अक्षर की तौल स्वीकृत किया जाता हे। ये मात्रिक छन्द लघु-गुरु मात्राओं के विधान से एक स्थिर स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं—यथा रोला छन्द में २४ मात्राएँ होंगी और ग्यारह तेरह पर यति होगी आदि। अब कोई भी कविता करने वाला व्यक्ति इस रोला के लक्षण के अनुसार छन्द-रचना कर सकता है। पर इन मात्रिक छन्दों के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल लक्षणानुसार मात्रा की योजना कर देने मात्र से छन्द समीचीन नहीं हो पाता। यथा—

राम तुम्हारा चरित ११ स्वयं ही काव्य है। १०
कोई कवि हो जाय ११ सहज संभाव्य है। १०

यह २१ मात्राओं का छंद है और ठीक है। किंतु यदि

इसे यों लिख दिया जाय– रामचरित तुम्हारा स्वयं ही काव्य है ।
सहज कोई कवि हो जाय संभाव्य है ।

तो छन्द में कुछ न कुछ विकार अनुभव होता है । मात्राएँ उतनी ही हैं, शब्द भी बिलकुल वही हैं । किन्तु वह प्रवाह और प्राण कहाँ है ? वह प्राण लाने के लिए मात्रिक छन्दों को संजीवित स्वर की अनुकूलता ग्रहण करनी होती है । अतः मात्रिक छन्दों में मात्रा-तोल ने संजीवित स्वर की नितान्त उपेक्षा नहीं कर डाली । किन्तु यह बात वर्ण-वृत्तों के साथ नहीं । वर्ण-वृत्तों में अक्षर का स्थान-क्रम और मात्रा सभी नियंत्रित कर दी जाती हैं । गणों के निश्चत रूप के विशिष्ट संयोजन वृत्त को ऐसा बंधन युक्त कर देते हैं कि उसमें संजीवित स्वर की अनुकूलता का प्रश्न ही नहीं उठता, उस वृत्त के लिए समीचीन स्वर सौष्ठव उस आयोजन से स्वयंमेव एक अंगी की भाँति आ जाता है ।

गीत की अभिव्यक्ति का अभिप्राय 'बात' अथवा वार्ता की अभिव्यक्ति से भिन्न होता है । गीत निरर्थक होते हुए भी गीत रहता है । अर्थ उसमें भरा जाता है । अर्थ का उसमें आरोप होता है । किन्तु "बात" का जन्म ही अर्थ प्रेषण के लिए होता है— अतः बात का प्रधान धर्म विचार-विनिमय-साध्यता है । निश्चय ही इसका आरंभ व्यवसायिक विनिमय में हुआ होगा, किन्तु शीघ्र ही बात करने अथवा बात कहने की सामाजिक स्थिति के कारण बात का महत्व मात्र व्यावसायिक विनिमय-साध्यता से अतिरिक्त भी होने लगा होगा मनुष्य की जब अनिवार्य आवश्यकताएँ 'आहार-निद्रा-भय-मैथुन' के दो रूप होते थे । एक भूख का भाव उसी प्रकार "निद्रा-भय-मैथुन" का और दूसरा 'इनकी पूर्ति का" रूप । पूर्ति का रूप तो "शुद्ध व्यावसायिक बात" से संतुष्ट हो सकता था । "फल खाऊंगा" आदि । किन्तु उनके भाव की अभिव्यक्ति में इतनी व्यावसायिकता नहीं हो सकती थी । 'आहार-निद्रा' में तो इन भावों में भी कुछ स्थूलता मिल सकती है, पर 'भय और मैथुन' के भावों में भाव-जटिलता स्पष्ट है । इन्हें व्यक्त करने के लिए बात को शुद्ध व्यवसाय से ऊपर उठना पड़ा । और इस अभिव्यक्ति का मूल्य व्यवसाय के अतिरिक्त होने लगा । इस कोटि-क्रम में गीत और वार्ता ये दो ही मौलिक रूप प्रतीत होते हैं । ये साहित्य-शास्त्र की शब्दावली में विकास और संस्कार प्राप्त करने के पश्चात् गद्य और पद्य कहलाए । यही कारण है कि भामह, दण्डी, बामन आदि आचार्यों ने काव्य के रूपों में सबसे पहले इन्हीं दो को स्थान दिया है ।

पर यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि यह भेद तो 'अभिव्यक्ति' का है । गीत या बात—गद्य या पद्य तो केवल अभिव्यक्ति के ही प्रकार हैं— काव्य के प्रकार नहीं । अभिव्यक्ति मात्र काव्य नहीं, काव्य तो अभिव्यक्ति में

प्रतिष्ठित होता है। हम उसी प्रतिष्ठित काव्य अथवा साहित्य के रूपों को समझते हैं, केवल उसकी अभिव्यक्ति के रूपों को नहीं। न हमें अभिव्यक्ति के माध्यम के रूपों को ही देखना है। हमारे भारतीय आचार्यों ने अभिव्यक्ति के माध्यम दृष्टि से काव्य के साधारणतः तीन भेद किये—संस्कृत काव्य, प्राकृत काव्य और अपभ्रंश काव्य। भामह और दण्डी ने ये तीन रूप ही स्वीकार किये किन्तु रुद्रट ने तीन रूप और सम्मिलित किये—माग। पिशाच और शूरसेन। रुद्रट के इस विवर्द्धन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि उसने भाषा के स्थानीय और जातीय रूपों को भी मान्यता दी है। संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश नामों का किसी स्थल अथवा जाति से सम्बन्ध नहीं, जैसे मागध का मगध प्रदेश से, शूरसेन का ब्रज से, अथवा पिशाच का पिशाच जाति से है। वस्तुतः ये तीनों विभेद प्राकृतों और अपभ्रंशों में अन्तर्भुक्त है।

साहित्य और काव्य के रूपों का एक मौलिक वर्गीकरण हमें विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में मिलता है—वह विभाजन है : दृश्य और श्रव्य काव्य में। इन नामों से न सही। किन्तु यही विभाजन साहित्य-शास्त्र में सबसे पहले संभवतः हेमचन्द्र ने किया। उन्होंने इसे प्रेक्ष्य और श्रव्य नाम दिया। प्रेक्ष्य अथवा दृश्य के अन्तर्गत जो साहित्य आता है, उसे भामह ने प्रतिपादक स्वरूप के आधार पर किये गये विभाजन के अन्तर्गत पाँच भेदों में से एक भेद 'अभिनेयार्थ' नाम से स्वीकार किया था। दंडी ने अभिव्यक्ति के रूपों में ही गद्य-पद्य के साथ मिश्र नाम से तीसरा भेद स्वीकार किया और उसी के अन्तर्गत 'नाटक' का समावेश किया। इसमें इस रूप को स्थान तो मिला पर वह प्रमुखता नहीं मिली जो हेमचन्द्र और विश्वनाथ के हाथों मिली। हेमचन्द्र ने जिसे प्रेक्ष्य लिखा उसे विश्वनाथ ने दृश्य कहा। इस विभाजन को देखने से विदित होता है कि भारतीय शास्त्री ने जैसे अपनी वस्तुपरक शैली को त्याग कर व्यक्तिपरक शैली अपनायी है। यह काव्य का भेद उसकी गोचरता के आधार पर किया गया है। जो नेत्रों का विषय हो, जिसे देख सकें वह दृश्य, जिसे सुन सकें जो श्रवणों का विषय हो वह श्रव्य। निश्चय ही यह गोचरता कवि की अपनी गोचरता नहीं, सहृदय की गोचरता है। किन्तु वास्तव में यह बात नहीं, दृश्य केवल सहृदय की गोचरता ही नहीं, कवि की अनुभूति भी है। दृश्यानुभूति को पाश्चात्य आलोचना-शास्त्रियों ने भी महत्व दिया है। उन्होंने तीन प्रकार की काव्यानुभूतियाँ स्वीकार की हैं : लिरिकल (गेय) ऐपिक या नैरेटिव [कथात्मक] तथा ड्रामेटिक [नाटकीय-दृश्य] इससे भी हमारे साहित्य-शास्त्री का पक्ष स्पष्ट नहीं होता। उसने शास्त्र में किसी भी दृष्टि से व्यक्तिपरक परि-

भाषएँ नहीं स्वीकार की हैं, न प्रस्तुत की हैं। फिर दृश्य क्या है और इसकी क्या सार्थकता है ?

दृश्य शब्द किसी यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण अथवा साक्षात्कार से सम्बन्ध रखता है। किन्तु किसी दृश्य का साक्षात्कार मात्र तो काव्य नहीं। काव्य तो दृश्य-दर्शन-प्रस्तुत अनुभूति में प्रतिष्ठित होता है। यह अभिव्यक्ति के माध्यम से सहृदय के पास पहुँचती है। वह उस माध्यम से अपने व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि पर उस दृश्य का मानसिक साक्षात्कार करता है। दृश्य को अपनी अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति का विषय बनाते समय कवि जब उस दृश्य की 'सर्वाकारता' (आल डाइमेन्सन्स) का अङ्कन करता है और दृश्य से हुई अपनी अनुभूति को भी दृश्य वस्तु के अङ्ग की ही भाँति देता है, और स्वयं समस्त का, अपनी निजी अनुभूति तक का एक द्रष्टा बनकर ही रह जाता है, तब जो रूप उसकी रचना का होता है, वह दृश्य होता है और यही दृश्य का काव्य कहलाता हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि :—

१—दृश्य काव्य के इस नामकरण में शास्त्रकार ने किसी व्यक्तिपरक दृष्टिकोण से काम नहीं लिया। दृश्य काव्य वह नहीं जो देखा जा सके, वरन् दृश्य काव्य वह रचना है, जिसमें दृश्य के गुण विद्यमान हैं।

२—दृश्य काव्य पूर्णतः वस्तु निष्ठ काव्य है। इसमें दृश्य की सर्वकारता होनी चाहिए—'सर्वकारता' से अभिप्राय है कि [अ] दृश्य केवल कवि के मानसिक प्रतिबिंब की भाँति प्रस्तुत नहीं हुआ [आ] उसमें प्रकृति, परिस्थिति, पात्र अपने-अपने सम्पूर्ण और पृथक् व्यक्तित्व के साथ अवतीर्ण होते हैं [इ] कवि की अनुभूति भी उसमें व्याप्त रहती है, वह अनुभूति ही दृश्यमय हो रहती है। ऐन्द्रिक दृश्य से उद्रेकित अनुभूति उस दृश्य का मानसिक प्रत्यक्षीकरण पुनः अपने दृष्टिकोण से व्यवस्थित कर देती है [ई] फलतः कवि तो व्यक्तितः पूर्णतः लुप्त होजाता है, पर व्यक्तित्वतः ब्रह्म की भाँति अपनी दृश्य सृष्टि में विद्यमान रहता है। इस काव्य की सृष्टि कवि के द्वारा होते हुए भी, कवि की विदित नहीं होती।

३—पाठक अथवा सहृदय दृश्य काव्य की स्थूलता का दर्शन करते समय यह विस्मृत किये रहता है कि यह कवि है जो अपनी अनुभूति का ही साकार साक्षात्कार करा रहा है, वह समझता है कि वह दृश्य वह प्रथमतः स्वयं ही देख रहा है।

४—इस आयोजन से कवि दृश्य की अनुभूति को दृश्य बनाकर उसे यथार्थ की भूमि पर खड़ा कर देता है। कवि की कल्पनानुभूति को दृश्य काव्य ही यथार्थ का बाना पहिनाता है।

दूसरे रूप में कवि दृश्य की अनुभूति को अपने शब्दों में प्रस्तुत करता है। वह वक्ता का रूप ग्रहण कर लेता है, और समस्त रचना उसके प्रबल व्यक्तित्व की छाप और उसकी निजी उपस्थिति से आक्रान्त रहती है। ऐसी रचना के रूप को ही श्रव्य नाम दिया जाता है। इन रचनाओं में श्रव्य गुण की प्रधानता है। दृश्य से उत्पन्न यह कवि की अनुभूति इसी कारण श्रव्य भी हो सकती है।

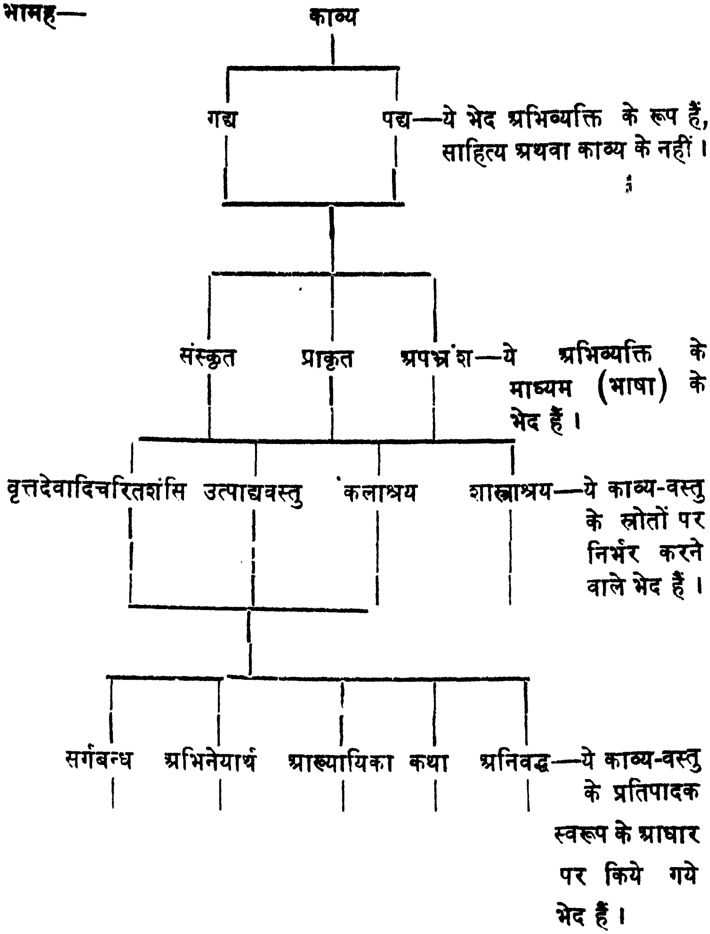
श्रव्य-

'श्रव्य' शब्द वस्तु का विशेषण होते ही.वस्तु के अतिरिक्त दो अन्य सत्ताओं की उपस्थिति की भी सूचना देता है। एक वक्ता दूसरा श्रोता। श्रव्य वस्तु का गुण है, अतः वक्ता के उस वस्तु के निर्माण के समय ही किसी श्रोता की उपस्थिति अनिवार्य नहीं। वक्ता जो वस्तु प्रस्तुत कर रहा है, वह श्रवण योग्य है, बस इतनी ही अनिवार्यता अपेक्षित है। अतः श्रव्य-वस्तु का रूप भी शास्त्रकारों ने वस्तुनिष्ठ ही रखा है, इसमें संदेह नहीं। वक्ता का श्रव्य से अनिवार्य सम्बन्ध है, अतः श्रव्य वस्तु में प्रत्येक पंक्ति और शब्द को वक्ता की उपस्थिति की सूचना देने में समर्थ होना चाहिए। अतः श्रव्य काव्य या तो कवि के ही निजी शब्दों में होगा, जो कवि के ही अर्थ को प्रकट करेगा, या कवि के शब्दों में, ऐसी शैली में कि उससे विदित हो कि कवि कह रहा है, किसी अन्य की उक्ति को प्रकट करेगा।

दृश्य और श्रव्य के इन्हीं गुणों के कारण दोनों के स्वभाव और दोनों की सीमाओं में बहुत अन्तर होजाता है।

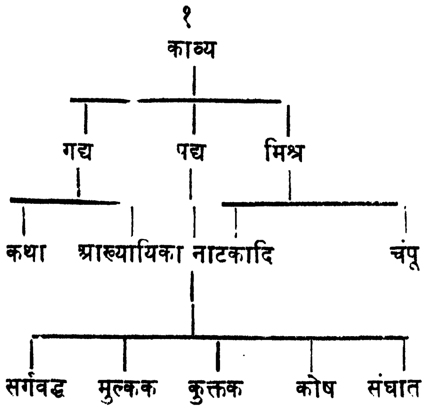
फलतः दृश्य और श्रव्य ये दोनों रूप रचना के यथार्थतः रूप-भेद ही हैं। अपने भारतीय साहित्य में भी आजतक साहित्य के रूपों का विवेचन हुआ है। यहाँ संक्षेप में उसका सिंहावलोकन करा देना उचित होगा।

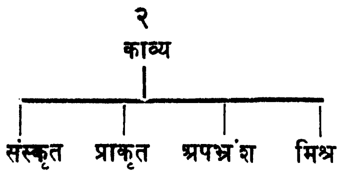
भामह—



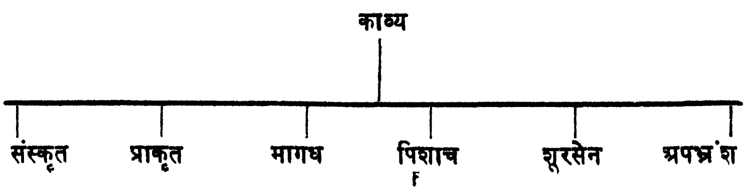
भामह ने काव्य के विभागों के उक्त चार आधार स्वीकार किये हैं। और चारों को पृथक् पृथक् रखा है। पर दंडी ने अभिव्यक्ति के भेदों में से यह स्वीकार कर लिया है कि प्रतिपादक के रूपों में से कुछ का एक अभिव्यक्ति के रूप से सम्बन्ध है, तो कुछ का दूसरे से। दंडी ने नाटकों को अभिव्यक्ति के 'मिश्र' नाम के भेद के अन्तर्गत स्थान दिया है। चंपू को कथा-आख्यायिका के साथ एक और भेद माना है। इसी प्रकार पद्य के अन्तर्गत कुलक, कोष संघात जैसी रचनाएँ भी सम्मिलित की हैं।

दंडी—


१
काव्य
गद्य
पद्य
मिश्र
कथा
आख्यायिका
नाटकादि
चंपू
सर्गबद्ध
मुक्तक
कुलक
कोष
संघात

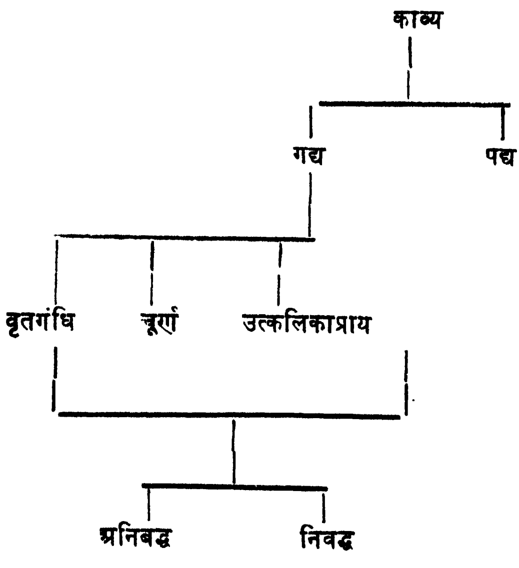

२
काव्य
संस्कृत
प्राकृत
अपभ्रंश
मिश्र

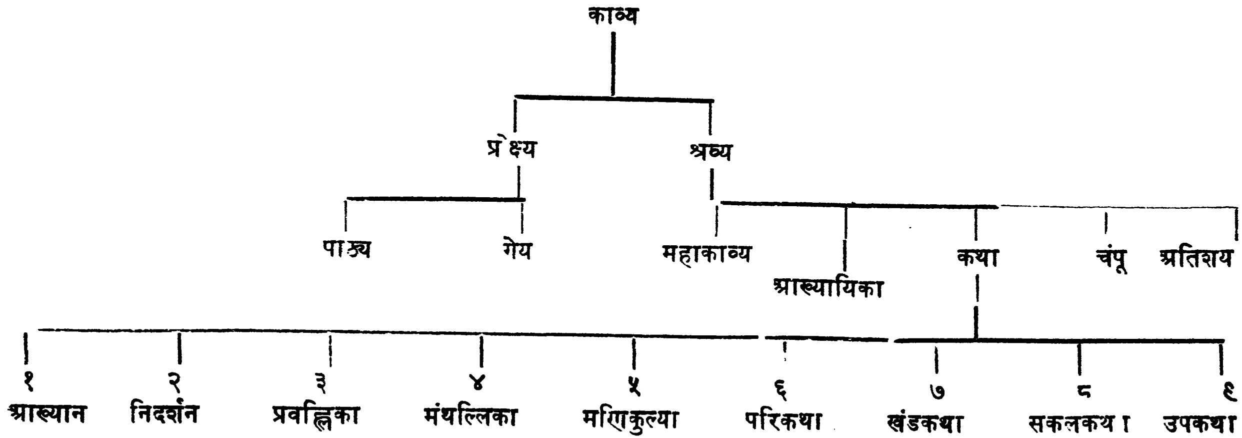
रुद्रट


काव्य
संस्कृत
प्राकृत
मागध
पिशाच
शूरसेन
अपभ्रंश

इस विभाजन को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। दंडी ने अपनी मौलिकता दिखाने का तो प्रयत्न किया है, उसने समस्त भेदों को एक परंपरा में बांधसे का यत्न किया है। उसने अभिव्यक्ति के माध्यम, भाषा के भेद से काव्य के भेद भामह की भाँति ही स्वीकार किये हैं, और वह उसे ऊपर की परम्परा में नहीं बिठा सका। रुद्रट ने इसी कोटि में संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश के साथ, मागध-पिशाच-शूरसेन को और बढ़ाया है। स्पष्ट है कि भाषा के ये स्थलीय भेद सम्मिलित करके रुद्रट ने कोई विशेष बुद्धिमानी का परिचय नहीं दिया। संस्कृत प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में किसी प्रादेशिकता की छाप नहीं और उक्त प्रादेशिक भेद इनके अन्तर्गत ही आ जाते हैं।

वामन

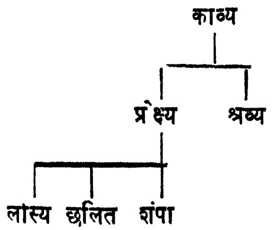




हेमचन्द्र के समय में हनुमन्नाटकादि जैसे पूर्णतः गेय नाट्य काव्य प्रस्तुत होने लगे थे। इसीलिए उसने गेय को प्रेक्ष्य में स्थान दिया है। हिन्दी की नौटंकी रचनाएँ गेय-प्रेक्ष्य हैं।

कथाओं के इतने भेद हेमचन्द्र ने जैन होने के कारण किये हैं।

लास्यच्छलित शम्पादि प्रेक्षार्थभितरत् पुनः
श्रव्यमेवेति संर्वापि द्वयी गतिरुदाहृतः



हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में 'काव्य प्रेक्ष्यं श्रव्यंच' कहकर विवेक में भट्टतौत को उद्धृत करते हुए कि 'दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः' आदि, कवि के दो कर्म स्वीकार किये हैं—वे हैं—१—दर्शन और २—वर्णन। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि ये दोनों कर्म कवि में ही मिलते हैं, अन्यत्र नहीं। हेमचन्द्र के शब्द हैं—नानृषि कविरिति कन् वर्णन इति च दर्शनाद्वर्णनाच्च कविस्तस्य कर्म काव्यम्।'

पाठ्य में हेमचन्द्र १—नाटक २—प्रकरण ३—नाटिका ४—समवकार ५—ईहामृग ६—डिम ७—व्यायोग ८—उत्सृष्टांक ९—प्रहसन १०—भाण ११—बीथी १२—सट्टक आदि मानते हैं। 'पाठ्य नाटक प्रकरण नाटिका समवकारईहामृगडिम व्यायोगोत्सृष्टांक प्रहसन भाण वीथी सट्टकादि।'

गेय के लिए हेमचंद्र की कारिका यह है :—

'गेयं डोम्विकाभाणप्रस्थानशिंगकभाणिकाप्रेरणरामाक्रीडहल्लीसक रासक-गोष्ठीश्रीगदित राग का व्यादिः' इन्हीं के साथ विवेक में उसने तीन गेय काव्य और बताये हैं, शम्पा, छलित और द्विपदा।

गेय काव्य को उसने तीन प्रकार का माना है :

१—मसृण (कोमल) उदाहरणःडोम्बिका।

२—उद्धत उदाहरण भाण

३—मिश्र

यह विचारणीय है कि हेमचन्द्र ने भाण को पाठ्य में भी रखा है और गेय में भी। संभवतः भाण दोनों शैलियों में लिखा जाता था।

पाठ्य और गेय का भेद बताते हुए श्री बल्देव उपाध्यायादि संपादकों ने और टीकाकारों ने यह टिप्पणी दी है : "The notable difference between a गेय काव्य and the Rupakas defined above is that the former has no consistant plot in it, but deals with the accompaniment of gestures while all the varieties

of a drama have a consistant plot which has to be enacted on the stage. Prominence of music is also another feature of गेय compositions. Movement of all the limbs is a prominent characteristic of a गेय composition—

कथा के हेमचंद्र ने ग्यारह भेद किये हैं जो निम्नलिखित हैं :—

१—उपाख्यान—प्रबंध मध्ये परबोधनार्थं नलाद्युपाख्यान। किसी प्रबंध काव्य में प्रबोध कराने के लिए उदाहरण की भाँति जो कथा आये वह उपाख्यान है, जैसे महाभारत में 'नलोपाख्यान'

२—आख्यान— पठनगायन यदेको : जिसे कोई एक व्यक्ति पढ़े या गाये—जैसे 'गोविंदाख्यान'

३—निदर्शन—निश्चीगते तिरश्वामतिरश्वांवापि यत्र चेष्टाभिर्यत्र कार्यमकार्यंवा तन्निदर्शनं पंचतंत्रादि : जिस कथा के द्वारा कार्य अकार्य का निदर्शन कराया जाय और उसके लिए अन्मानुषी पाशवी पात्रों की कल्पना से कथा बने वह निदर्शन कहलाती है जैसे 'पंचतंत्र'।

४—प्रवल्हिका —'यत्र द्वयोर्विवाद: प्रधानमधिकृत्य जायसे ग्रंथिक सदासि : जिसमें कथा दो पात्रों के विवाद के माध्यम से प्रकट हो।

५—मन्थल्लिका—क्षुद्रकथा मन्थली प्रेत महाराष्ट्भाषया भवसि गोरोचनेव······आगे बताया है : यस्यामुपहास: स्यातपुरोहितमात्य तापसादीनाम प्रारब्धे निर्वाहे सायि हि मन्थल्लिका भवति।

६—मणिकुल्या—यस्यां पूर्ववस्तु न लक्ष्यते पश्चातु प्रकाश्यते उदाहरण मत्स्यहासिता। जिसमें वस्तु का पहले तो प्रकाश न हो—किन्तु बाद में उसका प्रकाशन हो।

७—परिकथा—पर्यायेण बहुतां यत्रप्रतियोगितां कथा कुशलै : शूयंते शूद्रकवज्जिगियूभि: परिकथा सातु

जिसमें कितनी ही प्रकार से एक कथा प्रस्तुत हो वह परिकथा है।

८—खंडकथा—ग्रथांतर प्रसिद्धं यस्यामितिवृत्तमुच्यते विबुधै:।
मध्यादुपान्त तो वा सा खंडकथा यथेन्दुमती॥

९—सकलकथा—समस्त फलान्ते निवृत वर्णना समरादित्यादिवत् सकलकथा।

१०—उपकथा—एकतरचरित्राश्रवेण प्रसिद्ध कथान्तरोपनिबंध उपकथा

११—वृहत्कथा—लम्भांकिताद्भुतार्था : लम्भ चिह्न से अङ्कित अद्भुत अर्थवाली कथा बृहत्कथा कहलाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने कवि की तीन प्रकार की अनुभूति के अनुसार काव्य के तीन रूप स्वीकार किये हैं। वे हैं—

लीरिक (lyric), ऐपिक (Epic) तथा ड्रामैटिक (Damatic)। ऐवर-कोम्बे जैसे साहित्य-शास्त्री ने लीरक अनुभूति को ही प्रमुख अनुभूति माना है और उसी के आश्रय से शेष दो का भी स्पष्टीकरण किया है। लीरिक में जो काव्य-तत्व से अधिक गीति तत्व को मान्यता है, उससे वह हमारे भारतीय शास्त्रियों के क्षेत्र से बाहर हो गयी है। ऐपिक तथा ड्रामेटिक श्रव्य और दृश्य के पर्याय माने जा सकते हैं, भले ही इनकी परिभाषा करते समय पश्चिम के विद्वान् व्यक्ति-निष्ठ दृष्टिकोण से ही काम लेते हों।

यह तो शास्त्रों के आधार पर काव्य के रूपों के विकास का स्वरूप है। इससे भी यह स्पष्ट है कि दण्डी और भामह के समय से ही लोकतत्व को साहित्य मे स्थान देने की शास्त्रकारों ने भी चेष्टा की है, और यह चेष्टा निरन्तर बढ़ती गयी है। इससे यह भी प्रकट होता है कि शास्त्रकारों ने इस प्रवृत्ति के कारण नये नये रूपों को अपने शास्त्रों में स्थान दिया।

किन्तु शास्त्रों से हटकर जब हम उस समय विद्यमान साहित्य का साक्षात्कार करते हैं तो हमें लोकक्षेत्र में और भी नयी उद्भावनाएँ दिखायी पड़ती हैं। इन उद्भावनाओं को तत्कालीन लोक-भाषा के कवियों ने मान्यता प्रदान की। यह सब ऊपर के अध्यायों में हिन्दी के उदय की पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए देख चुके हैं कि आठवीं से चौदहवीं शती के अन्दर निम्न काव्य खड़े हुए थे :—

१—छं १—गाथाबंध
छं २—दोहाबंध
छं ३—पद्धड़ियाबंध
छं ४—चौपाई-दोहावली-रमैनी
छं ५—छप्पयबंध
छं—६—कुंडलिनी बंध
छं—७—रासा बंध
२—गी—८—चर्चरी या चांचर
गीत वि—९—फाग
१०—साखी
११—सबदी
छं-१२—दोहरे

३—वि १३—सोहर
गी-१४—पद
वि-१५—मंगलकाव्य
४—सं-१६—चौंतीसा
सं-१७—विप्रमतीमी
वि-१८—बसंत
१९—बेलि
२०—विरहुली
वि-२१—हिंडोला
छं-२२—कवित्त-सवैया
छं-२३—कहरा
छं-२४—बरवै
वि-२५—विनय
वि-२६—लीला
५—शै-२७—अखरावट
वि २८—नहछू
वि २९—रासक
वि-३०—रास
वि-३१—भमरगीत
५—शै ३२—मुकरी
शै-३३—दो सखुने
शै-३४—अनमिल
शै-३५—ढकोसला
शै—३६—बुझावल
वि—३७—षटऋतु
वि—३८—वगसाला
वि—३९—नखशिख
वि—४०—दसमः दशावतार
वि—४१—भंडौआ
वि—४२—जीवनी

इनके अतिरिक्त भी ध्यान देने से और भी कई नये रूप दिखायी पड़ जाते हैं।

सं—१—सतसई
वि—२—मंगल
वि—३—महात्म्य
सं—४—पच्चीसी
सं—५—बत्तीसी
शै—६—पुराण
शै—७—संवाद
वि—८—घोड़ी
वि—९—पत्तल
शै—१०—काव्य
शै—११—चरित

इन रूपों पर विचार करने से विदित होता है इनके नामकरण के पाँच आधार हैं:

१—छंद
२—गीत
३—शैली
४—संख्या
५—विषय

किसी भी दृष्टि से इन रूपों का नामकरण क्यों न हुआ हो एक बात स्पष्ट दिखायी पड़ती है कि इन सब का मूल लोक-क्षेत्र है, और प्रत्येक रूप का लोक-तत्व से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

छन्दों के आधार पर जो रूप खड़े हुए हैं उनमें इतिहास से हमें विदित होता है कि 'गाथा' काव्य रूप प्राकृत भाषा का एक प्रकार से पर्याय हो गया था। इसी प्रकार 'दोहा' अपभ्रंश का। 'दोहा बंध' का अर्थ होता था, अप-

भ्रंश काव्य। पद्धड़िया बंध उत्तर कालीन अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ से सम्बन्धित माना जा सकता है।

चौपाई दोहा बंध रूप कथा अथवा चरित-काव्य से सामान्यतः संबद्ध हो गया, और यह रूप हिन्दी के प्राचीन काव्य से चलकर बीसवीं शती के आरंभ तक अत्यन्त दृढ़ता के साथ प्रवाहित होता चला आया है।

हिन्दी का गुण कितनी ही शताब्दियों में फैला हुआ है, फलतः इसमें छंदों के आधार पर कितने ही रूपों का विकास हुआ, ऊपर की तालिकाओं से यह सिद्ध है।

इस समस्त छन्द-परम्परा का मूलतः लोक क्षेत्र और लोक तत्व से संबंध है। इसका सबसे प्रबल प्रमाण तो इन छन्दों का स्वभाव है। ये छन्द स्वभाव से मात्रिक हैं। मात्रिक छन्द मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि 'मात्रा' का आधार मूलतः ताल है, और ताल का जन्म नृत्य के साथ हुआ। ताल का जितना सम्बन्ध नृत्य से है, उतना संगीत से नहीं। क्योंकि निश्चय ही संगीत के दो रूप मूल में रहे हैं। एक लयबद्ध और दूसरा तालबद्ध। तालबद्ध सङ्गीत नृत्य-बद्ध सङ्गीत था। लय-बद्ध मुक्त सङ्गीत था। आगे दोनों प्रणालियाँ मिल गयीं। 'नृत्य' अथवा ताल में विराम लाने के लिए 'लय' सङ्गीत का उपयोग होने लगा। इससे वैभिन्य भी आया। यह 'लय' जब आरम्भ में उपयोग में आने लगी तो 'टेक' कहलायी। आज पर्यन्त नृत्य-ताल से गुँथे हुए गीत में लय द्वारा विराम प्रचलित है। रसिया या चौबोलों को देखिये। रसिया में जब अत्यन्त तीव्र ताल-गति से झमाके के साथ रुकते हैं तो किसी दोहे के रूप के 'लय' बद्ध छन्द का उपयोग किया जाता है। चौबोले में ताल पर पहुँचने के लिए पहले दोहे के बोल रखे जाते हैं, जिसका लय से ही सम्बन्ध है। इस प्रकार तालबद्ध लंबे नृत्य गीतों में 'लय-विराम' की प्रणाली प्रचलित हुई। इस लय के आवरण में 'ताल' को अधिकाधिक लपेटा गया। आज यह देखा जा सकता है कि प्रत्येक सङ्गीत में 'ताल' उसकी रीढ़ है। और स्वर का उतार-चढ़ाव और लय उसके सौन्दर्य और माधुर्य प्रसाधन के तत्व हैं। यह ताल नृत्य से विलग होकर गीत में रही। गीत में लय और उतार-चढ़ाव के तत्व जब जड़ होने लगे, और शब्द की, अर्थ की दृष्टि से, अधिकाधिक प्रबलता होने लगी, तब उनका सम्बन्ध मात्र रीढ़ अथवा ताल से रह गया। ये, शब्द में बँधने पर ताल, 'समय की कला अथवा अंश', पर निर्भर नहीं कर सकते थे : उसके लिए शब्द में ही कोई आधार ढूँढ़ना होगा, और यह आधार मात्रा का था। एक 'मात्रा' इसकी इकाई बनी। यह एक मात्रा एक अक्षर के 'उच्चारण' के काल की कला का मान प्रस्तुत करती थी। हिन्दी की मात्राओं के

स्वरूप के अनुकूल ये मात्राएँ 'लघु' और 'गुरु' में बाँट दी गयीं। 'लघु' मात्रा की एक इकाई है। गुरु मात्रा दो इकाइयों के समान। इस प्रकार 'शब्द' के निर्मायक अक्षरों में गुरु-लघु के माध्यम से वस्तुतः ताल को, 'ताल' की लघुतम कालकला (टाइम फैक्टर) को घनिष्ठतः बांध दिया गया है। इससे यह सिद्ध है कि ताल का ही एक रूप मात्रिक छन्द-विधान है।

इस सम्बन्ध में कोयलरीज ऐनसाइक्लोपीडिया में पोयट्री शीर्षक निबन्ध में यों लिखा गया है :

"Rhythm (यही हमारी ताल है) is one of the facts of nature. There is a kind of rhythm in the stars, in the seasons and the blood of man. It is also, being in human mind, an instinct which both demands and responds to orderly repetition, and so it appears in many human activities, partly from nature and partly for the sake of economy of effort; and so, likewise, it appears in language discontinuous, to be sure, but latent and available for aesthetic uses. The connection of rhythm with poetry is usually accounted for thus: people work and dance, they accompany their rhythmic movements with rhythmic sounds, the sounds becoming words and songs. The songs then may be sung without the movements, and the words may be recited without the time. Thus poetry comes into being. This is somewhat theoretical, but plausible and to a degree confirmable. There remains only the deliberate artistic act of arranging words "in the best order", the order that gratifies the rhythmic source, aud then the gradual growth of formulae (metrical pattern) which facilitate this creative Act.

मात्रिक छंद में यथार्थतः केवल मात्राओं की तौल ही अभीष्ट होती है। किन्तु छंद तो शब्दों से बनते हैं, शब्द अक्षरों से। अक्षर ही मात्रा की इकाई प्रस्तुत करते हैं। इन इकाईयों का प्रयोग मात्रिक छंदों में किसी सीमा तक पर्याप्त मुक्त रूप से होता है। यथा चार मात्राओं के अक्षरों का जितने रूपों में संयोग हो सकता है, उसमें से चाहे जिस रूप का उपयोग करने से काम चल जायगा :

।।।।—भगवन

।।ऽ— रवा

ऽ।।— नस

। ऽ ।—महान

ऽ ऽ —राजा

यही नहीं मात्रिक छंद में इससे भी अधिक लोच होती है। उसमें यदि एक दो मात्राएँ कम या अधिक हों तो लय के आवश्यक पुट और संकोचन से यह असुविधा दूर हो सकती है। मात्रिक छंद में यही नहीं कि शब्द और उनके विकास में ही यह लचीलापन और मार्दव हो, उसमें प्रयुक्त कितने ही अक्षरों में भी 'लय-तत्व' के कारण यह मार्दव आजाता है। अनेकों स्थलों पर 'ए' जो दीर्घ है, लघु की भाँति ग्रहण किया जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मात्रिक छन्दों में 'संजीवित' शब्द स्वर भरते हैं। अतः मात्रिक छन्द स्वभाव से ही कठोर शास्त्रीय ढाँचे में नहीं बैठ सकते। एक आंतरिक स्वच्छन्दता उनमें रहती है। जो लोक-प्रकृति के अनुकूल है। इससे मात्रिक छन्दों में लोक-तत्व रहता है। किन्तु यह मात्रिक छन्दों में से प्रत्येक में समान मात्रा में नहीं रहता। कुछ लय नृत्य की ताल से बहुत अधिक निकट होती हैं जिसका अभिप्राय यह है कि ताल-बंधान रहते हुए भी लय को अपने संकोच-प्रसार के लिए बहुत अवकाश रहता है, और उसके रूप में उसी ताल पर वैविध्य प्रस्तुत हो सकता है। जिन छन्दों में मात्रा के साथ यह सम्भावना जितनी अधिक है, उतनी ही वह लोक-प्रवृति के अनुकूल होती है। ऐसे प्रयोग वे होते हैं जिनमें गीत और छंद का पारस्परिक अन्तर कम से कम रहता है। छन्द शास्त्र में जितने भी छन्द दिये हुए हैं, उनमें से 'चौपाई' एक ऐसा छन्द है जिसमें यह लोक-प्रवृति की अनुकूलता सबसे अधिक है। यथा—

राम रा ऽ ऽ म ऽ ऽ कहिजेऽजमुहांहीं—तिन्हहिं न पाप पुंज समुहाँही

राम रा म कहि जे जमुहां ही

राम राम कहि जे जमुहाँ हीं

राम राम कहि जे ज मुहां हीं

रा म रा म कहि जे ज मु हां ही

राम राम क हि जे ज मु हांहीं

राम राम कहि जे जमु हां हीं

एक चौपाई विविध लयों में हो सकती है।

इसीलिए लोक-कथा के लिए यही छन्द विशेषतः चुना गया। इसमें रूप और वस्तु की दृष्टि से अद्भुतरूपेण लोक-तत्व अभिमंडित है। चौपाई का निर्माण एक ऐसे सामान्य मान के रूप में हुआ है कि इसमें मंद तथा मध्यम तथा चंचल, चपल, तीव्र, सभी गतियाँ समान रूप से मिल जाती हैं। अतः विविध आवेग, विविध आवेश, विविध रस और विविध भाव इस छन्द में गुम्फित हो सकते हैं। इस छन्द में वर्णन, कथा, विचार और विवेचन सभी खप जाते हैं।

ऐसा सर्वग्राही छन्द यह चौपाई है। अन्य जिन छन्दों के नाम से काव्य-रूप खड़े किये गये हैं, वे हैं ३—छप्पय ४—कुंडलिनी १—रासा २—दोहरा ५—कवित्त ६—सवैया ७—बरवै।

रासा छन्द का उल्लेख स्वयंभू ने किया है। गाथा-बंध जिस प्रकार प्राकृत का पर्याय होगया था, दोहा बंध अथवा 'दूहा-विद्या' जैसे अपभ्रंश है, वैसे ही रासाबंध का सम्बन्ध अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के संधि काल की कथा-चरित-काव्य की शैली वाली भाषा से विदित होता है। रासा-बंध में पहले रासा छन्दों का ही बाहुल्य होता होगा, बाद में रासा का सम्बन्ध विषय से जुड़ गया, रासा छन्द गौण होगया। धीरे-धीरे रासा काव्य में से इस छन्द का लोप हो चला, और रासा विषय में वैविध्य लाने के लिए छन्द वैविध्य का आश्रय लिया गया। अब रासा-काव्य रासा-बंध नहीं रह गया। यह स्थिति स्वयंभू के समय में ही होगयी थी। रासो ने स्वयंभू में घता, छर्दनिका, पद्धरिया तथा अन्य छन्दों के उपयोग की बात लिखी है। स्वयंभू प्रतिपादित रासो काव्य की शैली का उपयोग आगे के प्रमुख रासों में हुआ है। पृथ्वीराज रासो में दोहा, छप्पय गाहा, पाधड़ी, मोजीदाम, अडिक्क आदि छन्दों का उपयोग हुआ है। इन्हीं छंदों का उपयोग 'बुद्धरासो' में हुआ है।[1] इन छन्दों में दोहा घत्ता का स्थानापन्न है। छप्पय और छर्दनिका प्रायः एक हैं। पाधरी पद्धरी है तो पद्धटिका का ही रूपान्तर है। इसमें दूहा अथवा दोहा और पद्धरिया अपभ्रंश के अवशेष हैं तथा छप्पय में हिंदी तत्व विभासित है। इन सब में वे तत्व विद्यमान हैं, जिनका जन्म लोक-मेधा में हुआ तथा जिन्हें कवियों तथा साहित्यकारों ने पहले लोक-क्षेत्र में रहकर अपनाया, फिर उन्हें शास्त्रीय दृष्टि से संस्कार प्रदान किया।

यहाँ एक बात यह ध्यान में रखने के योग्य है कि छन्दों के नाम से साहित्य के रूपों का वर्गीकरण या नामकरण एक अद्भुत व्यापार है? किन्तु इससे भी पहले यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि छन्द का नाम पहले पड़ा या वस्तु के कारण छन्द ने नाम ग्रहण किया। लोक-साहित्य के सामान्य पर्यवेक्षण से यह विदित होता है कि बहुधा छन्द का नाम वस्तु के नाम पर रखा गया। आज लोक में प्रचलित गीतों को लीजिये, ढोला, आल्हा, निहालदे, रसिया, होली, पँवारे, साके, एकानेक लोक-गीत अपने विषयों के नाम पर ही गीत के प्रकार को भी अभिहित करते हैं। ऐसे गीत साहित्यिक अभिव्यक्ति के अद्वैत को सिद्ध करते हैं। रूप, वस्तु और अनुभूति तीनों एक साथ एक दूसरे से

---

१. देखिए हिन्दी अनुशीलन वर्ष १० अङ्क १ जनवरी—मार्च १९५७ ई० प्रकाशन तिथि २५ मई १९५७ पृ० ५, डा० माताप्रसाद का निबन्ध—हिन्दी की परम्परा का एक विस्मृत कवि—जल्ह।

अविछिन्न ही अवतीर्ण होते हैं। लोक-गीतों में आज भी यह तथ्य विद्यमान है, उसमें प्रत्येक गीत का अपना पृथक् राग होता है। चन्द्रावली का अपना राग है और वह चन्द्रावली राग ही है। 'विजरानी, भानजा, बनजारा, नटवा, ये सभी वर्ण्य विषयों के नाम हैं, पर प्रत्येक का राग निजत्व रखता है और वही नाम राग का भी कहा जा सकता है।

साहित्य के जिन रूपों में ऐसे छन्दों और विषयों का तादात्म्य अथवा अद्वैत है, वे भी लोक-प्रवृति के प्रबलता के साक्षी हैं। अतः ऐसे छन्दों के नाम में साहित्य रूप का नामकरण तो समीचीन है, क्योंकि छन्द और वस्तु में रूप की रीढ़ वस्तुतः वस्तु के विन्यास में रहती है, हाँ छन्द उसका सहज साथी होता है।

साहित्य के जिन रूपों का नाम प्रधानतः छन्दों पर ही निर्भर हैं, और जिन छन्दों के नाम से और विषय से कोई सम्बन्ध नहीं विदित होता, ऐसे छन्द-नाम कई विकास स्तरों में से होकर प्राप्त होते हैं।

अद्वैत—रूप-वस्तु-अनुभूति समान महत्व

छन्द (शैली) विन्यास—वस्तु-अनुभूति। इस स्थिति में वस्तु प्रधानता प्राप्त करती हैं, अन्य तत्व गौण हो जाते हैं।

विश्लेषण—छन्द (शैली)-वस्तु-विन्यास-अनुभूति : इस स्थिति में वस्तु अपनी महत्ता के कारण स्वतन्त्र सत्ता दिखाने लगती है। वह अपने सहज रूप से विलग होकर अन्य रूपों में भी सम्मान पाती है।

शास्त्र—छन्द (शैली) विन्यास-बुध गिरा(वस्तु)-अनुभूति। इस अवस्था में रूप-वस्तु अनुभूति के पृथक्-पृथक् अस्तित्व की मान्यता से प्रत्येक की परिभाषा होने लगती है। यहीं छन्दों का नामकरण छन्दों के नियम के अनुसार होने लगता है।

द्वैत—(लोक) ग्राम्य-गिरा

इस स्थिति में स्वतन्त्र रूप से प्रवाहित लोक-गिरा अपने सहज छन्द के साथ तो रहती ही है, पर शास्त्रीय प्रभाव से वह अन्य छन्द का नाम ग्रहण करती है। क्योंकि शास्त्र के लिए उसका और छन्द का महत्व ज्यादा है।

छन्दों के नाम से जो रूप प्रचलित हुए वे इसी स्तर पर आकर उस नाम के पात्र बने हैं।

इसी लोक-प्रवृत्ति का एक दूसरा उदाहरण प्राकृत और अपभ्रंश के नामों में भी दिखायी पड़ता है। गाथा प्राकृत का पर्यायवाची है। इसकी व्युत्पत्ति

की श्रेणियाँ ये होंगी : गाथा-अद्वैत-छन्द + विषय + भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा में गाथा नाम के छन्द में गाथा विषय। विषय की प्रधानता हुई तो गाथा विषय को द्योतित करने लगी और उसके माध्यम के लिए गाथा के अतिरिक्त अन्य छन्दों का भी उपयोग किया जाने लगा। गाथा छन्द का महत्व कम होगया, प्राकृत में गाथा की प्रधानता। अतः प्राकृत-गाथा।

और जब प्राकृत को इस रूप में गाथा कहा जा सकता है तो अपभ्रंश को उसी शैली में क्या नाम दिया जाय। जैसे प्राकृत में गाथा-प्रधान थी, वैसे ही अपभ्रंश में दूहा अथवा दोहा प्रधान था। इस काल में विषय वैभिन्य था, पर छन्द साम्य था। दोहे या दोहरे ही लिखे जाते थे। अतः भाषा रूप अपभ्रंश और दोहे अभिन्न होगये। हाँ, दोहे का नाम-ज्ञान 'शास्त्रीय' विकास के बाद रखा गया, पर लोक गिरा का अद्वैत तो रहा ही, इसलिए दोहे में अपभ्रंश युग के वैशिष्टय का अद्वैत लोक-रूप खड़ा हुआ।

किन्तु 'रूप' के साथ उस रूप के ज्ञान अथवा टेकनिक का ज्ञान भी तो आता ही। रूप को रूप होने के लिए एक रूप-विधान अवश्य होना चाहिये। छन्द छन्द है। उसका समस्त विधान अक्षर और शब्दों की ताल में रहता है। अतः उसमें साहित्यिक रूप के उस विधान का आभास नहीं आ सकता जो समस्त अभिव्यक्ति की समग्र इकाई का विधान एक साथ बनता है। विश्लिष्ट अवस्था के उपरान्त जब शास्त्रीय चेतना छन्दों के साथ हो जाती है तो वह विधान तत्व और भी शून्य हो जाता है। क्योंकि उसके बाद छन्द वस्तु, विषय, अनुभूति आदि से पृथक् एक निजी सत्ता का आकांक्षी हो जाता है। अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि साहित्य के उन रूपों को छोड़कर जिनमें समस्त अभिव्यक्ति एक समान इकाई अथवा अद्वैत के रूप में प्रस्तुत हुई है, 'छन्दों' के नाम पर साहित्य के रूप नहीं खड़े किये जा सकते। अतः ऐसे समस्त काव्य-रूप जो कवित्त, सवैये, छप्पय, कुंडलियाँ, वरवै आदि के नाम से खड़े हुए हैं, उनमें काव्य-रूप का कोई प्रमुख तत्व नहीं। ऐसे समस्त काव्यों का एक नाम तो 'मुक्तक' शास्त्रों ने दिया है, और उस 'मुक्तक' के संग्रह जब एक प्रकार के ही छन्दों में ही विशेष रूप से हों तो वे छन्दों के नाम से अभिहित किये जा सकते हैं।

छन्दों के उपरान्त 'गीतों' के नाम पर काव्य-रूप मिलते हैं। इन गीतों की स्थिति भी छन्दों की भाँति का विकास प्रस्तुत करती हैं। रसिया, होली, अथवा फाग में 'गीत' और वस्तु का तादात्म्य है। और वस्तुतः इन रूपों का नामकरण उसकी वस्तुओं के कारण ही हुआ हैं। किन्तु आज वह गीत का अपना नाम होगया है, इसीलिए होली विषय का वर्णन यदि किसी अन्य गीत में होगा

तो उस गीत को होली नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार 'होली' राग में होली वर्णन के अतिरिक्त भी कोई अन्य वर्णन होगा तो वह होली ही कहलायेगा। वस्तुतः तो होली विषय और होली गीत में अद्वैत ही है। होली के वर्णन की शोभा होली गीत में ही है।

गीतों में सामान्यतः छन्दों से अधिक लोक-तत्व विद्यमान रहता है। गीतों में वस्तुतः लोक का भावुक और मर्मी पन अभिव्यक्त होता है। एक-एक भाव-करण के लिए एक स्वतन्त्र गीत अवतरित होता है। इसकी लय और ताल लोक नृत्य के मालिक रूप से अधिक सम्बन्धित होती है। मनुष्य के स्वाभाविक सङ्गीतों के द्वारा ये ताल की प्रधानता वाला अंश जिस प्रकार छन्द का रूप ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार लय की प्रधानतावाला अंश गीतों और रागरागिनियों में परिणत होजाता है। छन्द जहाँ कथा जैसी प्रबंधात्मकता या वर्णनात्मकता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वहीं गीत भावोच्छ्वासों के लिए। गीतों में जब गीतों का रूप, वर्णन से पृथक् अस्तित्व की आकांक्षा करने लगता है तब शास्त्र के हाथों पड़कर सङ्गीत कला के बीज पड़ने लगते हैं, तथा ताल और स्वर के विविध संयोगों को राग-रागिनियों के नाम दिये जाते हैं। उसके नियम खोज लिये जाते हैं, और उनके अभ्यास की एक जटिल प्रणाली निर्धारित हो जाती है।

किन्तु इस शास्त्रीय प्रवाह के साथ लोक-प्रवाह निरन्तर रहता है। लोक-प्रवाह शास्त्रीय नियम और नाम की परवाह नहीं करता। अनवरुद्ध गति से वह गीत-रचना में प्रवृत्त रहता है, जैसे छन्दों में लोक व्यवहार और व्यापार प्रधान हो उठते हैं, वैसे ही गीतों में भाव और विचार-विन्दु। अथवा, दूसरे शब्दों में लोक अपनी आस्था को गीत से सिद्ध करता है। यही नहीं कि लोक-प्रवाह भी शास्त्रीय प्रवाह के साथ चलता है, गीत के शब्द लोक की आस्था को लिये हुए बहुधा लौकिक ही होते हैं, केवल उनकी स्वर-साधना में सङ्गीत शास्त्र का उपयोग होता है, इसीलिए गीत के 'शब्द' पद कहलाते हैं, उनका राग कोई भी हो।

पद-साहित्य का इतिहास बतलाता है कि इसका जन्म लोक भाषा का लोक क्षेत्र था, और जिस सम्प्रदाय ने सबसे पहले लोक सम्प्रदाय अथवा लौकिक धर्म की प्रतिष्ठा का उद्योग किया उसने जहाँ लोक भाषा को अपने सम्प्रदाय का माध्यम बनाया, वहीं उसी लोक परम्परा से प्राप्त गीत अथवा पद को भी चुना। बौद्ध सिद्धों ने पदों को अपनाया, नाथों ने अपनाया, फिर संतों ने अपनाया, इसी प्रकार आल्वारों, बाउलों ने पद गाये और उनकी परम्परा में वैष्णव सन्तों ने इनमें अत्यन्त ही उत्कर्ष प्रकट किया। ये शास्त्रीय सौन्दर्य और

शास्त्रीय तात्विकता से अभिमंडित हुए; लोक-वेद की खाई पाटने का काम किया गया। ये सभी सम्प्रदाय लोक-तत्वों पर पोषित हुए हैं, इन्होंने ही लोक-तत्वों को समन्वित करने का उद्योग किया, लोक की विजय वैजयंती को बिना झुकाये। इन लोक-सम्प्रदायों की वाणी, शब्द या सबद आदि नामों से अभिहित हुई। इनमें ही इन सम्प्रदायों के अग्रणियों ने अपने सिद्धान्तों की आध्यात्मिक अनुभूति प्रस्तुत की।

ये पद प्रायः दो वर्गों में बँटे :

१—निर्गुण वाणी तथा २—सगुण गान

और इन दोनों वर्गों में लोक की अनुकूलता निरन्तर बनी रही। एक ने लोक की आस्था को लोक परिभाषा और लोक विवेक के साथ संयुक्त करके गीतों को प्रचारित किया, दूसरे ने सगुण के आध्यात्मिक सौन्दर्य की मूर्त कल्पना को लोक भाव से अभिमंडित कर दिया।

इन रूपों में शैलीगत रूप भी दिखायी पड़ते हैं। वस्तु-विधान वाले रूप भी हैं, और संख्याओं की दृष्टि से भी नाम रखे गये हैं।

शैलीगत रूपों में 'अखरावट' पर ध्यान जाता है। अखरावट अथवा अक्ष-रावृत स्वभावतः शास्त्रीय प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। अक्षर क्रम से अक्षरों को आदि में लेकर किसी चरण की अथवा छन्द की अथवा काव्य-खंड की रचना करने में जिस श्लिष्ट मनोवृत्ति का उपयोग होता है, वह मूलतः शास्त्रीय विदित होती है। पर वस्तुतः ऐसा नहीं। अखरावट जैसी रचनाओं के मूल में शब्द ब्रह्म नहीं, अक्षर ब्रह्म की वह धारणा व्याप्त है जो आदिम मनुष्य के ऐनिमि-स्टिक पदार्थ-आत्म-तत्व से सम्बन्धित है, साथ ही जो उस अक्षर-आत्म में अकारण रूप कार्यकारण परम्परा से किसी ऐसे तत्व की स्थिति मानती है जो उस अक्षर से आरम्भ होता है।

ना—नारद यह रोय पुकारा।

कि जुलाहे से मैं हारा। आदि।

'ना' का नारद से सम्बन्ध उक्त लोक तत्व से ही चरितार्थ हुआ है। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप 'अक्षरों' में संजीवित आत्म-शक्ति का विश्वास प्रकट होता है। जो केवल अक्षर अथवा शब्द विषयक शास्त्रीय खिलवाड़ नहीं रह जाती। शैलीगत में अनामिका और ढकोसला तथा मुकरी पर भी ध्यान जाता है। इन तीनों का जन्मदाता अमीर खुसरो माना जाता है। अमीर खुसरो का जन्म एटा में हुआ था, वह जन्म से ब्रज-क्षेत्र के थे। ब्रज में अनामिका और ढको-सला का एक प्रबल प्रवाह प्रवाहित है। यहाँ से अमीर खुसरो ने इन्हें लिया होगा। क्योंकि इनमें अमीर खुसरोपन नहीं दीखता है।

विषय अथवा वस्तु के आधार पर खड़े किये गये रूपों में नहछू अथवा मंगल विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। ये दोनों लोक-तत्व पर निर्भर हैं। 'नहछू' एक संस्कार है। उस संस्कार पर जो गीत गाया जाता है, वह 'नहछू' कहा जाता है। उसका गीत-रूप-नाम अभिन्न है। वह वस्तु भी पूर्ण लौकिक है।

मंगल का सम्बन्ध विवाह से होता है। विवाह के अवसर पर ही यह मङ्गल गीत गाया जाता है। असंस्कृत जातियों में तो इस मंगल गीत को ही मंत्र का स्थान मिला हुआ है। और उसमें दी गयी विधियों से ही भांवरें पड़ जाती हैं।

इस प्रकार मंगल गीत मूल में लोक-प्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। मङ्गल का दूसरा नाम 'व्याहुलो' भी है। यही स्थिति सोहर की है। 'सोहर या सोहिले' 'सोभर अथवा सौरिगृह' के गीत हैं जो संतान के जन्म के समय गाये जाते हैं।

संख्या के आधार पर 'रूप' वस्तुतः मुक्तक के ही भेद हैं। क्योंकि उनमें मुक्तक छन्दों पर मुक्तक विषयों पर रचना रहती है, पर छन्दों की संख्या बोध हो जाती है। जैसे पच्चीसी, शतक, सतसई, दशक आदि। इन संख्याओं का रूप विशेष से सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यह रूप विभाजन अथवा नामकरण कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। केवल रचना की संख्या का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट विदित होता है कि इस काल के प्रायः समस्त रूपों का मूल लोक-क्षेत्र में था। इन रचनाओं का विषय भी लोक-वस्तु से लिया गया था और अनेक व्यक्त सिद्धान्त भी लोक-मानस से घनिष्ठतः सम्बन्धित थे। ऐसी अवस्था में इस साहित्य के 'अलंकरण' भी लोक-क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले होने चाहिये।

अलंकार-विधान

मनुष्य की अभिव्यक्ति का प्रत्येक अङ्ग उसके अस्तित्व और जीवन-प्रवाह का एक अभिन्न अङ्ग होकर जन्म लेता है : बाद में विश्लिष्टावस्था की ओर बढ़ता है। क्योंकि उसके अस्तित्व और जीवन के प्रवाह विस्तृत होते जाते हैं, घनिष्ठत्व फैलता है,विवेक बढ़ता है,बुद्धि और विश्लेषण भी बढ़ता है। तत्व-मूल अद्वैत ही विविध रूपों और अंशों में प्रसारित होकर बहुत्व, विविधत्व, विभिन्नत्व, प्राप्त कर लेता है। अलङ्कार-विधान भी इस प्रक्रिया के अनुसार मूल अभिव्यक्ति में अगांगी भाव से अद्वैतेन प्रकट हुए।

सर्वप्रथम 'अहं' ने जन्म लिया। अहं अद्वैत जिसमें समस्त प्रपंच इसी प्रकार सन्निहित थे, जिस प्रकार बीज में विशाल वृक्ष। सब कुछ 'अहं' या मैं।

आदिम मानव ने प्रथमावस्था में पर-अपर में अपने साथ केवल अपने अस्तित्व को ही देखा।

किंतु यह 'अहं' द्वैत में परिणत हो चला। 'अहं' घोषी मानव से प्रकृति के तत्व जूझने लगे। यह 'अहं' वादी अपनी रक्षा और विस्तार अथवा भय और रति की मौलिक प्रेरणाओं से उद्वेलित होकर 'अहं और पर' का अस्पष्ट भेद तो समझने लगा, पर 'पर' में अहं का पुट लगा ही रहा।

तब तीसरी अवस्था में 'परत्व' स्थिर हुआ, पर 'अहंत्व' का तत्व' सादृश्य' के साथ उसमें लगा ही रहा :

१—मैं और तू

२—मैं और यह

इन दोनों स्थितियों में से पहली 'सादृश्य' का प्रथम रूप है। और 'दूसरा' 'दूसरा' रूप है। यही 'सादृश्य विधान' प्रबल हुआ। 'मुझ जैसा यह'। यह आदिम अनुभूति ही सभ्यता के विकास में आगे चलकर केवल सादृश्याधार पर 'अलङ्कार' के रूप में (उपमावर्ग के रूप में) परिणत होगयी। इसका आदिम मनोवृति के सबसे अधिक निकट रूप 'रूपक' और रूपकातिशयोक्ति है। इस प्रकार के अलङ्कारों में हमें चमत्कार प्रतीत होता है, या आस्था या क्या? क्यों ये अलङ्कार हमें प्रिय प्रतीत होते हैं?

सीता का मुख चन्द्रमा है,

मुख चन्द्रमा के समान है।

ऐसे कथन जब कहे जाते हैं तब हमारे मन की क्या गति होती है? शास्त्र-कार कहता है कि सादृश्य विधान में चार तत्व होते हैं :

१—वर्ण्य . उपमेय

२—अवर्ण्य : उपमान

३—धर्म : उपमेय उपमान में सादृश्य के आधार का तत्व।

४—वाचक : सादृश्य बोधक।

'सादृश्य बोध' की नृविज्ञान की दृष्टि से व्याख्या होजाती है, जैसा ऊपर बताया जा चुका है। बिना नृवैज्ञानिक व्याख्या के 'सीता के मुख के चन्द्रमा' होने जैसे वाक्य के अर्थ ही समझ में नहीं आ सकते।

मुख सुन्दर है। ठीक।

चन्द्रमा सुन्दर है। ठीक।

किन्तु मुख चन्द्रमा की भाँति सुन्दर है यह कैसे? मनुष्य का सभ्यता के साथ विकसित बौद्धिक मानस इसे गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर सकता है? सादृश्य में सहज आस्था और विश्वास आज मनुष्य को भी आदिम उत्तराधि-

कार के रूप में मिले हैं। वह जब 'शास्त्रोपरि मानस' से पहले-पहल इस प्रकार के कथन को सुनता है तो उसमें सादृश्य के साथ 'मुख और चन्द्रमा' के मूलभूत अद्वैत की आस्था रहती है, और इस प्रकार वह मूल आनन्दानुभूति के उत्स के पास पहुँच जाता है, जहाँ विकसित बौद्धिकता तो पंगु हो जाती है, मूल अस्तित्व से निसृत लहरें उसके मानस का स्पर्श करने लगती हैं तभी वह बौद्धिक गर्विष्ठता से जिस पर हँसता, उसी पर मुग्ध और आनन्द विभोर हो जाता है।

इसलिए उसकी सादृश्यानुवृत्ति में, 'उपमेय-उपमान' में सादृश्य बोध होते हुए भी तादात्म्य अथवा अद्वैत रहता है, और जिसे 'धर्म' कहा जाता है, वह वस्तुतः अप्रस्तुत ही रहता है। यह 'धर्म' तो आगे की जिज्ञासा-वृत्ति का समाधान मात्र है।

इस 'सादृश्याधार' के आगे के विकास इसी मूल आदिम वृत्ति की आदिम कार्य-कारण प्रवृत्ति के परिणाम हैं, और उसी के कारण हमें आनन्द प्राप्त होता है। वस्तुतः 'अलङ्कार विधान' आनन्द का माध्यम है, चमत्कार का नहीं। चमत्कार तो केवल 'आश्चर्य' अथवा अद्‌भुत का जनक है, जो बौद्धिक पक्ष में पृच्छा अथवा जिज्ञासा की ओर अग्रसर करके ज्ञान के आविष्कार-अनुसधान में सहायक होता है, और भाव पक्ष में स्वयं एक भाव बनकर रह जाता है। और यह निश्चय है कि अलंकारों से जो चमत्कार साहित्यकार संभावित मानते हैं, वह मात्र आश्चर्य का भाव बनकर नहीं रह जाता। अतः अलङ्कार में चमत्कार की स्थिति नहीं स्वींकार की जा सकती। काव्य में अलङ्कारों का प्रयोग काव्य के अन्तिम लक्ष्य 'अलौकिक आनन्द' के लिए ही होता है। इस अलौकिक आनन्द की मनोवैज्ञानिक व्याख्या नृविज्ञान के लोक-मानस की व्याख्या के सहारे ही की जा सकती है।

रुय्यक ने सादृश्य गर्भ या उपमागर्भ २८ अलङ्कार बताये हैं।

४—भेदाभेद तुल्य प्रधान :

१—उपमा, २—उपमेयोपमा, ३—अनन्वय, ४—और स्मरण

८—अभेद प्रधान :

६—आरोप-मूल—रूपक-परिणाम-संदेह-भ्रान्ति—उल्लेख और अपन्हुति

२ अध्यवसाय-मूल, उत्प्रेक्षा-और अतिशयोक्ति

१६—गम्यमान औपम्य :

२—पदार्थगत—तुल्ययोगिता और दीपक

३—काव्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शन

३—भेद प्रधान : व्यतिरेक—सहोक्ति—और विनोक्ति
२—विशेषण वैचित्र्य: समासोक्ति और परिकर
१—विशेषण विशेष्य वैचित्र्य : श्लेष
१—अप्रस्तुत प्रशंसा : (समासोक्ति के विरुद्ध होने के कारण)
१—अर्थान्तिरन्यास (अप्रस्तुत प्रशंसा का सजातीय होने के कारण)
३—पर्यायोक्त व्याज स्तुति और आक्षेप गम्यत्व वैचित्र्य युक्त होने के कारण इसी वर्ग में रखे गये हैं।

ये महत्वपूर्ण २८ अलङ्कार 'सादृश्याधार' पर खड़े हुए हैं, सादृश्य के साथ किस विशेषता के समाविष्ट होने पर एक नए अलङ्कार का जन्म होता है, यह उक्त ब्यौरे से स्पष्ट हो जाता है।

कार्यकारण और विरोध मूलवाले अलङ्कारों की स्थिति में यह लोक-मानसीय तत्व और भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

१—विरोध २—विभावना ३—विशेषोक्ति ४—सम ५—विचित्र ६—अधिक ७—अन्योन्य ८—विशेष ९—असंगति १०—अतिशयोक्ति ११—व्याधान १२—विषम।

इन अलङ्कारों के नियोजन के मूल में शास्त्रीय दृष्टि विलक्षणता मानती है, और विलक्षणता अथवा चमत्कार के कारण इनमें अलङ्कारत्व मानती है। किन्तु जिस नियोजन में आस्था ही न होगी, उसे मन ग्रहण कैसे करेगा, और बिना मन-बुद्धि को ग्राह्य हुए किसी प्रकार की विलक्षणता अथवा चमत्कार का भाव ही कैसे उज्ज्वल हो सकता है? उदाहरणार्थ :

हनूमान की पूँछ में लगन न पाई आगि।
सिगरी लङ्का जरि गयी, गए निसाचर भागि।

इसमें इतनी बातें हैं :
१—हनुमान की पूँछ में आग नहीं लग पाई।
२—उधर लङ्का समस्त जल गयी।
शास्त्रकार के मत से इसमें चमत्कार है, क्योंकि
१—कारण तो उपस्थित हुआ नहीं, और
२—कार्य होगया।

अब शास्त्रकार से सीधा प्रश्न यह पूछा जा सकता है कि बौद्धिक चेतना में इस कथन के किस अंश में चमत्कार है, जबकि इसे बुद्धि ग्रहण ही नहीं कर सकती।

लङ्का के जलने के लिए हनुमान की पूँछ में आग लगना आवश्यक है?

क्यों ? क्योंकि लङ्का हनुमान की पूंछ की आग से ही जली थी यह कथा का तथ्य है।

किन्तु यहाँ हनुमान की पूंछ में आग लगी भी नहीं और लङ्का जल गयी।

यह कैसे ? यह हो ही नहीं सकता ?

यदि यह लङ्का वही रावण की लङ्का है, और वहाँ हनुमानजी हैं, तो पूंछ में आग लगनी ही चाहिये।

इस तर्क-प्रणाली से बुद्धि पहली ही बात को ग्राह्य नहीं करती, तो दूसरी को कैसे ग्रहण करेगी ? ऐसा कथन उपहासास्पद और मूर्खता पूर्ण माना जायगा, बौद्धिक चैतन्य से।

तब इस रच ना को पहली बार सुननेवाला क्या इस अर्थ को ग्रहण करके इसमें चमत्कार मानता है कि अरे, इतनी शीघ्रता हुई लंका के जलने में कि उधर तो पूंछ में आग लगायी गयी, किसी किसी ने समझा कि अभी लगी ही नहीं, इतनी जल्दी लग कैसे सकती है, और उधर लङ्का जल भी गयी। इतनी त्वरा दिखाने के लिए यह कथन है। काम दोनों हुए पर बहुत त्वरा के साथ, कि उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध ही नहीं जाना जा सका। अब इतना बड़ा अर्थ स्पष्ट होने पर तो चमत्कार कुछ रह ही नहीं जाता। यह छल छल के रूप में क्या चमत्कार दे सकता है ?

अतः ऐसे कथनों में अलंकारत्व का तभी प्रतिपादन हो सकता है, जब यह माना जाय कि पद्य का पहला प्रभाव यह पड़ा कि :—

१—हनूमान की पूंछ में आग लगाने की तय्यारियाँ हुई।

२—आग लगायी गयी।

३—पर अभी आग पूंछ में लग नहीं पायी थी।

४—उधर लङ्का एक दम उससे पहले ही जलकर राख हो गयी।

ये चारों बातें हुई और यथार्थतः हुईं। इस कथन की प्रत्येक बात सत्य है और तथ्य है। इसे ही इस कथन में हम आस्था का नाम देते हैं।

इस आस्था के कारण ही दूसरा प्रभाव होता है—

ओह, यह तो बड़े आश्चर्य की बात हुई।

यह तो वस्तुतः चमत्कार हुआ। केवल इसी विधि से ऐसे वाक्यों में अलङ्कार अभिप्रेत सिद्ध होता है।

क्या यह विधि शास्त्रीय-मानस-प्रदत्त है ? बौद्धिकता से अथवा शिष्ट-विशिष्ट-संस्कार से मानस इस चमत्कार को न ग्रहण कर सकता है, न इस मिथ्यात्व को अलङ्कार मान सकता है। लोक-मानस अपने आदिम काल की

स्फुलिंग से इसको उक्त विधि से स्वीकार कर लेगा, उसके आनन्द को प्राप्त कर लेगा और तब बौद्धिक आक्रमण से उसके भाषागत छद्म को दूर हटाकर शैली की विचित्रता का भी अनुभव कर लेगा।

उक्त कथन में अनुभूति का जो सत्य प्रस्तुत हुआ है, बिना कारण के ही कार्य होने की अनुभूति का सत्य, वह कथन के रूप के साथ अद्वैत होकर ही आता है, और उसे लोक-मानस पूर्ण प्रत्यय से स्वीकार करके कवियों के ऐसे उद्योगों को सार्थक करता है।

इस दृष्टिकोण से यह यथार्थ सिद्ध होता है कि अलङ्कार-विधान का समस्त रूप ही लोक-वार्ता तत्व से सम्बन्धित है, बिना उस तत्व के अलङ्कारों की अलङ्कारिता ही समाप्त हो जायगी और काव्य की शोभा में कमी आ जायगी।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या चमत्कार तक पहुँचने के लिए कोई और भी मार्ग है? चमत्कार जब चमत्कार के लिए हो तो भी क्या उक्त आस्था की और उसकी पृष्ठभूमि के लिए लोक-मानस की अपेक्षा रहेगी? क्या यह सिद्धांत सभी प्रकार के अलङ्कारों के सम्बन्ध में लागू होता है? या इसके कुछ अपवाद भी हो सकते हैं? शब्दालङ्कारों के लिए किस प्रकार की आस्था अपेक्षित हो सकती है?

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने लिखा है:

"शब्द रचना की विचित्रता प्रायः वर्णों और शब्दों की पुनरावृत्ति पर अवलंबित है। और अर्थ की विचित्रता विभिन्न प्रकार के अर्थ वैचित्र्य पर। 'विचित्रता' कहते हैं लोकोत्तर अर्थात् लोगों की चित्रभावेक—साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अतिशये (अत्यन्त बढ़कर) वर्णन किया जाना। कहा है श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य ने—

"लोकोत्तरेण चैवातिशयः···अनया अतिशयोक्त्या—विचित्रतया भाव्यते" (ध्वन्यालोक लोचन व्याख्या पृ० २०८)

जैसे [१] बन गाय गैय्या के समान है, [२] क्या यह बन गाय है अथवा गैय्या? [३] यह बन गाय नहीं किन्तु गैय्या है, [४] बन गाय मानो गैय्या है। यह वाक्य लोगों की साधारण बोलचाल में कहे गए हैं, इसमें उक्त वैचित्र्य नहीं, जिससे कुछ आनन्द प्राप्त हो। अतएव इनमें अलङ्कार की स्थिति नहीं। यद्यपि इन वाक्यों में क्रमशः उपमा, संदेह, अपह्नुति, और उत्प्रेक्षा अलङ्कारों के लक्षणों का समन्वय हो सकता है। किन्तु यदि इन्हीं उपर्युक्त वाक्यों के स्थान पर [१] मुख चन्द्रमा के समान है [२] यह मुख है अथवा चन्द्रमा [३] यह मुख नहीं किन्तु चन्द्रमा है। [४] मुख मानो चन्द्रमा है इस प्रकार वाक्य कहे जाएँ तो इन वाक्यों में क्रमशः उपमा, संदेह, अपन्हुति, और उत्प्रेक्षा

अलङ्कारों की स्थिति हो जाती है। क्यों ? इसलिए कि यह वाक्य साधारण बोलचाल में नहीं कहे गए, इनमें लोकोत्तर अतिशय अर्थात् उक्ति वैचित्र्य है। इस प्रकार का उक्ति वैचित्र्य ही काव्य को सुशोभित करता है"।[1]

इसमें सेठजी ने प्रमाण सहित यह बतलाया है कि

१—सामान्य बोलचाल में अलङ्कार होते ही नहीं, उस बोलचाल के वाक्य का रूप भले ही अलंकार की भाँति का हो।

दूसरे शब्दों में 'व्यवसायात्मक' वाक्यों में अलङ्कार नहीं माना जा सकता।

२—जो वाक्य सामान्य बोलचाल के नहीं होते उनमें ही अलङ्कार प्रतिष्ठित होता है।

दूसरे शब्दों में जो वाक्य व्यवसायात्मक नहीं, जो वाक्य जीवन के सामान्य व्यापार अथवा तथ्य मात्र का उल्लेख नहीं करते वरन् इनसे अन्यथा वृत्ति को अभिव्यक्त करते हैं, उनमें ही अलङ्कार प्रतिष्ठित होता है।

३—ऐसी अन्यथा वृत्ति को लोकोत्तर कह सकते हैं ? लोक के सामान्य धरातल से उत्तर अथवा ऊँचा या श्रेष्ठ।

४—ऐसी लोकोत्तर स्थिति में एक अतिशय भी होना चाहिये। इस अतिशय से ही वैचित्र्य आता है।

इस समस्त कथन में 'लोकोत्तर' और 'अतिशय' विशेष व्याख्या चाहते हैं। यह बन गाय गैय्या के समान है। और यह मुख चन्द्रमा के समान है—इन दोनों में पहले से दूसरे में क्या लोकोत्तरता है ? यह कहना कि दूसरे वाक्य में बोलचाल की सामान्य शब्दावली नहीं, वस्तुतः कुछ न कहने के बराबर है। क्यों सामान्य बोलचाल की शब्दावली नही ? वास्तविक बात यह है कि दूसरे वाक्य का विधान एक प्रकार के सौन्दर्य-विधान के लिए हुआ है। वह सौन्दर्य-विधान क्यों हैं ? एक किसी का मुख है, उस मुख पर सौन्दर्य लक्षित है। वह सौन्दर्य चन्द्रमा के प्रतीक से हृदयंगम कराया जाता है ?

मुख का वर्ण्य होना लौकिक व्यापार नहीं ? किसी मुख के वर्णन की क्या आवश्यकता है ? फिर मुख के सौन्दर्य का वर्णन क्यों ? उसके लिए एक बेकार की चीज चन्द्रमा को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना—ये सभी व्यापार ऐसे हैं जो सामान्य लोक-स्तर के लिए व्यर्थ, उपहासास्पद, और वस्तुतः अर्थहीन हैं। इन्हें मनीषी लोकोत्तर कहते हैं। आश्चर्य ! चन्द्रमा में सौन्दर्य एक

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास-लेखक : कन्हैयालाल पोद्दार (द्वितीय भाग) प्रथमावृत्ति सन् १९३८ पृष्ठ संख्या १०३-१०४।

तथ्य हो सकता है, मुख में सौन्दर्य एक तथ्य हो सकता है। पर चन्द्रमा और मुख के सौन्दर्य को परस्पर तुलनीय करने से ही तो व्यर्थता आती है। अतः इस प्रकार के मात्र कथन में कोई चमत्कार नहीं हो सकता। इसके लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि भी अनिवार्य है। 'मुख और चन्द्रमा' के तुलनीय होने में विश्वास अथवा आस्था होनी ही चाहिये। यह आस्था लोक-मानस से ही संभव है, मनीषी मानस से नहीं। अतः चमत्कार केवल उक्ति वैचित्र्य में नहीं होता। विचित्रतापूर्वक कहने मात्र में अलङ्कार नहीं, वह 'उक्ति' अपने वैचित्र्य के द्वारा जिस वैचित्र्य को प्रकट करती है, उस वैचित्र्य को भी यथातथ्य मानने से ही वैचित्र्य सिद्ध होता है। बिना इसके 'वैचित्र्य में' चमत्कार नहीं हो सकता। क्योंकि आस्था के बिना अनुभूति नहीं हो सकती, जो कविता का प्राण है।

'चमत्कार जब चमत्कार के लिए' हो तब भी उक्त आस्था के बिना असंभव है। चमत्कार 'चमत्कार के लिए' का अभिप्राय केवल यह है कि उस चमत्कार का उपयोग किसी अन्य पूर्ति के लिए नहीं हो रहा है। किन्तु चमत्कार स्वयं कब चमत्कार प्रतीत होगा, बिना मन की उस आस्था के जिसका उल्लेख किया जा चुका है। वह आस्था लोक-मानस की वस्तु है, मनीषी मानस की नहीं। हाँ, शब्द-चमत्कार अथवा शब्दालङ्कार के सम्बन्ध में यह आभास होता है कि इसके लिए वैसी किसी आस्था की आवश्यकता नहीं। अक्षरों अथवा शब्दों की विशेष प्रकार की आवृत्ति अथवा उपयोग में एक कौशल रहता है, वह कौशल स्वतः चमत्कार पैदा करता है।

राधा के बर बैन सुनि चीनी चकित सुभाय।
दाख दुखी, मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय॥

जहाँ तक इन चरणों के अर्थ का सम्बन्ध है आस्था की आवश्यकता है, किन्तु 'ब' 'च' 'म' 'र' 'स' इन अक्षरों की आवृत्ति से जो चमत्कार पैदा होता है, उसके लिए तो किसी मानसिक आधार की जरूरत नहीं, इनमें चमत्कार प्रत्यक्ष है, इसके लिए किसी अन्य मानसिक प्रक्रिया की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु यहाँ भी एक मौलिक प्रश्न उपस्थित होता है कि हमें ऐसे अक्षरों की आवृत्ति में किसी प्रकार का चमत्कार क्यों प्रतीत होता है? क्या इसलिए कि कवि ने कैसा कौशल दिखाया है कि ऐसे अक्षर इकट्ठे कर दिये हैं? नहीं। क्योंकि पहले हमें इनमें चमत्कार प्रतीत होता है, चमत्कार से चमत्कृत होकर कृतिकार पर ध्यान जाता है। फलतः चमत्कार तो उन अक्षरों की आवृत्ति से स्वयं स्फूर्जित है। अक्षर अथवा शब्दों की यह आवृत्ति क्यों प्रिय और चमत्कारक प्रतीत होती है? यह क्या केवल एक शरीर-विज्ञान का तथ्य

मात्र है या उसके पीछे भी कोई मानसिक संस्कार है। यदि कुछ और विश्लेषण करके देखा जाय तो यह विदित होगा कि :

१—अक्षर अथवा शब्द की ऐसी आवृत्ति से वाक्य में एक तुलगति (Rythm) (रिद्म ताल) पैदा हो जाती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अलङ्कार-शास्त्र ने अनुप्रास के लिए, अक्षरावृत्ति के लिए स्थानावृत्ति को महत्व दिया है। और यह महत्व स्वभावतः 'तुलगति' के कारण ही है। जहाँ अक्षरावृत्ति से 'तुलगति' (ताल) पैदा नहीं होती वहाँ चमत्कार नहीं हो सकता। तुलगति का लोक-मानस के आदि नृत्य से घनिष्ठ सम्बन्ध बैठता है। तुलगति से बौद्धिकता को चमत्कृत होने का कोई कारण नहीं।

२—अक्षर अथवा शब्द की आवृत्ति का लोक-मानस से आदिकालीन सम्बन्ध है। क्योंकि मूल मानसिक प्रक्रिया में यदि प्रथम इन्द्रिय ज्ञान पुनः प्रस्तुत हो तो वह विशेष परिचित और विशेष निजी विदित होने लगता है। इससे वह प्रिय लगने लगता है। यद्यपि बौद्धिक प्रक्रिया के लिए इस आवृत्ति में कोई अर्थ नहीं होता, पर लोक-मानस का अपना आदिम दाय आज भी इसमें आनन्द अथवा चमत्कार अनुभव करता है। यह आवृत्ति तुलगति (रिद्म) के साथ उसको और भी अधिक आल्हादक हो जाती है।

३—लोक-मानस के आदिम संस्कारों में अक्षर अथवा शब्द के प्रति एक टोने जैसी आस्था थी। किसी अक्षर अथवा शब्द की बारबार की आवृत्ति में उसे मंत्र जैसी आस्था रहती है, वह चाहे कितनी ही क्षीण क्यों न हो, कितनी ही दुर्बल क्यों न हो? इस कारण भी उसे ऐसी आवृत्ति में एक विशेष उपलब्धि का आनन्द मिलता है। किसी विशेष नाम को बार-बार जपने में भी यही आस्था काम करती है।

इन तत्वों के अतिरिक्त इन शब्दालङ्कारों में ऐसे चमत्कारों को और कैसे सिद्ध किया जा सकता है? और इन सब तत्वों का सम्बन्ध मानस की लोकवार्ता तत्व विषयक पृष्ठभूमि से है।

अतः अलङ्कार का अस्तित्व जिन तत्वों के आधार पर होता है, उनमें लोक-मानस की पृष्ठभूमि सदैव उपस्थित रहती है।

मनुष्य की समस्त सत्ता और जीवन-प्रवाह 'वर्तमान' को मध्य विन्दु मानकर भूत और भविष्य के दो स्तम्भों पर खड़ा हुआ है। 'वर्तमान' केवल अपने अस्तित्व को प्रामाणिक मानता है, शेष दो को अप्रामाणिक। क्योंकि ये दोनों

अप्रत्यक्ष हैं। पर 'भूत' तो 'वर्तमान' में होता हुआ ही भूत बना है। पर आज सत्ताशील न होने के कारण ही वह अप्रामाणिक होगया है। पर किसके लिए? यह अप्रामाणिकता केवल उस व्यक्तित्व के लिए है जिसकी समग्रता वर्तमान से ही संबद्ध है। यह व्यक्तित्व 'चेतना-मानस' के बौद्धिक व्यापार में ही समग्रतः ओत-प्रोत है। अतः इतना वर्तमान-निष्ठ व्यक्तित्व ही भूत और भविष्य को अप्रामाणिक मानता है। पर मनुष्य का अवचेतन मानस पिछले वर्तमानों की अप्रामाणिकता का संग्रह है। वह कितने ही रूप में अपने व्यक्तिगत भूत को भी सुरक्षित रखता है, और दाय के रूप में अपने पूर्वजों की परम्परा के तत्वों को भी सुरक्षित रखता है, और इस भूत के कारण ही भविष्य के प्रति भी आस्थावान बन जाता है, क्योंकि 'वर्तमान' से हटने पर 'भूत और भविष्य' का अन्तर महत्वहीन हो जाता है। वर्तमान के अतिरिक्त शेष समस्त अनुभूतियाँ 'अवर्तमान' ही होती हैं। अतः चेतन मानस के लिए यथार्थतः उनका एक ही दर्जा है। यही कारण है कि यह भूत ही वर्तमान को लाँघकर भविष्य का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। जब तक हमारा चेतन मानस 'वर्तमान' मात्र से सम्बन्धित रहता है तब तक वह व्यवसायिक रहता है, तब तक वह अलोकोत्तर होता है। 'वर्तमान' से हटकर चेतन मानस जब मानस के अन्य पर्तों से किसी प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करता है, तो हम उसे 'कल्पना' का सहारा लेते हुए मानते हैं, और उस प्रेरणा की उपलब्धि ही लोकोत्तर होती है। इस 'लोकोत्तर' उपलब्धि का रहस्य मूलतः लोक-मानस से ही संबद्ध है। लोकोत्तर की सीधा परिभाषा यही है कि जो उपलब्धि हमें प्रवहमान-वर्तमान से संबद्ध चेतना से मुक्त करदे, वही लोकोत्तर है। प्रत्येक कला इसी की सिद्धि के लिए जन्म लेती है। लोकोत्तरता घनिष्ठ रूपेण लोक-तत्व के मूल संस्थान से सम्बन्धित है, यह इस विवेचना से सिद्ध है।

छन्दों और अलङ्कारों में लोक-तत्व, लोक-वार्ता और लोक-प्रवृत्ति का हिन्दी में यही रूप मिलता है।

वस्तु के सम्बन्ध में पहले अध्यायों में चर्चा हो चुकी है। किन्तु यहाँ एक विषय का उल्लेख कर देना आवश्यक हैं। ब्लूमफील्ड ने कथानक रूढ़ियों अथवा अभिप्रायों का अध्ययन करते हुए कई निबन्ध लिखे हैं। उनमें उन्होंने यह लिखा है कि

> "हिन्दू कथाओं में घटनाएँ भरी पड़ी हैं। ये, नियमतः अन्य कहानियों से झपटी हुई घटनाओं की पुनरावृत्ति है; और ये विशेषतः सुनिश्चित और प्रयोग-सिद्ध कथानक रूढ़ियों की लम्बी परम्परा पर निर्भर करती

हैं ।'[1] एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

हिन्दू कथाएँ आधुनिक काव्य में लोक वार्ता के रूप में प्रसारित हो रही हैं ।—निःसन्देह इन पुस्तकों में विविध हिन्दू मनीषी (classic) साहित्य की पुरानी कहानियों की ही अधिकांशतः गूँज है ।

यह अत्यंत ही सन्देहास्पद है कि इनमें स्वतन्त्र प्रकार की भी सामग्री है, अर्थात् ऐसी भी कहानियाँ इनमें हैं जो पुरानी मौलिक हैं और जो केवल मौखिक परम्परा में ही जीवित हैं, और जो कभी किसी हिन्दू भाषा में नहीं लिखी गयीं ।[2]

ब्लूमफील्ड ने यह कथन कुछ अद्भुत रूप से किया है । इसका अभिप्राय सीधे शब्दों में यह है कि लोक-कथाओं में जो कथानक रूढ़ियाँ अथवा कथांश मिलते हैं, वे सभी मनीषी परिनिष्ठित साहित्य से लिये गये हैं फिर इस सीधी सी बात में एक घुमाव देकर वे यह कहना चाहते हैं कि ऐसे अभिप्राय, होसकता है, कभी स्वतन्त्र रहें हो पर आज उनकी स्वतंत्र मौलिक परम्परा नहीं मिलती। वे हिन्दुओं की किसी न किसी भाषा में परिनिष्ठित साहित्य में अवश्य सम्मिलित हो चुके हैं । इनमें उन्होंने इस संभावना को एक प्रकार से स्वीकार कर लिया है कि किसी भी भारतीय भाषा में लिखे जाने से पूर्व वे अभिप्राय भले ही मौखिक रूप में लोक-वार्ता की मूल सृष्टि के रूप में प्रचलित रहें हों, पर आज तो उनका प्रत्येक अभिप्राय परिनिष्ठित साहित्य की जूठन ही है ।

ब्लूमफील्ड ने बाद में जिस संभावना को स्वीकार किया है, वह यथार्थ है । कितने अभिप्राय ऐसे हैं जो विश्व के अनेकों भागों में आज भी मौखिक रूप से प्रचलित हैं । फिर वृहत्कथा अथवा बड्डकहा का प्रमाण है । वह शिवजी से मौखिक सुना गया है । गुणाढ्य ने घोर जंगल में बैठकर वह कथा संग्रह लिखा । निश्चय ही बृहत्कथा लोक-कथाओं का एक व्यवस्थित संग्रह है । धनपाल ने लिखा है कि बृहत्कथा अन्य कथा-ग्रन्थों के लिए एक स्रोत का काम देती है । गोवर्द्धन ने गुणाढ्य को बाल्मीकि और व्यास के साथ आदर के साथ नमस्कार किया है । उसके मत से तो स्वयं व्यास ही गुणाढ्य के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं ।

महाभारत की रचना के सम्बन्ध में व्यासजी ने जो लिखा है, उससे भी यह सिद्ध होता है कि वह अनुश्रुतियों और लोक-वार्ता से संकलित किया गया है । यों उसमें स्थान स्थान पर ऐसी कहानियों का भी संकेत है जो मौखिक रूप

१—जर्नल आफ अमेरिकन औरियण्टल सोसाइटी, वोल्यूम ४० पेज १८ ।

१—जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, वोल्यूम ३६ पेज ५०-८९ ।

से प्रचलित थीं और जहाँ तहाँ उदाहरण और दृष्टान्त के लिए काम में लायी जाती थीं। जैसे नलोपाख्यान। सर जार्ज ग्रियर्सन ने लिखा है कि

"कुछ ऐसे विद्वान हैं (जिनमें वे स्वयं भी हैं) जो यह विश्वास करते हैं कि संस्कृत साहित्य ने प्राकृतों से जितना अधिक लिया है, उतना स्वीकार नहीं किया जाता है। यहाँ तक कि महाभारत ने भी पहले लोक महाकाव्य (Folk epic) के रूप में प्राकृत में किसी पहले की परम्परा से नाम ग्रहण किया। उससे संस्कृत में लिया गया। संस्कृत में उसे परिष्कृत किया गया। उसका संबर्द्धन किया गया और उसी में उसे अन्तिम रूप मिला"[१]

इन समस्त प्रमाणों से यह सम्भावना पुष्ट होती है कि महाभारत भी लोक-कथा के रूप में प्रचलित था। रामायण के सम्बन्ध में हम आधुनिक अनुसंधानों का परिणाम पहले लिख ही चुके हैं। अतः भारतीय कथा साहित्य के समस्त स्रोतों का मूल स्रोत लोक-वार्ता में ही विदित होता है। अतः प्रत्येक अभिप्राय का जन्म लोक-क्षेत्र में ही हुआ था, और वे अभिप्राय अथवा कथानक रूढ़ियाँ अपने स्वभाव के अन्दर भी लोक-मानस का तत्व छिपाये हुए हैं।

रीतिकाल से पूर्व तक का हिन्दी साहित्य लोक क्षेत्र से घनिष्ठ रूपेण सम्बन्धित था। उस काल से पूर्व की प्रायः समस्त साहित्यिक निधि लोक में मौखिक रूप से सुरक्षित सामग्री में से संकलित की गयी थी। और ऐसी महान प्रतिभाओं ने उन्हें परिनिष्ठित क्षेत्र में स्थापित करने की चेष्टा की जो स्वयं लोक-क्षेत्र के अंश थे, जिनमें समस्त पांडित्य लोक-क्षेत्र के प्रवाह में से ही मिला था।

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ऐसे थे जो मुहाविरे की दृष्टि से 'मसि-कागद' नहीं छूते थे। जिनके व्यक्तित्व का समस्त मौलिक निर्माण लोक-प्रवाह में हुआ था। इन और इनकी परम्परा के सभी कवियों की स्थिति लोककवियों की स्थिति थी। इनके काव्य के समस्त ताने-बाने मूलतः लोक के ताने-बाने थे। उस पर कभी कहीं कहीं मनीषा परिष्कार किया गया।

१—There are some scholars (including the present writer i. e. G. Grierson) who believe that Sanskrit Literature owes more than is generally admitted to works in the Vernacular and that even the Mahabharat first took its form as a folk epic in an early Prakrit, and was subsequently translated into Sanskrit, in which language it was further manipulated, added to and recieved its final shape. (Ency. Britt. Vo. XXII, p. 253)

कबीर ने मसिकागद छुआ ही नहीं था। सूर अंधे थे, वे मसिकागद छूते ही क्यों? उनका भाषा-कोष लोक-भाषा का कोष था। उन्हें महाप्रभु बल्लभाचार्य ने बल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित किया, और तब उन्हें स्वयमेव समस्त भागवत-लीला स्फुरी। कोई भी सूर का पाठक यह जान सकता है कि लीला की प्रेरणा भागवत से हो भी सकती है, पर अधिकांशतः तो उसका जो लोक में प्रचलित सूत्र था वह सूर के हाथ लगा और उसे ही उन्होंने लोक-वाणी में प्रस्तुत कर दिया।

तुलसी ने 'रामकथा' अपने गुरु से शूकर खेत में सुनी थी। उसी सुनी कथा के आधार को लेकर बाद में निगमागम पुराण तथा अन्य से उसे पल्लवित-पुष्पित किया।

अतः सन्त सम्प्रदाय, कृष्ण सम्प्रदाय, राम सम्प्रदाय, और प्रेम गाथा प्रभृति सभी का साहित्य लोक-भूमि के अत्यधिक निकट है। यही कारण है कि आइने अकबरी की साहित्य की परिभाषा में न तो इन महापुरुषों के काव्य आते थे, न इनकी कृतियों को साहित्य-ग्रन्थों में उसने समाविष्ट ही किया।

सातवाँ अध्याय

लोक-विश्वास

हिन्दी साहित्य के उपरोक्त विवेचन से यह तो सिद्ध हो ही चुका है कि हिन्दी साहित्य ने लोक भाषा, लोक तत्व, लोक साहित्य से कई शताब्दियों तक घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखा। हिन्दी साहित्य में वस्तुतः शास्त्रीय दृष्टिकोण सत्रहवीं शताब्दी में ही पनपा, उसमें भी लोक साहित्य से सम्पर्कित धारा निरन्तर प्रवहमान रही। लोक-साहित्य ने हमारे इस साहित्य को किस प्रकार कितना प्रभावित किया, यह अब विचार का विषय नहीं रह गया। किन्तु इस समस्त विचारणा के साथ जब हम यह देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के इन युगों में लोक विश्वास[१] जो लोक वार्ता और लोक गाथा की आधार शिला हैं, कितने गहरे पैठे हुए हैं, तो आश्चर्य होता है। यहाँ हिन्दी साहित्य में, इस काल में लोक विश्वासों की क्या स्थिति थी, इसका विश्लेषण करना है।

सुविधा की दृष्टि से लोक विश्वासों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

१—धर्म सम्बधित लोक-विश्वास।

२—इन्डियन मिथ एण्ड लीजेण्ड्स में मेकेन्जी ने प्रोफेस में लिखा है :
All mythologies have animistic bases, they were to begin with systematised folk belief which were carried hither and thither in various stages of development by migrating and trading people. (P.VII)

२—समाज सम्बन्धित लोक-विश्वास ।

३—व्यक्ति सम्बन्धित लोक-विश्वास ।

किन्तु वास्तविक बात यह है कि ऐसे लोक विश्वासों को उक्त रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसका प्रत्येक विश्वास उसकी धार्मिक आस्था है, भले ही वह उसमें कर्म धर्म न समझता हो। उस विश्वास का संबंध किसी न किसी प्रकार की अभिव्यक्ति से होगा ही, और प्रत्येक अभिव्यक्ति का सम्वन्ध, समाज, व्यक्ति और उनकी परम्परा से भूत, वर्तमान, भविष्य तीनों कालों के लिए अभिप्रेत होता है।

हाँ, ये विश्वास ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत किए जा सकते हैं, किन्तु यहाँ भी वास्तविक कठिनाई आती है। ये विश्वास इतिहास के जिस युग में पहले-पहल उदित हुए, उस युग की सामग्री आज कहाँ है। जिन्हें भी हम लोक विश्वास कहते हैं, उनका आदिम मूल प्रागऐतिहासिक है। फलतः सभी विश्वासों को ऐतिहासिक क्रम से विभाजित करके प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

अतः यहाँ पर बिना किसी वर्गीकरण का प्रयत्न किये लोक-विश्वासों और उन पर कुछ विचार देने की चेष्टा की जा रही है।

> देवी-देवता फल प्रदान करते हैं, इस विश्वास का मूल आदिम टोने में है। टोने का सिद्धान्त ही है कि विशेष अनुष्ठान से किसी शक्ति को वश में करके अपने मन की अभिलाषा पूरी करा लेना। यह (magic) टोना धर्म का मूल बीज है। आर्यों का 'धर्म' का स्वरूप पूर्णतः स्थिर हो गया है। फिर भी उसमें 'यज्ञ' से किसी फल की याचना का प्रश्न नहीं। यज्ञ देवताओं को सन्तुष्ट करने और प्रसन्न करने के लिए किये जाते हैं। किन्तु राम-कथा में स्वयं यज्ञ-देवता 'चरु' लेकर निकलते हैं, उस 'चरु' के पदार्थ से गर्भ रहता है और सन्तान पैदा होती है। वह यज्ञ किया ही गया था पुत्र प्राप्ति के लिए। दशरथ का यह पुत्रेष्टि-यज्ञ संभवतः वैदिक के साथ लोक-धर्म के टोने के विश्वास का प्रथम मेल-जोल है। देवी-देवताओं की मान-मनौती सूरदास ने यशोदा के द्वारा बतायी है, वह बिल्कुल लोक-विश्वास की चीज है। देव>यज्ञ>यज्ञ-पुरुष>यज्ञ-पुरोहित>ऋद्धि>सिद्ध>नाथ>गुरु। यह एक बीज के विकास का स्वरूप है, इसमें यह स्पष्ट है कि शनैः शनैः लोक-तत्व प्रबल होता गया है, वैदिक तत्व उसी क्रम से कम होता गया है। यज्ञ-पुरुष ने 'चरु' दिया।

सिद्ध	पुरुष ने फल दिया।
नाथ	भभूत दी।
गुरू	आशीर्वाद दिया।

इस समस्त व्यापार में 'अंशांशी' सम्बन्ध से टोने का भाव विद्यमान है। 'चरु' अग्नि अथवा यज्ञ के द्वारा देवताओं का अंश ही 'चरु' के पदार्थ के रूप में प्राप्त होता है। 'फल' सिद्ध पुरुष के स्पर्श से उसका अंश रूप हुआ। 'भभूत' शरीर पर रहने से, अथवा चुटकी के स्पर्श से उसी महत्व को पा सकी। आशीर्वाद शब्द-रूप में वक्ता का अंश हैं। इसमें पदार्थ-प्राणता से सम्बधित ऐनिमिष्टिक (animistic) तत्व विद्यमान है। पदार्थ में उसके अंशी का प्राण अथवा आत्म-तत्व रहता है और उसके द्वारा वह अन्यत्र प्रेषित किया जा सकता है। चरु<फल<भभूत<आशीर्वाद।

यह क्रम भी एक विकास को ही सिद्ध करता है। लोक-वार्ता से यज्ञ के साथ 'चरु' का संयोग हुआ। 'यज्ञ' संस्कृति का आनुष्ठानिक रूप समाप्त हुआ तो यज्ञ के गुण पुरोहित अथवा ऋषि में संक्रमण कर गये। सिद्ध अथवा ऋषि बहुधा जंगलों में ही मिलते हैं। चरु के प्रसाद ने यहाँ फल का रूप लिया। ऋषि संस्कृति के वातावरण में यह फल 'जौ' या 'अक्षत' का रूप ग्रहण कर लेता। किन्तु तपस्वियों और योगियों के साथ धूनी भी होती है। धूनी एक अर्थ में 'यज्ञ' की ही स्थानापन्न (Substitute) है। अग्नि से संबंध स्थापित करने का माध्यम। भभूत में जहाँ 'अंशांशी' टोने का भाव है, वहीं 'बलि' के 'प्रसाद' का भी भाव है। बलि दिये हुए पदार्थ के किसी 'अंश' को ले जाकर खेत में गाड़ देने से, आदिम मानव विश्वास करता है कि, उसकी ऊर्वराशक्ति बढ़ जायगी। भभूत उसी प्रकार 'उर्वरत्व' प्रदान करता है। उसी प्रकार 'आशीर्वाद' के 'शब्द' के साथ 'मन्त्र' का भाव भी प्रस्तुत होता है।

देवी-देवता के मूल बीज आदिम मानव की उस अनुभूति में थे जिसमें वह एक ऐसे अस्तित्व में आस्था करने लगता है जो उसकी चाह की पूर्ति करता है। उसे ढङ्ग से वश में किया जा सकता है। इसी 'अस्तित्व' ने अनेकों रूपों में देवी-देवताओं को खड़ा किया। इस चक्र से सृष्टि के चाहे जिस व्यापार में देवी-देवता के दर्शन किये जा सकते हैं।

रामचरित मानस में सीताजी गौरी पूजा के लिए गयीं हैं। "खसो माल मूरति मुस्कानी" देवी द्वारा फल-प्राप्ति का संकेत है।

देवी देवता फल ही नहीं प्रदान करते रक्षा भी करते हैं।

देवी-देवताओं और मनुष्यों में आदिम मानस भेद नहीं करता। उसे दोनों

के व्यापार एक से विदित होते हैं। फिर भी वह देव को देव समझता है, और मनुष्य को मनुष्य। यह बात हमें साहित्य में स्पष्ट दिखायी पड़ती है। शिव और पार्वती में देवताओं का यह आदिम स्वरूप आजतक सुरक्षित है। ये ठीक मानव की तरह जहाँ तहाँ विचरण करते, और मानवों से बोलते-चालते, उन्हें कष्टों से मुक्त करते प्रतीत होते हैं। ये मनुष्य के साथ युद्ध भूमि में भी उतर पड़ते हैं। सरस्वती देवी देवताओं के कहने से मंथरा की बुद्धि को उलटा कर गयीं। इन्द्र छद्म रूप में अहल्या को छलते हैं। बड़े देवता ही नहीं स्थानीय देवताओं का भी ऐसा ही रूप है।

बन देवी बन देव उदारा।
करिहहिं सास ससुर सम सारा।

किसी देवता की कहानी या चरित का पाठ एक विशेष महत्व रखता है। इसमें यह मान्यता है कि ऐसा पाठ देवता को प्रसन्न करता है और उससे देवता वश में होता है, और वह वहाँ प्रस्तुत होजाता है। रामकथा के साथ तो दुगने लाभ हैं। राम तो प्रसन्न होते ही हैं, और वश में होते ही हैं, पर हनुमान जी भी साथ में कथा सुनने के लिए आ उपस्थित होते हैं। रामकथा की समाप्ति पर प्रायः यह कहा जाता है:—

कथा समापत होत है, बिदा होउ हनुमान।

'रामचरित मानस' के साथ कथा का माहात्म्य भी कहा जाता है। वास्तविक बात यह है कि "रामकथा" बैठाने और सुनने के जितने भी आयोजन होते हैं, उनमें कथा सुनने से प्राप्य फल का ही विशेष महत्व रहता है, कथा के मनोरंजन से श्रोता को उतना संबंध नहीं रहता। रामचरित मानस में जो विविध श्रोता-वक्ताओं का चक्र बताया गया है, उसमें यही रहस्य है। यह संवाद के रूप में किसी कथा को कहना इस युग से पूर्व से एक 'अभिप्राय' या कथानक रूढ़ि भी था। उस रूढ़ि का पालन भी कथा ग्रन्थों में हुआ है, पुराणों में भी इसी परंपरा का पालन है, और पुराणों का लोक-वार्ता रूप सिद्ध है।[1]

किसी व्यक्ति या देव की कथा या जीवन वृत कहने सुनने से उसे ही प्राप्त करने में पूर्णतः आदिम लोक-मानस का तत्व काम कर रहा है।

आदिम स्थिति में वह चरित यथार्थतः घटित हुआ। चरित-नायक वीर पुरुष है, किसी समूह विशेष का पति है, उसकी मृत्यु के उपरांत उसको, उसके बल को, उसके तत्व को कैसे पाया जाय? इसके लिए उसके चरित्र का

१—देखिए—The Purana India by V. R. Ramcharan Dikshitar, Introduction page Viii

रूपक के रूप में अनुकरण या अभिनय किया जाय। यह देव या वीर विशेष की चरित्र-लीला एक अनुष्ठान (ritual) ही था। देव और वीर में आदिम स्थिति में अन्तर नहीं रहता था। प्रा० मास्पेरो [1] ने मिस्र के संबंध में टोने पर विचार करते समय यह बताया है कि देवता से अपनी मनचाही कराने के लिए उसे वश में करना ही होता था, और वश में करने के लिए कुछ अनुष्ठान, बलियाँ, प्रार्थनाएं और मंत्रों का उपयोग करना होता था, जो स्वयं देवता ने ही प्रकट किये थे। इनसे उसे वश में करके मनचाहा काम कराया जा सकता था। यह फ्रेजर द्वारा उद्घाटित होम्योपैथिक मैजिक (सादृशक टोने) से संबंधित है।[2]

इस प्रकार अभिनय न हो सकने पर उसके मानसिक प्रत्यक्षीकरण से ही यह परिणाम सिद्ध हो जाता है। यह मानसिक प्रत्यक्षीकरण ही कथा कहने या सुनने का स्थान ग्रहण कर लेता है। इसीलिए कथा द्वारा राम या कृष्ण जहा दैत्यों या असुरों का संहार करते होते हैं, वहाँ वे श्रोता के भी वैसे ही शत्रुओं का संहार करते होते हैं। अतः 'चरित' पाठ से न केवल उस पुरुष की प्राप्ति होती है, वरन्, ऐसे प्रकट-अप्रकट संकट भी टल जाते हैं। इसीलिए राम-लीला और रामकथा या अन्य कथाओं के पाठ का प्रचलन हुआ है। राधावल्लभी संप्रदाय में राधाकृष्ण की संयोग लीलाओं को काव्य के माध्यम से तन्मय होकर प्रत्यक्षीकरण करने का अर्थ है, उन संयोगों के आनन्द को स्वयं उपलब्ध कर लेना। यह केवल मानसिक क्रिया नहीं, यह इसी 'सादृशक टोने' की आदिम प्रवृति से उपलब्धि का यथार्थ प्रयत्न है।[3]

कीर्तन आर नाम के संबंध में भी यही आस्था है।

उलटा नाम जपत जग जाना,
वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना।

१—The Golden Bough I Volume, abridged edition, Newyork 1953 page 61

२—देखिए वही पृष्ठ १३—"Homeopathic magic is founded on the association of ideas by similarity. Homeopathic magic commends the mistake of assuming that things which resemble each other are the same."

३—लोक-वार्ता क्षेत्र में आज भी ऐसे कथा चरित हैं, जिन्हें गाकर देवता का आह्वान किया जाता है। कथा आकर्षक होती है, फिर भी इसका वहाँ कोई महत्व नहीं। इसका गायन केवल आनुष्ठानिक रूप से होता है, और देवता को विवश होकर आना पड़ता है : उदाहरण : जाहरपीर

यह तुलसी ने लिखा, वाल्मीकि ब्रह्म के समान क्यों हो गये। क्योंकि 'नाम' से 'नामी' पर अधिकार किया जाता है। 'नाम' नामी का वह मौलिक तत्व है जिसकी उस नामी से अभिन्नता है।[1] अतः 'नाम' एक मंत्र का काम देता है। यह कहा जा सकता है कि मंत्र की स्थिति स्वीकार करने में टोने के अस्तित्व को तो मानना ही होगा, यह भी मानना होगा कि यह देवता को आधीन करने का साधन है, अपनी मोक्ष का नहीं। साहित्यकार और दार्शनिक राम-नाम के जाप के द्वारा ब्रह्मत्व पाना चाहता है, ब्रह्म को अपने वश में करना नहीं चाहता। 'नाम' के इस जाप से जपी ब्रह्म की ओर जाता है, ब्रह्म जपी की ओर नहीं आता। यह जपी की योग्यता बढ़ाता है, ब्रह्म पर प्रभाव नहीं डालता। वास्तव में यह उसी मूल भाव का विपर्यय है, जो मनीषी मेधा के शील ने प्रस्तुत किया है। अन्यथा किसी "नाम" के जपने से जपी में कोई परिणति कैसे सिद्ध हो सकती है? यदि इस सिद्धान्त को मानने का ही आग्रह हो तो इसकी भी व्याख्या लोक-मानस से ही होगी, वह इस क्रम से :

'नाम' जाप से 'नामी' पर अधिकार
नामी - ब्रह्म - आत्मा - आप
आँप - जापी - यहाँ अद्वैत सिद्धान्त है।

अतः नाम से ब्रह्म को वश में किया जाता है, उस ब्रह्म को जो जापी के साथ अद्वैत है, पर जो आभासित नहीं। नाम जाप से वही ब्रह्म जापी में से धीरे धीरे वश में होता हुआ, जापी को ही पूर्ण ब्रह्ममय बना देता है।

इसी लोक मनोभूमि के कारण भक्ति के इस नवोत्थान में प्रायः प्रत्येक संप्रदाय ने 'नाम' को महत्व दिया है।

नाम के साथ ही कीर्तन है। वस्तुतः जैसे 'मंत्र' के विकास में हमें यह दिखायी पड़ता है कि लंबी मंत्रावली को लघुतर करने के प्रयास हुए हैं, उसी प्रकार 'कथा' से 'नाम' तक आने की भी प्रयत्न परंपरा है। कथा बहुत समय सापेक्ष्य है, 'कीर्तन' उससे कम समय चाहता है, 'नाम' सबसे कम। कथा में कहने से अधिक सुनने का महत्व है।

कथा, कीर्तन तथा नाम, तीनों में शब्द का महत्व है। तीनों का संबंध किसी व्यक्ति से है। ऐसे व्यक्ति से जिसके चरित्र में कुछ चमत्कार होता है, जो चमत्कार कथा के रूप में शब्दों में आ सकता है। जहाँ हम उस व्यक्तित्व को विविध घटनाओं में प्रस्तुत चमत्कारों की समग्रता के लिए वश में करना चाहेंगे, हमें 'कथा' का आश्रय लेना होगा, जहाँ उसके व्यक्तित्व के किसी

१—देखिए भारतीय साहित्य, प्रथम वर्ष में लेखक का 'मंत्र' शीर्षक निबंध।

एक पहलू को अपने जीवन की समग्रता के लिए चाहेंगे, वहाँ हमें कीर्तन का आश्रय लेना होगा। 'कीर्तन' में एक और बिशिष्ट लोक तत्व समाविष्ट हो जाता है, यह है 'भावोन्माद'। यह वही भावोन्माद है जो आदिम मानव के आनुष्ठानिक 'नृत्यात्मक गीतों' से मिलता है। 'कीर्तन' करने से आवेश होता है, उस आवेश में नृत्य अनिवार्य है। कीर्तन से होने वाले 'आवेश' में और उस आवेश में जो 'देवता' के आवाहन से 'स्याने' में होता है, जो आज भी आदिम अवशेष के रूप में सुरक्षित है, मूलतः कोई अन्तर नहीं, अंतर केवल उस आवेश की व्याख्या में है, जो मात्र व्याख्या है। कीर्तन के 'आवेश' में हम समझते हैं हमारे अपने भावों का ही आवेश हुआ है, हमार अंतर-भाव ही फूटकर हमारे ऊपर आपाद मस्तक रोम रोम में व्याप्त होकर उन्मादित कर देता है। जबकि स्याने के आवेश में कोई वाह्य (देवता) तत्व शरीर में प्रवेश कर उसे आवेशित कर देता है। प्रत्येक दशा में स्थिति का यथार्थ एक है, और वह यथार्थ उस मौलिक मनोवृत्ति का परिणाम है जो आदिम आनुष्ठानिक नृत्य-गीत से 'तत्सत्वमयी' मनोवृति का अवशेष है, यदि ऐसा नहीं होता तो कीर्तन के आवेश में 'नृत्य' स्वयमेव प्रस्तुत न होता।

सूर और उनके वर्ग के कवियों ने अपने कीर्तन गीतों के साथ कथा तत्व भी संयुक्त रखा है, अतः अपने प्रयोग को और भी सशक्त बना दिया है।

एक बड़ा चमत्कारक विश्वास इस काल में यह मिलता है कि भगवान और देवता सब कुछ कर सकते हैं। वास्तव में देवता और भगवान में कोई मौलिक मतभेद नहीं। दोनों अद्वैत हैं, और विकास के क्रम में 'देवता' बीज है और भगवान या ब्रह्म उससे विकसित उद्भावित फल। जो गुण देवता में आरोपित किये गये, उनकी समष्टि रूप में भगवान खड़े हुए। आदिम मानव ने अपने मानस में जिस 'देवता' को संज्ञा दी उसके चमत्कारों से वह प्रभावित हुआ, साथ ही उसके साथ उसे एक रहस्य का आवरण भी प्रतीत हुआ, क्योंकि वह जितना देख सका, और जान सका वह चमत्कारक था और उसकी अनुभूति हुई कि वह इसके अतिरिक्ति भी कुछ और है जिसे वह न देख सकता है, न जान सकता है। इसी 'अज्ञात' अंश के सम्बन्ध में उसने अनेकों कल्पनाएँ प्रस्तुत कीं। इस लोक-मानस की रहस्यात्मक छाप संबंधी संस्कार से "निराकारत्व" विकसित हुआ, जो 'मलेनेसियन' के "मन" नामक अस्तित्व से जुड़कर सर्वव्यापकता ग्रहण कर सका और सादृश्यक टोने (Imitative magic) की पृष्ठभूमि में खड़े होते ही 'अद्वैतता' के विश्वास से अभिमंडित हो उठा।

उसी लोकमानस के चमत्कारदर्शी और चमत्कार-विश्वासी पक्ष से साकार

तत्व का बीज प्रस्तुत हुआ। और साकार-निराकार को तुलसी की शब्दावली में, यों माननेवाला कि

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा

तथा

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे ?

जल हिम उपल बिना नहीं जैसे।—ठीक उसी मानव के आदिम मानस की संधि पर होता है जहाँ 'ज्ञात और अज्ञात' दोनों से युक्त व्यक्तित्व की अनुभूति होती है और 'चमत्कार और रहस्य' से जहाँ उस अनुभूति को पूर्णता प्राप्त होती है।

वृक्ष-पूजा का भाव आदिम मानस का भाव है। और भारतीय साहित्य में विशेषत: हिन्दी के कृष्ण-साहित्य में कदम्ब और कुंज तथा विविध वनों में कृष्ण-लीला और कृष्ण-दर्शन इसी आदिम मानस के अवशेष हैं।[1] यह अव-

1—Harvard Oriental Series, Lanman, Volume 31. Religion and Philosophy of the Vedas : Keith, P 39. में यह लेख है :

"On the other hand the Gods were often revered in groves, a development of primitive tree-worship which is recorded for India, Greece, Rome, Germany, Gaul, the Lithunians and the Slavs., etc." किन्तु,

"Moreovcr one serious charge must be brought against many of theorists and a charge which applies equally to Mannhardt, Sir. J. Frasesr, Ridgeway, DurKheim and S. Reinach. These scholars assume that in the religious views of primitive savages are to be found the beginnings of religious belief,and that from their views must be reconstructed a scheme for the development of every form of religion. The fundamental absurdity of this view is the belief that savage of the nineteenth century are primitive man; it is logically wholly impossible to deny that the defects of the religion of these races may be precisely the cause why they have failed to develop and have remained in a savage state. Doubtless to prove this view is impossible though many of the practices of savages are obviously open to serious disadvantages, economic and social; in view of this fact. to set up schemes of the development of religion based on the but to disprove it is still more difficult, andpractices of the Australian ab- origines is logically in excusable, apart altogether from the fact that our knowledge

शेष सभी भारतीय आर्य जातियों की पूर्व-कालीन संस्कृति में मिलते हैं। वहाँ देवताओं को मंदिर में नहीं स्थापित किया गया। वृक्ष-पूजा का मूल आदिम मानव की प्रकृति-पूजा का उत्तराधिकरण है।

पशु-पक्षी पूजा का सम्बन्ध साधारणतः टोटेमिज्म से लगाया जाता है। लोक-वार्ता तत्व के अनुसार कुछ प्राचीन जातियाँ यह मानती थीं कि उनकी जाति का जन्म किसी पशु अथवा पक्षी से हुआ था किन्तु कहीं-कहीं यह पशु-पक्षी-पूजा अन्य कारणों से भी हुई। नान्दी बैल शिवजी के वाहन के रूप में पूजा जाता है। कुछ पशु-पक्षियों की पूजा व्यवसाय के साधनों की पूजा के रूप में होती है। ऐसे ही बैल, घोड़े आदि की पूजा होती है।

देवी-पूजा—वैदिक धर्म में पुरुष देवताओं की प्रधानता थी। देवियों की महत्ता गौण ही नहीं, कुछ कम ही थी। ब्राह्मण युग में—ब्राह्मण पुरोहितों के उत्कर्ष युग में, एक धार्मिक विवर्तन हुआ।

---

of these customs is derivted from students of ethnology, who observe peoples with whom they have no tie of blood or language and whose confidence they find as hard to win as their beliefs to understand. The mere controversy which has raged over the fact whether Australian tribes or the Zulus have the conception of a supreme benevolent deity is a striking proof of the almost hopeless difficulties attending the path of those who seek to attain real understanding of the aboriginal mind. वही.P. 42. कीथ महोदय की यह आलोचना कुछ विशिष्ट बातों के लिए तो ग्राह्य हो सकती है किंतु सामन्यतः नहीं। १९ वीं शती के जंगली लोग आदिम मानव तो नहीं कहे जा सकते पर उनका मानस क्या १९ वीं शताब्दी के मानव का है। उनमें जो विश्वास तथा अनुष्ठान प्रचलित हैं. उनमें अवश्य ही कुछ आन्तरिक कमियाँ रहीं और उन्हीं के कारण वे विकास नहीं कर सके, यह सही है पर इससे क्या यह प्रकट नहीं होता कि उनके विश्वास तथा अनुष्ठान मानव के विकास के किसी पुराने चरण को प्रकट करते हैं; ये वहीं रुक गये। यदि किसी विकसित सभ्यता वाले समाज में कोई ऐसे तत्व मिलते हैं जिनके ऐतिहासिक विकास-क्रम में वह चरण संभव हो सकता है जो उन जंगली जातियों में आज भी विद्यमान हैं, तो उसे एक प्रमाण तो माना ही जा सकता है; हाँ यह ठीक है कि उसे एकमात्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। यह भी ठीक है कि ऐसी सामग्री का उपयोग बहुत सावधानी से करने की आवश्यकता है। दूसरे, किसी के स्वाभाविक विकास का अवरोध उन विश्वासों अथवा अनुष्ठानों के आन्तरिक दोषों के कारण ही नहीं होता। अन्य कारण भी होते हैं, जैसे मेधा की क्षमता तथा परिस्थितियों की जड़ता। जो भी हो, जंगली जातियों के विश्वासों और अनुष्ठानों की नृतात्विक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक अध्ययनों में उपेक्षा नहीं की जा सकती।

आर्यों के नये आक्रमण—पूर्व पश्चिम के जाति समूहों के विभाजन—मध्य-देश ब्राह्मण संस्कृति का केन्द्र वह कुरु पाँचालों की संघबद्ध जातियों के अधिकार में—चन्द्रवंशी भरत इन्हीं में—भरत थे भारती पूजक। भारती=सरस्वती नदी। सरस्वती=ब्रह्मा-पत्नी।

यदि चंद्रवंशी 'भरत' चन्द्रमा तथा नदियों की पूजा करते थे, तो यह संभव है कि वे ब्राउन जाति के थे। जाति का लोक धर्म (Folk-Religion) जाति-जन (people) के द्वारा चलता रहता है, भले ही उनके पुरोहित उपनिषदों के अज्ञात रचयिताओं की भाँति कल्पनामानस से (Speculative) विचारक ही हो जायँ। अतः यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्ततः भारत में भी देवियों का उतना ही अधिक प्राधान्य हो गया जितना कि मिस्र में। ब्राह्मणवाद के पुनरुत्थान काल से पूर्व के धुंधले युग में ही यह परिवर्तन हुआ। जब बुद्ध-धर्म का प्रभाव कम हो गया तो देव-वर्ग (the pantheon) बिलकुल बदला हुआ दीखता है, और वह स्वरूप (character) में पूर्णतः भूमध्यसागरीय (Mediterranean) हो गया। वैदिक देवताओं को इस बीच ग्रहण लग गया। वे अपने से अपेक्षाकृत अधिक व्यक्ति-तत्व प्रधान (Personal) देवता ब्रह्मा, विष्णु और शिव के आधीन हो गये: ये तीनों देवता पत्नी सहित हैं। जैसा कहा जा चुका है कि ब्रह्मा ने भरतों की सरस्वती से सम्बन्ध किया जो नदी की देवी हैं। पृथ्वी देवी लक्ष्मी विष्णु की पत्नी हुईं। वे, किंबहुना, क्षीर के समुद्र में से निकलती हैं। किन्तु सबसे अधिक विनाशकारिणी (Destructive) तथा उससे भी अधिक आदिम देवियों की प्रकृति से अनुकूलता रखने वाली देवी को शिव से, संहारक (The Destroyer) शिव से संयुक्त किया गया। युद्ध की देवी के रूप में देवी दुर्गा इन्द्र से भी बढ़ कर हैं।

देवियों का यह अभ्युत्थान अंशतः द्रविड़ लोक-धर्म (Folk-Religion) के प्रभाव का परिणाम हो सकता है। इसके, फिर भी, यह अर्थ नहीं कि वह सिद्धान्त इससे अमान्य हो गया जो यह प्रतिपादित करता है कि चन्द्र, जल और पृथ्वी की पूजा भारत में ब्राउन जाति के उत्कर्ष से सम्बन्धित रही थी।

उत्तर वैदिक (Post-Vedie) धर्म की भारत में लक्ष्य करने योग्य एक बात यह थी कि इसमें (पुनर्जन्म) आत्मा के संक्रमण (Doctrine of Metempsychosis) तथा विश्व के युगों अथवा कालों (ages) के भाव (conception) को प्रधानता दी जाने लगी।

ऋग्वेद में मृतक की आत्मा तुरन्त, अन्यथा अंतिम संस्कार के उपरान्त तो निश्चय ही, दूसरे लोक को प्रस्थान कर जाती है। केवल एक श्लोक में यह

कहा गया है कि वह जलाशयों अथवा पक्षियों की ओर जाती है। प्रो० मैकडानल का सुझाव है कि पुनर्जन्म के सिद्धांत के बीज इसी मान्यता में हो सकते हैं। उपनिषदों में इस पुनर्जन्मवाद का पूर्ण प्रतिपादन है। इससे यह परिणाम नहीं निकलता कि इसका जन्म भारत में हुआ। ब्राउन जाति की अन्य प्रतिनिधि समाजों (Communities) में भी इस सिद्धान्त की मान्यता थी। यह सिद्धान्त उस अस्पष्ट (vague) विश्वास से विकसित हुआ प्रतीत होता है जो एकाधिक आदिम जातियों में मिलते हैं कि मृतक की आत्माएं, और विशेषतः मृत बालकों की आत्माएं, सदा उपयुक्त माताओं की खोज में रहती हैं।

मध्य देश (Middle country) की प्राचीन लड़ाइयों से जो वीर-गीत जुड़ते चले आरहे थे उन्हें महाभारत में महाकाव्य (Epic) का रूप प्रदान कर दिया गया। जब कि पूर्वियों (Easterners) की परंपराएं रामायण में प्रतिष्ठित हुईं।[1]

श्री मेकेंजी ने प्रीफेस में लिखा है —

All mythologies have animistic bases; they were to begin with systematised folk-beliefs which were carried hither and thither in various stages of development by migrating and trading people. (P.III)

वेदों में लोक-धर्म :

ऋग्वेद :

कीथ की ये पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं :

The accusation, however, which is often made against the Rigveda of being purely sacredotal cannot be accepted, for it contains enough matter in its later portions to show that the compilers were perfectly familiar with the popular religion of the day. Thus we have hymns intended to act as spells against vermin (i. 191), or the desease Yaksma (X. 163), to bring back the life of one apparently dead (X. 58; 60.7-12), to destroy enemies (X. 166), to procure children (X. 183), to destroy the demon who kills offspring (X.162), to induce sleep (V. 55.), and even to oust a co-wife from a husband's affections (X. 145; of X. 159). Most of these hymns occur in book which preserves also the marriage hymn (X. 85), piece of a priestly ingenuity,

---

१ Macaonell : Sanskrit Literature pp. 120 ff.

and the funeral hymn (X. 14-18). These with four or five gnomic hymns (XI. 112; X. 35, 71, 117), some philosophic and cosmogonic speculations (X. 81, 82, 90, 121, 129; i. 164, which, like VIII 29 is a riddle hymn.), and some hymns, or portions of hymns, in praise of generous patrons of the priests relieve the monotony of the collection and help to obviate the wholly erroneous view that the early religion of India. consisted merely in the invocation of high gods. But the real extent of popular religion and much of the hieratic must be sought for in the later Samhitas, and above all in the Atharvaveda. (Religion and Philosophy of the Veda by Keith–Harvard Oriental Series. Lanman. Vol. 31, Page 14.)

सूर साहित्य में लौकिक देवी-देवताओं के उल्लेख के कुछ उदाहरण ये हैं :

द्वार सथिया देति स्यामा, सात सींक बनाइ ।।२६।। ६४४ ।
गौरि गनेश्वर बीनऊँ ! हो, देवी सारद तोहिं ।
गावों हरि कौ सोहिलौ हो ! मन-आखर दै मोहिं ।।४०।। ६५८ ।
कबहुँक कुल देवता मनावति; चिरजीवहु मेरौ कुँवर कन्हैया ।१७५।७३।

आत्म-तत्व

'आत्मा' के विषय में ऊहापोह की एक दीर्घ दार्शनिक परम्परा है । और यह कहा जा सकता है कि यह 'आत्म-तत्व' मनीषी विचारकों और दार्शनिकों का ही आविष्कार है । दार्शनिक इतिहास के लेखकों में राहुल सांकृत्यायन के जैसे वर्ग लेखकों का यह निष्कर्ष है कि इस 'तत्व' की उद्भावना सामन्तवादी मनीषियों द्वारा हुई । इस आत्म-तत्व की उद्भावना उन्होंने की ब्राह्मणों के महत्व को कम करने के लिए । जनक के समय में, उससे पूर्व और पीछे, तत्व-ज्ञान के उपदेशक क्षत्रिय थे । इस युग में जैसे विचार-वैभव भी ब्राह्मणों के हाथ से निकल कर क्षत्रियों के हाथ में चला गया । यज्ञ-प्रधान धर्म के स्थान पर ज्ञान-प्रधान धर्म सत्तारूढ़ हुआ । सामन्तों के जातीय तत्वों पर हमें विचार नहीं करना है । उन्होंने ब्राह्मणों से अलग किस क्षेत्र से 'आत्मतत्व' को प्राप्त किया, यही अनुसंधान की बात है : आत्म-तत्व का सम्बन्ध उस आदिम विश्वास से है जो मलेनेशिया में 'मन' (Mana) कहा जाता है । 'मन' वह तत्व है जिसे आदिम जाति के लोग समस्त 'जड़-चेतन' में व्याप्त मानते हैं । इसी का विकास हुआ और जड़-चेतन से काया विषयक सम्बद्धता हटते ही वह सर्वव्यापी परमात्म-तत्व की ओर बढ़ाने वाली एक सीढ़ी आगे चढ़

गया ।[1]

जड़-चेतन से काया-विषयक संबद्धता के हटने का भी क्रम हमें आदिम मानस के एक दूसरे प्रयत्न में मिलता है । 'स्वप्न' के अनुभव से उसे अपनी द्वैत सत्ता का विश्वास हुआ । इस विश्वास के होने पर आत्मा एक शरीर से दूसरे में प्रवेश कर सकती है, यह निश्चय हुआ । यह किसी अन्य पदार्थ में रह सकती है, यह विश्वास भी बना ।

पुनर्जन्म—इन्हीं आदिम विश्वासों के बीज से विकसित होकर आत्मा, परमात्मा, जीव और पुनर्जन्म का दार्शनिक स्वरूप प्रस्तुत हुआ है ।

इसी प्रकार यहाँ कुछ अन्य लोक-मानस के तत्व से युक्त विश्वास दिये जाते हैं :

१—भगवान भक्त के वश में होते हैं ।
२—शाप और वरदान ।
३—पशु-पक्षी बोलते हैं, सहायता करते हैं ।
४—कुछ पशु-पक्षी मनुष्य का रूप धारण कर लेते हैं ।
५—सत्यक्रिया ।
६—भगवान के साथ खेलना-कूदना ।
७—पहुँचे हुए सिद्धों के चमत्कार ।
८—नदी, पर्वत, वृक्ष आदि भी शरीर धारण कर सकते हैं ।
९—शकुन-अपशकुन ।
१०—वीर-पूजा और वीर में देवत्व-विधान ।
११—चरण-धूलि से तर जाना ।
१२—स्याने, पुरोहित, और गुरु में विश्वास ।
१३—जादू-टोने तथा अवतारों और देवताओं के अद्भुत चमत्कार ।
१४—मंत्र-शक्ति आदि ।

इस प्रकार यदि गंभीरतापूर्वक देखा जाय तो हिन्दी साहित्य की आंतरिक धारा हमें लोक-मानस के बहुत निकट प्रतीत होगी ।

—o—

१ कीथ ने मन, मनितोउ, ब्रह्म को एक ही माना है । इस भाव को भारतीय दर्शन का आधार भी माना है, वे इसे पहले-पहल दार्शनिक नहीं मानते, यह लोकप्रिय (Popular) भाव था । साथ ही वे वॉन गेन्नेप (Van Gennep) के इस मत को मानने को तय्यार नहीं कि मन एक सर्वव्यापी तत्व के रूप में आदिम तत्व था । उनकी आपत्ति है कि इतना विशद (wide) भाव आदिम नहीं माना जा सकता । कीथ महोदय ने जिसे आदिम होने के सम्बन्ध में बड़ी आपत्ति माना है, वह स्वयं ही उसे आदिम सिद्ध करने का यथार्थ कारण है । किसी भाव की विशदता स्वयमेव उसका आदिम मानस से संबंध सिद्ध करती है । अन्यथा उसकी विशद व्यापकता का और क्या रहस्य हो सकता है ?

उपसंहार

इस प्रबन्ध में हिन्दी-साहित्य के मध्य युग में लोकवार्ता के तत्वों के अनुसंधान का प्रयत्न किया गया है। साहित्य में लोकवार्ता के तत्वों का ऐसा अनुसंधान सर्वथा नवीन उद्योग है। इस अनुसंधान के लिए सबसे पहली आवश्यकता यही है कि लोकवार्ता के तत्वों का समीचीन ज्ञान हो। अतः पहले अध्याय में लोक-साहित्य और लोक-मानस की परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। इसमें स्थापना है कि 'लोक' शब्द का अर्थ साहित्य के साथ संलग्न होने पर वही होता है जो अंग्रेजी में फोक का होता है। लोक के विविध अर्थों की विवेचना की गयी है और लोक-साहित्य के 'लोक' का उनसे अन्तर बताते हुए यह कहा गया है कि यह लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं वे लोक-तत्व कहलाते हैं। ऐसे लोक-तत्वों से युक्त साहित्य को लोक-साहित्य की संज्ञा दी जायगी और इस लोक-साहित्य की परिभाषा यह होगी :— लोक-साहित्य के अन्तर्गत वह समस्त भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें (अ) आदिम मानस के अवशेष उपलब्ध हों। (आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध भाषागत अभिव्यक्ति हो जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोक-मानस की प्रवृत्ति में समायी हुई हो। (इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि

उसके किसी व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध रहते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करे।

इस प्रकार लोक-साहित्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। विश्व मानव की समग्र मौखिक अभिव्यक्ति इसके अन्तर्गत आ जाती है। इस अभिव्यक्ति को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं : शरीर-तोषिणी अर्थात् व्यवसाय प्रधान, मनस्तोषिणी अर्थात् मन को तोष देने वाली, जो मन के आश्चर्य, भय और रति के मौलिक भावों को सन्तुष्ट करने के लिए होती है और तीसरी मनोमोदिनी। इन तीनों वृत्तियों से युक्त लोक-साहित्य की ऊपरी सीमा शिष्ट साहित्य को स्पर्श करती है। निचली सीमा जंगली अभिव्यक्ति को भी समाहित कर लेती है। साहित्य के धरातल पर लोक-साहित्य और शिष्ट-साहित्य के बीच जो विविध कोटियाँ हैं उनका आधार अहं-चैतन्य है। विशिष्ट में यह अहं-चैतन्य सबसे अधिक है और जङ्गली अभिव्यक्ति में यह नितान्त शून्य। इन दोनों छोरों के बीच में इन कोटियों का क्रम अहम्-चैतन्य से अहम्-चैतन्य-शून्यता की ओर जाते हुए यह होता है :—शिष्ट, नागरिक, नागरिक की ग्रामीण सन्धि, ग्रामीण की नागरिक सन्धि, ग्रामीण की जङ्गली सन्धि, जंगली की ग्रामीण सन्धि। इस प्रकार नौ कोटियाँ बनती हैं और ये समस्त कोटियाँ किसी भी समाज में आज भी दिखायी पड़ती हैं, भारत में तो विशेष रूप से। ऐसे समाज में प्रस्तुत लोक-साहित्य के रूपों के कोटि-क्रम को एक चित्र द्वारा स्पष्ट करते हुए उनका यह क्रम प्रस्तुत किया गया है :—काव्योक्तियाँ, रसोक्तियाँ—आत्मनिवेदनी गीतियाँ : ज्ञान तथा वैराग्य के गीतः—प्रतियोगी गीतियाँ : खयालः— भिक्षार्थ गीतियाँ—मोदिनी गीति गोष्ठियाँ—उद्योग और श्रम सहवर्ती गीतध्वनियाँ—मोदिनी वार्ताएं—उपयोगी वार्ताएँ—आनुष्ठानिक गीति-कहानियाँ। इस समस्त लोक-साहित्य को लोकवार्ता का अङ्ग माना जा सकता है और लोक-वार्ता का मूल आधार है—लोक-मानस।

इस प्रबन्ध में लोक-मानस की विशद् व्याख्या प्रस्तुत की गयी है और विविध मनोवैज्ञानिक विषयक सम्प्रदायों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि इनको मुख्यतः छः वर्गों में बाँट सकते हैं :—१—जाति को ही मानसिक आचार और संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करने की कसौटी मानने वाला सम्प्रदाय। २—वह जो शरीर के विन्यास के अनुरूप मानसिक स्वरूप मानता है। ३—जो संस्कारों को नहीं, प्रकृति द्वारा उत्तराधिकरण को मान्यता देता है। ४—जो परिस्थितियों के प्रभाव को स्वीकार करता है। ५—इनमें भी प्राणि-शास्त्रीय सांस्कृतिक अन्तरों का मूल प्राकृतिक परिस्थितियों को मानता है और ६—वह जो विश्व भर में मानव की समान स्थिति को स्वीकार करता

है और केवल ऐतिहासिक सांस्कृतिक भेद स्वीकार करता है। इसी सम्प्रदाय में वुंट ने यह सिद्ध किया कि मानव-मानस की मौलिक समतन्त्रता है और यही लोक-मानस में प्रतिफलित होता है। इससे आगे लोक-मानस की विस्तृत व्याख्या की गयी है और मौलिक विवेचन के द्वारा विद्वानों द्वारा मान्य जहाँ प्राकल्पना (फ़ैण्टैसी थिंकिंग), यथार्थात्मशीलता (ऐनीमैटिस्टिक थिंकिंग), आत्मशीलता (एनिमिस्टिक थिंकिंग), टोना विचारणा (मैजिकल थिंकिंग) और आनुष्ठानिक विचारणा (रिचुअल थिंकिंग) इन पाँच कोटियों का स्पष्टीकरण किया गया है, वहीं लोक-मानस के बारह लक्षण भी लेखक ने मौलिक रूप से प्रस्तुत किये हैं और चित्र द्वारा समग्र मानसिक संस्थान में लोक-मानस की स्थिति भी स्पष्ट की गयी है।

लोक-वार्ता के इस मार्मिक आधार लोक-मानस की स्थापना करने के उपरान्त विश्व की लोकवार्ता के विविध भेद करते हुए उसमें लोकवाणी-विलास के निम्न भेद बताये गये हैं—धर्मगाथा, लोक-कहानी, दन्तकथा, तन्त्राख्यान, (फेबिल) लोकगीत और साके (बैले)। इन भेदों का परस्पर विकासक्रम भी स्थिर किया गया है और इस प्रकार लोकवार्ता और लोक-साहित्य का सम्बन्ध बताया गया है।

यहीं लोक-साहित्य के तीन सम्प्रदायों का विकासक्रम की दृष्टि से विवेचन किया गया है। इन्हें सुविधा के लिए भारतीय सम्प्रदाय, नृवैज्ञानिक सम्प्रदाय और शुद्ध लोकसाहित्यवादी सम्प्रदाय का नाम दिया गया है।

जो लोक-साहित्य इतना व्यापक है उसका साहित्य पर प्रभाव पड़ता ही है यह बात प्रबन्ध में संक्षेप में वैदिक साहित्य से लेकर आज तक के साहित्य के उदाहरणों से सिद्ध की गयी है। लोक-साहित्य के इस प्रभाव की हिन्दी-साहित्य के जन्म के समय तक की संक्षिप्त चर्चा करने के उपरान्त हिन्दी-साहित्य के विकासक्रम की लोकवार्ता विषयक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गयी है। यह सर्वथा मौलिक प्रयत्न है और इसमें बतलाया गया है कि हिन्दी के जन्मकाल की परिस्थितियों में बौद्ध, ब्राह्मण और जैन साहित्य के उच्च स्तूप धराशायी होकर लोकभूमि में किस प्रकार लोकवार्ता-परक दार्शनिकता, धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता का निर्माण करते मिलते हैं। हिन्दी के जन्मकाल से लेकर निर्गुण सम्प्रदाय की स्थिति तक साहित्य में जो विविध रूप प्रस्तुत हुए उनकी और उनके स्रोतों की सप्रमाण चर्चा की गयी है। निर्गुण सम्प्रदाय से पूर्व नाथ सम्प्रदाय की लोकभूमि को ही स्पष्ट नहीं किया गया, उससे पूर्व के सिद्ध-सम्प्रदाय की भूमि को भी स्पष्ट किया गया है और उन तत्वों को जिन्हें सिद्ध सम्प्रदाय ने प्रवर्तित किया अर्थात् स्कन्ध, भूत, आयतन, इन्द्रिय, शून्य, चित्त, भव, निर्वाण

माया, सहज, करुणा, अद्वय साधना, समरसता, प्रज्ञोपाय, मैथुन, युगनद्ध, निरंजन, समुत्पाद, अमनस्कार, रागमहाराग, गुरु, आदिकर्म, एवं, बोल कल्लोल, वज्र, खसम, सुरति-निरति, एवं साधना आदि की व्याख्या करते हुए उनकी लोक परिणति को सन्त सम्प्रदाय तक ले जाया गया है और तब उन तत्वों की विवेचना की गयी है जिनको कबीर ने प्रस्तुत किया है और यह सिद्ध किया गया है कि कबीर में जो सूफी, मुसलिम, यौग-विषयक, औपनिषदिक, ईसाई आदि तत्व एक साथ मिलते हैं वे सब लोकक्षेत्र से ग्रहीत हुए हैं और वस्तुतः वे लोक-वार्ता और लोकमानस से युक्त हैं।

तीसरे अध्याय में हिन्दी की प्रेम-गाथाओं में लोकतत्वों का उद्‌घाटन करने की चेष्टा की गयी है। इसमें लेखक ने गाथाओं के जन्म और उनकी लोक-कहानियों के रूप में परिणति को सिद्ध किया है और वैदिक वरुण कथा का उदाहरण लेकर, उसकी सत्यनारायण की वर्तमानकालीन कथा के रूप में परिणति किस प्रकार हुई यह दिखाया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि ऋग्वेद में वे बीज और बिंदु, और किसी सीमा तक उनका विकास मिलता है जो संसार की लोकवार्ता और लोक-कहानी के एक विशद् भाग का मूलाधार है। वेदों में इस प्रकार लोकवार्ता के रूपों को दिखाकर उपनिषद-कहानियों और रामायण-महाभारत परंपरा के साथ शुद्ध लोक-कथाओं के संग्रह कथा-सरित्सागर तक बृहद् कथा का परिचय दिया गया है और यह लोक परम्परा किस प्रकार बौद्ध जातकों और जैन कथाओं और चरित्रों में गयी इसे कथा-सरित्सागर और जैन ग्रन्थ पद्मावती-चरित के तुलनात्मक लोक-साहित्य विषयक विवेचन के द्वारा सिद्ध किया गया है और इसी के सहारे प्रेमगाथा के मूल तत्वों और उनके आवश्यक अभिप्रायों (कथानक रूढ़ियों) का उद्‌घाटन किया गया है। इसके उपरान्त हिन्दी के उस लिखित साहित्य का इतिहास दिया गया है जो लोकवार्ता तत्वों से युक्त है और जिसको हिन्दी-साहित्य के किसी भी इतिहास में इस समय तक ग्रहीत नहीं किया गया। लोक-साहित्य विषयक हिन्दी की इस समृद्ध सम्पत्ति को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने के बाद लेखक ने अब तक के प्रायः समस्त प्रेमगाथा विषयक काव्यों की सूची प्रस्तुत की है और इसके उपरान्त शुद्ध प्रेमगाथाओं के विविध तत्वों की लोकवार्ता परक व्याख्या की है।

चौथे अध्याय में लेखक प्रेम-गाथाओं के आगे भक्ति काव्य की ओर अग्रसर हुआ है इसमें जहाँ उसने यह स्थापना की है कि भक्ति-तत्व मूलतः लोक-तत्व है और वह जब सगुणत्व से सम्बद्ध हो जाता है तो लोकनायकों को वरण कर लेता है, उसने विस्तारपूर्वक यह विवेचन करने की चेष्टा की है कि इसकी

कृष्ण-शाखा की कथा का रूप पूर्णतः लोकवार्ता की वस्तु है। बालकृष्ण की यथार्थ लोक-मानसिक भूमि का उद्घाटन किया गया है। जन्म की कथा को लेखक ने स्वयं एक पूर्ण लोककथा सिद्ध किया है और यूनानी कथाओं के क्रोनस की कथा से तुलना करके इस लोक-कथा के लोक प्रचलित रूप को स्पष्ट दिखाया है। फिर यशोनन्दनीय कृष्ण के वृत्त को लोक-कथा की उस शृङ्खला का माना है जिसे जीवट के नायक की कहानियों की परम्परा कहा जा सकता है और जिसमें हरक्युलिज, नल,जगदेव अथवा पाण्डवों के कथा-चक्रों को रखा जा सकता है फिर जिन असुरों का कृष्ण ने संहार किया है वे काग, बक, धेनुक, वृषभ, केशि,शकट, तृणावर्त आदि ग्रामीण क्षेत्रों से सम्बंधित है और स्पष्ट ही ग्रामीण जनता की अपनी लोक-वार्ता के क्षेत्र से लिये गये हैं। इसके साथ ही यमलार्जुन-उद्धार को वृक्षात्माओं से संबंधित, वत्स-हरण को बछड़ों की चोरी के विश्व-प्रचलित लोक-अभिप्राय से संबंधित, कालियनाग नाथने को नागों की लोक-कहानियों के क्षेत्र से संबंधित बताते हुए शेष कृष्ण लीलाओं को भी लोक मानस से संबंधित बताया गया है। यहीं यह भी बताया गया है कि किस प्रकार कृष्ण में इन्द्र का ही चरित्र लोकतत्व के करण प्रतिबिंबित हो उठा है। एक उद्धरण से जातकों में भी कृष्ण-कथा की उपस्थिति बतायी गयी है और इस प्रकार विशद विवेचन के उपरान्त समस्त कथा को लोक-मानस की सृष्टि सप्रमाण सिद्ध कर दिया है और यह बताया गया है कि इस प्रकार यह समस्त कृष्ण-शाखा का समस्त सांप्रदायिक क्षेत्र लोक-तत्वों पर खड़ा हुआ है; इसने लोक-भाषा को अपनाया और लोक-छंदों का उपयोग किया और लोक-विश्वासों को ग्रहण करके उनकी बृहद्त्रयी के आधार पर मनीषितापूर्ण व्याख्या करके विशिष्ट और सामान्य की खाई को पाटने का महद् उद्योग लोक-साहित्य के माध्यम से किया।

पाँचवाँ अध्याय राम-साहित्य पर विचार करता है। इसमें भी सबसे पहले राम-कथा का विश्लेषण करते हुए यह बताया गया है कि समस्त राम-कथा तीन लोक-कहानियों से बनी हैं: एक—धनुष भंग के द्वारा सीता की प्राप्ति २—रावणवध के द्वारा सीता की प्राप्ति और ३—प्राप्ति के ठीक अवसर पर सीता के लुप्त हो जाने अथवा पृथ्वी में समा जाने की कहानी। पहली उस लोक-कहानी की परंपरा में है जिसमें किसी जीवट के कार्य के लिए पुरस्कार देने का अभिप्राय गर्भित रहता है। दूसरी उस लोक-कहानी की परंपरा में है जिसमें प्रेयसी को प्राप्त करने के लिए यात्रा की जाती है और विविध संकटों को एक साथी के साथ पार करके प्रेयसी को प्राप्त किया जाता है। तीसरी कहानी शान्तनु-गंगा, पुरुरवा-उर्वशी और नलमोतिनी की लोक प्रचलित कहानियों की कोटि

है। इन तीनों कहानियों के विकास का संपूर्ण रूप वेदों और लोक-कथाओं के उदाहरणों से तुलनापूर्वक सिद्ध किया गया है और यह बताया गया है कि राम-कथा प्रेम-गाथाओं की प्रेम-कथा तथा जाहरपीर और गोरखनाथ की अनुष्ठान कथाओं से किस प्रकार तुलनीय हैं। इस प्रकार मौलिक दृष्टि से समस्त रामकथा और उसके अभिप्रायों का विवेचन किया गया है। रामकथा में आने वाली विविध प्रासंगिक कथाओं के भी मूल रूप को लोक आधार पर स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार वैष्णव, बौद्ध और जैन लोक-कथाओं की परंपराओं को दिखा कर रामकथा के शाक्त रूप को भी दिखाया गया है। जानकी-विजय नामक ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि शाक्त प्रभाव से न केवल जानकी के शौर्य को राम से बढ़कर बताया गया है वरन् इन्हीं जानकी जी को कलकत्ते में जाकर काली बनकर काली के मन्दिर में प्रतिष्ठित होने वाला भी बताया गया है। यह अन्तिम तत्व लोकवार्ता से मिला है जिसने शक्ति को वैष्णवी सीता से समन्वित कर दिया है। राधाकृष्ण की कथा के तुल्य सीताराम की प्रेम-कथा वाले सांप्रदायिक साहित्य को भी लोक-तत्वों से युक्त बताया गया है। इस प्रबन्ध में तुलसी द्वारा ग्रहीत विविध देवताओं की सूची देकर यह बताया गया है कि वैदिक देवताओं की स्थिति कितनी दयनीय है और उनकी तुलना में लौकिक देवताओं का कितना सम्मान है। रामकथा क मूल रचयिता भगवान शिव को माना गया है; यह तत्व भी इसे लोक-क्षेत्र की सिद्ध करता है क्योंकि शिव-पार्वती का इस प्रकार का अभिप्राय मूलतः लोक-क्षेत्र द्वारा उद्भावित अभिप्राय है फिर इस कथा की भाषा-भनिति और इसमे छंद भी इसे लोकक्षेत्र की सिद्ध करते हैं। रामकथा के मूल उद्भव की चर्चा से भी यही सिद्ध होता है कि रामकथा का भी मूल लोक-कथा में है। इस प्रकार प्रेम-गाथाओं और सगुण भक्ति के साहित्य में लोकवार्ता के तत्वों को सिद्ध करके हिन्दी-साहित्य के अध्ययन की एक मौलिक पृष्ठभूमि उद्घाटित की गयी है।

छठवें अध्याग में आरंभ में प्राकृत से हिन्दी तक पहुँचने वाले भाषा-विकास की आठ अवस्थाएँ स्थापित की गयी हैं जो ये हैं :— मूल प्राकृत, वैदिक प्राकृत, पालि [प्रथम प्राकृत], प्राकृत [बौद्ध प्राकृत] और जैन प्राकृत, अपभ्रंश [साहित्यिक अपभ्रंश], पुरानी हिन्दी, भाषा हिन्दी और जनपदीय हिन्दी [उच्च हिंदी खड़ी बोली]। और इस समस्त भाषा-विषयक अभिव्यक्ति में दो प्रवृत्तियों, वैदिक अथवा लौकिक, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा-विषयक अन्तर व्याप्त दिखाया गया है और उनमें उद्घाटित अन्तरों की सप्रमाण और सोदाहरण विवेचना की गयी है कि सन्तवाणी प्राकृत परम्परा का वह रूप है जो विविध प्रभावों का

परिणाम है और इसे सधुक्कड़ी भाषा की कोटि का रूप दिया गया है। इस सधुक्कड़ी प्रवृत्ति का विकास वैदिक भाषा में, बौद्ध प्राकृतों में, सिद्धों की रचनाओं में से होता हुआ सन्तवाणी तक दिखाया गया है और तब यह बतलाया है कि लोकवार्ता और लोकप्रभाव वाणी के भाषा रूप का ही विकास नहीं करता अभिव्यक्त साहित्य के रूपों का भी विकास सिद्ध करता है।

साहित्य के रूपों की चर्चा और उसका विवेचन जहाँ अत्यन्त दार्शनिक है वहाँ एक दम मौलिक भी है। वाणी की अनुभूति की अद्वैत स्थिति से साहित्य के विविध रूप किस प्रकार उपाधियुक्त होकर वैविध्य प्राप्त करते हैं, इसका विवेचन करते हुए भारत के शास्त्रीय क्षेत्र में विवेचित ऐतिहासिक क्रम से समस्त साहित्य-रूपों का परिचय कराया गया है और यह बतलाया गया है कि भारतीय साहित्यकारों ने किस प्रकार लोक-क्षेत्र से ग्रहीत रूपों को भी साहित्य में मान्यता दी है और तब शास्त्रों के क्षेत्र से हटकर विविध हिन्दी क्षेत्र के बयालीस नये साहित्य रूपों का उद्घाटन किया गया है और इनमें ग्यारह और रूपों को जोड़कर इन रूपों के नामकरण के पाँच आधार स्वीकार किये गये हैं, जिन्हें छन्द, गीत, शैली, संख्या और विषय के अन्तर्गत रखा गया है और इनके आधार पर इन विविध साहित्य-रूपों के लोक-तत्त्वों की मौलिक विवेचना प्रस्तुत की गयी है। इस प्रबन्ध में ही पहली बार हम छन्दों का ऐसा मौलिक और तात्विक विवेचन देखते हैं। इसी प्रकार रूपों के विवेचन की लोक-भूमि को प्रस्तुत करके लेखक ने अलंकार-विधान का मौलिक और तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया है और यह स्थापना की गयी है कि अलंकार-विधान का समस्त रूप ही लोकवार्ता तत्व से सम्बन्धित है। बिना उस तत्व के अलंकारों की अलंकारिता ही समाप्त हो जायगी और काव्य की शोभा में कमी आ जायगी। और इसकी वैज्ञानिक व्याख्या की व्याप्ति शब्दालंकारों में भी दिखायी गयी है। अलङ्कारों और छन्दों की लोकवार्ता विषयक तात्विक विवेचना के उपरान्त वस्तु की चर्चा करते हुए ब्लूमफील्ड के इस मत का खंडन किया गया है कि लोक-कथाओं में जो कथानक रूढ़ियाँ अथवा कथांश मिलते हैं वे सभी मनीषी, परिनिष्ठित साहित्य से लिये गये हैं और यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है कि समस्त लोककथाओं का मूल लोक-वार्ता क्षेत्र में ही है और तब साररूप में इस अध्याय का अन्त इन शब्दों के साथ किया गया है :—

"रीतिकाल से पूर्व तक का हिन्दी साहित्य लोक-क्षेत्र से घनिष्ठ रूपेण सम्बन्धित था। उस काल से पूर्व की प्रायः समस्त साहित्यिक निधि लोक में मौखिक रूप से सुरक्षित सामग्री में से संकलित की गयी थी। और ऐसी महान् प्रतिभाओं ने उन्हें परिनिष्ठित क्षेत्र में स्थापित करने की चेष्टा की जो स्वयं

लोक-क्षेत्र के अंश थे, जिनको समस्त साहित्य लोक-क्षेत्र के प्रवाह में से ही मिला था।

कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी ऐसे थे जो मुहाविरे की दृष्टि से ही 'मसिकागद' नहीं छूते थे, और जिनके व्यक्तित्व का समस्त मौलिक निर्माण लोक प्रवाह में ही हुआ था। इन और इनकी परम्परा के सभी कवियों की स्थिति लोक-कवियों की स्थिति थी। इनके काव्य के समस्त ताने बाने मूलतः लोक के ताने-बाने थे। उस पर कभी कभी कहीं-कहीं मनीषी परिष्कार किया गया।

कबीर ने मासिकागद छुआ ही नहीं था। सूर अंधे थे, वे मसिकागद छूते ही क्यों? उनका भाषा-कोष लोक-भाषा का कोष था। उन्हें महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित किया, और तब उन्हें स्वयमेव समस्त भागवत लीला स्फुरी। कोई भी सूर का पाठक यह जान सकता है कि लीला की प्रेरणा भागवत से हो भी सकती है, पर अधिकाँशतः तो उसका जो लोक में प्रचलित सूत्र था वह सूर के हाथ लगा और उसे ही उन्होंने लोकवाणी में प्रस्तुत कर दिया।

तुलसी ने 'राम-कथा' अपने गुरु से शूकर खेत में सुनी थी। उसी सुनी कथा के आधार को लेकर बाद में निगमागम पुराण तथा अन्य स्रोतों से आपने उसे पल्लवित पुष्पित किया।

अतः सन्त सम्प्रदाय, कृष्ण सम्प्रदाय, राम सम्प्रदाय और प्रेमगाथा प्रवृत्ति सभी का साहित्य लोक-भूमि के अत्यधिक निकट है यही कारण है कि आइने अकबरी की साहित्य की परिभाषा में न तो इन महापुरुषों के काव्य आते थे, न इनकी कृतियों को साहित्य-ग्रन्थों में उसने समाविष्ट किया।"

हिन्दी-साहित्य के मध्ययुग की ऐसी प्रामाणिक लोकवार्ता परक लोकतत्व-युक्त व्याख्या प्रस्तुत करने के उपरान्त एक सातवाँ अध्याय और प्रस्तुत किया गया है और उसमें इस युग में मिलने वाले लोक-सम्प्रदाय और लोक-विश्वासों का उल्लेख किया गया है।

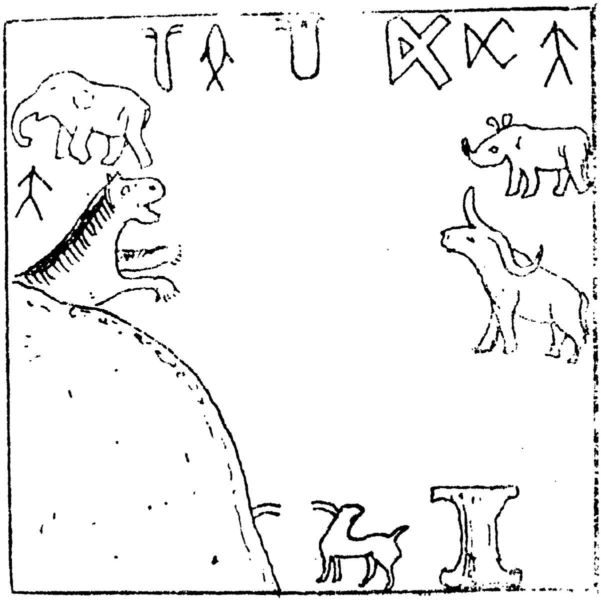
इस समस्त विवेचन से जहाँ हिन्दी-साहित्य में व्याप्त लोकवार्ता भूमि के नये तत्व का उद्घाटन हुआ है और उसको वैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत किया गया है, वहाँ इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि साहित्य का शास्त्रीय दृष्टि से जो अध्ययन किया जाता है और उसकी छन्द, अलंकार, रस के तत्वों से जो व्याख्या की जाती है और परिनिष्ठित साहित्य में मिलने वाली भूमि का जो उच्च स्तर विवेचना के लिए प्रस्तुत किया जाता है, उससे इस नयी व्याख्या का कोई विरोध नहीं है। यह तो उस महान् साहित्यिक भूमि की नींव के मौलिक तत्वों का उद्घाटन है और इस प्रकार हिन्दी-साहित्य को ही नहीं, वरन् साहित्य मात्र को अध्ययन करने की एक नयी भूमि, एक नया तत्व, एक नया दृष्टिकोण और एक नया दर्शन प्रदान करता है।

परिशिष्ट—१

सिंधु-घाटी में भक्ति-विकास

भक्ति के विकास के संबंध में चतुर्थ अध्याय में पृष्ठ ३६३ से ३६६ तक प्रकाश डाला गया है। वहाँ सिंधु-घाटी का उल्लेख करते हुए श्री केदारनाथ शास्त्री के 'हड़प्पा' नामक ग्रन्थों के उद्धरण भी दिये गये हैं। शास्त्री जी के उन उद्धरणों में कुछ फलकों का उल्लेख हैं, वे फलक तो शास्त्री जी के ग्रन्थ में ही देखे जा सकते हैं, किन्तु हम सिंधु घाटी के कुछ थोड़े से ही फलक यहाँ रेखाओं में देकर भक्ति के विकास के अपने सिद्धान्त को स्पष्ट और पुष्ट करना चाहते हैं।

भक्ति-विकास में **पहली स्थिति** यह होगी कि मानव ने आँखें खोली और विराट का दर्शन किया। सृष्टि में प्राणी-विकास के क्रम में अन्तिम कड़ी मानव था। उसने अपने चारों ओर चर (प्राणी = पशु) जगत देखा।

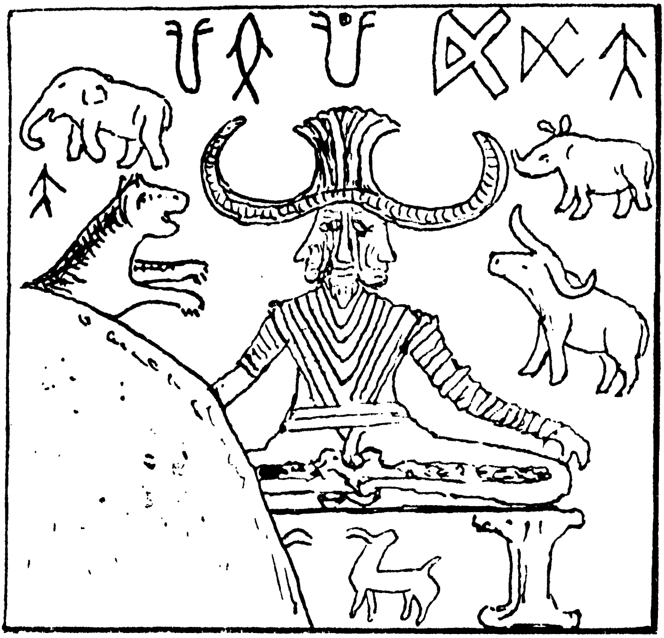


इन पशुओं को, पक्षियों को, सरी-सृप को उसने एक न समझ में आने वाली अपरिभाषेय सत्ता से युक्त माना, प्रत्येक में एक दिव्यता देखी या अपने निजी चेतनत्व की संभावनाओं के आरोप का प्रतिफलन देखा, पर प्रथम विराट का विस्मयाभिभूत भाव भी पृष्ठभूमि में रहा।

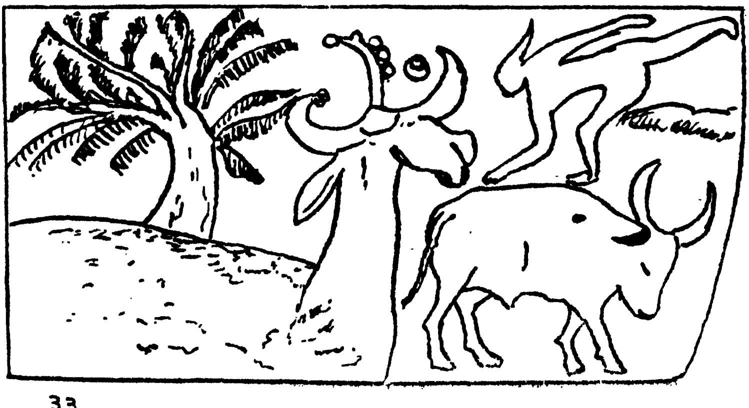
अतः इन सबको अलग-अलग देवत्व प्रदान करते हुए भी वह उन्हें विराट में एक इकाई के रूप में ही देखने की भावना को उपलब्ध करना चाहता था। उस विराट में चर-अचर को एक कर मानवीय चोला पहनाकर उसने परमदेव का साक्षात्कार किया।



इस 'परमदेव' को उसने पुनः पशुपति बनाया। उस समस्त दिव्य चर सृष्टि को उसकी पृष्ठभूमि में रख दिया।



इस समस्त चेतना-विराट के परमदेव को उसने अचर से भी संबंधित कर दिया। उसका महिष्मुण्ड प्रतीक पहले ही निश्चित हो चुका था। अब वह प्रतीक वृक्ष के पास स्थापित कर दिया गया। तथा प्रतीक के शीर्ष पर भी वृक्ष की एक शाखा लगा दी गयी। वृषभ ही अब पशुओं में प्रतीक रह गया है।



उक्त चित्र से यह भी स्पष्ट है कि देवता का साक्षात्कार प्रतीकों से ही किया जा रहा है, वह सर्वत्र विद्यमान है। वृक्ष में से प्रकट होता है, पूजा करने पर प्रकट होता है, या प्रकट होने पर पूजित होता है।



उक्त चित्र में स्पष्ट है कि देवता वृक्ष को फाड़कर प्रकट हुआ है। उसका भक्त वीरासन पर बैठा हाथ जोड़े भक्ति प्रदान कर रहा है। पास ही एक चौकी पर पूजार्थ नैवेद्य या बलि-पदार्थ रखा हुआ है। ऐसा दृश्य-चित्रण भक्ति भावना के बिना नहीं हो सकता। अतः यह निर्विवाद मानना होगा कि सिंधु-घाटी सभ्यता में भक्ति के समस्त तत्व प्रस्तुत हो चुके थे।

—: o :—

परिशिष्ट (२)

टिप्पणियाँ

(इस परिशिष्ट में अँग्रेजी के उद्धरणों के अनुवाद, कुछ अन्य टिप्पणियाँ तथा कुछ अशुद्धियों के शुद्ध रूप दिये गये हैं । 'टि०' का अर्थ है कि यह उस पृष्ठ की पाद टिप्पणी है ।)

पृ० २. (टि०)

यह श्लोक यों है—

महाभाष्य में—

वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः लोकाच्च लौकिकाः ।

प्रिय तद्धिताः दाक्षिणात्याः, यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये यथा लौकिके वैदिके चेति प्रयुंजते । —महाभाष्य प्रत्याहाराह्निक ।

भगवद्गीता में—

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः

पृ० ४ (टि०) "Folklore......primitive man"

'लोकवार्ता को आदिम मानव के मानस की सच्ची और सीधी अभिव्यक्ति कहा जा सकता है ।"

"As it...... sense"

"जैसे ही यह निरक्षर और उपसाहित्यिक स्तर पर पहुँचती है, मुहावरे के

लोकभाष तथा पीढ़ियों की संचित माता-वाक् में लोकवार्त्ता हमारी मौखिक संस्कृति का आधारभूत अंश हो जाती है। इसी के द्वारा मानव से मानव और जाति से जाति परंपरित मुहावरों और प्रतीकों से परस्पर बँधते चले जाते हैं। समूह के अनुभवों तथा व्यक्तिगत तथा सामान्य ज्ञान की संसृष्टि में हिस्सा बँटाने तथा उनकी सीधी प्रेरक प्रतिक्रियाओं से ही लोकवार्त्ता को यह महत्व तथा अवशेषांशी मूल्य प्राप्त होता है।

पृ० ५. (टि०) "But......page"

"किन्तु लोकवार्त्ता के लिए अनिवार्यतः, मनुष्य की स्मृति में पीढ़ी-दर-पीढ़ी मुख-शब्दों और अनुकार्यों में, छपे पृष्ठों में नहीं, वे उतरते हुए आये हों और प्रचलित हों अथवा प्रचलित होते रहे हों।

पृ० ७. (टि०) With this······

इसके साथ ही हम उस प्रश्न पर पहुँचते हैं जो ऋजु रेखान्वित विकास के सिद्धान्त के लिए मौलिक महत्व का है : कृषि तथा वाणिज्य में कालक्रमिक सम्बन्ध क्या है। जब हम एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न को लेते हैं तो यह संकट खड़ा होता है कि हम अब एक ही समुदाय द्वारा किये जाने वाले किसी एक ही रूप के व्यवसाय पर विचार नहीं कर रहे किन्तु अब हमारे सामने दो व्यवसाय हैं जिनकी विधियाँ भिन्न हैं और जो भिन्न-भिन्न समुदायों में मिलते हैं। पशुओं को पालतू बनाने तक ले जाने वाले व्यापारों में और उनमें जो पादपों की कृषि तक पहुँचाते हैं, कोई बात समान जैसी नहीं। इन दोनों व्यवसायों के काल-क्रमिक उन्नयन में पारस्परिक किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की संभावना के लिए कोई भी सूत्र नहीं। इसके अभाव का कारण यही है कि इनके काम करने वाले आदमी भी एक से नहीं और कि व्यवसाय भी बिल्कुल भिन्न हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसा कुछ भी नहीं मिलता जो हमें कृषि और वाणिज्य में कोई सूक्ष्म तारतम्य बिठाने में सहायक हो सके।'

पृ० १४—(टि०) १ Folklore way.......self growth.

'लोकवार्त्ता में उस जन-संस्कृति को समाविष्ट माना जा सकता है, जो पौरोहित्य धर्म तथा इतिहास में परिणति नहीं पा सकी है, किन्तु जो स्व. संवर्द्धित है तथा सदा रही है। 'साइकालोजी एण्ड फ़ोकलोर' लेखक आर० आर० मेरेट।'

पृ० १४ (टि०)-२, (1) Modern research into the······

भिन्न-भिन्न प्रणालियों से किये गये मनुष्य के आरंभिक इतिहास के आधुनिक अनुसंधान प्रायः अप्रतिहत शक्ति से इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि सभी सभ्य जातियाँ किसी न किसी युग में उस बर्बर स्थिति में से निकल कर बाहर

आयी हैं जो स्थिति कम-बढ़ उस स्थिति से निकट साम्य रखती है जो आधुनिक काल तक कितनी ही पिछड़ी जातियों में चलती चली आयी हैं। और किसी जाति के अधिकांश व्यक्तियों द्वारा बर्बरों जैसे विचारों और आचरणों के त्याग दिये जाने के भी बहुत समय उपरान्त उस जाति के लोगों के रीति-रिवाजों और आदतों में जीवन और विचारणा के कितने ही पुरातन असभ्य अवशेष मिलते हैं। ऐसे ही अवशेषों को 'लोकवार्त्ता' शीर्षक के अन्तर्गत रखा जाता है, जो शब्द के व्यापक से व्यापक अर्थ को लें तो यह कहा जा सकता है कि वह 'लोकवार्त्ता' अपने अन्दर किसी जनमात्र के उन समस्त परम्परागत विश्वासों और रिवाजों को समेटे हुए है जो देखने में समूह के सामूहिक प्रयत्न से उद्भूत प्रतीत होते हैं और जिसके निर्माण के स्रोत को किसी एक व्यक्ति या महान पुरुष तक नहीं खोजा जा सकता। —फ्रेजर (मैन, गाड एण्ड इम्मौरटैलिटी १९२७) पृ० ४२

२ (ii) पुरातन युगों में समस्त मानव-जाति में व्याप्त बर्बर स्थिति में से ही 'धर्मगाथ' (myth) का उदय हुआ। यह उन आधुनिक अभद्र जातियों में जो आदिम परिस्थितियों से बहुत कम विलग हुई है, अपेक्षाकृत अपरिवर्तित रहती है; जब कि उन्नतर तथा बाद की कोटियों की सभ्यता ने भी पुरखों की परम्परा के रूप में कुछ तो इसके वास्तविक सिद्धान्तों को, कुछ इसके अधूरे परिणामों को ही अपना कर, न केवल सहिष्णुता से वरन् आदर पूर्वक इसे प्रचलित रखा है।

(टेलर, प्रिमिटिव कल्चर खंड १, पृ० २१३ 'पोइट्री एण्ड मिथ' में लेखक प्रेस्कौट, द्वारा उद्धृत)

पृ० १५ (टि०) iii Folklore means……

"आरम्भिक रिवाजों, विश्वासों, कथनों तथा कला के अवशेषों के अध्ययन का ही अर्थ लोकवार्त्ता है।"—**एन इंट्रोडक्शन टू माइथालौजी—लेखक लैविस स्पेंस।**

१. Indeed the notion……

"वस्तुतः यह धारणा बिल्कुल त्याग दी गयी है कि मनुष्य ने शुद्ध नैतिकता तथा धार्मिक भावनाओं तथा सीधी सच्ची भाषा के साथ अपना आरंभ किया और शनैः शनैः लोलुप कल्पनाओं से ग्रस्त होता गया और इस प्रकार मिथ्या तथा अप्रिय विचारों का निर्माण किया; अब तो उलटे हम देखते हैं कि उसने घोर अनगढ़ स्वप्नों और ऊहाओं के साथ आरंभ किया, और ये एक दीर्घ, स्वाभाविक तथा (सामान्यतः) स्वस्थ संबर्द्धन से, शनैः शनैः उन्नत हुए तथा संस्कृत हुए—पोइट्री एण्ड मिथ-लेखक प्रेस्कौट।

पृ० १६ (टि०) १. Every tradition····

'प्रत्येक किंवदंती, धर्मगाथ या कहानी में दो पूर्णतः स्वतंत्र तत्व होते हैं—वह तथ्य जिस पर उसका निर्माण हुआ है तथा उस तथ्य की व्याख्या, जिसे उसका निर्माता प्रस्तुत करता है'—(गोम्मे) फोकलोर एज ऐन हिस्टोरिकल साइंस : ··· 'It needs...' यह बात कहने की फिर आवश्यकता है कि कला प्रयोग के दो पक्ष होते हैं। एक विषय, तथा दूसरे वह प्रणाली जिसमें उस विषय का प्रतिपादन किया गया है।

पृ० १७ (टि०) १. The business···

"इस सोसाइटी का काम लोक को, स्वयं उनकी वार्त्ता में तथा उनकी उस वार्त्ता द्वारा जानने का प्रयत्न करना है, ताकि बाहर से जो रीति-रिवाजों का एक समूह मात्र दीख पड़ता है, उसको साथ ही साथ, भीतर से, एक मानसिक व्यापार के रूप में भी समझा जा सके।

पृ० १८— Such lights······

ऐसी झलकें, वस्तुतः शब्द-बिंबों की उस अन्तर्व्याप्त स्मृति से आती हैं, जिन्हें फ्रायड मानस की चेतन-पूर्वी स्थिति कहता है, अथवा अवचेतन की इससे भी कहीं अधिक उस अन्तर्गर्भित स्थिति से आती हैं, जिसमें दमित ऐन्द्रिकोन्मेषों की स्नायविक लीकें ही निहित नहीं, वरन् वे उत्तराधिकारावतरित साँचे भी निहित हैं जो हमारी सहज प्रवृत्ति का निर्धारण करते हैं। (**फार्म इन माडर्न पोइट्री**)

पृ० १९ (टि०) १. Folk Psycho······

लोक मनोविज्ञान—जन का वह मनोविज्ञान जो जन के, विशेषतः आदिम जन के विश्वासों रिवाजों, रूढ़ियों आदि के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के काम आता है, और जिसमें (इनका) तुलनात्मक अध्ययन भी सम्मिलित है।

(**ए डिक्शनरी ओव साइकालोजी—लेखक जेम्स ड्रेवर**)

पृ० २२ (टि०) १. To a great···

'बहुत बड़ी सीमा तक उस मानसिक जीवन का रूप जो हमें विविध सामाजिक समुदायों में मिलता है, परिवेष्टनों से निर्धारित होता है; ऐतिहासिक घटनाएं तथा प्राकृतिक परिस्थितियाँ आन्तरिक लक्षणों के विकास का और अधिक अवरोध करती हैं। तो भी हम निश्चय ही यह दावा कर सकते हैं कि जातिनिष्ठ उत्तराधिकारावतरित भेद होते ही हैं। मंगोल, नीग्रो, मेलेनेसियन तथा अन्य जातियों के मानस के कुछ लक्षण हमारी अपनी जाति से भिन्न हैं तथा वे परस्पर भी भिन्न हैं।' (**व माइंड ग्राव प्रिमिटिव मैन**)

पृ० २४ Scholars······

जिन विद्वानों ने विस्तारपूर्वक यह सिद्ध किया है कि आदिम मनुष्य की

विचारणा की शैली तर्क-पूर्वी होती है वे टोने या धार्मिक अनुष्ठानों की ओर संभवतः इंगित करेंगे, पर वे यह भूल रहे होंगे कि वे कैंटीय कोटियों (Categories) का उपयोग शुद्ध विवेक परिपाटी के लिए नहीं, वरन् अत्यधिक आवेगजन्य कृत्यों के लिए कर रहे हैं।

पृ० ३३ (टि०) २. His······

"उसकी (अर्थात् मैडीसन ग्रांट की) पुस्तक ने गोरे तथा सुनहले वालों वाले नीली आँखों वाले लंबे सिर के श्वेत (मनुष्य) और उसकी उपलब्धि की बेतहाशा प्रशंसा की है तथा वह भविष्यवाणी करता है कि मानव पर जिन बुराइयों (ills) का आक्रमण होगा उन सबका कारण होगा नीग्रो लोगों और काली आँखों वाली जातियों की विद्यमानता।"

पृ० ३४ (टि०) १. The Psychological···

"सभी जातियों में सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक आधार एक जैसा ही होता है तथा उन सभी में एक से रूपों का ही संवर्द्धन होता है" तथा···विश्व भर में संस्कृति की समानताएं इस धारणा को पुष्ट करती है कि जातितत्वगत संबंध के बिना (regardless of race) भी मानवीय मानस में मौलिक सादृश्य होता है।

पृ० ३६ (टि०) १. It seems···

"यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि इस कला का भोजन-संप्राप्ति से संबंध था, भोजन के लिए जिस पशु की आवश्यकता होती थी उसका चित्र बनाना किसी सीमा तक उसको पकड़ने में सहायक होता होगा।

पृ० ३६ (टि०) २. These people···

"ये लोग (संस्कृति के औरिग्रेशियन अवस्था के) उन शूकरों तथा अन्य पशुओं के शिल्प-चित्रण का अभ्यास भी करते थे, जिनका वे शिकार के लिए पीछा करते थे, किन्तु साथ-ही-साथ, ये स्त्रियों का भी शिल्प चित्रण करते थे और इनमें उनके प्रमुख अङ्गों का बहुत अधिक विशदीकरण कर देते थे।"

(टि०) ५. The shells·······

ये सीपें इस बात का ज्वलंत प्रमाण हैं कि बहुत दूर प्राचीन काल में पृथ्वी के दूर-दूर भागों में परस्पर किसी-न-किसी प्रकार का आदान-प्रदान होता था। ईलियट स्मिथ ने "द इवोल्यूशन आव ड्रैगन (The Evolution of Dragon) नामक कृति में यह बताया है कि ये सीपें उन पुराने दिनों में क्यों इतनी महत्वपूर्ण मानी जाती थीं ? उनमें जीवन प्रदायनी शक्तियाँ मानी जाती थीं।"

पृ० ४० (टि०) २. To describe···

"शक्ति के उस रहस्यमय रूप के निरूपण के लिए जिसे मनुष्यों तथा प्राकृतिक पदार्थों में रहने या संचित होने में बहुत कुछ ऐसे ही सक्षम समझा जाता है, (बहुत कुछ ऐसे ही) जैसे एक (leyden) संग्रहक पात्र में विद्युत।

पृ० ४६ मैक्समूलर···

ये मूलतः जर्मन थे और प्राच्यविद्या के पंडित थे। बहुत समय तक ये ग्रेट-ब्रिटेन के आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में तुलनात्मक भाषाविज्ञान के प्रौफेसर रहे थे। यहीं से इन्होंने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के साथ तुलनात्मक धर्म-तत्व के अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया, कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ इन्होंने अंग्रेजी में लिखे।

पृ० ५३ (टि०) १ The Epic poem

पुराण महाकाव्य एक लोकप्रिय कथा है जिसको उच्चतम मानवी प्रतिभा ने एक अनोखा सम्मोहन प्रदान कर दिया है, और भी जो कहानियाँ सामान्य कथक्कड़ के क्षेत्र से कभी बाहर नहीं गयीं, उनको यही प्रतिभा ऐसी ही विधि से ऐसा रूप प्रदान कर सकती थी। अतः ये सभी, लोक-परंपरा के विशाल भंडार की संपति ही मानी जानी चाहिये। और इसी रूप में उनकी निरख-परख होनी चाहिये। शब्द के वास्तविक अर्थ की दृष्टि से, ये लोकवार्त्ता अर्थात् जन-विज्ञान के रूप की ही हैं और सहस्रों वर्षों से रही हैं।"—रेव० सर जार्ज डवल्यू काक्स, बार्ट० एम० ए०, इंट्रोडक्शन टू द साइंस आव कम्पैरेटिव मायथालाजी एण्ड फोकलोर"—१८८१ का संस्करण पृ० ६-७

पृ० ५४ (टि०) २. Thus the···

इस प्रकार लोक की वह सौन्दर्यानुभूतिक परंपरा, जो कितनी ही व्यावहारिक प्रकार की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों (interests) का अन्तिम आश्रय होती है, ऐसी सामग्री प्रस्तुत कर सकती है जो साहित्यिक प्रतिभाओं के लिए लाभप्रद स्रोत का काम दे सकती है।

Now···

अब संभवतः सौन्दर्य की भावना उतनी शिक्षा पर नहीं निर्भर करती जितनी कि अन्तर्व्याप्त पूर्व प्रवृत्ति पर निर्भर करती है—पृ० ११६

पृ० ५७-६० के लिए टिप्पणी।

१६ वीं शताब्दी में बंगाली में रचना करने वाले भी ऐसे ही हीनभाव के शिकार थे—

१. विजय गुप्ता ने लिखा—"सहजे पांचाली गीत नाना दोसमय—"

२. कवीन्द्र (परमेश्वर) ने लिखा—"पांचालिते नहे योग्यवाद"

(Bengali poetry is unsuitable for philosophical discussion.)
Bengali Literature by J. C. Ghosh page 14

पृ० ६१

यह अद्वय भारत में तांड्य-ब्राह्मण में बताया गया है:—

इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावभूतां
विवाह विवहावहै सहनावस्त्विति" ताण्डय महाब्राह्मण ७.१०.१

पृ० ६२ (टि०) Heaven was······

मूलतः द्यावा पृथ्वी पर लेटा हुआ था, किन्तु दोनों पृथक कर दिये गये, तथा आकाश को ऊपर उठाकर वर्तमान स्थिति में पहुँचा दिया गया, न्यूजीलैंड में यह काम उनके पुत्र ने किया, मिस्र में पवन के देवता 'शू' ने यह काम किया, यही अब पृथ्वी और आकाश के बीच में है। और द्यावा को दोनों भुजाएँ फैलाये पृथ्वी पर झुकी हुई स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है जबकि नेक शू उसे साधे हुए है—बिफोर फिलासफी, पृ० २७।

An equal

स्त्री और पुरुष, जो चाहे जिस जाति या जातियों के हों तथा निकट संबंधी ही क्यों न हों—पति, पत्नी, माँ, बहिन, भाई—बराबर की संख्या में प्रायः रात को निभृत में एकत्र होकर गोलाकार बनाकर बैठते हैं। मूर्त यंत्र देवी का प्रतिनिधित्व करता है। यह यंत्र वस्तुतः परिधि के केन्द्र में नौ योनियों से बना भगेन्द्रिय का रेखाङ्कन ही होता है। पूजा-विधान में मंत्र-जाप तथा पंच तत्व का अर्थात् मदिरा, मांस, मत्स्य, भुना अन्न तथा यौनरति का आनुष्ठानिक भोग सम्मिलित रहता है।

पृ० १०७ (टि०) These Buddhists

बौद्ध तंत्र हैं ही, साथ ही हिंदू तन्त्र, वैष्णव तंत्र और शाक्त भी हैं। सब में सामान्य तत्व यही प्रतीत होता है कि वे सभी टोने और धर्माचार विषयक अनुष्ठान की एक उस प्रणाली की अभिव्यक्ति हैं जो मंत्रों, तंत्रों (रेखाङ्कनों), मुद्राओं तथा अन्य भौतिक रीतियों से धर्म के उच्चतम लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहती है।

"The Tantra"''

"यही नहीं कि तंत्र आदिम बर्बरता तथा मूढ़ग्राहों के निम्नतम अभ्याचारों को ही मान्यता प्रदान करते हैं, वरन् वे ऐसी बातों के लिए दार्शनिक औचित्य खोजने के अपराध के भी दोषी है।

Hindu Eclectic······

हिन्दू धर्म की सर्वग्रहणशीलता को स्थानीय पाखंडों को आत्मसात करने

में तथा विविध देवी-देवताओं को देव व्यूह के प्रमुख देवताओं का उद्भास मानकर पूजने में कोई दिक्कत नहीं रही। कितने ही पाषंडों में भूतकालीन प्राक्-धर्म की टोटेम परक अवस्था की सूचना मिलती है।

Local cults······

स्थानीय पाषंड, बहुधा वे पाषंड जो प्राक्-आर्य-भारत, और कोई कोई संभवतः, प्राक-द्रविड़ भारत के युग के हैं, हिन्दू-धर्म में मिला लिये गये हैं। फलतः एक की दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया हुई है, उनका मूल उद्गम एक दिखाया गया है, दार्शनिक युक्तियुक्तता उन्हें दी गयी है तथा वे रूपकवत् रहे हैं।

"आदिम निवासियों तथा वहिष्कृतों (outcasts) द्वारा परिपालनीय पूजा से, तांत्रिकता, बारहवीं तथा तेरहवीं शती में, बौद्ध प्रतिष्ठा का सहयोग पाकर उच्च वर्ग में स्थान पाने लगी। (पृ० ७१)

"इसमें तो कोई संदेह नहीं कि एक ने दूसरे को प्रभावित किया, किन्तु समस्त क्षेत्र भर में यथार्थतः घटित होने वाली बात तो यह थी कि उसमें आदिम जातियों के विश्वासों तथा आचारों को आत्मसात किया जा रहा था तथा उनका घोल-मेल हो रहा था। (पृ० ७३)

पृ० १२६

मंत्र का अर्थ है टोने का उच्चार अथवा सिद्ध सूक्त और इस रूप में इसे शब्द (Sound) रूपी शक्ति की परिभाषा दी गयी है। यान (शब्दार्थ में वाहन) आवागमन के समुद्र को तरने तथा मोक्ष प्राप्त करने का साधन है। यह वह सामान्य अभिधान है जिसे बौद्ध धर्म की एक विशेष धारा को अभिहित करने के लिए उपयोग में लाया जाता है। अतः मंत्रयान वह प्रणाली है जिस के द्वारा कुछ शब्दों या मुहावरों को पढ़कर कोई व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस अद्भुत विधान की जड़ें बहुत पीछे के अत्यन्त प्राचीन युग में संभवतः प्राक् भारत-आर्य काल तक में ढूंढी जा सकती हैं।

अथर्ववेद के कई मंडलों से जैसे अभिचारकानि, शाप तथा दानवों, जादूगरों 'मायाविनों' तथा सामान्यतः शत्रुओं के विरुद्ध मंत्रोच्चार में टोने के श्लोकों की शक्ति में विश्वास का स्पष्ट पता चलता है। यह विश्वास भारत की प्राचीन मूलनिवासी जातियों में विद्यमान टोने की प्रबल प्रवृत्ति से विशेषतः जुड़ा हुआ है। इन प्राचीन धारणाओं में से कितनों को ही भारतीय-आर्य विजेताओं ने ग्रहण कर लिया था तथा अपनी धारणाओं का घनिष्ठ अंश बना लिया था। भारत के उन विविध भागों में, जो भारतीय-आर्य संस्कृति के केन्द्रों के बाहर स्थित थे, जिनमें मूलनिवासी जन अपने निजी स्वभाव की अपेक्षाकृत

अच्छी रक्षा कर सकते थे, उनमें टोने तथा जादूगरी के प्रयोग आदिकालीन रूप से बहुत अधिक मिलते जुलते रूप में सुरक्षित रह सके।

पृ० १४०, (टि०)

इसकी अत्यधिक संभावना है कि इनमें (अर्थात् पुराणों में) पहले पहल मुख्यतः वे प्राचीन कहानियां, वंशावलियाँ, पँवाड़े आदि थे, जो प्राचीन साहित्य के लोक प्रचलित पक्ष के अङ्ग थे, तथा जो पूरी संभावना है कि, मूलतः प्राकृत में थे। दरअसल मुझे यह प्रतीत होता है कि ये अधिकांश किसी ऐसी प्राचीन साहित्यिक प्राकृत में थे, जो उच्चतर वर्गों में प्रचलित थी; किन्तु समय क्रम से राजनीतिक परिवर्तनों के कारण बोलचाल की भाषा के अधिकाधिक संस्कृत में रूपान्तरण से यह साहित्यिक प्राकृत बोधगम्य नहीं रही, उधर संस्कृत ब्राह्मणीय हिन्दु धर्म की एकमात्र परिमार्जित भाषा बनी रही। अतः यह स्वाभाविक ही था कि यदि इस साहित्य को रक्षित रहना था तो इसे भी संस्कृत रूप दिया जाय।" डायनैस्टीज आव द कलि एज, भूमिका, पृ० १७

पृ० १७८

यह आशा की जा सकती थी कि एक ऐसा मूढ़ग्राह जो इतना फैला हुआ है आख्यानों तथा लोक-कहानियों पर प्रभाव छोड़ेगा ही, और ऐसा ही हुआ भी। दानाए (Danae) की वह पुरानी यूनानी कहानी जिसमें वह अपने पिता द्वारा एक भूगर्भस्थ कक्ष में या एक धातु की मीनार में बन्द कर दी गयी थी, और जिसे भेद कर जिअस उस के पास स्वर्ण की बौछार के रूप में पहुँचा था, संभवतः इसी वर्ग की कहानियों में से है। (**गोल्डन बाउ, पृ०६००**)

पृ० २३६ (टि०)

वसुदेवहिंडि नामक प्राकृत काव्य के लेखक का आग्रह था कि धर्म-कथाओं की रचना में रोमांचक कथाओं (romantic stories) का उपयोग किया जाना चाहिये, अथवा दूसरे शब्दों में कहें तो, धर्म कथाओं से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने के लिए उन्हें अच्छी तरह अच्छी प्रेम-कथाओं से मिलाकर प्रस्तुत किया जाना चाहिये। कुवलयमाला के लेखक उद्योतन सूरि ने निर्धारित किया कि कथा को नव विवाहिता वधू की तरह होना चाहिये, जो अलङ्कारों से भूषित हो शुभ हो, कलगामिनी हो, तथा हो भावुक, कोमल कंठी तथा मनुष्यों के मानस को सतत आनंदप्रद (प्राक्कथन—माधवानल कामकंदला प्रबन्ध, १६४२, आरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा)

पृ० २४४. संदेशरासक

इस पृष्ठ पर २४वीं पंक्ति को इस प्रकार होना चाहिये—उधर संदेश रासक जैसा प्रमुख काव्य मिलता है जिसमें षटऋतु वर्णन के माध्यम से विरह

संदेश वर्णन किया गया है, उसी प्रकार हिन्दी के आरंभकाल में ऐसे काव्य भी मिलते हैं जो केवल बारहमासा ही हैं। ।

पृ० २८८ Whatever is······

जो कुछ भी मन को, भावों को या संकल्पों को प्रभावित करने में समर्थ है, वह इस प्रकार निस्संदेह अपनी यथार्थ सत्ता सिद्ध कर चुका है । (पृ० २० बिफोर फिलासफी)

ठीक जैसे कि कल्पना-रूप को यथार्थतः अस्तित्ववान माना जाता है, वैसे ही मनोभाव भी मूर्त्त रूप हो सकते हैं'। (पृ० २२ बिफोर घिलासफी)

अतः प्रतीकों का और उनके अभिप्रेत अर्थों का सम्मिश्रण हो जाता है जैसे कि दो संतुलनीय पदार्थों का समवायीकरण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप एक दूसरे का स्थानापन्न बन सकता है (पृ० २१ बिफोर फिला सफी) ।

पृ० २८९

इस पृष्ठ पर चौदहवीं पंक्ति में 'नगर वन्धुओं' के स्थान पर 'नगर वधुओं' पढ़िये ।

पृ० ३७२ (टि०)

इस प्रकार आखिरकार यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्म अब अन्य दिव्य देवताओं का पार्श्ववर्ती मानवीय देवता नहीं रहा, किन्तु वह इन दिव्य देवताओं से ऊपर उठ गया है । शतपथ ब्राह्मण में ही यह उल्लेख मिलता है कि ऋषि से अवतरित ब्रह्म वस्तुतः सर्वदेव है अर्थात् उसमें सभी देवी देवता अंगभूत हैं ।

पृ० ३७९ The wood······

'दास' तथा 'दस्यु' शब्दों का उपयोग ऋग्वेद में आर्यों के समस्त शत्रुओं के लिए हूआ है, वह चाहे दानव हों या मनुष्य ।

(यहाँ demons शब्द demonds छप गया है ।)

पृ० ३८० The full

ऋग्वेद के जिस एक श्लोक में इन्द्र के आरंभिक दिनों का पूरा विवरण मिलता वह JAOS vi में ६२, ६३, ९३, ९५ में दिया गया है, उस सामग्री से ऋग्वेद में अन्यत्र मिलने वाली कुछ अन्य सामग्री को मिलाकर सब का इद्र के जन्म और शैशव की सामान्य रूपरेखा खड़ी करने के प्रयत्न में उपयोग किया गया है ।

(अंग्रेजी अवतरण में utilised शब्द uticise छप गया है ।)

Indra's mother······

(इन्द्र की माँ ने कहा) यही प्राचीन प्रथित पथ है जिससे देवतागण सभी

ऊर्ध्व दिशा में उत्पन्न हुए हैं, उसी से इस महाबली को (ऊर्ध्व दिशि में) उत्पन्न होने दो और उसे अपनी माँ को (नरक में) नहीं गिरने देना चाहिये।

पृ० ३८० Amuya···

"अमुया ऋग्वेद में नियमतः (वहाँ) "तत्र" एक बुरे अर्थ में आता है। यह उस स्थान के लिए आता है जहाँ कि मृत वृत्र पड़ा हुआ है (१ ३२८) जहाँ दानवगण पड़े हुए हैं (१०।८६।१४) जहाँ यौन संभोग से टोने का अभ्यास करने वाले जायंगे (१।२६-५,१०।८५।३०, संभवतः १०।१३५२ भी) जहाँ इंद्र धूर्त्तों को पछाड़ने वाला है।) (५।३४।५) यहाँ भी इसके अर्थ हैं (आतंक प्रद) स्थान।

पृ० ३८१ He saw his mother······

उसने देखा कि उसकी माँ उसे छोड़ के जा रही है। नहीं, नहीं मैं उसके पीछे जाऊँगा। निश्चय ही मैं उसके साथ जाऊँगा। त्वष्ट्र के घर में इन्द्र ने सोम का निकला हुआ रस प्यालों में पीया।

In other······

दूसरे उल्लेखों में इन्द्र त्वष्ट्र को हरा कर सोम का अपहरण करता है ३।४।८।४ यह त्वष्ट्र बली पिता (किन्तु इन्द्र का पिता नहीं) प्रतीत होता है। रस (अथवा सोम) को पाने के लिए उसे या तो अकेले ही या तृत अप्त्य की सहायता से विश्वरूप को मारना पड़ता है।

पृ० ३८२ Could be now······

क्या अब वह विजय (अपने शत्रुओं पर) स्थगित कर सकता था, वह जिसे उसने धारण किया (गर्भ के अर्भक की भाँति) एक सहस्र महिने और कितने ही शरत ? उसका कोई प्रतियोगी न तो उनमें है जो विद्यमान है न उनमें जो पैदा होने वाले हैं।

पृ० ३८३ Indefineteness......

अनिश्चित रूपरेखा तथा वैयक्तिकता का अभाव वैदिक देवताओं सम्बन्धी धारणा की विशेषताएँ हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि ये देवता अन्य योरोपीय लोगों के देवताओं से उन प्राकृतिक व्यापारों के अधिक निकट हैं जिनका प्रतिनिधित्व वे करते हैं।

पृथक प्रतीति का अभाव तब और अधिक बढ़ जाता है जब कि विविध देवी-देवता एक ही व्यापार के विविध पहलुओं से उद्भूत होते हैं। अतः प्रत्येक वैदिक देवता का चरित्र केवल कुछ ही निजी लक्षणों से बना होता है और उसके साथ बहुत से ऐसे तत्व मिले होते हैं जो सभी देवताओं में समान होते हैं, जैसे तेज, शक्ति, उदात्तता और बुद्धिमानी—ऐसे समान तत्वों के कारण निजी तत्व

धुंधला जाते हैं क्योंकि प्रार्थनाओं और स्तुतियों में वे ही स्वभावतः विशेष प्रमुखता प्राप्त कर लेते हैं। फिर वे देवता भले ही अलग अलग विभागों के हों, किंतु प्रमुख तत्वों की समानता के कारण, उनकी पारस्परिक अनुरूपता की संभावना है। इसी प्रकार अग्नि, जो मूलतः पृथ्वी सम्बन्धी आग का देवता है, अपने प्रकाश से अन्धकार के दानवों को छिन्न-भिन्न कर देता है, उधर इन्द्र जो अन्तरिक्ष का बज्र मेघ का देवता है उन्हें बज्र से मारता है। अग्नि देवता की परिकल्पना में अंतरिक्ष के विद्युत्तेज का और समावेश हो जाता है। यह तादात्म्य तब और बढ़ जाता है जब ऐसे देवताओं का आवाहन युग्म में किया जाता है, ऐसे योगों से जो एक की अपनी निजी विशेषताएं हैं वे भी दूसरे से संलग्न हो जाती हैं, और जब वह दूसरा कभी अकेले भी होता है तब भी वे उसके साथ रहती हैं, इस प्रकार अग्नि सोमपायी, वृत्र-हन्ता, गौ और जल का विजेता, सूर्य और उषा का विजेता भी कहा जाता है। और ये सभी इन्द्र की मुख्य विशेषताएं हैं।

पृ० ३८३ Now the taking······

अब उसका काम है रस को लेना, वृत्र का संहार करना, उसकी प्रचलित प्रशंसा है इस से कि वह प्रत्येक प्रकार के बल के कार्य को संपादित करता है।

'दिव्य अग्नि दृढ़ व्रती मनुष्य का मार्ग दर्शक है, जैसे सूर्य ऋतुओं का नियंता है : वह, जो सत्य का पालक है, वृत्र का हन्ता है, ए प्राचीन, सर्वद्रष्टा अपने पुजारी को समस्त कठिनाइयों से (उबार कर) ले चल।

पृ० ३९१ Statement like······

ऐसे कथन कि 'बाल अभिप्राय किसी के अपने ही बालपन की उदित स्मृति हैं' और ऐसी ही अन्य व्याख्याएं केवल प्रश्न को दुहराते हैं। किन्तु यदि इसमें थोड़ी सी ही मरोड़ देकर हम कहें, "बाल-अभिप्राय अपने बालपन की कुछ विस्मृत बातों का ही चित्र है।" तो हम सत्य के निकट पहुँच रहे होंगे। परन्तु, मूल स्थपित का सम्बन्ध क्योंकि उस चित्र से होता है जो कि समस्त मानव जाति का होता है, केवल किसी एक व्यक्ति का नहीं, अतः हम और भी ठीक-ठीक रूप में यों रख सकते हैं "बाल-अभिप्रायः सामूहिक मानसिकता के चेतन-पूर्वी बालपन की बातों का प्रतिनिधित्व करता है।

पृ० ४१४ We see······

"हम देखते हैं कि तू भव्य है : तेरी रश्मियां, तेरा तेज अत्यन्त देदीप्यमान है, तेरी किरणें, तेरा तेज स्वर्ग तक पहुँच गया है। आभूषित हो, तू अपने वक्ष को निर्वसन करती है। प्रभुत्व से दमदमाती हुई, तू प्रातः की देवी।

Thy ways......

पर्वतों पर भी तेरे मार्ग सरल हैं : तू अजेय घूमती है। जलो में से आत्म प्रकाशवान्।

अपनी प्रभूत पगडंडियों के साथ अत्यन्त उच्च देवी, द्यौ-पुत्री संपत्ति लाओ, हमें सुख देने के लिए।

पृ० ४१५

चालीसवें शरत में पर्वतों में निबसित शंबर को किसने ढूंढ़ निकाला : किसने उस अहि का संहार किया जो अपने बल का मिथ्याभिमानी था, वह ऐंठने वाला दानव। वही ए मनुष्य, इन्द्र है।

Agni born......

ऋतु से उत्पन्न अग्नि, तीन तेरे भक्ष्य हैं, तीन तेरे निवास स्थल हैं, तीन जिह्वाएँ, संतुष्ट करने वाली (देवताओं को); सचमुच तीन ही तेरे रूप हैं, जो देवताओं को ग्राह्य हैं और उनसे (हमारी इच्छाओं के प्रति) कभी उदासीन न होकर हमारी स्तुतियों से प्रसन्न हो।

Divine Agni...... ...

दिव्य अग्नि समस्त अस्तित्व का ज्ञाता······जो कुछ भी मायावियों की माया हैं, उनमें स्थापित किया है।

पृ० ४१६. Over powering

(यहाँ अँगरेजी का प्रथम शब्द समस्त पदरूप ठीक है Overpowering) इन दोनों का बल पछाड़ने वाला है : जैसे वे दोनों एक साथ एक रथ पर आरूढ़ गायों के (उद्धार के) लिए तथा वृत्र के ध्वंस के लिए जाते हैं, मघवन के हाथ में दिव्य (वज्र) चमचमाता है।

पृ० ४१६ The Heroic······

वीर अग्नि सेनाओं का सामना कर सकता है तथा उसी से देवगण अपने शत्रुओं को परास्त करते हैं।

When......

" जब (वन में) गर्भार्भक की तरह (विद्यमान) अग्नि तनूनपात कहलाता है। जब वह पैदा किया जाता है (वह) असुरनाशी नराशंस (कहलाता है) जब वह (अपनी शक्ति) पदार्थ जगत में प्रदर्शित करता है तो मातरिश्वन्; उसी की त्वरित गति में वायु का निर्माण है।

Day by day......

(चिंगारी) निकालने वाले काष्ठ के अन्तरंग से जन्म लेने के उपरांत वह दिन-ब-दिन कभी सोता नहीं (ऋ० III 2. 17)

Having Slain.........

वृत्र को मार कर उसने कितने ही प्रान्तों और वर्षों को (जो) अन्धकार द्वारा निगले (जा चुके थे), मुक्त किया है।

In as much......

इन्द्र जितनी पौरुषेय उर्ज्वस्विता तैंने तब दिखायी है, जब तैंने उस नारी का संहार किया, जो आकाश की पुत्री थी, जब कि वह धूर्त्तता करने का विचार कर रही थी।

पृ० ४१७ Thou Indra

तू इन्द्र, तू जो कि बली है, तैंने द्यावा की पुत्री वर्चस्विनी ऊषा को समृद्ध किया है।

पृ० ४२२ The earliest

२०००-१७०० ई० पू० के समय की बची हुई इन मिस्री कहानियों में से प्राचीनतम है ध्वस्त नौका के मनुष्य की। एक मिस्री लालसागर में नौका खे रहा था कि नौका ध्वस्त हो गयी....वह एक ऐसे सुनसान में द्वीप में जा पड़ता है जिसमें आत्माओं का राजा सर्प रूप में बसता है। वह राजा उस मनुष्य का दयालु हृदय से स्वागत करता है, और चार महिने के प्रयत्न के बाद वह वहाँ से एक जाते हुए जहाज़ के द्वारा उसे वापिस भेजने में सफल होता है, किन्तु इसी बीच में वह राजा अपने दुर्भाग्यों का भी हाल उसे सुना देता है और वह यह भविष्यवाणी भी करता है कि उसके जीवन का अन्त आ रहा है और यह द्वीप भी समुद्र में समा जायेगा। बिना किसी तारतम्य के एक ऐसी पार्थिव सुन्दरी का भी उल्लेख हुआ है, जो पहले उस द्वीप में रहती थी किन्तु जो आत्माओं के उस राजा के कुटुम्ब के साथ साथ काल कवलित हो चुकी थी। कहानी ऐसी उलझी हुई है कि यह विदित ही नहीं होता कि वह आदमी जिसने इसे इस वर्त्तमान रूप में प्रस्तुत किया इस कहानी की अभिप्राय-योजना को समझ भी सका था। नायक को उस दैत्य सर्प के सामने, जो उसके प्रति अत्यन्त दयावान है अत्यन्त भयभीत बताया गया है। सुन्दरी का चरित्र तारतम्य विहीन और अविकसित ही छोड़ दिया है। क्या हमें दाने और उसके आधीन कुमारी के उद्धार की कहानी यहाँ मिल रही है, जैसी कि आज की लोककहानी में है। (स्टिथ थामसन)

पृष्ठ ४६५ The notable···

गेय काव्य में और रूपकों में जिनकी परिभाषा ऊपर दी गई है उल्लेखनीय अन्तर यह है कि पहले में कोई नियमित कथानक नहीं होता किन्तु उसमें भाव मुद्राओं का सहकार होता है, उधर नाटक के सभी भेदों में नियमित कथा-

नक होता है, जो रंगमंच पर अभिनीत होता है। गेय रचनाओं में एक और तत्व होता है, वह है संगीत की प्रमुखता। शरीर के समस्त अवयवों का संचलन भी गेय रचनाओं की एक प्रमुख विशेषता है।

पृष्ठ ४७० Rhythm is······

"ताल प्रकृति का एक तथ्य है। तारों में, ऋतुओं में तथा मनुष्य के रक्त में एक प्रकार की ताल है। मनुष्य के मानस में होने के कारण यह एक सहजोन्मेष भी है अतः यह दोनों बातें चाहती है: नियत क्रम में पुनरावृत्ति भी चाहती है और उसके अनुकूल प्रभावित भी होती है, और इसी कारण यह कितने ही मानवी व्यापारों में प्रकट भी होती है, कुछ तो प्रकृति के ही कारण और कुछ प्रयत्न-श्रम को बचाने के लिए और इसी प्रकार यह भाषा में भी उद्भासित होती है—स्फुट, निश्चय ही, किन्तु अन्तर्व्याप्त और सौन्दर्य-साधन में उपयोग के लिए प्रस्तुत। काव्य का ताल से सम्बन्ध प्रायः यों बताया जाता है: लोग काम करते हैं और नाचते भी जाते हैं, अपनी तालबद्ध गतियों को तालबद्ध ध्वनियों के साथ प्रस्तुत करते हैं, ये ध्वनियाँ शब्दों में और गीतों में परिणत होती जाती हैं। तब गीत नाट्य से मुक्त होकर भी गाये जा सकते हैं, और शब्द बिना लय के पढ़े जा सकते हैं, इस प्रकार काव्य प्रस्तुत हो जाता है। यह सब कुछ-कुछ सैद्धान्तिक है, किन्तु अत्यन्त संभव भी और किसी सीमा तक मान्यता देने योग्य भीहै। अब केवल शब्दों को सर्वोत्तम क्रम में व्यस्थित करने की ऐच्छिक कलात्मक प्रक्रिया की अपेक्षा है, जिससे ऐसा क्रम आ सके जो ताल-प्रिय रुचि को संतुष्ट कर सके, और तब यहीं से क्रमात्। शास्त्रीय सिद्धान्त (पिंगल बद्ध छन्द) का विकास होता है, जिससे विधायक कर्म को सुपास मिलता है।

(अंग्रेज़ी उद्धरण में जहां rhythmic source छपा है वहाँ rhythmic sense होना चाहिए।)

पृष्ठ ४७६

पन्द्रहवीं पंक्ति में दो शब्द गलत छपे हैं; उन्हें यों ठीक कर लेना चाहिए—

मौजी दाम के स्थान पर मोतीदाम

आडिक्क ,, अरिल्ल या अडिल्ल

पृष्ठ ४७६

उन्तीसवीं तथा इकत्तीसवीं पंक्ति में 'अनामिका' के स्थान पर 'अन-मिल्ला' पढ़ें।

पृ० ४७७—मंगल

मंगल काव्य की परंपरा बङ्गाली भाषा में एक विशेष स्थान रखती है। बंगाली में 'मंगल' केवल विवाह से ही संबंधित नहीं। बंगला के मंगल विशिष्ट लौकिक संप्रदायों के देवी-देवताओं से संबंधित होते हैं। उनमें निहित भाव यही रहता है कि उस देवी-देवता की पूजा करके कृपा प्राप्त करने से ही मंगल है, अन्यथा नहीं। धर्मठाकुर के धर्ममंगल, मनसादेवी के मनसामंगल, चंडी देवी के चंडी मंगल आदि।

पृ० ४८८ (टि०)

कुछ विद्वान (वर्तमान लेखक अर्थात् जार्ज ग्रियर्सन भी उनमें सम्मिलित हैं) हैं जो यह मानते हैं कि संस्कृत साहित्य देशी भाषा की रचनाओं का उससे अधिक ऋणी है जितना कहीं माना जाता है, यहाँ तक कि महाभारत ने भी पहले प्राचीन प्राकृत में एक लोक महाकाव्य के रूप में पहले पहल जन्म लिया, और बाद में संस्कृत में रूपान्तरित हुआ, और इस भाषा में उसमें आगे संशोधन-परिवर्द्धन हुए और तब उसे यह अन्तिम रूप मिला।

पृ० ४९० (टि०)

सभी धर्म गाथाओं का आधार पदार्थप्राण-तत्व (ऐनिमिस्टिक) होता है, आरम्भ में, वे व्यवस्थित लोकविश्वास ही थे जिन्हें विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर से तत्कालीन प्रवासी तथा वाणिज्य-लग्न लोग जहाँ-तहाँ ले गये।

पृ० ४९४ (टि०)

'सहानुभूतिक टोना सादृश्य के भावों के संयोग पर बना हुआ है। सहानुभूतिक टोना उस भूल को सही मानता है जिसमें यह माना जाता है कि वे वस्तुएँ जो एक दूसरे के सदृश हैं, एक ही हैं।

पृ० ४९७ (टि० १)

दूसरी ओर देवता बहुधा कुञ्जों में पूजे जाते थे, यह पूजा आदिम वृक्ष-पूजा का ही विकास है, जिसका उल्लेख भारत, यूनान, रोम, जर्मनी, गाल, लिथुनियनों तथा स्लेवों के सम्बन्ध में मिलता है।

किंबहुना बहुत से सिद्धान्तवादियों पर गम्भीर आरोप लगाना होगा, और यह आरोप मनहार्ट, सर जे० फ्रेजर, रिजवे, डरखीम तथा ऐस० रीनक पर भी समान रूप से लागू होता है। ये विद्वान यह मानकर चलते हैं कि प्राथम बर्बरों के धार्मिक विचारों में ही धार्मिक विश्वासों का प्रारम्भ मिलता है, तथा कि उन्हीं के विचारों में से धर्म के प्रत्येक रूप के विकास की योजना पुनर्गठित

होनी चाहिये। इस मत की मूलभूत असमीचीनता तो इसी विश्वास में है कि उन्नीसवीं शती के जंगली बर्बर आदिम मानव हैं; न्याय-दृष्टि से यह अस्वीकार करना सर्वथैव असम्भव है कि इन जातियों के धर्म के दोष ही ठीक ऐसा कारण है जिससे वे विकास करने में असफल रहे और एक बर्बर अवस्था में बने रहे हैं। निस्संदेह इस मत को सिद्ध करना तो असंभव है, भले ही बर्बरों के बहुत से आचार स्पष्टतः गम्भीर अभावों के शिकार बने हुए हों, जो आर्थिक तथा सामाजिक हैं; किन्तु उसे असिद्ध करना और भी अधिक कठिन है, और इस तथ्य की दृष्टि से, आस्ट्रेलियन आदिवासियों के अनुष्ठानों के आधार पर धर्म के विकास के योजनाएँ प्रस्तुत करना न्याय दृष्टि से क्षम्य है; यह सब भी पूर्णतः इस तथ्य के अतिरिक्त है कि इन रिवाजों का ज्ञान हमें नृविज्ञान के उन विद्यार्थियों से प्राप्त हुआ है जो उन लोगों का अध्ययन करते हैं जिनके साथ उनका रक्त या भाषा विषयक कोई गठबंधन नहीं तथा जिनका विश्वास भाजन होना उन विद्यार्थियों को उतना ही कठिन प्रतीत होता रहा है जितना कि उनके विश्वासों को हृदयंगम करना। इस तथ्य को लेकर कि आस्ट्रेलियन कबीलों (Tribes) अथवा ज़ूलू लोगों में किसी परम उदार देव के अस्तित्व की मान्यता है या नहीं, जो विवाद खड़ा हुआ है, अकेला वही एक ऐसा उल्लेखनीय प्रमाण है जो उन आशातीत कठिनाइयों को प्रकट कर देता है जो उन लोगों के मार्ग में पड़ी हुई हैं जो आदि निवासियों के मानस को यथातथ्य रूप में हृदयंगम करना चाहते हैं।

(कीथ महोदय का यह अवतरण पृ० ४६० पर नीचे के भाग में बहुत गलत छप गया है। नीचे से चौथी पंक्ति में 'and social' के आगे यों होना चाहिये—but to disprove it is still more difficult, and in view of this fact, to set up schemes of the development of religion based on the practices of the Australian aboriginies is loxically unegusable.........

देखिये पृ० ४६० (टि६)

पृ० ५००

फिर भी, यह आक्षेप, जो बहुधा ऋग्वेद पर किया जाता है कि वह शुद्ध धर्मानुष्ठानिक है स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसके बाद के अंशों में ऐसी पर्याप्त सामग्री है जो यह दिखाती है कि संपादकगण अपने समय के लोक-प्रचलित धर्म से पूर्णतः परिचित थे। उदाहरणार्थ, हमें ऐसे श्लोक मिलते हैं जो हानिकर कृमिकीटों के (i.१९१) अथवा यक्ष्मा

रोग के (X.१६३) निवारण के, प्रत्यक्षतः मृत को पुनरुजीवन प्रदान के (X.58.60.7-12) शत्रु नाश के (X—१६६) संतान प्राप्त करने के लाने (X.183), बच्चों को मारने वाले दानव के नाश के (X१६२), निद्रा के (v.55) यहाँ तक कि सौत को पति के प्रेम से बहिष्कृत कराने के (X.145. Cf.X.159) मंत्र (Spells) के रूप में हैं। इनमें से अधिकांश श्लोक उस ग्रन्थ में हैं जिसमें विवाह के श्लोक (X.८५) भी सुरक्षित हैं; जो पुरोहितों के कौशल के नमूने हैं, तथा शव संस्कार के श्लोक (X-14-18) ये और इनके साथ चार या पांच नीति विषयक श्लोक (X1.112,X.35, 71,117); कुछ दार्शनिक तथा सृष्टि मूल विषयक ऊहापोह (X:81,82,90,121,129;1.164 जो V111.29 की भाँति एक प्रहेलिका श्लोक हैं), कुछ श्लोक या उनके अंश ऐसे जिनमें पुरोहितों के उदार सरंक्षकों की प्रशंसा है, संग्रह की एकरसता से उबारते हैं और इस पूर्णतः भ्रामक मत को दूर करने में सहायक होते हैं कि भारत का प्राचीन धर्म केवल उच्च देवताओं के आह्वान से सम्बन्धित था फिर भी लोक-प्रचलित धर्म की वास्तविक विस्तृति और पौरोहित्य कर्म का अधिकांश बाद की संहिताओं में तथा सर्वोपरि अथर्ववेद में ढूँढ़ना होगा।

—: * :—

परिशिष्ट (३)

[कुछ पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी पर्याय यहाँ दिये जा रहे है]

अ

अजेय—Unvincible
अद्वय—Union
अनाथ बालक—Orphan
अर्द्धचेतन—Sub-conscious mind
अनुष्ठान—Ritual
अभिप्राय या कथानक रूढ़ि—Motif
अवचेतन मानस—Unconscious mind
असभ्य जाति—Uncivilised race
असंगति—Paradox
अहं चैतन्य—Self Connscious

आ

आत्मा संक्रमण—Doctrine metem psychosis
आत्मवत्वाद—Animatism
आदि निवासी—Aboriginies
आदिम—Primtive
आदि मूलक सत्ता—Primal being
आदि सृष्टि मूलक—Cosmogonic

आत्मशीलता—Animistic thinking
आनुष्ठानिक विचारणा—Ritual thinking

उ

उत्तराधिकरण—Heredity
उत्पादन—Production
उपभोग—Consumption
उपार्जितावचेतन—Earned unconcsious mind
उपार्जित अवचेतन—Acquired unconscious mind
उर्वरक टोना—Fertility magic

ऊ

ऊहात्मक—Fantastic

ऐ

ऐतिहासिक उत्तराधिकार—Historical inheritance
ऐन्द्रिक भावोन्मेषमयी स्थिति—Instinctive State
ऐन्द्रिकोन्मेष—Sensation

अं

अंशांशी—Contaguous magic

क

कबीले—Tribes
कल्पना मानसिक—Specunlative
कारण विधान—Causality
काल कला—Time factor
कुण्ठा—Suppression-Repression
कोटि-क्रम—Degree
कोष—Dictionary

घ

घटनाएं—Incidents

च

चित्रकाव्य—Kinemetographic
चेतन—Conscious mind
चेतन मानस—Conscious mind

छ

छन्द—Metrical Pattern

ज

जन-मानस—People's psychology
जातीय मनोविज्ञान—Racial psychology
जातीय रूढ़ रूप—Racial types
जाति जन —People

ट

टोना विचारणा—Magical thinking

त

तल गामी—Perpendicular
ताल—Rhythm
तुलनात्मक अध्ययन—Comparative Study
तंत्राख्यान—Fable

द

दन्तकथा—Tradition (oral)
दानव—demon
दाय—Heritage
दार्शनिक—Philosophic
देव वर्ग या देव व्यूह—Pantheon
देवी-देवता—deities
दैवी पुरुष—Divine Person
द्वियौनत्व—Bisexual, Hermophrodite

ध

धर्माचारिक—Sacramental
धर्मानुष्ठानिक—Sacrdotal
धर्मगाथा—Myth
धर्मगाथिक—Mythologem
धातु—roots
धार्मिक आस्था—Religious belief
धार्मिक पृष्ठभूमि—Religious back ground

न

नीति विषयक श्लोक—gnomic hymn

प

पदार्थ प्राणता—Animistic
पदार्थात्मवाद—Animism, Fetishism
पर्थार्थिव भाव—Emperical idea
परा प्राकृतिकवाद—Super-naturalism
परा-प्राकृत—Super-natural
परित्यक्त बालक—Abandoned child
परिवेष्टन—Environment
परम्परा—Tradition, heredity
पौरोहित्य—hieratic
पुरोहित—Priest
प्राकल्पना—Fantacy Thinking
प्राणी-शास्त्र—Zoology
प्रतीक—Symbol
प्रयत्नज—artificial

प्राक्वंशावली काल—Pre-Dynastic Age

ब

बनमानुस—Ape
बर्बरक—Savage

भ

भाव—Conception
भावांश—Concept
भीड़—Crowd

म

महाकाव्य—Epic
मन—Mana (मैलेनेशियन शब्द)
मनोमूल—Psyche
मानव राशि—Multitude
मानस—Mind
मानसिकता—Psyche
मिथ्याश्रित—Mythical
मूर्त्तस्वरूप Plastic form
मनोविश्लेषण—Psycho-analysis
मूल स्थपित—Arch type
मूर्त्त कल्पनांश }
मूर्त्तांश } Image

ल

लोक—Folk
लोक कहानी—Folktale
लोक गीत—Folk song
लोक प्रचलित, लोकप्रिय—Popular
लोक-मनोविज्ञान—Folk-psychology
लोक मानस—Folk mind
लोक-धर्म— Folk-religion

व

वर्गोच्च साहित्य—Classical literature
विवेक चेतन—Rational
विवेक पूर्वीय—Prelogical
विवेक संगत—Rational
विषम योग—antithesis
विषमीकरण—Law of contradiction

श

शव-संस्कार विषयक श्लोक—Funeral hymn
श्लोक—hymn

स

साहृश्यक टोना—Imitative magic

समग्र अवचेतन—Total unconscious mind
समग्र उत्तराधिकारी मानस–Total inherited mind
साधारणीकृत मानस—Generalised mind
सामूहिक मनोविज्ञान—Collective Psychology
सामूहिक मानस—Collective mind
सामान्य मानस धर्म—Common psychological factor

सृष्टि-आदि मूलक—Primordial
सृष्ट्यात्मक—Cosmic
सहज अवचेतन—Common unconscious mind
सहज प्रवृत्ति या सहजोन्मेष—Instinct
संघशील—gregarious
स्थानापन्न—Substitute

क्ष

क्षितिजातीय—Horizontal

— :●: —

परिशिष्ट—४

ग्रन्थानुक्रमणिका

[यहाँ इस प्रबन्ध में उल्लिखित ग्रन्थों की सूची अकारादि क्रम से दी गयी है; इस प्रबन्ध में उस ग्रन्थ का जिस पृष्ठ पर उल्लेख हुआ है, वह उसके सामने लिख दिया गया है।
(पा) का अर्थ पाद टिप्पणी है]

—: o :—

परिशिष्ट-५

ENGLISH BIBLIOGRAPHY

1. Sanskrit English Dictionary —Apte
2. Encyclopaedia Britannica
3. Russian Folklore —Sokolov
4. Standard Dictionary of Folklore etc.-Maria Leach
5. The Mind of Primitive Man —Franz Boaz
6. Psychology and Folklore —R.R. Merett
7. The Mind of Primitive Man —Levy Bruhl
8. Man, God and Immortality —Frazer
9. Primitive Culture —Tylor
10. Poetry and Myth —Prescott
11. An Introduction to Mythology —Lewis Spence
12. Folklore As An Histrorical Science—Gomme
13. Famous Artists & Their Models-Thomas Craves
14. Form in Modern Poetry —Read
15. Dictionary of Psychology —James Drever
16. Before Philosophy —H. & H. A. Frankfort, John A. Wilson, Thorkild Jacobsen
17. Encyclopaedia of Religions and Ethics—
18. System of Physiology —Karl Gustava Cerus

19. The Growth of Civilization —W.J. Perry
20. Introduction to The Science of Comparative Mythology and Folklore —Rev. Sir, George W. Cox
21. Studies in Islamic Mysticism
22. Popular Hinduism —O'Malley
23. Garnerd Sheaves —Frazer (J.G.)
24. Matter, Myth and Spirit —Dorothia Chaplin, F. S. A. Scot
25. Early Belief and Their Social Influence —Edward Westermack
26. The story of Myth —Kellett, E. E.
27. Indian Serpent lore —Vogel
28. Poetry and the People —Kenneth Richmond
29. Purana Index Vol I —Dikshitor, V. R. R.
30. Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India —Levi, Sylvian
31. History, Psychology and Culture - Golden Weiser
32. Psychological Frontiers of Society —Kardiver, A,
33. Children of the Sun —Parry, W.J,
34. Epic India —Vaidya, V. C.
35. Key of power : A study of Indian Ritual and Belief—Abbot, J.
36. Totemism —Frazer
37. Totemism and Exogamy —Frazer
38. Hindu Exogamy —Karavdikar, S, V,
39. Short History of Marriage —Westerwarcy, Edward
40. History of the Gipsies —Simson, Walter
41. Curiosities of Indo-European Tradition and Folklore —Kelly, W. K.
42. Stranger East Indian Guide to the Hindustanee —Gilchrist, John
43. Animism, Magic and the Divine—Roheim, Geza King

44. Omens and Superstitions of S. India —Thurston Edgar
45. Magic and Religion —Lang, Andrew
46. Geography Withchcraft —Summers, Montague
47. Legends of India —Hopkin, Washburn
48. Outline of Mythology —Spence, Lewis
49, Serpent Worship and Other Essays with a Chapter on Totemism —Wake, C. —Staniland
50. Sacred Tree —Philpot, J. H.
51, Myths of the Origin of Fire —Frazer, J. G.
52. Religions and Hindu Cults of India —MacMunn, George
53. Vedic Gods : as Figures of Bio logy —Rele, V.G.
54. Sahajiya Cult —Bose M. M.
55. Gorakhnath and the Kanphata Yogis Briggs; George Weston
56. Naga Hills and Manipur —Assam Distt. Gazzetteer.
57. History of of Aesthetics —Bousauquet
58. History of Literary Criticism in the Renaissance
59. History of Prostitution in India
60. History of Sanstkrit Literature
61. History of Sans. Litrature —Kane
62. Bhamah : Kavyalankars
93. Asianic elements in G. K. civilization
64. Index to Proper Names to Valmika
65. Thought and Reality
66. Brahmavaivartta Puran
67. Kavya Mimansa —Raj Shehher
68. Karpur Manjari —Sbri Konow
69.. Primitive Man as Philosopher
70. Primitive Religion
71. Radha Tantra

72. Res. into the Nature and Affinity of Ancient Hindu Myth, —Kennedy
73. Hindu Deities
74. Gorhhnath and Mysticism —Mohan Singh
75. Obscure Religious Cults —Das Gupa, S. S.
76. Mythology & Fables of the Ancients —Banier, Abb
77. Mythology of the Aryan Nation —Cox
78. Evolution of the Dragon —Smith, G. E.
79. View of History, Literture, Myth etc. of Hindus —Ward
80. Serpent Worship —Wake
81. Religions of India —Hopkins
82. Religions of India —Karamkar
83. Original Sans. Text. (Vols. 4) —Muir
84. Brahad Devata
85. Vedic Mythology —A. A. Macdonell
86. Outlines of India —Beams
87. Philology of Languages of India
88. Vedic Metre in Its Historical Development —Arnold
89. Prakrit Language
90. Guide to Hindustanee
91. Hindi Grammer —Greavs
92. Grammar of the Eastern Hindi—Haddon
93. Evolution of Art —Haddon
94. Primitive Art & Crafts —Sayce
95. History of Indian Art —Coomaraswamy
96. Tribal Art of Middle India
97. Tree and Serpent Worship —Ferguson
98. History of Art in Primitive Greece —Perrot
99. Prehistoric Relics in Rock Paintings —Datta

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.